ॐ

ईशादि नौ उपनिषद्

(ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय और श्वेताश्वतर—उपनिषद्)

[मन्त्र, अन्वय, हिंदीमें अन्वयार्थ, प्रत्येक मन्त्रकी सरल हिंदी व्याख्या, मन्त्रोंकी वर्णानुक्रमणिका तथा विषय-सूचीसहित]

व्याख्याकार—

हरिकृष्णदास गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

मूल्य २.०० (दो रुपये)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

ॐ श्रीपरमात्मने नमः

निवेदन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

उपनिषदोंमें ईश आदि ग्यारह उपनिषद् मुख्य माने जाते हैं। उनमें बृहदारण्यक और छान्दोग्य—इन दो उपनिषदोंका कलेवर बहुत बड़ा है और उनमें विषय भी अत्यन्त कठिन है—इस कारण उन विषयोंका समझना-समझाना मुझ-जैसे अल्पज्ञ मनुष्यकी योग्यताके बाहरकी बात है, यह सोचकर उन दोनोंको छोड़कर शेष नौ उपनिषदोंपर यह व्याख्या लिखी गयी।

यह व्याख्या विक्रम संवत् २००५ में ईश और केन उपनिषद्पर तो स्वर्गाश्रममें और अवशिष्ट सात उपनिषदोंपर गोरखपुरमें पूज्यपाद भाईजी श्रीजयदयालजीकी आज्ञासे 'कल्याण' के 'उपनिषदङ्क' में प्रकाशित करनेके लिये लिखी गयी थी।

इन नौ उपनिषदोंमेंसे पहला ईशावास्योपनिषद् तो शुक्लयजुर्वेदका चालीसवाँ अध्याय है एवं अन्य आठ उपनिषद् आरण्यक और ब्राह्मणग्रन्थोंके भाग हैं। इन सबमें परब्रह्म परमेश्वरके निर्गुण और सगुण स्वरूपका तत्त्व नाना प्रकारसे समझाया गया है। वेदोंका अन्तिम भाग होनेके कारण इनको वेदान्तके नामसे भी पुकारा जाता है। इन उपनिषदोंपर प्रधान-प्रधान सम्प्रदायोंके पूज्यपाद आचार्योंने अपने-अपने मतके अनुसार भाष्य लिखे हैं तथा संस्कृत और हिंदी-भाषामें

भी महानुभाव पण्डितोंने बहुत-सी टीकाएँ लिखी हैं एवं संस्कृत-भाष्य और टीकाओंके हिंदी-भाषामें अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं। इस परिस्थितिमें मुझ-जैसे साधारण मनुष्यके लिये इसपर व्याख्या लिखना कोई आवश्यक कार्य नहीं था। परंतु जब 'कल्याण' के विशेषाङ्क—'उपनिषदङ्क'के निकाले जानेकी बात स्थिर हुई, उस समय पूज्यजनोंने यह कार्यभार मुझे सौंप दिया। अतएव उनकी आज्ञाके पालनके लिये और अपने आध्यात्मिक विचारोंकी उन्नतिके लिये मैंने अपनी समझके अनुसार यह व्याख्या लिखकर 'उपनिषदङ्क'में प्रकाशित करवायी थी। अब कुछ मित्रोंका आग्रह होनेसे यथास्थान आवश्यक संशोधन करके इसे पुस्तकाकारमें प्रकाशित किया जाता है। उदार महानुभाव पण्डित और संतजन मेरी इस बाल-चपलताके लिये क्षमा करेंगे।

इस व्याख्याका अधिकांश संशोधन 'उपनिषदङ्क'की छपाईके समय पूज्यपाद भाईजी श्रीजयदयालजी और स्वामीजी श्रीरामसुखदास-जीकी सम्मतिसे किया गया था। व्याकरणसम्मत अर्थ और हिंदी-भाषाके संशोधनमें पण्डित श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने भी पर्याप्त सहयोग दिया था। इसके लिये मैं आपलोगोंका आभारी हूँ।

उक्त टीकामें पहले अन्वयपूर्वक शब्दार्थ लिखा गया है और उसके बाद व्याख्यामें प्रत्येक मन्त्रका भाव सरल भाषामें समझाकर लिखनेकी चेष्टा की गयी है। इससे जो मूल-ग्रन्थके साथ शब्दार्थ मिलाकर अर्थ समझना पसंद करते हैं और दूसरे जो संस्कृत भाषा-का ज्ञान नहीं रखते, ऐसे दोनों प्रकारके ही पाठकोंको उपनिषदोंका भाव समझनेमें सुविधा होगी, ऐसी आशा की जाती है।

इसके साथ प्रत्येक उपनिषद्की अलग-अलग विषय-सूची भी सम्मिलित की गयी है, इससे प्रत्येक विषयको खोज निकालनेमें पाठकोंको सुविधा मिलेगी।

गीताभवन, ऋषिकेश
गङ्गादशहरा संवत् २०१०

विनीत—
हरिकृष्णदास गोयन्दका

विषय-सूची

(१) ईशावास्योपनिषद्

(२) केनोपनिषद्

मन्त्र विषय पृष्ठ

तृतीय खण्ड

चतुर्थ खण्ड

(२) कठोपनिषद्

प्रथम अध्याय

(प्रथम वल्ली)

द्वितीय अध्याय

(प्रथम वल्ली)

(द्वितीय वल्ली)

मन्त्र	विषय	पृष्ठ

(तृतीय वल्ली)

(४) प्रश्नोपनिषद्

(प्रथम प्रश्नोत्तर)

(द्वितीय खण्ड)

तृतीय मुण्डक

(प्रथम खण्ड)

(६) माण्डूक्योपनिषद्

(७) ऐतरेयोपनिषद्

प्रथम अध्याय

(प्रथम खण्ड)

(द्वितीय खण्ड)

(तृतीय खण्ड)

द्वितीय अध्याय

(प्रथम खण्ड)

तृतीय अध्याय

(प्रथम खण्ड)

(८) तैत्तिरीयोपनिषद्

शीक्षावल्ली

अनुवाक विषय पृष्ठ

भृगुवल्ली

(६) श्वेताश्वतरोपनिषद्

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्ठ अध्याय

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ईशावास्योपनिषद्

यह ईशावास्योपनिषद् शुक्लयजुर्वेदकाण्वशाखीय-संहिताका चालीसवाँ अध्याय है। मन्त्र-भागका अंग होनेसे इसका विशेष महत्त्व है। इसीको सबसे पहला उपनिषद् माना जाता है। शुक्लयजुर्वेदके प्रथम उनतालीस अध्यायोंमें कर्मकाण्डका निरूपण हुआ है। यह उस काण्डका अन्तिम अध्याय है और इसमें भगवत्तत्त्वरूप ज्ञानकाण्डका निरूपण किया गया है। इसके पहले मन्त्रमें 'ईशा वास्यम्' वाक्य आनेसे इसका नाम 'ईशावास्य' माना गया है।

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥*

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ=सच्चिदानन्दघन, **अदः**=वह परब्रह्म, **पूर्णम्**=सब प्रकारसे पूर्ण है, **इदम्**=यह (जगत् भी), **पूर्णम्**=पूर्ण (ही) है, (क्योंकि) **पूर्णात्**=उस पूर्ण (परब्रह्म) से ही, **पूर्णम्**=यह पूर्ण; **उदच्यते**=उत्पन्न हुआ है, **पूर्णस्य**=पूर्णके; **पूर्णम्**=पूर्णको, **आदाय**=निकाल लेनेपर (भी), **पूर्णम्**=पूर्ण, **एव**=ही, **अवशिष्यते**=बच रहता है।

व्याख्या—वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकारसे सदा-सर्वदा परिपूर्ण है। यह जगत् भी उस परब्रह्मसे ही पूर्ण है, क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार परब्रह्मकी पूर्णतासे जगत् पूर्ण है, इसलिये भी वह परिपूर्ण है। उस पूर्ण ब्रह्ममेंसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी वह पूर्ण ही बच रहता है।

त्रिविध तापकी शान्ति हो।

---

* यह मन्त्र बृहदारण्यक उपनिषद्के पाँचवें अध्यायके प्रथम ब्राह्मणकी प्रथम कण्डिकाका पूर्वार्द्ध रूप है।

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम् ॥ १ ॥

जगत्याम्=अखिल ब्रह्माण्डमें, **यत् किं च**=जो कुछ भी, **जगत्**=जड-चेतनस्वरूप जगत् है, **इदम्**=यह, **सर्वम्**=समस्त, **ईशा**=ईश्वरसे, **वास्यम्**=व्याप्त है, **तेन**=उस ईश्वरको साथ रखते हुए, **त्यक्तेन**=त्यागपूर्वक, **भुञ्जीथाः**=(इसे) भोगते रहो, **मा गृधः**=(इसमें) आसक्त मत होओ,' (क्योंकि) **धनम्**=धन—भोग्य-पदार्थ, **कस्य स्वित्**=किसका है अर्थात् किसीका भी नहीं है ॥ १ ॥

व्याख्या—मनुष्योंके प्रति वेदभगवान्‌का पवित्र आदेश है कि अखिल विश्व-ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी यह चराचरात्मक जगत् तुम्हारे देखने-सुननेमें आ रहा है, सब-का-सब सर्वाधार, सर्वनियन्ता, सर्वाधिपति, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वकल्याण-गुणस्वरूप परमेश्वरसे व्याप्त है, सदा सर्वत्र उन्हींसे परिपूर्ण है (गीता ९ । ४) । इसका कोई भी अंश उनसे रहित नहीं है (गीता १० । ३९, ४२) । यों समझकर उन ईश्वरको निरन्तर अपने साथ रखते हुए—सदा-सर्वदा उनका स्मरण करते हुए ही तुम इस जगत्‌में ममता और आसक्तिका त्याग करके केवल कर्तव्यपालनके लिये ही विषयोंका यथाविधि उपभोग करो अर्थात्—विश्वरूप ईश्वरकी पूजाके लिये ही कर्मोंका आचरण करो । विषयोंमें मनको मत फँसने दो, इसीमें तुम्हारा निश्चित कल्याण है (गीता २ । ६४, ३ । ९, १८ । ४६) । वस्तुतः ये भोग्य-पदार्थ किसीके भी नहीं हैं । मनुष्य भूलसे ही इनमें ममता और आसक्ति कर बैठता है । ये सब परमेश्वरके हैं और उन्हींकी प्रसन्नताके लिये इनका उपयोग होना चाहिये ॥ १ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

इह=इस जगत्‌में, **कर्माणि**=शास्त्रनियत कर्मोंको; **कुर्वन्**=(ईश्वरपूजार्थ) करते हुए, **एव**=ही; **शतम् समाः**=सौ वर्षोंतक, **जिजीविषेत्**=जीनेकी इच्छा करनी चाहिये, **एवम्**=इस प्रकार (त्यागभावसे, परमेश्वरके लिये), **कर्म**=किये जानेवाले कर्म, **त्वयि**=तुझ, **नरे**=मनुष्यमें, **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होंगे, **इतः**=इससे (भिन्न), **अन्यथा**=अन्य कोई प्रकार अर्थात् मार्ग, **न अस्ति**=नहीं है (जिससे कि मनुष्य कर्म-बन्धनसे मुक्त हो सके) ॥ २ ॥

व्याख्या—पूर्व मन्त्रके कथनानुसार जगत्‌के एकमात्र कर्ता, धर्ता, हर्ता, सर्वशक्तिमान्, सर्वमय परमेश्वरका सतत स्मरण रखते हुए सब कुछ उन्हींका समझकर उन्हींकी पूजाके लिये शास्त्रनियत कर्तव्यकर्मोंका आचरण करते हुए ही

सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करो—इस प्रकार अपने पूरे जीवनको परमेश्वरके प्रति समर्पण कर दो। ऐसा समझो कि शास्त्रोक्त स्वकर्मका आचरण करते हुए जीवन-निर्वाह करना केवल परमेश्वरकी पूजाके लिये ही है, अपने लिये नहीं—भोग भोगनेके लिये नहीं। यों करनेमें वे कर्म तुझे बन्धनमें नहीं डाल सकेंगे। कर्म करते हुए कर्मोंसे लिप्त न होनेका यही एकमात्र मार्ग है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग कर्म-बन्धनसे मुक्त होनेका नहीं है (गीता २।५०,५१,५।१०)॥२॥

सम्बन्ध—इस प्रकार कर्मफलरूप जन्मबन्धनसे मुक्त होनेके निश्चित मार्गका निर्देश करके अब इसके विपरीत मार्गपर चलनेवाले मनुष्योंकी गतिका वर्णन करते हैं—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥३॥

असुर्याः=असुरोंके, (जो) **नाम**=प्रसिद्ध, **लोकाः**=नाना प्रकारकी योनियाँ एवं नरकरूप लोक हैं, **ते**=वे सभी, **अन्धेन तमसा**=अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे; **आवृताः**=आच्छादित हैं, **ये के च**=जो कोई भी, **आत्महनः**=आत्माकी हत्या करनेवाले, **जनाः**=मनुष्य हों, **ते**=वे, **प्रेत्य**=मरकर, **तान्**=उन्हीं भयङ्कर लोकोंको, **अभिगच्छन्ति**=बार-बार प्राप्त होते हैं॥ ३ ॥

व्याख्या—मानव-शरीर अन्य सभी शरीरोंसे श्रेष्ठ और परम दुर्लभ है एवं वह जीवको भगवान्‌की विशेष कृपासे जन्म-मृत्युरूप संसार-समुद्रसे तरनेके लिये ही मिलता है। ऐसे शरीरको पाकर भी जो मनुष्य अपने कर्मसमूहको ईश्वर-पूजाके लिये समर्पण नहीं करते और कामोपभोगको ही जीवनका परम ध्येय मानकर विषयोंकी आसक्ति और कामनावश जिस-किसी प्रकारसे भी केवल विषयोंकी प्राप्ति और उनके यथेच्छ उपभोगमें ही लगे रहते हैं, वे वस्तुतः आत्माकी हत्या करनेवाले ही हैं, क्योंकि इस प्रकार अपना पतन करनेवाले वे लोग अपने जीवनको केवल व्यर्थ ही नहीं खो रहे हैं वर अपनेको और भी अधिक कर्मबन्धनमें जकड़ रहे हैं। इन काम-भोग-परायण लोगोंको,—चाहे वे कोई भी क्यों न हों, उन्हें चाहे संसारमें कितने ही विशाल नाम, यश, वैभव या अधिकार प्राप्त हों,—मरनेके बाद कर्मोंके फलस्वरूप बार-बार उन कूकर, शूकर, कीट-पतङ्गादि विभिन्न शोक-संतापपूर्ण आसुरी योनियोंमें और भयानक नरकोंमें भटकना पड़ता है (गीता १६। १६, १९; २०), जो कि ऐसे आसुरी स्वभाववाले दुष्टोंके लिये निश्चित किये हुए हैं, और महान् अज्ञानरूप अन्धकारसे आच्छादित हैं। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है कि मनुष्यको अपने द्वारा अपना उद्धार करना चाहिये, अपना पतन नहीं करना चाहिये (गीता ६।५)॥ ३ ॥

सम्बन्ध—जो परमेश्वर सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त हैं, जिनका सतत स्मरण करते हुए तथा जिनकी पूजाके लिये ही समस्त कर्म करने चाहिये, वे कैसे हैं—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

(तत्)=वे परमेश्वर, **अनेजत्**=अचल, **एकम्**=एक, (और) **मनसः**=मनसे (भी), **जवीयः**=अधिक तीव्र गतियुक्त हैं, **पूर्वम्**=सबके आदि, **अर्षत्**=ज्ञानस्वरूप या सबके जाननेवाले हैं, **एनत्**=इन परमेश्वरको, **देवाः**=इन्द्रादि देवता भी, **न आप्नुवन्**=नहीं पा सके या जान सके हैं, **तत्**=वे (परब्रह्म पुरुषोत्तम), **अन्यान्**=दूसरे, **धावतः**=दौड़नेवालोंको, **तिष्ठत्**=(स्वयं) स्थित रहते हुए ही, **अत्येति**=अतिक्रमण कर जाते हैं, **तस्मिन्**=उनके होनेपर ही—उन्हींकी सत्ता-शक्तिसे, **मातरिश्वा**=वायु आदि देवता, **अपः**=जलवर्षा आदि क्रिया, **दधाति**=सम्पादन करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—वे सर्वान्तर्यामी सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अचल और एक हैं, तथापि मनसे भी अधिक तीव्र वेगयुक्त हैं । जहाँतक मनकी गति है, वे उससे भी कहीं आगे पहलेसे ही विद्यमान हैं । मन तो वहाँतक पहुँच ही नहीं पाता । वे सबके आदि और ज्ञानस्वरूप हैं अथवा सबके आदि होनेके कारण सबको पहलेसे ही जानते हैं । पर उनको देवता तथा महर्षिगण भी पूर्णरूपसे नहीं जान सकते (गीता १० । २) । जितने भी तीव्र वेगयुक्त बुद्धि, मन और इन्द्रियाँ अथवा वायु आदि देवता हैं, अपनी शक्तिभर परमेश्वरके अनुसंधानमें सदा दौड़ लगाते रहते हैं, परंतु परमेश्वर नित्य अचल रहते हुए ही उन सबको पार करके आगे निकल जाते हैं । वे सब वहाँतक पहुँच ही नहीं पाते । असीमकी सीमाका पता ससीमको कैसे लग सकता है । बल्कि वायु आदि देवताओंमें जो शक्ति है, जिसके द्वारा वे जलवर्षण, प्रकाशन, प्राणि-प्राणधारण आदि कर्म करनेमें समर्थ होते हैं, वह इन अचिन्त्यशक्ति परमेश्वरकी शक्तिका एक अंशमात्र ही है । उनका सहयोग मिले बिना ये सब कुछ भी नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब परमेश्वरकी अचिन्त्यशक्तिमत्ता तथा व्यापकताका प्रकारान्तरसे पुनः वर्णन करते हैं—

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

तत्=वे, एजति=चलते हैं, तत्=वे, न एजति=नहीं चलते, तत्=वे, दूरे=दूरसे भी दूर हैं, तत्=वे, उ अन्तिके=अत्यन्त समीप हैं, तत्=वे, अस्य=इस, सर्वस्य=समस्त जगत्के, अन्तः=भीतर परिपूर्ण हैं, (और) तत्= वे, अस्य=इस, सर्वस्य=समस्त जगत्के, उ बाह्यतः=बाहर भी हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे परमेश्वर चलते भी हैं और नहीं भी चलते, एक ही कालमें परस्परविरोधी भाव, गुण तथा क्रिया जिनमें रह सकती हैं, वे ही तो परमेश्वर हैं । यह उनकी अचिन्त्य शक्तिकी महिमा है । दूसरे प्रकारसे यह भी कहा जा सकता है कि भगवान् जो अपने दिव्य परम धाममें और लीलाधाममें अपने प्रिय भक्तोंको सुख पहुँचानेके लिये अप्राकृत सगुण-साकार रूपमें प्रकट रहकर लीला किया करते हैं, यह उनका चलना है, और निर्गुणरूपसे जो सदा-सर्वथा अचल स्थित हैं यह उनका न चलना है । इसी प्रकार वे श्रद्धा-प्रेमसे रहित मनुष्योंको कभी दर्शन नहीं देते, अतः उनके लिये दूर-से-दूर हैं, और प्रेमकी पुकार सुनते ही जिन प्रेमीजनोंके सामने चाहे जहाँ उसी क्षण प्रकट हो जाते हैं, उनके लिये वे समीप-से-समीप हैं । इसके अतिरिक्त वे सदा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, इसलिये दूर-से-दूर भी वे ही हैं और समीप-से-समीप भी वे ही हैं, क्योंकि ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहाँ वे न हों । सबके अन्तर्यामी होनेके कारण भी वे अत्यन्त समीप हैं, पर जो अज्ञानी लोग उन्हें इस रूपमें नहीं पहचानते, उनके लिये वे बहुत दूर हैं (गीता १३ । १५) । वस्तुतः वे इस समस्त जगत्के परम आधार हैं और परम कारण वे ही हैं, इसलिये बाहर-भीतर सभी जगह वे ही परिपूर्ण हैं (गीता ७ । ७) ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब अगले दो मन्त्रोंमें इन परब्रह्म परमेश्वरको जाननेवाले महापुरुषकी स्थितिका वर्णन किया जाता है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

तु=परंतु, यः=जो मनुष्य, सर्वाणि=सम्पूर्ण, भूतानि=प्राणियोंको, आत्मनि=परमात्मामें, एव=ही, अनुपश्यति=निरन्तर देखता है, च=और, सर्वभूतेषु=सम्पूर्ण प्राणियोंमें, आत्मानम्=परमात्माको (देखता है), ततः=उसके पश्चात् (वह कभी भी), न विजुगुप्सते=किसीसे घृणा नहीं करता॥६॥

व्याख्या—इस प्रकार जो मनुष्य प्राणिमात्रको सर्वाधार परब्रह्म पुरुषोत्तम परमात्मामें देखता है और सर्वान्तर्यामी परम प्रभु परमात्माको प्राणिमात्रमें देखता है, वह कैसे किससे घृणा या द्वेष कर सकता है । वह तो सदा सर्वत्र अपने परम प्रभुके ही दर्शन करता हुआ (गीता ६ । २९-३०) मन-ही-मन सबको प्रणाम करता रहता है तथा सबकी सब प्रकार सेवा करना और उन्हें सुख पहुँचाना चाहता है ॥ ६ ॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

यस्मिन्=जिस स्थितिमें, **विजानतः**=परब्रह्म परमेश्वरको भलीभाँति जाननेवाले महापुरुषके (अनुभवमें), **सर्वाणि**=सम्पूर्ण, **भूतानि**=प्राणी, **आत्मा**=एकमात्र परमात्मस्वरूप, **एव**=ही, **अभूत्**=हो चुकते हैं, **तत्र**=उस अवस्थामें, (उस) **एकत्वम्**=एकताका—एकमात्र परमेश्वरका, **अनुपश्यतः**= निरन्तर साक्षात् करनेवाले पुरुषके लिये; **कः**=कौन-सा, **मोहः**=मोह (रह जाता है और), **कः**=कौन-सा, **शोकः**=शोक । (वह शोक-मोहसे सर्वथा रहित, आनन्दपरिपूर्ण हो जाता है) ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब मनुष्य परमात्माको भलीभाँति पहचान लेता है, जब उसकी सर्वत्र भगवद्दृष्टि हो जाती है—जब वह प्राणिमात्रमें एकमात्र तत्त्व श्रीपरमात्माको ही देखता है, तब उसे सदा-सर्वत्र परमात्माके दर्शन होते रहते हैं । उस समय उसके अन्तःकरणमें शोक, मोह आदि विकार कैसे रह सकते हैं ? वह तो इतना आनन्दमग्न हो जाता है कि शोक-मोह आदि विकारोंकी छाया भी कहीं उसके चित्तप्रदेशमें नहीं रह जाती । लोगोंके देखनेमें वह सब कुछ करता हुआ भी वस्तुतः अपने प्रभुमें ही क्रीडा करता है (गीता ६ । ३१) । उसके लिये प्रभु और प्रभुकी लीलाके अतिरिक्त अन्य कुछ रह ही नहीं जाता॥७॥

सम्बन्ध—अब इस प्रकार परमप्रभु परमेश्वरको तत्त्वसे जाननेका तथा सर्वत्र देखनेका फल बतलाते हैं—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रण-
मस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतो-
ऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

सः=वह महापुरुष; **शुक्रम्**=(उन) परम तेजोमय, **अकायम्**= सूक्ष्मशरीरसे रहित, **अव्रणम्**=छिद्ररहित या क्षतरहित, **अस्नाविरम्**=शिराओंसे रहित—स्थूल पाञ्चभौतिक शरीरसे रहित, **शुद्धम्**=अप्राकृत दिव्य सच्चिदानन्द-स्वरूप, **अपापविद्धम्**=शुभाशुभकर्म सम्पर्कशून्य परमेश्वरको, **पर्यगात्**=प्राप्त हो जाता है, (जो) **कविः**=सर्वद्रष्टा, **मनीषी**=सर्वज्ञ एवं ज्ञानस्वरूप, **परिभूः**= सर्वोपरि विद्यमान एवं सर्व नियन्ता, **स्वयम्भूः**=स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले हैं (और), **शाश्वतीभ्यः**=अनादि, **समाभ्यः**=कालसे, **याथातथ्यतः**=सब

प्राणियोंके कर्मानुसार यथायोग्य, अर्थान्=सम्पूर्ण पदार्थोंकी, व्यदधात्=रचना करते आये हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त वर्णनके अनुसार परमेश्वरको सर्वत्र जानने-देखनेवाला महापुरुष उन परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वेश्वरको प्राप्त होता है, जो शुभाशुभ कर्मजनित प्राकृत सूक्ष्म देह तथा पाञ्चभौतिक अस्थि-शिरा मांसादिमय षड्विकारयुक्त स्थूल-देहसे रहित, छिद्ररहित, दिव्य शुद्ध सच्चिदानन्दघन हैं, एवं जो क्रान्तदर्शी—सर्वद्रष्टा हैं, सबके ज्ञाता, सबको अपने नियन्त्रणमें रखनेवाले सर्वाधिपति हैं, और कर्मपरवश नहीं, वरं स्वेच्छासे प्रकट होनेवाले हैं तथा जो सनातन कालसे सब प्राणियोंके लिये उनके कर्मानुसार समस्त पदार्थोंकी यथायोग्य रचना और विभाग-व्यवस्था करते आये हैं ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रोंमें विद्या और अविद्याका तत्त्व समझाया जायगा । इस प्रकरणमें परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिके साधन 'ज्ञान'को विद्याके नामसे कहा गया है और स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति अथवा इस लोकके विविध भोगैश्वर्यकी प्राप्तिके साधन 'कर्म'को अविद्याके नामसे । इन ज्ञान और कर्म—दोनोंके तत्त्वको भलीभाँति समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य ही इन दोनों साधनोंके द्वारा सर्वोत्तम तथा वास्तविक फल प्राप्त कर सकता है, अन्यथा नहीं—इस रहस्यको समझानेके लिये पहले उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥ ९ ॥

ये=जो मनुष्य, अविद्याम्=अविद्याकी; उपासते=उपासना करते हैं, (वे), अन्धम्=अज्ञानस्वरूप, तमः=घोर अन्धकारमें; प्रविशन्ति=प्रवेश करते हैं, (और) ये=जो मनुष्य, विद्यायाम्=विद्यामें, रताः=रत हैं अर्थात् ज्ञानके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं, ते=वे, ततः=उससे, उ=भी, भूयः इव=मानो अधिकतर; तमः=अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ॥ ९ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य भोगोंमें आसक्त होकर उनकी प्राप्तिके साधनरूप अविद्याका—विविध प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे उन कर्मोंके फलस्वरूप अज्ञानान्धकारमे परिपूर्ण विविध योनियों और भोगोंको ही प्राप्त होते हैं । वे मनुष्य-जन्मके चरम और परम लक्ष्य श्रीपरमेश्वरको न पाकर निरन्तर जन्म-मृत्युरूप संसारके प्रवाहमें पड़े हुए विविध तापोंसे संतप्त होते रहते हैं ।

दूसरे जो मनुष्य न तो अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्तापनके अभिमानसे रहित कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं और न विवेक-वैराग्यादि ज्ञानके प्राथमिक साधनों-

का ही सेवन करते हैं, परंतु केवल शास्त्रोंको पढ़-सुनकर अपनेमें विद्याका—ज्ञानका मिथ्या आरोप करके ज्ञानाभिमानी बन बैठते हैं, ऐसे मिथ्या ज्ञानी मनुष्य अपनेको ज्ञानी मानकर, 'हमारे लिये कोई भी कर्तव्य नहीं है' इस प्रकार कहते हुए कर्तव्यकर्मोंका त्याग कर देते हैं और इन्द्रियोंके वशमें होकर शास्त्रविधिसे विपरीत मनमाना आचरण करने लगते हैं। इससे वे लोग सकामभावसे कर्म करनेवाले विषयासक्त मनुष्योंकी अपेक्षा भी अधिकतर अन्धकारको— पशु-पक्षी, शूकर-कूकर आदि नीच योनियोंको और रौरव-कुम्भीपाकादि घोर नरकोंको प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझकर ज्ञान तथा कर्मका अनुष्ठान करनेसे जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, उसका संकेतसे वर्णन करते हैं—

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥१०॥

विद्यया=ज्ञानके यथार्थ अनुष्ठानसे, **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल, **आहुः**=बतलाते हैं, (और) **अविद्यया**=कर्मोंके यथार्थ अनुष्ठानसे, **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल; **आहुः**=बतलाते हैं, **इति**=इस प्रकार, (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषोंके; **शुश्रुम**=वचन सुने हैं, **ये**=जिन्होंने, **नः**=हमें, **तत्**=उस विषयको, **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १० ॥

व्याख्या—सर्वोत्तम फल प्राप्त करानेवाले ज्ञानका यथार्थ स्वरूप है—नित्यानित्यवस्तुका विवेक, क्षणभङ्गुर विनाशशील अनित्य ऐहलौकिक और पारलौकिक भोग-सामग्रियों और उनके साधनोंसे पूर्ण विरक्ति, संयमपूर्ण पवित्र जीवन और एकमात्र सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्मके चिन्तनमें अखण्ड संलग्नता । इस यथार्थ ज्ञानके अनुष्ठानसे प्राप्त होता है—परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता १८। ४९—५५)। यथार्थ ज्ञानका यह सर्वोत्तम फल, ज्ञानाभिमानमें रत स्वेच्छाचारी मनुष्योंको जो दुर्गतिरूप फल मिलता है, उससे सर्वथा भिन्न और विलक्षण है ।

इसी प्रकार सर्वोत्तम फल प्राप्त करानेवाले कर्मका स्वरूप है—कर्ममें कर्तापनके अभिमानका अभाव, राग-द्वेष और फल-कामनाका अभाव एवं अपने वर्णाश्रम तथा परिस्थितिके अनुरूप केवल भगवत्-सेवाके भावसे श्रद्धापूर्वक शास्त्रविहित कर्मोंका यथायोग्य सेवन । इसके अनुष्ठानसे समस्त दुर्गुण और दुराचारोंका अशेष रूपसे नाश हो जाता है और हर्ष-शोकादि समस्त विकारोंसे रहित होकर साधक मृत्युमय संसार-सागरसे तर जाता है। सकामभावसे किये जानेवाले कर्मोंका जो पुनर्जन्मरूप फल उन कर्ताओंको मिलता है, उससे इस यथार्थ कर्म-सेवनका यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है।

इस प्रकार हमने उन परम ज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूपसे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १० ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे ज्ञान और कर्म—दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट शब्दोंमें बतलाते हैं—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥ ११ ॥

यः=जो मनुष्य; **तत् उभयम्**=उन दोनोंको, (अर्थात्) **विद्याम्**=ज्ञानके तत्त्वको, **च**=और, **अविद्याम्**=कर्मके तत्त्वको, **च**=भी, **सह**=साथ-साथ **वेद**=यथार्थतः जान लेता है, **अविद्यया**=(वह) कर्मोंके अनुष्ठानसे, **मृत्युम्**=मृत्युको; **तीर्त्वा**=पार करके, **विद्यया**=ज्ञानके अनुष्ठानसे, **अमृतम्**=अमृतको, **अश्नुते**=भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—कर्म और अकर्मका वास्तविक रहस्य समझनेमें बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी भूल कर बैठते हैं (गीता ४ । १६) । इसी कारण कर्म-रहस्यसे अनभिज्ञ ज्ञानाभिमानी मनुष्य कर्मको ब्रह्मज्ञानमें बाधक समझ लेते हैं और अपने वर्णाश्रमोचित अवश्य कर्तव्य कर्मोंका त्याग कर देते हैं, परंतु इस प्रकारके त्यागसे उन्हें त्यागका यथार्थ फल—कर्मबन्धनसे छुटकारा नहीं मिलता (गीता १८ । ८) । इसी प्रकार ज्ञान (अकर्मावस्था—नैष्कर्म्य) का तत्त्व न समझनेके कारण मनुष्य अपनेको ज्ञानी तथा संसारसे ऊपर उठे हुए मान लेते हैं । अतः वे या तो अपनेको पुण्य-पापसे अलिप्त मानकर मनमाने कर्माचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं, या कर्मोंको भाररूप समझकर उन्हें छोड़ देते हैं और आलस्य, निद्रा तथा प्रमादमें अपने दुर्लभ मानव-जीवनके अमूल्य समयको नष्ट कर देते हैं ।

इन दोनों प्रकारके अनर्थोंसे बचनेका एकमात्र उपाय कर्म और ज्ञानके रहस्यको साथ-साथ समझकर उनका यथायोग्य अनुष्ठान करना ही है । इसीलिये इस मन्त्रमें यह कहा गया है कि जो मनुष्य इन दोनोंके तत्त्वको एक ही साथ भलीभाँति समझ लेता है, वह अपने वर्णाश्रम और परिस्थितिके अनुरूप शास्त्र-विहित कर्मोंका स्वरूपतः त्याग नहीं करता, बल्कि उनमें कर्तापनके अभिमानसे तथा राग-द्वेष और फल-कामनासे रहित होकर उनका यथायोग्य आचरण करता है । इससे उसकी जीवन-यात्रा भी सुखपूर्वक चलती है और इस भावसे कर्मानुष्ठान करनेके फलस्वरूप उसका अन्तःकरण समस्त दुर्गुणों एवं विकारोंसे रहित होकर अत्यन्त निर्मल हो जाता है और भगवत्कृपासे वह मृत्युमय संसारसे सहज ही तर जाता है । इस कर्मसाधनके साथ-ही-साथ विवेक-वैराग्यसम्पन्न होकर निरन्तर

ब्रह्मविचाररूप ज्ञानाभ्यास करते रहनेसे श्रीपरमेश्वरके यथार्थ ज्ञानका उदय होनेपर वह शीघ्र ही परब्रह्म परमेश्वरको साक्षात् प्राप्त कर लेता है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—अब अगले तीन मन्त्रोंमें असम्भूति और सम्भूतिका तत्त्व बतलाया जायगा । इस प्रकरणमें 'असम्भूति' शब्दका अर्थ है—जिनकी पूर्णरूपसे सत्ता न हो, ऐसी विनाशशील देव, पितर और मनुष्यादि योनियाँ एव उनकी भोगसामग्रियाँ । इसीलिये चौदहवें मन्त्रमें 'असम्भूति' के स्थानपर स्पष्टतया 'विनाश' शब्दका प्रयोग किया गया है । इसी प्रकार 'सम्भूति' शब्दका अर्थ है—जिसकी सत्ता पूर्णरूपसे हो वह सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और सहार करनेवाला अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम (गीता ७ । ६-७)।

देव, पितर और मनुष्यादिकी उपासना किस प्रकार करनी चाहिये और अविनाशी परब्रह्मकी किस प्रकार—इस तत्त्वको समझकर उनका अनुष्ठान करनेवाले मनुष्य ही उनके सर्वोत्तम फलोंको प्राप्त हो सकते हैं, अन्यथा नहीं । इस भावको समझानेके लिये, पहले उन दोनोंके यथार्थ स्वरूपको न समझकर अनुष्ठान करनेवालोंकी दुर्गतिका वर्णन करते हैं—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥ १२ ॥

ये=जो मनुष्य, **असम्भूतिम्**=विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदिकी, **उपासते**=उपासना करते हैं, (**ते**)=वे, **अन्धम्**=अज्ञानरूप, **तमः**=घोर अन्धकारमें, **प्रविशन्ति**=प्रवेश करते हैं, (और) ये=जो, **सम्भूत्याम्**=अविनाशी परमेश्वरमें, **रताः**=रत हैं अर्थात् उनकी उपासनाके मिथ्याभिमानमें मत्त हैं, **ते**=वे, **ततः**=उनसे, **उ**=भी, **भूयः इव**=मानो अधिकतर, **तमः**=अन्धकारमें (प्रवेश करते हैं) ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन, मान, कीर्ति अधिकार आदि इस लोक और परलोककी भोग-सामग्रियोंमें आसक्त होकर उन्हींको सुखका हेतु समझते हैं तथा उन्हींके अर्जन-सेवनमें सदा सलग्न रहते हैं एव इन भोग-सामग्रियोंकी प्राप्ति, सरक्षण तथा वृद्धिके लिये उन विभिन्न देवता, पितर और मनुष्यादिकी उपासना करते हैं, जो स्वय जन्म-मरणके चक्रमें पड़े हुए होनेके कारण अभावग्रस्त और शरीरकी दृष्टिसे विनाशशील हैं । उनके उपासक वे भोगासक्त मनुष्य अपनी उपासनाके फलस्वरूप विभिन्न देवताओंके लोकोंको और विभिन्न भोगयोनियोंको प्राप्त होते हैं । यही उनका अज्ञानरूप घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है । (गीता ७ । २० से २३)

दूसरे जो मनुष्य शास्त्रके तात्पर्यको तथा भगवान्‌के दिव्य गुण, प्रभाव, तत्त्व और रहस्यको न समझनेके कारण न तो भगवान्‌का भजन-ध्यान ही करते हैं

और न श्रद्धाका अभाव तथा भोगोंमें आसक्ति होनेके कारण लोकसेवा और शास्त्रविहित देवोपासनामें ही प्रवृत्त होते हैं, ऐसे वे विषयासक्त मनुष्य झूठ-मूठ ही अपनेको ईश्वरोपासक बतलाकर सरलहृदय जनतासे अपनी पूजा कराने लगते हैं। ये लोग मिथ्या अभिमानके कारण देवताओंको तुच्छ बतलाते हैं और शास्त्रानुसार अवश्यकर्तव्य देवपूजा तथा गुरुजनोंका सम्मान-सत्कार करना भी छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं, दूसरोंको भी अपने वाग्जालमें फँसाकर उनके मनोंमें भी देवोपासना आदिके प्रति अश्रद्धा उत्पन्न कर देते हैं। ये लोग अपनेको ही ईश्वरके समकक्ष मानते-मनवाते हुए मनमाने दुराचरणमें प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसे दम्भी मनुष्योंको अपने दुष्कर्मोंका कुफल भोगनेके लिये बाध्य होकर कूकर-शूकर आदि नीच योनियोंमें और रौरव-कुम्भीपाकादि नरकोंमें जाकर भीषण यन्त्रणाएँ भोगनी पड़ती हैं। यही उनका विनाशशील देवताओंकी उपासना करनेवालोंकी अपेक्षा भी अधिकतर घोर अन्धकारमें प्रवेश करना है (गीता १६। १८, १९) ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—शास्त्रके यथार्थ तात्पर्यको समझकर सम्भूति और असम्भूतिकी उपासना करनेसे जो सर्वोत्तम परिणाम होता है, अब संकेतसे उसका वर्णन करते हैं—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

सम्भवात्=अविनाशी ब्रह्मकी उपासनासे, **अन्यत् एव**=दूसरा ही फल, **आहुः**=बतलाते हैं, (और) **असम्भवात्**=विनाशशील देव-पितर-मनुष्य आदिकी उपासनासे, **अन्यत्**=दूसरा (ही) फल, **आहुः**=बतलाते हैं **इति**=इस प्रकार, (हमने) **धीराणाम्**=(उन) धीर पुरुषोंके, **शुश्रुम**=वचन सुने हैं, **ये**=जिन्होंने, **नः**=हमें, **तत्**=उस विषयको, **विचचक्षिरे**=व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १३ ॥

व्याख्या—अविनाशी ब्रह्मकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है—परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वाधार, सर्वमय, सम्पूर्ण संसारके कर्ता, धर्ता, हर्ता, नित्य अविनाशी समझना और भक्ति, श्रद्धा तथा प्रेमपरिपूरित हृदयसे नित्य-निरन्तर उनके दिव्य परम मधुर नाम, रूप, लीला-धाम तथा प्राकृत गुणरहित एवं दिव्य गुणगणमय सच्चिदानन्दघन स्वरूपका श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करते रहना। इस प्रकारकी सच्ची उपासनासे उपासकको शीघ्र ही अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्ति हो जाती है (गीता ९। ३४)। ईश्वरोपासनाका मिथ्या स्वाँग भरनेवाले दम्भियोंको जो फल मिलता है, उससे इन सच्चे उपासकोंको मिलनेवाला यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है।

इसी प्रकार विनाशशील देवता, पितर, मनुष्य आदिकी उपासनाका यथार्थ स्वरूप है—शास्त्रों एवं श्रीभगवान्‌की आज्ञानुसार (गीता १७। १४) देवता,

पितर, ब्राह्मण, माता-पिता, आचार्य और ज्ञानी महापुरुषोंकी सेवा-पूजादि अवश्य-कर्तव्य समझकर करना और उसको भगवान्‌की आज्ञाका पालन एवं उनकी परम सेवा समझना। इस प्रकार निष्कामभावसे देव-पितर-मनुष्य आदिकी सेवा-पूजा करनेवालोंके अन्तःकरणकी शुद्धि होती है तथा उनको श्रीभगवान्‌की कृपा एव प्रसन्नता प्राप्त होती है जिससे वे मृत्युमय ससार-सागरसे तर जाते हैं। विनाशशील देवता आदिकी सकाम उपासनासे जो फल मिलता है, उससे यह फल सर्वथा भिन्न और विलक्षण है।

इस प्रकार हमने उन धीर तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंसे सुना है, जिन्होंने हमें यह विषय पृथक्-पृथक् रूपसे व्याख्या करके भलीभाँति समझाया था ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त प्रकारसे सम्भूति और असम्भूति दोनोंके तत्त्वको एक साथ भलीभाँति समझनेका फल स्पष्ट बतलाते हैं—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥ १४ ॥

यः=जो मनुष्य, **तत् उभयम्**=उन दोनोंको, (अर्थात्) **सम्भूतिम्**=अविनाशी परमेश्वरको, **च**=और; **विनाशम्**=विनाशशील देवादिको, **च**=भी, **सह**=साथ-साथ, **वेद**=यथार्थतः जान लेता है; **विनाशेन**=(वह) विनाशशील देवादिकी उपासनासे; **मृत्युम्**=मृत्युको; **तीर्त्वा**=पार करके, **सम्भूत्या**=अविनाशी परमेश्वरकी उपासनासे, **अमृतम्**=अमृतको, **अश्नुते**=भोगता है अर्थात् अविनाशी आनन्दमय परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य यह समझ लेता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम नित्य अविनाशी, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वाधिपति, सर्वात्मा और सर्वश्रेष्ठ हैं, वे परमेश्वर नित्य निर्गुण (प्राकृत गुणोंसे सर्वथा रहित) और नित्य सगुण (स्वरूपभूत दिव्यकल्याणगुणगणविभूषित) हैं, और इसीके साथ जो यह भी समझ लेता है कि देवता, पितर, मनुष्य आदि जितनी भी योनियाँ तथा भोग-सामग्रियाँ हैं, सभी विनाशशील, क्षणभङ्गुर और जन्म-मृत्युशील होनेके कारण महान् दुःखके कारण हैं, तथापि इनमे जो सत्ता-स्फूर्ति तथा शक्ति है, वह सभी भगवान्‌की है और भगवान्‌के जगच्चक्रके सुचारुरूपसे चलते रहनेके लिये भगवत्प्रीत्यर्थ ही इनकी यथास्थान यथायोग्य सेवा-पूजा आदि करनेकी शास्त्रोंने आज्ञा दी है और शास्त्र भगवान्‌की ही वाणी हैं, वह मनुष्य ऐहलौकिक तथा पारलौकिक देव-पितरादि लोकोंके भोगोंमे आसक्त न होकर, कामना-ममता आदिको हृदयसे निकालकर इन सबकी यथायोग्य शास्त्रविहित सेवा-पूजादि करता है। इससे उसकी जीवन-यात्रा सुखपूर्वक चलती है और उसके आभ्यन्तरिक विकारोंका नाश होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है एव भगवत्कृपासे वह सहज

ही मृत्युमय संसार-सागरसे तर जाता है। विनाशशील देवता आदिकी निष्काम उपासनाके साथ-ही-साथ अविनाशी परात्पर प्रभुकी उपासनासे वह शीघ्र ही अमृत-रूप परमेश्वरको प्रत्यक्ष प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—श्रीपरमेश्वरकी उपासना करनेवालेको परमेश्वरकी प्राप्ति होती है, यह कहा गया। अतः भगवान्‌के भक्तको अन्तकालमें परमेश्वरसे उनकी प्राप्तिके लिये किस प्रकार प्रार्थना करनी चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

पूषन्=हे सबका भरण-पोषण करनेवाले, परमेश्वर, **सत्यस्य**=सत्यस्वरूप आप सर्वेश्वरका, **मुखम्**=श्रीमुख, **हिरण्मयेन**=ज्योतिर्मय सूर्यमण्डलरूप, **पात्रेण**=पात्रसे, **अपिहितम्**=ढका हुआ है, **सत्यधर्माय**=आपकी भक्तिरूप सत्यधर्मका अनुष्ठान करनेवाले मुझको, **दृष्टये**=अपने दर्शन करानेके लिये, **तत्**=उस आवरणको, **त्वम्**=आप, **अपावृणु**=हटा लीजिये ॥ १५ ॥

व्याख्या—भक्त इस प्रकार प्रार्थना करे कि 'हे भगवन्! आप अखिल ब्रह्माण्डके पोषक हैं; आपसे ही सबको पुष्टि प्राप्त होती है। आपकी भक्ति ही सत्यधर्म है और मैं उसमें लगा हुआ हूँ, अतएव मेरी पुष्टि—मेरे मनोरथकी पूर्ति तो आप अवश्य ही करेंगे। आपका दिव्य श्रीमुख—सच्चिदानन्दस्वरूप प्रकाशमय सूर्यमण्डलकी चमचमाती हुई ज्योतिर्मयी यवनिकासे आवृत है। मैं आपका निरावरण प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता हूँ, अतएव आपके पास पहुँचकर आपका निरावरण दर्शन करनेमें बाधा देनेवाले जितने भी, जो भी आवरण—प्रतिबन्धक हों, उन सबको मेरे लिये आप हटा लीजिये। अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपको प्रत्यक्ष प्रकट कीजिये' ॥ १५ ॥

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजा-
पत्य व्यूह रश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि
योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

पूषन्=हे भक्तोंका पोषण करनेवाले, **एकर्षे**=हे मुख्य ज्ञानस्वरूप, **यम**=हे सबके नियन्ता, **सूर्य**=हे भक्तों या ज्ञानियों (सूरियों) के परम लक्ष्यरूप, **प्राजापत्य**=हे प्रजापतिके प्रिय, **रश्मीन्**=इन रश्मियोंको; **व्यूह**=एकत्र कीजिये या हटा लीजिये, **तेजः**=इस तेजको, **समूह**=समेट लीजिये या अपने तेजमें मिला लीजिये, **यत्**=जो, **ते**=आपका, **कल्याणतमम्**=अतिशय कल्याणमय,

रूपम्=दिव्य स्वरूप है, **तत्**=उस, **ते**=आपके दिव्यस्वरूपको, **पश्यामि**=मैं आपकी कृपासे ध्यानके द्वारा देख रहा हूँ, **यः**=जो, **असौ**=वह (सूर्यका आत्मा) है, **असौ**=वह, **पुरुषः**=परम पुरुष (आपका ही स्वरूप है), **अहम्**=मैं (भी), **सः अस्मि**=वही हूँ ॥ १६ ॥

व्याख्या—भगवन् ! आप अपनी सहज कृपासे भक्तोंके भक्ति-साधनमें पुष्टि प्रदान करके उनका पोषण करनेवाले हैं, आप समस्त ज्ञानियोंमें अग्रगण्य, परम ज्ञानस्वरूप तथा अपने भक्तोंको अपने स्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्रदान करनेवाले हैं (गीता १० । ११), आप सबका यथायोग्य नियमन, नियन्त्रण और शासन करनेवाले हैं, आप ही भक्तों या ज्ञानी महापुरुषोंके लक्ष्य हैं और अविज्ञेय होनेपर भी अपने भक्तवत्सल स्वभावके कारण भक्तिके द्वारा उनके जाननेमें आ जाते हैं, आप प्रजापतिकेभी प्रिय हैं । हे प्रभो ! इस सूर्यमण्डलकी तप्त रश्मियोंको एकत्र करके अपनेमें लुप्त कर लीजिये । इसके उग्र तेजको समेटकर अपनेमें मिला लीजिये और मुझे अपने दिव्यरूपके प्रत्यक्ष दर्शन कराइये । अभी तो मैं आपकी कृपासे आपके सौन्दर्य-माधुर्यनिधि दिव्य परम कल्याणमय सच्चिदानन्दस्वरूपका ध्यान-दृष्टिसे दर्शन कर रहा हूँ, साथ ही बुद्धिके द्वारा समझ भी रहा हूँ कि जो आप परम पुरुष इस सूर्यके और समस्त विश्वके आत्मा हैं, वही मेरे भी आत्मा हैं, अतः मैं भी वही हूँ ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—ध्यानके द्वारा भगवान्के दिव्य मङ्गलमय स्वरूपके दर्शन करता हुआ साधक अब भगवान्की साक्षात् सेवामें पहुँचनेके लिये व्यग्र हो रहा है और शरीरका त्याग करते समय सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरके सर्वथा विघटनकी भावना करता हुआ भगवान्से प्रार्थना करता है—

> **वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।**
> **ॐ क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७॥**

अथ=अब, **वायुः**=ये प्राण और इन्द्रियाँ, **अमृतम्**=अविनाशी, **अनिलम्**=समष्टि वायु-तत्त्वमें, (**प्रविशतु**)=प्रविष्ट हो जायँ, **इदम्**=यह, **शरीरम्**=स्थूलशरीर, **भस्मान्तम्**=अग्निमें जलकर भस्मरूप, (**भूयात्**)=हो जाय, **ॐ**=हे सच्चिदानन्दघन, **क्रतो**=यज्ञमय भगवन्, **स्मर**=(आप मुझ भक्तको) स्मरण करें, **कृतम्**=मेरे द्वारा किये हुए कर्मोंका, **स्मर**=स्मरण करें, **क्रतो**=हे यज्ञमय भगवन्, **स्मर**=(आप मुझ भक्तको) स्मरण करें, **कृतम्**=(मेरे) कर्मोंको, **स्मर**=स्मरण करें ॥ १७ ॥

व्याख्या—परमधामका यात्री वह साधक अपने प्राण, इन्द्रिय और शरीरको अपनेसे सर्वथा भिन्न समझकर उन सबको उनके अपने-अपने उपादान तत्त्वमें

सदाके लिये विलीन करना एवं सूक्ष्म और स्थूल-शरीरका सर्वथा विघटन करना चाहता है। इसलिये कहता है कि प्राणादि समष्टिवायु आदिमें प्रविष्ट हो जायँ और स्थूल शरीर जलकर भस्म हो जाय। फिर वह अपने आराध्य देव परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीभगवान्से प्रार्थना करता है कि "हे यज्ञमय विष्णु—सच्चिदानन्द विज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! आप अपने निजजन मुझको और मेरे कर्मोंको स्मरण कीजिये। आप स्वभावसे ही मेरा और मेरे द्वारा बने हुए भक्तिरूप कार्योंका स्मरण करेंगे, क्योंकि आपने कहा है, 'अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्'— मैं अपने भक्तका स्मरण करता हूँ और उसे परम गतिमें पहुँचा देता हूँ, अपनी सेवामें स्वीकार कर लेता हूँ, क्योंकि यही सर्वश्रेष्ठ गति है।"

इसी अभिप्रायसे भक्त यहाँ दूसरी बार फिर कहता है कि 'भगवन् ! आप मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण कीजिये। अन्तकालमें मैं आपकी स्मृतिमें आ गया तो फिर निश्चय ही आपकी सेवामें शीघ्र पहुँच जाऊँगा' ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने आराध्यदेव परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्से प्रार्थना करके अब साधक अपुनरावर्ती अर्चि आदि मार्गके द्वारा परम धाममें जाते समय उस मार्गके अग्नि-अभिमानी देवतासे प्रार्थना करता है—

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥१८॥*

अग्ने=हे अग्निके अधिष्ठातृदेवता !, **अस्मान्**=हमें, **राये**=परम धनरूप परमेश्वरकी सेवामें पहुँचानेके लिये, **सुपथा**=सुन्दर शुभ (उत्तरायण) मार्गसे, **नय**=(आप) ले चलिये, **देव**=हे देव, (आप हमारे) **विश्वानि**=सम्पूर्ण **वयुनानि**=कर्मोंको, **विद्वान्**= जाननेवाले हैं, (अत.) **अस्मत्**=हमारे **जुहुराणम्**= इस मार्गके प्रतिबन्धक, **एनः**=(जो) पाप हों (उन सबको), **युयोधि**= (आप) दूर कर दीजिये, **ते**=आपको, **भूयिष्ठाम्**=बार-बार, **नमउक्तिम्**= नमस्कारके वचन, **विधेम**=(हम) कहते हैं—बार-बार नमस्कार करते हैं ॥१८॥

व्याख्या—साधक कहता है—हे अग्निदेवता ! मैं अब अपने परम प्रभु भगवान्की सेवामें पहुँचना और सदाके लिये उन्हींकी सेवामें रहना चाहता हूँ। आप शीघ्र ही मुझे परम सुन्दर मङ्गलमय उत्तरायणमार्गसे भगवान्के परमधाममें पहुँचा दीजिये। आप मेरे कर्मोंको जानते हैं। मैंने जीवनमें भगवान्की भक्ति की है और उनकी कृपासे इस समय भी मैं ध्याननेत्रोंसे उनके दिव्य स्वरूपके दर्शन और उनके नामोंका उच्चारण कर रहा हूँ। तथापि आपके ध्यानमें मेरा कोई ऐसा कर्म शेष हो, जो इस मार्गमें

* यजुर्वेद ५।३६।१७।४३,४०।१६ और ऋग्वेद १।१८९।१ में भी यही मन्त्र है।

प्रतिबन्धकरूप हो, तो आप कृपा करके उसे नष्ट कर दीजिये । मैं आपको बार-बार विनयपूर्वक नमस्कार करता हूँ * ॥ १८ ॥

॥ यजुर्वेदीय ईशावास्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः

इसका अर्थ इस ग्रन्थके प्रारम्भमें दिया जा चुका है ।

---

* इस उपनिषद्का पन्द्रहवाँ और सोलहवाँ मन्त्र सबके लिये मननीय है । इन मन्त्रोंके भावके अनुसार सबको भगवान्से दर्शन देनेके लिये प्रार्थना करनी चाहिये । 'सत्यधर्माय दृष्टये' का यह भाव भी समझना चाहिये कि 'भगवन्! आप अपने स्वरूपका वह आवरण—वह परदा हटा दीजिये, जिससे सत्यधर्मरूप आप परमेश्वरकी प्राप्ति तथा आपके मङ्गलमय श्रीविग्रहका दर्शन हो सके । इसी प्रकार सत्रहवें और अठारहवें मन्त्रके भावका भी प्रत्येक मनुष्यको विशेषत मुमूर्षु अवस्थामें अवश्य स्मरण करना चाहिये । इन मन्त्रोंके अनुसार अन्तकालमें भगवान्की प्रार्थना करनेसे मनुष्य-मात्रका कल्याण हो सकता है । भगवान्ने स्वयं भी गीतामें कहा है—

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥
(८ । ५)

मुमूर्षुमात्रके लाभके लिये इन दो मन्त्रोंका भावार्थ इस प्रकार है—हे परमात्मन्, मेरे ये इन्द्रिय और प्राण आदि अपने-अपने कारण-तत्त्वोंमें लीन हो जायँ और मेरा यह स्थूल शरीर भी भस्म हो जाय। इनके प्रति मेरे मनमें किञ्चित् भी आसक्ति न रहे । हे यज्ञमय विष्णो ! आप कृपा करके मेरा और मेरे कर्मोंका स्मरण करें । आपके स्मरण कर लेनेसे मैं और मेरे कर्म सब पवित्र हो जायँगे । फिर तो मैं अवश्य ही आपके चरणोंकी सेवामें पहुँच जाऊँगा ॥ १७ ॥ हे अग्नि-स्वरूप परमेश्वर ! आप ही मेरे धन हैं—सर्वस्व हैं, अतः आपकी ही प्राप्तिके लिये आप मुझे उत्तम मार्गसे अपने चरणोंके समीप पहुँचाइये । मेरे जितने भी शुभाशुभ कर्म हैं, वे आपसे छिपे नहीं हैं, आप सबको जानते हैं, मैं उन कर्मोंके बलपर आपको नहीं पा सकता । आप स्वयं ही दया करके मुझे अपना लीजिये । आपकी प्राप्तिमें जो भी प्रतिबन्धक पाप हों उन सबको आप दूर कर दें, मैं बारबार आपको नमस्कार करता हूँ ॥ १८ ॥

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

केनोपनिषद्

यह उपनिषद् सामवेदके 'तलवकार ब्राह्मण' के अन्तर्गत है। तलवकारको जैमिनीय उपनिषद् भी कहते हैं। 'तलवकार ब्राह्मण' के अस्तित्वके सम्बन्धमें कुछ पाश्चात्य विद्वानोंको संदेह हो गया था, परंतु डा० बर्नेलको कहींसे एक प्राचीन प्रति मिल गयी, तबसे वह संदेह जाता रहा। इस उपनिषद्में सबसे पहले 'केन' शब्द आया है, इसीसे इसका 'केनोपनिषद्' नाम पड़ गया। इसे 'तलवकार उपनिषद्' और 'ब्राह्मणोपनिषद्' भी कहते हैं। तलवकार ब्राह्मणका यह नवम अध्याय है। इसके पूर्वके आठ अध्यायोंमें अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये विभिन्न कर्म और उपासनाओंका वर्णन है। इस उपनिषद्का प्रतिपाद्य विषय परब्रह्म-तत्त्व बहुत ही गहन है, अतएव उसको भलीभाँति समझानेके लिये गुरु-शिष्य-संवादके रूपमें तत्त्वका विवेचन किया गया है।

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बल-मिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ=हे परब्रह्म परमात्मन्; मम=मेरे; अङ्गानि=सम्पूर्ण अङ्ग; वाक्=वाणी; प्राणः=प्राण; चक्षुः=नेत्र; श्रोत्रम्=कान; च=और; सर्वाणि=सब; इन्द्रियाणि=इन्द्रियाँ; अथो=तथा; बलम्=शक्ति; आप्यायन्तु=परिपुष्ट हों; सर्वम्=(यह जो) सर्वरूप; औपनिषदम्=उपनिषत्-प्रतिपादित; ब्रह्म=ब्रह्म है; अहम्=मैं; ब्रह्म=इस ब्रह्मको; मा निराकुर्याम्=अस्वीकार न करूँ; (और) ब्रह्म=ब्रह्म; मा=मुझको; मा निराकरोत्=परित्याग न करे; अनिराकरणम्=(उसके साथ मेरा) अटूट सम्बन्ध; अस्तु=हो; मे=मेरे साथ; अनिराकरणम्=(उसका) अटूट सम्बन्ध; अस्तु=हो; उपनिषत्सु=उपनिषदोंमें प्रतिपादित; ये=जो; धर्माः=धर्मसमूह हैं; ते=वे सब; तदात्मनि=उस परमात्मामें; निरते=लगे हुए; मयि=

मुझमें, सन्तु=हों, ते=वे सब, मयि=मुझमें, सन्तु=हों । ॐ=हे परमात्मन्; शान्तिः शान्तिः शान्तिः=त्रिविध तापोंकी निवृत्ति हो ।

व्याख्या—हे परमात्मन् ! मेरे सारे अङ्ग, वाणी, नेत्र, श्रोत्र आदि सभी कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह, शारीरिक और मानसिक शक्ति तथा ओज—सब पुष्टि एवं वृद्धिको प्राप्त हों। उपनिषदोंमें सर्वरूप ब्रह्मका जो स्वरूप वर्णित है, उसे मैं कभी अस्वीकार न करूँ और वह ब्रह्म भी मेरा कभी परित्याग न करे। मुझे सदा अपनाये रक्खे। मेरे साथ ब्रह्मका और ब्रह्मके साथ मेरा नित्य सम्बन्ध बना रहे। उपनिषदोंमें जिन धर्मोंका प्रतिपादन किया गया है, वे सारे धर्म, उपनिषदोंके एकमात्र लक्ष्य परब्रह्म परमात्मामें निरन्तर लगे हुए मुझ साधकमें सदा प्रकाशित रहें, मुझमें नित्य-निरन्तर बने रहें। और मेरे त्रिविध तापोंकी निवृत्ति हो।

प्रथम खण्ड

सम्बन्ध—शिष्य गुरुदेवसे पूछता है—

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ १ ॥

केन=किसके द्वारा, इषितम्=सत्ता-स्फूर्ति पाकर, (और) प्रेषितम्=प्रेरित—सञ्चालित होकर, (यह) मनः=मन (अन्तःकरण), पतति=अपने विषयोंमें गिरता है—उनतक पहुँचता है, केन=किसके द्वारा, युक्तः=नियुक्त होकर प्रथमः=अन्य सबसे श्रेष्ठ, प्राणः=प्राण, प्रैति=चलता है, केन=किसके द्वारा, इषिताम्=क्रियाशील की हुई, इमाम्=इस, वाचम्=वाणीको, वदन्ति=लोग बोलते हैं, कः=(और) कौन, उ=प्रसिद्ध, देवः=देव, चक्षुः=नेत्रेन्द्रिय (और); श्रोत्रम्=कर्णेन्द्रियको; युनक्ति=नियुक्त करता है (अपने अपने विषयोंके अनुभवमें लगाता) है ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें चार प्रश्न हैं। इनमें प्रकारान्तरसे यह पूछा गया है कि जडरूप अन्तःकरण, प्राण, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियोंको अपना-अपना कार्य करनेकी योग्यता प्रदान करनेवाला और उन्हें अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त करनेवाला जो कोई एक सर्वशक्तिमान् चेतन है, वह कौन है ? और कैसा है ? ॥ १ ॥

सम्बन्ध—इसके उत्तरमें गुरु कहते हैं—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचꣳस उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ २ ॥

यत्=जो, मनसः=मनका, मनः=मन अर्थात् कारण है, प्राणस्य=प्राणका, प्राणः=प्राण है; वाचः=वाक् इन्द्रियका, वाचम्=वाक् है, श्रोत्रस्य=श्रोत्रेन्द्रियका, श्रोत्रम्=श्रोत्र है, उ=और, चक्षुषः=चक्षु-इन्द्रियका, चक्षुः=चक्षु है, सः=वह, ह=ही (इन सबका प्रेरक परमात्मा है); धीराः=ज्ञानीजन (उसे जानकर), अतिमुच्य=जीवन्मुक्त होकर, अस्मात्=इस, लोकात्=लोकसे, प्रेत्य=जानेके बाद (मृत्युके अनन्तर), अमृताः=अमर (जन्म-मृत्युसे रहित), भवन्ति=हो जाते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें गुरु शिष्यके प्रश्नोंका स्पष्ट उत्तर न देकर 'जो श्रोत्रका भी श्रोत्र है, इत्यादि शब्दोंके द्वारा सङ्केतसे समझा रहे हैं कि जो इन मन, प्राण और सम्पूर्ण इन्द्रियोंका—समस्त जगत्का परम कारण है, जिससे ये सब उत्पन्न हुए हैं, जिसकी शक्तिको पाकर ये सब अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ हो रहे हैं और जो इन सबको जाननेवाला है, वह परब्रह्म पुरुषोत्तम ही इन सबका प्रेरक है। उसे जानकर ज्ञानीजन जीवन्मुक्त होकर इस लोकसे प्रयाण करनेके अनन्तर अमृतस्वरूप—विदेहमुक्त हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मृत्युसे सदाके लिये छूट जाते हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—वह मन, प्राण और इन्द्रियोंका प्रेरक ब्रह्म 'ऐसा' है—इस प्रकार स्पष्ट न कहकर सङ्केतसे ही क्यों समझाया ?—इस जिज्ञासापर पुनः गुरु कहते हैं—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥ ३ ॥

तत्र=वहाँ (उस ब्रह्मतक), न=न तो, चक्षुः=चक्षु-इन्द्रिय (आदि सब ज्ञानेन्द्रियाँ), गच्छति=पहुँच सकती हैं, न=न, वाक्=वाक् इन्द्रिय (आदि कर्मेन्द्रियाँ), गच्छति=पहुँच सकती हैं (और); नो=न, मनः=मन (अन्तःकरण) ही, (अतः) यथा=जिस प्रकार, एतत्=इस (ब्रह्मके स्वरूप) को, अनुशिष्यात्=बतलाया जाय कि वह ऐसा है, न विद्मः=(इस बातको) न तो हम स्वयं अपनी बुद्धिसे जानते हैं (और) न विजानीमः=न दूसरोंसे सुनकर ही जानते हैं, (क्योंकि) तत्=वह, विदितात्=जाने हुए (जाननेमें आनेवाले) पदार्थसमुदायसे, अन्यत् एव=भिन्न ही है, अथो=और, अविदितात्=(मन-इन्द्रियोंद्वारा) न जाने हुए (जाननेमें न आनेवाले) से (भी), अधि=ऊपर है, इति=यह, पूर्वेषाम्=अपने पूर्वाचार्योंके मुखसे, शुश्रुम=सुनते आये हैं, ये=जिन्होंने, नः=हमें, तत्=उस ब्रह्मका तत्त्व, व्याचचक्षिरे=भलीभाँति व्याख्या करके समझाया था ॥ ३ ॥

व्याख्या—उन सच्चिदानन्दघन परब्रह्मको प्राकृत अन्तःकरण और इन्द्रियाँ नहीं जान सकतीं । ये वहाँतक पहुँच ही नहीं पातीं । उस अलौकिक दिव्य तत्त्वमें इनका प्रवेश ही नहीं हो सकता । बल्कि इनमें जो चेतना और क्रिया प्रतीत होती है, यह उसी ब्रह्मकी प्रेरणासे और उसीकी शक्तिसे होती है । ऐसी अवस्थामें मन-इन्द्रियोंके द्वारा कोई कैसे बतलाये कि वह ब्रह्म 'ऐसा है' इस प्रकार ब्रह्म-तत्त्वके उपदेशका कोई तरीका न तो हमने किसीके भी द्वारा समझा है और न हम स्वयं अपनी बुद्धिसे ही विचारके द्वारा समझ रहे हैं । हमने तो जिन महापुरुषोंसे इस गूढ तत्त्वका उपदेश प्राप्त किया है, उनसे यही सुना है कि वह परब्रह्म परमेश्वर जड-चेतन दोनोंसे ही भिन्न है—जाननेमें आनेवाले सम्पूर्ण दृश्य जड-वर्ग (क्षर) से तो वह सर्वथा भिन्न है और इस जड-वर्गको जाननेवाले परंतु स्वयं जाननेमें न आनेवाले जीवात्मा (अक्षर) से भी उत्तम है । ऐसी स्थितिमें उसके स्वरूपतत्त्वको वाणीके द्वारा व्यक्त करना कदापि सम्भव नहीं है । इसीसे उसको समझानेके लिये संकेतका ही आश्रय लेना पडता है [गी० १५।१८] ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—अब उसी ब्रह्मको प्रश्नोंके अनुसार पुनः पाँच मन्त्रोंमें समझाते हैं—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ४ ॥

यत्=जो, **वाचा**=वाणीके द्वारा, **अनभ्युदितम्**=नहीं बतलाया गया है, [**अपि तु**=बल्कि,] **येन**=जिससे, **वाक्**=वाणी, **अभ्युद्यते**=बोली जाती है अर्थात् जिसकी शक्तिसे वक्ता बोलनेमें समर्थ होता है, **तत्**=उसको, **एव**=ही, **त्वम्**=तू, **ब्रह्म**=ब्रह्म, **विद्धि**=जान, **इदम् यत्**=वाणीके द्वारा बतानेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी, **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=यह, **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ४ ॥

व्याख्या—वाणीके द्वारा जो कुछ भी व्यक्त किया जा सकता है तथा प्राकृत वाणीसे बतलाये हुए जिस तत्त्वकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है । ब्रह्मतत्त्व वाणीसे सर्वथा अतीत है । उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिसकी शक्तिके किसी अंशसे वाणीमें प्रकाशित होनेकी—बोलनेकी शक्ति आयी है, जो वाणीका भी ज्ञाता, प्रेरक और प्रवर्तक है, वह ब्रह्म है । इस मन्त्रमें 'जिसकी प्रेरणासे वाणी बोली जाती है, वह कौन है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ४ ॥

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ५ ॥

यत्=जिसको, (कोई भी) **मनसा**=मनसे (अन्तःकरणके द्वारा), **न**=नहीं, **मनुते**=समझ सकता, [**अपि तु**=बल्कि], **येन**=जिससे, **मनः**=मनः **मतम्**=(मनुष्यका) जाना हुआ हो जाता है, **आहुः**=ऐसा कहते हैं, **तत्**=उसको, **एव**=ही; **त्वम्**=तू, **ब्रह्म**= ब्रह्म, **विद्धि**=जान, **इदम् यत्**=मन और बुद्धिके द्वारा जाननेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी, **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं, **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ५ ॥

व्याख्या—बुद्धि और मनका जो कुछ भी विषय है, जो इनके द्वारा जाननेमें आ सकता है तथा प्राकृत मन-बुद्धिसे जाने हुए जिस तत्त्वकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है । परब्रह्म परमेश्वर मन और बुद्धिसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो मन-बुद्धिका ज्ञाता, उनको मनन और निश्चय करनेकी शक्ति देनेवाला तथा मनन और निश्चय करनेमें नियुक्त करनेवाला है तथा जिसकी शक्तिके किसी अंशसे बुद्धिमें निश्चय करनेकी और मनमें मनन करनेकी सामर्थ्य आयी है, वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी शक्ति और प्रेरणाको पाकर मन अपने ज्ञेय पदार्थोंको जानता है, वह कौन है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ५ ॥

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ६ ॥

यत्=जिसको (कोई भी), **चक्षुषा**=चक्षुके द्वारा, **न**=नहीं, **पश्यति**=देख सकता [**अपि तु**=बल्कि,]**येन**=जिससे, **चक्षूंषि**=चक्षु, (अपने विषयोंको) **पश्यति**=देखता है, **तत्**=उसको; **एव**=ही, **त्वम्**=तू, **ब्रह्म**=ब्रह्म; **विद्धि**=जान' **इदम् यत्**=चक्षुके द्वारा देखनेमें आनेवाले जिस दृश्यवर्गकी, **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं, **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ६ ॥

व्याख्या—चक्षुका जो कुछ भी विषय है, जो इसके द्वारा देखने-जाननेमें आ सकता है तथा प्राकृत आँखोंसे देखे जानेवाले जिस पदार्थसमूहकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक रूप नहीं है । परब्रह्म परमेश्वर चक्षु आदि इन्द्रियोंसे सर्वथा अतीत है । उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिसकी शक्ति और प्रेरणासे चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ होती हैं, जो इनको जाननेवाला और इन्हें अपने विषयोंको जाननेमें प्रवृत्त करनेवाला है तथा जिसकी शक्तिके किसी अंशका यह प्रभाव है वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी शक्ति और प्रेरणासे चक्षु अपने विषयोंको देखता है, वह कौन है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ६ ॥

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ७ ॥

यत्=जिसको (कोई भी), **श्रोत्रेण**=श्रोत्रके द्वारा, **न**=नहीं, **शृणोति**=सुन सकता; [**अपि तु**=बल्कि,] **येन**=जिससे; **इदम्**=यह, **श्रोत्रम्**=श्रोत्र-इन्द्रिय, **श्रुतम्**=सुनी हुई है, **तत्**=उसको, **एव**=ही; **त्वम्**=तू, **ब्रह्म**=ब्रह्म, **विद्धि**=जान, **इदम् यत्**=श्रोत्र-इन्द्रियके द्वारा जाननेमें आनेवाले जिस तत्त्वकी, **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं, **इदम्**=यह; **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो कुछ भी सुननेमें आनेवाला पदार्थ है तथा प्राकृत कानोंसे सुने जानेवाले जिस वस्तु-समुदायकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर श्रोत्रेन्द्रियसे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो श्रोत्र-इन्द्रियका ज्ञाता, प्रेरक और उसमें सुननेकी शक्ति देनेवाला है तथा जिसकी शक्तिके किसी अंशसे श्रोत्र इन्द्रियमें शब्दोंको ग्रहण करनेकी सामर्थ्य आयी है, वह ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी शक्ति और प्रेरणासे श्रोत्र अपने विषयोंको सुननेमें प्रवृत्त होता है, वह कौन है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है ॥ ७ ॥

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ ८ ॥

यत्=जो, **प्राणेन**=प्राणके द्वारा; **न प्राणिति**=चेष्टायुक्त नहीं होता; [**अपि तु**=बल्कि,] **येन**=जिससे, **प्राणः**=प्राण, **प्रणीयते**=चेष्टायुक्त होता है, **तत्**=उसको, **एव**=ही, **त्वम्**=तू, **ब्रह्म**=ब्रह्म, **विद्धि**=जान, **इदम् यत्**=प्राणोंकी शक्तिसे चेष्टायुक्त दीखनेवाले जिस तत्त्व-समुदायकी, **उपासते**=(लोग) उपासना करते हैं; **इदम्**=यह, **न**=ब्रह्म नहीं है ॥ ८ ॥

व्याख्या—प्राणके द्वारा जो कोई भी चेष्टायुक्त की जानेवाली वस्तु है, तथा प्राकृत प्राणसे अनुप्राणित जिस तत्त्वकी उपासना की जाती है, वह ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप नहीं है। परब्रह्म परमेश्वर उससे सर्वथा अतीत है। उसके विषयमें केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जो प्राणका ज्ञाता, प्रेरक और उसमें शक्ति देनेवाला है, जिसकी शक्तिके किसी अंशको प्राप्त करके और जिसकी प्रेरणासे यह प्रधान प्राण सबको चेष्टायुक्त करनेमें समर्थ होता है, वही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ब्रह्म है। इस मन्त्रमें 'जिसकी प्रेरणासे प्राण विचरता है, वह कौन है ?' इस प्रश्नका उत्तर दिया गया है।

सारांश यह कि प्राकृत मन, तथा इन्द्रियोंसे जिन विषयोंकी

उपलब्धि होती है, वे सभी प्राकृत होते हैं, अतएव उनको परब्रह्म परमेश्वर परात्पर पुरुषोत्तमका वास्तविक स्वरूप नहीं माना जा सकता। इसलिये उनकी उपासना भी परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना नहीं है। मन-बुद्धि आदिसे अतीत परब्रह्म परमेश्वरके स्वरूपको सांकेतिक भाषामें समझानेके लिये ही यहाँ गुरुने इन सबके ज्ञाता, शक्तिप्रदाता, स्वामी, प्रेरक, प्रवर्तक, सर्वशक्तिमान्, नित्य, अप्राकृत परम तत्त्वको ब्रह्म बतलाया है॥ ८॥

प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि
नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम्।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु
मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्॥ १॥

यदि=यदि, त्वम्=तू, इति=यह, मन्यसे=मानता है (कि); सुवेद=(मैं ब्रह्मको) भलीभाँति जान गया हूँ, अपि=तो, नूनम्=निश्चय ही, ब्रह्मणः=ब्रह्मका, रूपम्=स्वरूप, दभ्रम्=थोड़ा-सा, एव=ही, (तू) वेत्थ= जानता है, (क्योंकि) अस्य=इस (परब्रह्म परमेश्वर) का, यत्=जो (आंशिक) स्वरूप, त्वम्=तू है, (और) अस्य=इसका, यत्=जो (आंशिक) स्वरूप, देवेषु=देवताओंमें है, [तत् अल्पम् एव=वह सब मिलकर भी अल्प ही है,] अथ नु=इसीलिये, मन्ये=मैं मानता हूँ कि, ते विदितम्=तेरा जाना हुआ, (स्वरूप) मीमांस्यम् एव=निस्सन्देह विचारणीय है॥ १॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें गुरु अपने शिष्यको सावधान करते हुए कहते हैं कि 'हमारे द्वारा संकेतसे बतलाये हुए ब्रह्मतत्त्वको सुनकर यदि तू ऐसा मानता है कि मैं उस ब्रह्मको भलीभाँति जान गया हूँ तो यह निश्चित है कि तूने ब्रह्मके स्वरूपको बहुत थोड़ा जाना है; क्योंकि उस परब्रह्मका अंशभूत जो जीवात्मा है, उसीको, अथवा समस्त देवताओंमें—यानी मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय आदिमें जो ब्रह्मका अंश है, जिससे वे अपना काम करनेमें समर्थ हो रहे हैं, उसको यदि तू ब्रह्म समझता है तो तेरा यह समझना यथार्थ नहीं है। ब्रह्म इतना ही नहीं है। इस जीवात्माको और समस्त विश्व-ब्रह्माण्डमें व्याप्त जो ब्रह्मकी शक्ति है, उस सबको मिलाकर भी देखा जाय तो वह ब्रह्मका एक अंश ही है। अतएव तेरा समझा हुआ यह ब्रह्मतत्त्व तेरे लिये पुनः विचारणीय है, ऐसा मैं मानता हूँ'॥१॥

सम्बन्ध—गुरुदेवके उपदेशपर गम्भीरतापूर्वक विचार करनेके अनन्तर शिष्य उनके सामने अपना विचार प्रकट करता है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥ २ ॥

अहम्=मैं, **सुवेद**=ब्रह्मको भलीभाँति जान गया हूँ, **इति न मन्ये**=यों नहीं मानता, (और) **नो**=न, **इति**=ऐसा (ही मानता हूँ कि), **न वेद**=नहीं जानता, (क्योंकि) **वेद च**=जानता भी हूँ, (किंतु यह जानना विलक्षण है) **नः**=हम शिष्योंमेंसे, **यः**=जो कोई भी, **तत्**=उस ब्रह्मको, **वेद**=जानता है, **तत्**=(वही) मेरे उक्त वचनके अभिप्रायको, **च**=भी, **वेद**=जानता है, (कि) **वेद**=मैं जानता हूँ; (और) **न वेद**=नहीं जानता, **इति**=ये दोनों ही, **नो**=नहीं हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें शिष्यने अपने गुरुदेवके प्रति संकेतसे अपना अनुभव इस प्रकार प्रकट किया है कि "उस ब्रह्मको मैं भलीभाँति जानता हूँ, यह मैं नहीं मानता और न यह ही मानता हूँ कि मैं उसे नहीं जानता; क्योंकि मैं जानता भी हूँ । तथापि मेरा यह जानना वैसा नहीं है, जैसा कि किसी ज्ञाताका किसी ज्ञेय वस्तुको जानना है । यह उससे सर्वथा विलक्षण और अलौकिक है । इसलिये मैं जो यह कह रहा हूँ कि 'मैं उसे नहीं जानता—ऐसा भी नहीं और जानता हूँ—ऐसा भी नहीं, तो भी मैं उसे जानता हूँ ।' मेरे इस कथनके रहस्यको हम शिष्योंमेंसे वही ठीक समझ सकता है, जो उस ब्रह्मको जानता है" ॥ २ ॥

सम्बन्ध—अब श्रुति स्वयं उपर्युक्त गुरु-शिष्य-संवादका निष्कर्ष कहती है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥ ३ ॥

यस्य अमतम्=जिसका यह मानना है कि ब्रह्म जाननेमें नहीं आता; **तस्य**=उसका, **मतम्**=(तो वह) जाना हुआ है; (और) **यस्य**=जिसका, **मतम्**=यह मानना है कि ब्रह्म मेरा जाना हुआ है; **सः**=वह, **न**=नहीं, **वेद**=जानता, (क्योंकि) **विजानताम्**=जाननेका अभिमान रखनेवालोंके लिये, **अविज्ञातम्**=(वह ब्रह्मतत्त्व) जाना हुआ नहीं है, (और) **अविजानताम्**=जिनमें ज्ञातापनका अभिमान नहीं है, उनका, **विज्ञातम्**=(वह ब्रह्मतत्त्व) जाना हुआ है अर्थात् उनके लिये वह अपरोक्ष है ॥ ३ ॥

व्याख्या—जो महापुरुष परब्रह्म परमेश्वरका साक्षात् कर लेते हैं, उनमें किञ्चिन्मात्र भी ऐसा अभिमान नहीं रह जाता कि हमने परमेश्वरको जान लिया

है। वे परमात्माके अनन्त असीम महिमा-महार्णवमें निमग्न हुए यही समझते हैं कि परमात्मा स्वय ही अपनेको जानते हैं। दूसरा कोई भी ऐसा नहीं है, जो उनका पार पा सके। भला, असीमकी सीमा ससीम कैसे पा सकता है? अतएव जो यह मानता है कि मैंने ब्रह्मको जान लिया है, मैं ज्ञानी हूँ, परमेश्वर मेरे ज्ञेय हैं, वह वस्तुतः सर्वथा भ्रममें है; क्योंकि ब्रह्म इस प्रकार ज्ञानका विषय नहीं है। जितने भी ज्ञानके साधन हैं, उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं जो ब्रह्मतक पहुँच सके। अतएव इस प्रकारके जाननेवालोंके लिये परमात्मा सदा अज्ञात हैं; जबतक जाननेका अभिमान रहता है, तबतक परमेश्वरका साक्षात्कार नहीं होता। परमेश्वरका साक्षात्कार उन्हीं भाग्यवान् महापुरुषोंको होता है, जिनमे जाननेका अभिमान किञ्चित् भी नहीं रह गया है ॥ ३ ॥

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥ ४ ॥

प्रतिबोधविदितम्=उपर्युक्त प्रतिबोध (सङ्केत) से उत्पन्न ज्ञान ही, **मतम्**=वास्तविक ज्ञान है, **हि**=क्योंकि (इससे), **अमृतत्वम्**=अमृतस्वरूप परमात्माको, **विन्दते**=(मनुष्य) प्राप्त करता है, **आत्मना**=अन्तर्यामी परमात्मासे, **वीर्यम्**=परमात्माको जाननेकी शक्ति (ज्ञान), **विन्दते**=प्राप्त करता है, (और उस) **विद्यया**=विद्या—ज्ञानसे, **अमृतम्**=अमृतरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **विन्दते**=प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त वर्णनमे परमात्माके जिस स्वरूपका लक्ष्य कराया गया था उसको भलीभाँति समझ लेना ही वास्तविक ज्ञान है और इसी ज्ञानसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। परमात्माका ज्ञान करानेकी यह जो ज्ञानरूपा शक्ति है, यह मनुष्यको अन्तर्यामी परमात्मासे ही मिलती है। मन्त्रमें 'विद्यासे अमृतरूप परब्रह्मकी प्राप्ति होती है', यह इसीलिये कहा गया है कि जिससे मनुष्यमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके यथार्थ स्वरूपको जाननेके लिये रुचि और उत्साहकी वृद्धि हो ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब उस ब्रह्मतत्त्वको इसी जन्ममें जान लेना अत्यन्त आवश्यक है यह बतलाकर इस प्रकरणका उपसहार किया जाता है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ ५ ॥

चेत्=यदि, **इह**=इस, मनुष्यशरीरमें, **अवेदीत्**=(परब्रह्मको) जान लिया, **अथ**=तब तो, **सत्यम्**=बहुत कुशल, **अस्ति**=है, **चेत्**=यदि; **इह**=इस शरीर

रहते-रहते, न अवेदीत्=(उसे) नहीं जान पाया (तो), महती=महान्, विनष्टिः=विनाश है, (यही सोचकर) धीराः=बुद्धिमान् पुरुष, भूतेषु भूतेषु= प्राणी-प्राणीमें (प्राणिमात्रमें), विचित्य=(परब्रह्म पुरुषोत्तमको) समझकर, अस्मात्=इस, लोकात्=लोकसे, प्रेत्य=प्रयाण करके, अमृताः=अमर, भवन्ति= हो जाते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—मानव-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। इसे पाकर जो मनुष्य परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें तत्परताके साथ नहीं लग जाता, वह बहुत बड़ी भूल करता है। अतएव श्रुति कहती है कि 'जबतक यह दुर्लभ मानव-शरीर विद्यमान है, भगवत्कृपासे प्राप्त साधन-सामग्री उपलब्ध है, तभीतक शीघ्र-से-शीघ्र परमात्माको जान लिया जाय तो सब प्रकारसे कुशल है—मानव-जन्मकी परम सार्थकता है। यदि यह अवसर हाथसे निकल गया तो फिर महान् विनाश हो जायगा—बार-बार मृत्युरूप संसारके प्रवाहमें बहना पड़ेगा। फिर, रो-रोकर पश्चात्ताप करनेके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रह जायगा। संसारके त्रिविध तापों और विविध शूलोंसे बचनेका यही एक परम साधन है कि जीव मानव-जन्ममें दक्षताके साथ साधन-परायण होकर अपने जीवनको सदाके लिये सार्थक कर ले। मनुष्य-जन्मके सिवा जितनी और योनियाँ हैं, सभी केवल कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही मिलती हैं। उनमें जीव परमात्माको प्राप्त करनेका कोई साधन नहीं कर सकता। बुद्धिमान् पुरुष इस बातको समझ लेते हैं और इसीसे वे प्रत्येक जातिके प्रत्येक प्राणीमें परमात्माका साक्षात्कार करते हुए सदाके लिये जन्म-मृत्युके चक्रसे छूटकर अमर हो जाते हैं ॥ ५ ॥

द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

सम्बन्ध—प्रथम प्रकरणमें ब्रह्मका स्वरूप तत्त्व समझानेके लिये उसकी शक्तिका सांकेतिक भाषामें विभिन्न प्रकारसे दिग्दर्शन कराया गया। द्वितीय प्रकरणमें ब्रह्म-ज्ञानकी विलक्षणता बतलानेके लिये यह कहा गया कि प्रथम प्रकरणके वर्णनसे आपाततः ब्रह्मका जैसा स्वरूप समझमें आता है, वस्तुतः उसका पूर्णस्वरूप उतना ही नहीं है। वह तो उसकी महिमाका अंशमात्र है। जीवात्मा, मन, प्राण, इन्द्रिय आदि तथा उनके देवता—सभी उसीसे अनुप्राणित, प्रेरित और शक्तिमान् होकर कार्यक्षम होते हैं। अब इस तीसरे प्रकरणमें दृष्टान्तके द्वारा यह समझाया जाता है कि विश्वमें जो कोई भी प्राणी या पदार्थ शक्तिमान्, सुन्दर और प्रिय प्रतीत होते हैं, उनके जीवनमें जो सफलता दीखती है, वह सभी उस परब्रह्म परमेश्वरके एक अंशकी ही महिमा

है (गीता १० । ४१) । इसपर यदि कोई अभिमान करता है तो वह बहुत बड़ी भूल करता है—

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति ॥ १ ॥

ब्रह्म=परब्रह्म परमेश्वरने, ह=ही, देवेभ्यः=देवताओंके लिये (उनको निमित्त बनाकर), विजिग्ये=(असुरोंपर) विजय प्राप्त की, ह=किंतु, तस्य=उस; ब्रह्मणः=परब्रह्म पुरुषोत्तमकी, विजये=विजयमें, देवाः=इन्द्रादि देवताओंने, अमहीयन्त=अपनेमें महत्त्वका अभिमान कर लिया, ते=वे; इति=यों, ऐक्षन्त=समझने लगे (कि), अयम्=यह, अस्माकम् एव=हमारी ही; विजयः=विजय है, (और) अयम्=यह, अस्माकम् एव=हमारी ही, महिमा=महिमा है ॥ १ ॥

व्याख्या—परब्रह्म पुरुषोत्तमने देवोंपर कृपा करके उन्हें शक्ति प्रदान की, जिससे उन्होंने असुरोंपर विजय प्राप्त कर ली। यह विजय वस्तुतः भगवान्‌की ही थी, देवता तो केवल निमित्तमात्र थे, परंतु इस ओर देवताओंका ध्यान नहीं गया और वे भगवान्‌की कृपाकी ओर लक्ष्य न करके भगवान्‌की महिमाको अपनी महिमा समझ बैठे और अभिमानवश यह मानने लगे कि हम बड़े भारी शक्तिशाली हैं एवं हमने अपने ही बल-पौरुषसे असुरोंको पराजित किया है ॥ १ ॥

तद्धैषां विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥ २ ॥

ह तत्=प्रसिद्ध है कि उस परब्रह्मने, एषाम्=इन देवताओंके (अभिमानको), विजज्ञौ=जान लिया, (और कृपापूर्वक उनका अभिमान नष्ट करनेके लिये वह), तेभ्यः=उनके सामने, ह=ही, प्रादुर्बभूव=साकाररूपमें प्रकट हो गया, तत्=उसको (यक्षरूपमें प्रकट हुआ देखकर भी), इदम्=यह, यक्षम्=दिव्य यक्ष, किम् इति=कौन है, इस बातको, न व्यजानत=(देवताओंने) नहीं जाना ॥ २ ॥

व्याख्या—देवताओंके मिथ्या अभिमानको करुणा-वरुणालय भगवान् समझ गये। भक्त-कल्याणकारी भगवान्‌ने सोचा कि यह अभिमान बना रहा तो इनका पतन हो जायगा। भक्त-सुहृद् भगवान् भक्तोंका पतन कैसे सह सकते थे। अतः देवताओंपर कृपा करके उनका दर्प चूर्ण करनेके लिये वे उनके सामने दिव्य साकार यक्षरूपमें प्रकट हो गये। देवता आश्चर्यचकित होकर उस अत्यन्त

अद्भुत विशाल रूपको देखने और विचार करने लगे कि यह दिव्य यक्ष कौन है; पर वे उसको पहचान नहीं सके ॥ २ ॥

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ॥ ३ ॥

ते=उन इन्द्रादि देवताओंने, **अग्निम्**=अग्निदेवसे, [इति=इस प्रकार;] **अब्रुवन्**=कहा, **जातवेदः**=हे जातवेदा, (आप जाकर) **एतत्**=इस बातको; **विजानीहि**=जानिये—इसका भलीभाँति पता लगाइये (कि), **इदम् यक्षम्**=यह दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन है, **तथा इति**=(अग्निने कहा) बहुत अच्छा ! ॥ ३ ॥

व्याख्या—देवता उस अति विचित्र महाकाय दिव्य यक्षको देखकर मन-ही-मन सहम-से गये और उसका परिचय जाननेके लिये व्यग्र हो उठे । अग्नि-देवता परम तेजस्वी हैं, वेदार्थके ज्ञाता हैं, समस्त जात-पदार्थोंका पता रखते हैं और सर्वज्ञ-से हैं । इसीसे उनका गौरवयुक्त नाम 'जातवेदा' है । देवताओंने इस कार्यके लिये अग्निको ही उपयुक्त समझा और उन्होंने कहा—'हे जातवेदा ! आप जाकर इस यक्षका पूरा पता लगाइये कि यह कौन है ।' अग्निदेवताको अपनी बुद्धि-शक्तिका गर्व था । अतः उन्होंने कहा—'अच्छी बात है, अभी पता लगाता हूँ' ॥ ३ ॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहमस्मीत्यब्रवीज्जात-वेदा वा अहमस्मीति ॥ ४ ॥

तत्—उसके समीप; (अग्निदेव) **अभ्यद्रवत्**=दौड़कर गया; **तम्**=उस अग्निदेवसे, **अभ्यवदत्**=(उस दिव्य यक्षने) पूछा, **कः असि इति**=(कि तुम) कौन हो; **अब्रवीत्**=(अग्निने) यह कहा (कि), **अहम्**=मैं, **वै अग्निः**=प्रसिद्ध अग्निदेव; **अस्मि इति**=हूँ, (और) **अहम् वै**=मैं ही, **जातवेदाः**=जातवेदाके नामसे; **अस्मि इति**=प्रसिद्ध हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या—अग्निदेवताने सोचा, इसमें कौन बड़ी बात है; इसलिये वे तुरत यक्षके समीप जा पहुँचे । उन्हें अपने समीप खड़ा देखकर यक्षने पूछा—आप कौन हैं ? अग्निने सोचा—मेरे तेजःपुञ्ज स्वरूपको सभी पहचानते हैं, इसने कैसे नहीं जाना; अतः उन्होंने तमककर उत्तर दिया—'मैं प्रसिद्ध अग्नि हूँ, मेरा ही गौरवमय और रहस्यपूर्ण नाम जातवेदा है' ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—तब यक्षरूपी ब्रह्मने अग्निसे पूछा—

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमिति । अपीदꣳसर्वं दहेयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ५ ॥

तस्मिन् त्वयि=उक्त नामोंवाले तुझ अग्निमें; **किं वीर्यम्**=क्या सामर्थ्य है; **इति**=यह बता; (तब अग्निने यह उत्तर दिया कि) **अपि**=यदि (मैं चाहूँ तो); **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **यत् इदम्**=यह जो कुछ भी है; **इदम् सर्वम्**=इस सबको; **दहेयम् इति**=जलाकर भस्म कर दूँ ॥ ५ ॥

व्याख्या—अग्निकी गर्वोक्ति सुनकर ब्रह्मने अनजानकी भाँति कहा—'अच्छा ! आप अग्निदेवता हैं और जातवेदा—सबका ज्ञान रखनेवाले भी आप ही हैं ! बड़ी अच्छी बात है, पर यह तो बताइये कि आपमें क्या शक्ति है, आप क्या कर सकते हैं ?' इसपर अग्निने पुनः सगर्व उत्तर दिया—'मैं क्या कर सकता हूँ, इसे आप जानना चाहते हैं ! अरे, मैं चाहूँ तो इस सारे भूमण्डलमें जो कुछ भी देखनेमें आ रहा है, सबको जलाकर अभी राखका ढेर कर दूँ' ॥ ५ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्-यक्षमिति ॥ ६ ॥

(तब उस दिव्य यक्षने) **तस्मै**=उस अग्निदेवके सामने; **तृणम्**=एक तिनका; **निदधौ**=रख दिया; (और) **इति**=यह कहा कि; **एतत्**=इस तिनकेको; **दह**=जला दो; **सः**=वह (अग्नि); **सर्वजवेन**=पूर्ण शक्ति लगाकर; **तत् उपप्रेयाय**=उस तिनकेपर टूट पड़ा (परंतु); **तत्**=उसको; **दग्धुम्**=जलानेमें; **न एव शशाक**=किसी प्रकार समर्थ नहीं हुआ; **ततः**=(तब लज्जित होकर) वहाँसे; **निववृते**=लौट गया (और देवताओंसे बोला); **एतत्**=यह; **विज्ञातुम्**=जाननेमें; **न अशकम्**=मैं समर्थ नहीं हो सका (कि वस्तुतः); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **यत् इति**=कौन है ॥ ६ ॥

व्याख्या—अग्निदेवताकी पुनः गर्वोक्ति सुनकर सबको सत्ता-शक्ति देनेवाले यक्षरूपी परब्रह्म परमेश्वरने उनके आगे एक सूखा तिनका डालकर कहा—'आप तो सभीको जला सकते हैं, तनिक-सा बल लगाकर इस सूखे तृणको जला दीजिये।' अग्निदेवताने मानो इसको अपना अपमान समझा और वे सहज ही उस तृणके पास पहुँचे और उसे जलाना चाहा, जब नहीं जला तब उन्होंने उसे जलानेके लिये अपनी पूरी शक्ति लगा दी। पर उसको तनिक-सी आँच भी नहीं लगी। आँच लगती कैसे ? अग्निमें जो अग्नित्व है—दाहिका शक्ति है, वह तो शक्तिके मूलभंडार परमात्मासे ही मिली हुई है। वे यदि उस शक्तिस्रोतको रोक दें तो फिर शक्ति

कहाँसे आयेगी । अग्निदेव इस बातको न समझकर ही डींग हाँक रहे थे । पर जब ब्रह्मने अपनी शक्तिको रोक लिया, सूखा तिनका नहीं जल सका, तब तो उनका सिर लज्जासे झुक गया और वे हतप्रतिज्ञ और हतप्रभ होकर चुपचाप देवताओंके पास लौट आये और बोले कि 'मैं तो भलीभाँति नहीं जान सका कि वह यक्ष कौन है' ॥ ६ ॥

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतत् यक्षमिति तथेति ॥ ७ ॥

अथ=तब; **वायुम्**=वायुदेवतासे, **अब्रुवन्**=(देवताओंने) कहा **वायो**=हे वायुदेव ! (जाकर), **एतत्**=इस बातको; **विजानीहि**=आप जानिये—इसका भलीभाँति पता लगाइये (कि); **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष; **किम् इति**=कौन है, (वायुने कहा) **तथा इति**=बहुत अच्छा ! ॥ ७ ॥

व्याख्या—जब अग्निदेव असफल होकर लौट आये, तब देवताओंने इस कार्यके लिये अप्रतिमशक्ति वायुदेवको चुना और उनसे कहा कि 'वायुदेव ! आप जाकर इस यक्षका पूरा पता लगाइये कि यह कौन है !' वायुदेवको भी अपनी बुद्धि-शक्तिका गर्व था, अतः उन्होंने भी कहा—'अच्छी बात है, अभी पता लगाता हूँ' ॥ ७ ॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति । वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मातरिश्वा वा अहमस्मीति ॥ ८ ॥

तत्=उसके समीप, **अभ्यद्रवत्** (वायुदेवता) दौड़कर गया, **तम्**=उससे (भी); **अभ्यवदत्**=(उस दिव्य यक्षने) पूछा, **कः असि इति**=(कि तुम) कौन हो, **अब्रवीत्**=(तब वायुने) यह कहा (कि); **अहम्**=मैं, **वै वायुः**=प्रसिद्ध वायुदेव, **अस्मि इति**=हूँ; (और) **अहम् वै**=मैं ही, **मातरिश्वा**=मातरिश्वाके नामसे, **अस्मि इति**=प्रसिद्ध हूँ ॥ ८ ॥

व्याख्या—वायुदेवताने सोचा, अग्नि कहीं भूल कर गये होंगे, नहीं तो यक्षका परिचय जानना कौन बड़ी बात थी । अस्तु, इस सफलताका श्रेय मुझीको मिलेगा !' यह सोचकर वे तुरंत यक्षके समीप जा पहुँचे । उन्हें अपने समीप खड़ा देखकर यक्षने पूछा—'आप कौन हैं ?' वायुने भी अपने गुण-गौरवके गर्वसे तमककर उत्तर दिया 'मैं प्रसिद्ध वायु हूँ, मेरा ही गौरवमय और रहस्यपूर्ण नाम मातरिश्वा है' ॥ ८ ॥

सम्बन्ध— यक्षरूपी ब्रह्मने वायुसे पूछा—

तस्मिꣲस्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपीदꣳ सर्वमाददीयम्, यदिदं पृथिव्यामिति ॥ ९ ॥

तस्मिन् त्वयि=उक्त नामोंवाले तुझ वायुमें; **किं वीर्यम्**=क्या सामर्थ्य है, **इति**=यह बता; (तब वायुने यह उत्तर दिया कि) **अपि**=यदि (मैं चाहूँ तो); **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें; **यत् इदम्**=यह जो कुछ भी है, **इदम् सर्वम्**=इस सबको, **आददीयम् इति**=उठा लूँ—आकाशमें उड़ा दूँ ॥ ९ ॥

व्याख्या—वायुकी भी वैसी ही गर्वोक्ति सुनकर ब्रह्मने इनसे भी वैसे ही अनजानकी भाँति कहा—'अच्छा ! आप वायुदेवता हैं और मातरिश्वा—अन्तरिक्षमें बिना ही आधारके विचरण करनेवाले भी आप ही हैं ? बड़ी अच्छी बात है ! पर यह तो बताइये कि आपमें क्या शक्ति है—आप क्या कर सकते हैं ?' इसपर वायुने भी अग्निकी भाँति पुनः सगर्व उत्तर दिया कि 'मैं चाहूँ तो इस सारे भूमण्डलमें जो कुछ भी देखनेमें आ रहा है, सबको बिना आधारके उठा लूँ—उड़ा दूँ' ॥ ९ ॥

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते, नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद् यक्षमिति ॥ १० ॥

(तब उस दिव्य यक्षने) **तस्मै**=उस वायुदेवके सामने, **तृणम्**=एक तिनका, **निदधौ**=रख दिया, (और यह कहा कि) **एतत्**=इस तिनकेको, **आदत्स्व इति**=उठा लो—उड़ा दो, **सः**=वह (वायु), **सर्वजवेन**=पूर्ण शक्ति लगाकर **तत् उपप्रेयाय**=उस तिनकेपर झपटा (परंतु), **तत्**=उसको, **आदातुम्**=उड़ानेमें, **न एव शशाक**=किसी प्रकार भी समर्थ नहीं हुआ, **ततः**=(तब लज्जित होकर) वहाँसे, **निववृते**=लौट गया (और देवताओंसे बोला); **एतत्**=यह; **विज्ञातुम्**=जाननेमें, **न अशकम्**=मैं समर्थ नहीं हो सका (कि वस्तुतः), **एतत्**=यह; **यक्षम्**=दिव्य यक्ष, **यत् इति**=कौन है ॥ १० ॥

व्याख्या—वायुदेवताकी भी पुनः वैसी ही गर्वोक्ति सुनकर सबको सत्ता-शक्ति देनेवाले परब्रह्म परमेश्वरने उनके आगे भी एक सूखा तिनका डालकर कहा—'आप तो सभीको उड़ा सकते हैं, तनिक-सा बल लगाकर इस सूखे तृणको उड़ा दीजिये ।' वायुदेवताने भी मानो इसको अपना अपमान समझा और वे सहज ही उस तृणके पास पहुँचे, उसे उड़ाना चाहा, जब नहीं उड़ा तब उन्होंने अपनी पूरी शक्ति लगा दी । परंतु शक्तिमान् परमात्माके द्वारा शक्ति रोक लिये जानेके कारण वे उसे तनिक-सा हिला भी नहीं सके और अग्निकी ही भाँति

हतप्रतिज्ञ और हतप्रभ होकर लज्जासे सिर झुकाये वहाँसे लौट आये एवं देवताओंसे बोले कि 'मैं तो भलीभाँति नहीं जान सका कि यह यक्ष कौन है ?' ॥ १० ॥

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति । तथेति । तदभ्यद्रवत् । तस्मात् तिरोदधे ॥ ११ ॥

अथ=तदनन्तर, **इन्द्रम्**=इन्द्रसे, **अब्रुवन्**=(देवताओंने) यह कहा, **मघवन्**=हे इन्द्रदेव !; **एतत्**=इस बातको, **विजानीहि**=आप जानिये—भलीभाँति पता लगाइये (कि); **एतत्**=यह, **यक्षम्**=दिव्य यक्ष, **किम् इति**=कौन है, (तब इन्द्रने कहा) **तथा इति**=बहुत अच्छा, **तत् अभ्यद्रवत्**=(और वे) उस यक्षकी ओर दौड़कर गये (परंतु वह दिव्य यक्ष), **तस्मात्**=उनके सामनेसे, **तिरोदधे**=अन्तर्धान हो गया ॥ ११ ॥

व्याख्या—जब अग्नि और वायु-सरीखे अप्रतिमशक्ति और बुद्धिसम्पन्न देवता असफल होकर लौट आये और उन्होंने कोई कारण भी नहीं बताया, तब देवताओंने विचार करके स्वयं देवराज इन्द्रको इस कार्यके लिये चुना और उन्होंने कहा—'हे महान् बलशाली देवराज ! अब आप ही जाकर पूरा पता लगाइये कि यह यक्ष कौन है । आपके सिवा अन्य किसीके इस काममें सफल होनेकी सम्भावना नहीं है ।' इन्द्र 'बहुत अच्छा' कहकर तुरंत यक्षके पास गये, पर उनके वहाँ पहुँचते ही वह उनके सामनेसे अन्तर्धान हो गया । इन्द्रमें इन देवताओंसे अधिक अभिमान था, इसलिये ब्रह्मने उनको वार्तालापका अवसर नहीं दिया । परंतु इस एक दोषके अतिरिक्त अन्य सब प्रकारसे इन्द्र अधिकारी थे, अतः उन्हें ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान कराना आवश्यक समझकर इसीकी व्यवस्थाके लिये वे स्वयं अन्तर्धान हो गये ॥ ११ ॥

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाँ हैमवतीं ताँ होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥ १२ ॥

सः=वे इन्द्र, **तस्मिन् एव**=उसी, **आकाशे**=आकाशप्रदेशमें (यक्षके स्थानपर ही), **बहुशोभमानाम्**=अतिशय सुन्दरी, **स्त्रियम्**=देवी, **हैमवतीम्**=हिमाचलकुमारी, **उमाम्**=उमाके पास, **आजगाम**=आ पहुँचे (और), **ताम्**=उनसे, ह **उवाच**=(सादर) यह बोले (देवि !), **एतत्**=यह, **यक्षम्**=दिव्य यक्ष, **किम् इति**=कौन था ॥ १२ ॥

व्याख्या—यक्षके अन्तर्धान हो जानेपर इन्द्र वहीं खड़े रहे, अग्नि-वायुकी भाँति वहाँसे लौटे नहीं । इतनेहीमें उन्होंने देखा कि जहाँ दिव्य यक्ष था, ठीक उसी जगह अत्यन्त शोभामयी हिमाचलकुमारी उमादेवी प्रकट हो गयी हैं ।

उन्हें देखकर इन्द्र उनके पास चले गये। इन्द्रपर कृपा करके करुणामय परब्रह्म पुरुषोत्तमने ही उमारूपा साक्षात् ब्रह्मविद्याको प्रकट किया था । इन्द्रने भक्तिपूर्वक उनसे कहा—'भगवती ! आप सर्वज्ञशिरोमणि ईश्वर श्रीशङ्करकी स्वरूपा-शक्ति हैं। अतः आपको अवश्य ही सब बातोंका पता है। कृपापूर्वक मुझे बतलाइये कि यह दिव्य यक्ष, जो दर्शन देकर तुरंत ही छिप गया, वस्तुतः कौन है और किस हेतुसे यहाँ प्रकट हुआ था' ॥ १२ ॥

तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ खण्ड

सा ब्रह्मेति होवाच। ब्रह्मणो वा एतद्विजये महीयध्वमिति, ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ १ ॥

सा=उस (भगवती उमादेवी) ने, ह उवाच=स्पष्ट उत्तर दिया कि; ब्रह्म इति=(ये तो) परब्रह्म परमात्मा हैं, ब्रह्मणः वै=उन परमात्माकी ही; एतद्विजये=इस विजयमें, महीयध्वम् इति=तुम अपनी महिमा मानने लगे थे; ततः एव=उमाके इस कथनसे ही, ह=निश्चयपूर्वक; विदाञ्चकार=(इन्द्रने) समझ लिया (कि), ब्रह्म इति=(यह) ब्रह्म है ॥ १ ॥

व्याख्या—देवराज इन्द्रके पूछनेपर भगवती उमादेवीने इन्द्रसे कहा कि 'तुम जिन दिव्य यक्षको देख रहे थे और जो इस समय अन्तर्धान हो गये हैं, वे साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं। तुमलोगोंने जो असुरोंपर विजय प्राप्त की है, वह उन ब्रह्मकी शक्तिसे ही की है; अतएव वस्तुतः यह उन परब्रह्मकी ही विजय है, तुम तो इसमें निमित्तमात्र थे। परंतु तुमलोगोंने ब्रह्मकी इस विजयको अपनी विजय मान लिया और उनकी महिमाको अपनी महिमा समझने लगे। यह तुम्हारा मिथ्याभिमान था और जिन परम कारुणिक परमात्माने तुमलोगोंपर कृपा करके असुरोंपर तुम्हें विजय प्रदान करायी, उन्हीं परमात्माने तुम्हारे मिथ्याभिमानका नाश करके तुम्हारा कल्याण करनेके लिये यक्षके रूपमें प्रकट होकर अग्नि और वायुका गर्व चूर्ण किया एवं तुम्हें वास्तविक ज्ञान देनेके लिये मुझे प्रेरित किया। अतएव तुम अपनी स्वतन्त्र शक्तिके सारे अभिमानका त्याग करके, जिन ब्रह्मकी महिमासे महिमान्वित और शक्तिमान् बने हो, उन्हींकी महिमा समझो । स्वप्नमें भी यह भावना मत करो कि ब्रह्मकी शक्तिके बिना अपनी स्वतन्त्र शक्तिसे कोई भी कुछ कर सकता है।' उमाके इस उत्तरसे देवताओंमें सबसे पहले इन्द्रको यह निश्चय हुआ कि यक्षके रूपमें स्वयं ब्रह्म ही उन लोगोंके सामने प्रकट हुए थे ॥ १ ॥

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान् देवान् यदग्निर्वायुरिन्द्रस्ते ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ २ ॥

तस्मात् वै=इसीलिये; **एते देवाः**=ये तीनों देवता; **यत्**=जो कि; **अग्निः**=अग्नि; **वायुः**=वायु (और), **इन्द्रः**=इन्द्रके नामसे प्रसिद्ध हैं; **अन्यान्**=दूसरे (चन्द्रमा आदि); **देवान्**=देवोंकी अपेक्षा, **अतितराम् इव**=मानो अतिशय श्रेष्ठ हैं, **हि**=क्योंकि; **ते**=उन्होंने ही, **एनत् नेदिष्ठम्**=इन अत्यन्त प्रिय और समीपस्थ परमेश्वरको; **पस्पृशुः**=(दर्शनद्वारा) स्पर्श किया है; **ते हि**=(और) उन्होंने ही, **एनत्**=इनको, **प्रथमः**=सबसे पहले, **विदाञ्चकार**=जाना है (कि), **ब्रह्म इति**=ये साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—समस्त देवताओंमें अग्नि, वायु और इन्द्रको ही परम श्रेष्ठ मानना चाहिये; क्योंकि उन्हीं तीनोंने ब्रह्मका सस्पर्श प्राप्त किया है । परब्रह्म परमात्माके दर्शनका, उनका परिचय प्राप्त करनेके प्रयत्नमें प्रवृत्त होनेका और उनके साथ वार्तालापका परम सौभाग्य उन्हींको प्राप्त हुआ और उन्होंने ही सबसे पहले इस सत्यको समझा कि हमलोगोंने जिनका दर्शन प्राप्त किया है, जिनसे वार्तालाप किया है और जिनकी शक्तिसे असुरोंपर विजय प्राप्त की है, वे ही साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं ।

साराश यह कि जिन सौभाग्यशाली महापुरुषको किसी भी कारणसे भगवान्‌के दिव्य सस्पर्शका सौभाग्य प्राप्त हो गया है, जो उनके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ सदालाप करनेका सुअवसर पा चुके हैं, उनकी महिमा इस मन्त्रमें इन्द्रादि देवताओंका उदाहरण देकर की गयी है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—अब यह कहते हैं कि इन तीनों देवताओंमें भी अग्नि और वायुकी अपेक्षा देवराज इन्द्र श्रेष्ठ हैं—

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान् देवान् स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श, स ह्येनत् प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥ ३ ॥

तस्मात् वै=इसीलिये, **इन्द्रः**=इन्द्र, **अन्यान् देवान्**=दूसरे देवताओंकी अपेक्षा, **अतितराम् इव**=मानो अतिशय श्रेष्ठ है, **हि**=क्योंकि; **सः**=उसने; **एनत् नेदिष्ठम्**=इन अत्यन्त प्रिय और समीपस्थ परमेश्वरको, **पस्पर्श**=(उमादेवीसे सुनकर सबसे पहले) मनके द्वारा स्पर्श किया, **स हि**=(और) उसीने **एनत्**=इनको; **प्रथमः**=अन्यान्य देवताओंसे पहले, **विदाञ्चकार**=भलीभाँति जाना है (कि), **ब्रह्म इति**=ये साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—अग्नि तथा वायुने दिव्य यक्षके रूपमें ब्रह्मका दर्शन और उसके साथ वार्तालापका सौभाग्य तो प्राप्त किया था, परन्तु उन्हें उसके स्वरूपका ज्ञान नहीं हुआ था। भगवती उमाके द्वारा सबसे पहले देवराज इन्द्रको सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वका ज्ञान हुआ। तदनन्तर इन्द्रके बतलानेपर अग्नि और वायुको उनके स्वरूपका पता लगा और उसके बाद इनके द्वारा अन्य सब देवताओंने यह जाना कि हमे जो दिव्य यक्ष दिखलायी दे रहे थे, वे साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम ही हैं। इस प्रकार अन्यान्य देवताओंने केवल सुनकर जाना, परन्तु उन्हें परब्रह्म पुरुषोत्तमके साथ न तो वार्तालाप करनेका सौभाग्य मिला और न उनके तत्त्वको समझनेका ही। अतएव उन सब देवताओंसे तो अग्नि, वायु और इन्द्र श्रेष्ठ हैं, क्योंकि इन तीनोंको ब्रह्मका दर्शन और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हुई। परन्तु इन्द्रने सबसे पहले उनके तत्त्वको समझा, इसलिये इन्द्र सबसे श्रेष्ठ माने गये ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—अब उपर्युक्त ब्रह्मतत्त्वको आधिदैविक दृष्टान्तके द्वारा संकेतसे समझाते हैं—

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा इतीन्न्यमीमिषदा इत्यधिदैवतम् ॥ ४ ॥

तस्य=उस ब्रह्मका; एषः=यह; आदेशः=सांकेतिक उपदेश है; यत्=जो कि; एतत्=यह; विद्युतः=बिजलीका; व्यद्युतत् आ=चमकना-सा है; इति=इस प्रकार (क्षणस्थायी) है; इत्=तथा जो; न्यमीमिषत् आ=नेत्रोंका झपकना-सा है; इति=इस प्रकार; अधिदैवतम्=यह आधिदैविक उपदेश है॥४॥

व्याख्या—जब साधकके हृदयमें ब्रह्मको साक्षात् करनेकी तीव्र अभिलाषा जाग उठती है, तब भगवान् उसकी उत्कण्ठाको और भी तीव्रतम तथा उत्कट बनानेके लिये बिजलीके चमकने और आँखोंके झपकनेकी भाँति अपने स्वरूपकी क्षणिक झाँकी दिखलाकर छिप जाया करते हैं। पूर्वोक्त आख्यायिकामें इसी प्रकार इन्द्रके सामनेसे दिव्य यक्षके अन्तर्धान हो जानेकी बात आयी है। देवर्षि नारदको भी उनके पूर्वजन्ममें क्षणभरके लिये अपनी दिव्य झाँकी दिखलाकर भगवान् अन्तर्धान हो गये थे। यह कथा श्रीमद्भागवत (स्क० १।६।१९-२०) में आती है। जब साधकके नेत्रोंके सामने या उसके हृदय-देशमें पहले-पहल भगवान्के साकार या निराकार स्वरूपका दर्शन या अनुभव होता है, तब वह आनन्दाश्चर्यसे चकित-सा हो जाता है। इससे उसके हृदयमें अपने आराध्यदेवको नित्य-निरन्तर देखते रहने या अनुभव करते रहनेकी अनिवार्य और परम उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। फिर उसे क्षणभरके

लिये भी इष्ट-साक्षात्कारके बिना शान्ति नहीं मिलती। यही बात इस मन्त्रमें आधिदैविक उदाहरणसे समझायी गयी है—ऐसा प्रतीत होता है। वस्तुतः यहाँ बड़ी ही गोपनीय रीतिसे ऐसे शब्दोंमें महत्तत्त्वका संकेत किया गया है कि जिसे कोई अनुभवी संत-महात्मा ही बतला सकते हैं। शब्दोंका अर्थ तो अपनी-अपनी भावनाके अनुसार विभिन्न प्रकारसे लगाया जा सकता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब इसी बातको आध्यात्मिक भावसे समझाते हैं—

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ सङ्कल्पः ॥ ५ ॥

अथ=अब, अध्यात्मम्=आध्यात्मिक (उदाहरण दिया जाता है), **यत्**=जो कि, **मनः**=(हमारा) मन, **एतत्**=इस (ब्रह्म) के समीप; **गच्छति इव**=जाता हुआ-सा प्रतीत होता है, **च**=तथा, **एतत्**=इस ब्रह्मको, **अभीक्ष्णम्**=निरन्तर, **उपस्मरति**=अतिशय प्रेमपूर्वक स्मरण करता है, **अनेन**=इस मनके द्वारा (ही), **संकल्पः च**=संकल्प अर्थात् उस ब्रह्मके साक्षात्कारकी उत्कट अभिलाषा भी (होती है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जब साधकको अपना मन आराध्यदेव श्रीभगवान्‌के समीपतक पहुँचता हुआ-सा दीखता है, वह अपने मनसे भगवान्‌के निर्गुण या सगुण—जिस स्वरूपका भी चिन्तन करता है, उसकी जब प्रत्यक्ष अनुभूति-सी होती है, तब स्वाभाविक ही उसका अपने उस इष्टमें अत्यन्त प्रेम हो जाता है। फिर वह क्षण-भरके लिये भी अपने इष्टदेवकी विस्मृतिको सहन नहीं कर सकता। उस समय वह अतिशय व्याकुल हो जाता है ('तद्विस्मरणे परमव्याकुलता'-नारदभक्तिसूत्र १९) वह नित्य-निरन्तर प्रेमपूर्वक उसका स्मरण करता रहता है और उसके मनमें अपने इष्टको प्राप्त करनेकी अनिवार्य और परम उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। पिछले मन्त्रमें जो बात आधिदैविक दृष्टिसे कही गयी थी, वही इसमें आध्यात्मिक दृष्टिसे कही गयी है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब उस ब्रह्मकी उपासनाका प्रकार और उसका फल बतलाते हैं—

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥ ६ ॥

तत्=वह परब्रह्म परमात्मा; **तद्वनम्**=(प्राणिमात्रका प्रापणीय होनेके कारण) 'तद्वन', **नाम ह**=नामसे प्रसिद्ध है; (अतः) **तद्वनम्**=वह आनन्दघन परमात्मा प्राणिमात्रकी अभिलाषाका विषय और सबका परम प्रिय है, **इति**=इस भावसे; **उपासितव्यम्**=उसकी उपासना करनी चाहिये, **सः यः**=वह

जो भी साधक, एतत्=उस ब्रह्मको, एवम्=इस प्रकार (उपासनाके द्वारा), वेद=जान लेता है, एनम् ह=उसको निस्सन्देह; सर्वाणि=सम्पूर्ण, भूतानि=प्राणी, अभि=सब ओरसे, संवाञ्छन्ति=हृदयसे चाहते हैं अर्थात् वह प्राणिमात्रका प्रिय हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—यह आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर सभीका अत्यन्त प्रिय है। सभी प्राणी किसी-न-किसी प्रकारसे उसीको चाहते हैं, परन्तु पहचानते नहीं, इसीलिये वे सुखके रूपमें उसे खोजते हुए दुःखरूप विषयोंमें भटकते रहते हैं, उसे पा नहीं सकते। इस रहस्यको समझकर साधकको चाहिये कि उस परब्रह्म परमात्माको प्राणिमात्रका प्रिय समझकर उसके नित्य अचल अमल अनन्त परम आनन्दस्वरूपका नित्य-निरन्तर चिन्तन करता रहे। ऐसा करते-करते जब वह आनन्दस्वरूप सर्वप्रिय परमात्माका साक्षात्कार कर लेता है, तब वह स्वयं भी आनन्दमय हो जाता है। अतः जगत्के सभी प्राणी उसे अपना परम आत्मीय समझकर उसके साथ हृदयसे प्रेम करने लगते हैं ॥ ६ ॥

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदमब्रूमेति ॥ ७ ॥

भोः=हे गुरुदेव; उपनिषदम्=ब्रह्मसम्बन्धी रहस्यमयी विद्याका, ब्रूहि=उपदेश कीजिये, इति=इस प्रकार (शिष्यके प्रार्थना करनेपर गुरुदेव कहते हैं कि); ते=तुझको (हमने); उपनिषत्=रहस्यमयी ब्रह्मविद्या; उक्ता=बतला दी, ते=तुझको (हम); वाव=निश्चय ही, ब्राह्मीम्=ब्रह्मविषयक, उपनिषदम्=रहस्यमयी विद्या, अब्रूम=बतला चुके हैं; इति=इस प्रकार (तुम्हें समझना चाहिये) ॥ ७ ॥

व्याख्या—गुरुदेवसे सांकेतिक भाषामें ब्रह्मविद्याका श्रेष्ठ उपदेश सुनकर शिष्य उसको पूर्णरूपसे हृदयङ्गम नहीं कर सका, इसलिये उसने प्रार्थना की कि भगवन्! मुझे उपनिषद्—रहस्यमयी ब्रह्मविद्याका उपदेश कीजिये।' इसपर गुरुदेवने कहा—'वत्स! हम तुम्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश कर चुके हैं। तुम्हारे प्रश्नके उत्तरमें 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्' से लेकर उपर्युक्त मन्त्रतक जो कुछ उपदेश किया है, तुम यह दृढरूपसे समझ लो कि वह सुनिश्चित रहस्यमयी ब्रह्मविद्याका ही उपदेश है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—ब्रह्मविद्याके सुननेमात्रसे ही ब्रह्मके स्वरूपका रहस्य समझमें नहीं आता, इसके लिये विशेष साधनोंकी आवश्यकता होती है, इसलिये अब उन प्रधान साधनोंका वर्णन करते हैं—

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ ८ ॥

तस्यै=उस रहस्यमयी ब्रह्मविद्याके, **तपः**=तपस्या, **दमः**=मन-इन्द्रियोंका नियन्त्रण, **कर्म**=कर्तव्यपालन, **इति**=ये तीनों, **प्रतिष्ठाः**=आधार हैं, **वेदाः**=वेद; **सर्वाङ्गानि**=उस विद्याके सम्पूर्ण अङ्ग हैं अर्थात् वेदमें उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका सविस्तर वर्णन है, **सत्यम्**=सत्यस्वरूप परमेश्वर, **आयतनम्**=उसका अधिष्ठान—प्राप्तव्य है ॥ ८ ॥

व्याख्या—सुन-पढ़कर रट लिया और ब्रह्मज्ञानी हो गये यह तो ब्रह्मविद्याका उपहास है और अपने-आपको धोखा देना है । ब्रह्मविद्यारूपी प्रासादकी नींव हैं—तप, दम और कर्म आदि साधन । इन्हींपर वह रहस्यमयी ब्रह्मविद्या स्थिर हो सकती है । जो साधक साधन-सम्पत्तिकी रक्षा, वृद्धि तथा स्वधर्मपालनके लिये कठिन-से-कठिन कष्टको सहर्ष स्वीकार नहीं करते, जो मन और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें नहीं कर लेते और जो निष्कामभावसे अनासक्त होकर वर्णाश्रमोचित अवश्यकर्तव्य कर्मका अनुष्ठान नहीं करते, वे ब्रह्मविद्याका यथार्थ रहस्य नहीं जान पाते, क्योंकि ये ही उसे जाननेके प्रधान आधार हैं । साथ ही यह भी जानना चाहिये कि वेद उस ब्रह्मविद्याके समस्त अङ्ग हैं । वेदमें ही ब्रह्मविद्याके समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी विशद व्याख्या है, अतएव वेदोंका उसके अङ्गोंसहित अध्ययन करना चाहिये । और सत्यस्वरूप परमेश्वर अर्थात् त्रिकालाबाधित सच्चिदानन्दघन परमेश्वर ही उस ब्रह्मविद्याका परम अधिष्ठान, आश्रयस्थल और परम लक्ष्य है । अतएव उस ब्रह्मको लक्ष्य करके जो वेदानुसार तप, दम और निष्काम कर्म आदिका आचरण करते हुए उसके तत्त्वका अनुसंधान करते हैं, वे ही ब्रह्मविद्याके सर्वस्व परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त कर सकते हैं ॥ ८ ॥

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥ ९ ॥

यः=कोई भी; **एताम् वै**=इस प्रसिद्ध ब्रह्मविद्याको; **एवम्**=पूर्वोक्त प्रकारसे भलीभाँति, **वेद**=जान लेता है [**सः**=वह,] **पाप्मानम्**=समस्त पापसमूहको, **अपहत्य**=नष्ट करके; **अनन्ते**=अविनाशी, असीम; **ज्येये**=सर्वश्रेष्ठ, **स्वर्गे लोके**=परमधाममें, **प्रतितिष्ठति**=प्रतिष्ठित हो जाता है, **प्रतितिष्ठति**=सदाके लिये स्थित हो जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे जो उपनिषद्‌रूपा ब्रह्मविद्याके रहस्यको जान लेता है अर्थात् तदनुसार साधनमें प्रवृत्त हो जाता है, वह समस्त

पापोंका—परमात्म-साक्षात्कारमें प्रतिबन्धकरूप समस्त शुभाशुभ कर्मोंका अशेषरूपसे नाश करके नित्य-सत्य सर्वश्रेष्ठ परमधाममें स्थित हो जाता है, कभी वहाँसे लौटता नहीं। सदाके लिये वहाँ प्रतिष्ठित हो जाता है। यहाँ 'प्रतितिष्ठति' पदका पुनः उच्चारण ग्रन्थ-समाप्तिका सूचक तो है ही। साथ ही उपदेशकी निश्चितताका प्रतिपादक भी है ॥ ९ ॥

चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥ ४ ॥

॥ सामवेदीय केनोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोत्, अनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

इसका अर्थ इस उपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

कठोपनिषद्

कठोपनिषद् उपनिषदोंमें बहुत प्रसिद्ध है। यह कृष्णयजुर्वेदकी कठ-शाखाके अन्तर्गत है। इसमें नचिकेता और यमके संवादरूपमें परमात्माके रहस्यमय तत्त्वका बड़ा ही उपयोगी और विशद वर्णन है। इसमें दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्यायमें तीन-तीन वल्लियाँ हैं।

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ॐ=पूर्णब्रह्म परमात्मन, (आप) **नौ**=हम दोनों (गुरु-शिष्य) की; **सह**=साथ-साथ, **अवतु**=रक्षा करें, **नौ**=हम दोनोंका, **सह**=साथ-साथ, **भुनक्तु**=पालन करें, **सह**=(हम दोनों) साथ-साथ ही, **वीर्यम्**=शक्ति; **करवावहै**=प्राप्त करें; **नौ**=हम दोनोंकी, **अधीतम्**=पढ़ी हुई विद्या, **तेजस्वि**=तेजोमयी, **अस्तु**=हो; **मा विद्विषावहै**=हम दोनों परस्पर द्वेष न करें।

व्याख्या—हे परमात्मन्! आप हम गुरु-शिष्य दोनोंकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करें, हम दोनोंका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करें, हम दोनोंकी अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो—कहीं किसीसे हम विद्यामें परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहें, हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो। हे परमात्मन्! तीनों तापोंकी निवृत्ति हो।

प्रथम अध्याय

प्रथम वल्ली

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

ॐ=ॐ इस सच्चिदानन्दघन परमात्माके नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ करते हैं, **ह वै**=प्रसिद्ध है कि; **उशन्**=यज्ञका फल चाहनेवाले,

वाजश्रवसः=वाजश्रवाके पुत्र (उद्दालक)ने, **सर्ववेदसम्**=(विश्वजित् यज्ञमें) अपना सारा धन, **ददौ**=(ब्राह्मणोंको) दे दिया; **तस्य**=उसका; **नचिकेता**=नचिकेता, **नाम ह**=नामसे प्रसिद्ध; **पुत्रः आस**=एक पुत्र था ॥ १ ॥

व्याख्या—ग्रन्थके आरम्भमें परमात्माका स्मरण मङ्गलकारक है, इसलिये यहाँ सर्वप्रथम 'ॐ' कारका उच्चारण करके उपनिषद्‌का आरम्भ हुआ है। जिस समय भारतवर्षका पवित्र आकाश यज्ञधूम और उसके पवित्र सौरभसे परिपूर्ण रहता था, त्यागमूर्ति ऋषि-महर्षियोंके द्वारा गाये हुए वेद-मन्त्रोंकी दिव्य ध्वनिसे सभी दिशाएँ गूँजती रहती थीं, उसी समयका यह प्रसिद्ध इतिहास है। गौतमवंशीय वाजश्रवात्मज महर्षि अरुणके पुत्र अथवा अन्नके प्रचुर दानसे महान् कीर्ति पाये हुए (वाज=अन्न, श्रव=उसके दानसे प्राप्त यश) महर्षि अरुणके पुत्र उद्दालक ऋषिने फलकी कामनासे विश्वजित् नामक एक महान् यज्ञ किया। इस यज्ञमें सर्वस्व दान करना पड़ता है। अतएव उद्दालकने भी अपना सारा धन ऋत्विजों और सदस्योंको दक्षिणामें दे दिया। उद्दालकजीके नचिकेता नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र था ॥ १ ॥

त॰ह कुमार॰सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

दक्षिणासु नीयमानासु=(जिस समय ब्राह्मणोंको) दक्षिणाके रूपमें देनेके लिये (गौएँ) लायी जा रही थीं, उस समय, **कुमारम्**=छोटा बालक, **सन्तम्**=होनेपर भी, **तम् ह**=उस (नचिकेता) में; **श्रद्धा**=श्रद्धा (आस्तिक बुद्धि) का; **आविवेश**=आवेश हो गया (और); **सः**=(उन जराजीर्ण गायोंको देखकर) वह; **अमन्यत**=विचार करने लगा ॥ २ ॥

व्याख्या—उस समय गो-धन ही प्रधान धन था और वाजश्रवस उद्दालकके घरमें इस धनकी प्रचुरता थी। होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता—ये चार प्रधान ऋत्विज होते हैं, ऐसा माना गया है कि इनको सबसे अधिक गौएँ दी जाती हैं। प्रशास्ता, प्रतिप्रस्थाता, ब्राह्मणाच्छंसी और प्रस्तोता—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा आधी, अच्छावाक, नेष्टा, आग्नीध्र और प्रतिहर्ता—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा तिहाई एवं ग्रावस्तुत, नेता, होता और सुब्रह्मण्य—इन चार गौण ऋत्विजोंको मुख्य ऋत्विजोंकी अपेक्षा चौथाई गौएँ दी जाती हैं। नियमानुसार जब इन सबको दक्षिणाके रूपमें देनेके लिये गौएँ लायी जा रही थीं, उस समय बालक नचिकेताने उनको देख लिया। उनकी दयनीय दशा देखते ही

उसके निर्मल अन्तःकरणमें श्रद्धा—आस्तिकताने प्रवेश किया और वह सोचने लगा—॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

पीतोदकाः=जो (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं, **जग्धतृणाः**=जिनका घास खाना समाप्त हो गया है, **दुग्धदोहाः**=जिनका दूध (अन्तिम बार) दुह लिया गया है, **निरिन्द्रियाः**=जिनकी इन्द्रियाँ नष्ट हो चुकी हैं, **ताः**=ऐसी (निरर्थक, मरणासन्न) गौओंको, **ददत्**=देनेवाला, **सः**=वह दाता (तो), **ते लोकाः**=वे (शूकर-कूकरादि नीच योनियाँ और नरकादि) लोक, **अनन्दाः**=जो सब प्रकारके सुखोंसे शून्य, **नाम**=प्रसिद्ध हैं, **तान्**=उनको, **गच्छति**=प्राप्त होता है (अतः पिताजीको सावधान करना चाहिये) ॥ ३ ॥

व्याख्या—पिताजी ये कैसी गौएँ दक्षिणामें दे रहे हैं ! अब इनमें न तो झुककर जल पीनेकी शक्ति रही है, न इनके मुखमें घास चबानेके लिये दाँत ही रह गये हैं और न इनके स्तनोंमें तनिक-सा दूध ही बचा है। अधिक क्या, इनकी तो इन्द्रियाँ भी निश्चेष्ट हो चुकी हैं—इनमें गर्भधारण करनेतककी भी सामर्थ्य नहीं है ! भला, ऐसी निरर्थक और मृत्युके समीप पहुँची हुई गौएँ जिन ब्राह्मणोंके घर जायँगी, उनको दुःखके सिवा ये और क्या देंगी ? दान तो उसी वस्तुका करना चाहिये, जो अपनेको सुख देनेवाली हो, प्रिय हो और उपयोगी हो तथा वह जिनको दी जाय, उन्हें भी सुख और लाभ पहुँचानेवाली हो। दुःखदायिनी अनुपयोगी वस्तुओंको दानके नामपर देना तो दानके व्याजसे अपनी विपद् टालना है और दान ग्रहण करनेवालोंको धोखा देना है। इस प्रकारके दानसे दाताको वे नीच योनियाँ और नरकादि लोक मिलते हैं, जिनमें सुखका कहीं लेश भी नहीं है। पिताजी इस दानसे क्या सुख पायेंगे ? यह तो यज्ञमें वैगुण्य है, जो इन्होंने सर्वस्व-दानरूपी यज्ञ करके भी उपयोगी गौओंको मेरे नामपर रख लिया है, और सर्वस्वमें तो मैं भी हूँ, मुझको तो इन्होंने दानमें दिया नहीं। पर मैं इनका पुत्र हूँ, अतएव मैं पिताजीको इस अनिष्टकारी परिणामसे बचानेके लिये अपना बलिदान कर दूँगा।' यही मेरा धर्म है ॥ ३ ॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति । द्वितीयं तृतीयं तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥

सः ह=यह सोचकर वह, **पितरम्**=अपने पितासे, **उवाच**=बोला कि,

तत (तात)=हे प्यारे पिताजी! आप माम्=मुझे, कस्मै=किसको, दास्यसि इति =देंगे ?; (उत्तर न मिलनेपर उसने वही बात) द्वितीयम्=दुबारा; तृतीयम्= तिबारा (कही); तम् ह=(तब पिताने) उससे; उवाच=(क्रोधपूर्वक इस प्रकार) कहा; त्वा=तुझे (मैं); मृत्यवे=मृत्युको, ददामि इति=देता हूँ ॥ ४ ॥

व्याख्या—यह निश्चय करके उसने अपने पितासे कहा—'पिताजी ! मैं भी तो आपका धन हूँ, आप मुझे किसको देते हैं ?' पिताने कोई उत्तर नहीं दिया; तब नचिकेताने फिर कहा—'पिताजी ! मुझे किसको देते हैं ?' पिताने इस बार भी उपेक्षा की। पर धर्मभीरु और पुत्रका कर्तव्य जाननेवाले नचिकेतासे नहीं रहा गया। उसने तीसरी बार फिर वही कहा—'पिताजी ! आप मुझे किसको देते हैं ?' अब ऋषिको क्रोध आ गया और उन्होंने आवेशमें आकर कहा—'तुझे देता हूं मृत्युको !' ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—यह सुनकर नचिकेता मन-ही-मन विचारने लगा कि—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।
किꣳस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

बहूनाम्=मैं बहुत-से शिष्योंमें तो, प्रथमः=प्रथम श्रेणीके आचरणपर; एमि=चलता आया हूँ (और), बहूनाम्=बहुतोंमें, मध्यमः=मध्यम श्रेणीके आचारपर; एमि=चलता हूँ (कभी भी नीची श्रेणीके आचरणको मैंने नहीं अपनाया, फिर पिताजीने ऐसा क्यों कहा !); यमस्य=यमका; किम् स्वित् कर्तव्यम्=ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता है, यत् अद्य=जिसे आज, मया=मेरेद्वारा (मुझे देकर) करिष्यति=(पिताजी) पूरा करेंगे ॥ ५ ॥

व्याख्या—शिष्यों और पुत्रोंकी तीन श्रेणियाँ होती हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। जो गुरु या पिताका मनोरथ समझकर उनकी आज्ञाकी प्रतीक्षा किये बिना ही उनकी रुचिके अनुसार कार्य करने लगते हैं, वे उत्तम हैं। जो आज्ञा पानेपर कार्य करते हैं, वे मध्यम हैं और जो मनोरथ जान लेने और स्पष्ट आदेश सुन लेनेपर भी तदनुसार कार्य नहीं करते, वे अधम हैं। मैं बहुत-से शिष्योंमें तो प्रथम श्रेणीका हूँ, प्रथम श्रेणीके आचरणपर चलनेवाला हूँ, क्योंकि उनसे पहले ही मनोरथ समझकर कार्य कर देता हूँ; बहुत-से शिष्योंसे मध्यम श्रेणीका भी हूँ, मध्यम श्रेणीके आचारपर भी चलता आया हूँ; परन्तु अधम श्रेणीका तो हूँ ही नहीं। आज्ञा मिले और सेवा न करूँ, ऐसा तो मैंने कभी किया ही नहीं। फिर, पता नहीं, पिताजीने मुझे ऐसा क्यों कहा ? मृत्युदेवताका भी ऐसा कौन-सा प्रयोजन है, जिसको पिताजी आज मुझे उनको देकर पूरा करना चाहते हैं ? ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—सम्भव है, पिताजीने क्रोधके आवेशमें ही ऐसा कह दिया हो, परंतु जो

कुछ भी हो, पिताजीका वचन तो सत्य करना ही है । इधर ऐसा दीख रहा है कि पिताजी अब पश्चात्ताप कर रहे हैं, अतएव उन्हें सान्त्वना देना भी आवश्यक है । यह विचारकर नचिकेता एकान्तमें पिताके पास आकर उनकी शोकनिवृत्तिके लिये इस प्रकार आश्वासनपूर्ण वचन बोला—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथापरे ।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥ ६ ॥

पूर्वे=आपके पूर्वज पितामह आदि; **यथा**=जिस प्रकारका आचरण करते आये हैं; **अनुपश्य**=उसपर विचार कीजिये (और), **अपरे**=(वर्तमानमें भी) दूसरे श्रेष्ठ लोग; [**यथा**=जैसा आचरण कर रहे हैं,] **तथा प्रतिपश्य**=उसपर भी दृष्टिपात कर लीजिये (फिर आप अपने कर्तव्यका निश्चय कीजिये); **मर्त्यः**=(यह) मरणधर्मा मनुष्य; **सस्यम् इव**=अनाजकी तरह, **पच्यते**=पकता है अर्थात् जराजीर्ण होकर मर जाता है (तथा); **सस्यम् इव**=अनाजकी भाँति ही; **पुनः**=फिर, **आजायते**=उत्पन्न हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—पिताजी ! अपने पितामहादि पूर्वजोंका आचरण देखिये और इस समयके दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण देखिये । उनके चरित्रमें न कभी पहले असत्य था, न अब है । असाधु मनुष्य ही असत्यका आचरण किया करते हैं, परंतु उस असत्यसे कोई अजर-अमर नहीं हो सकता । मनुष्य मरणधर्मा है । यह अनाजकी भाँति जरा-जीर्ण होकर मर जाता है और अनाजकी भाँति ही कर्मवश पुनः जन्म ले लेता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अतएव इस अनित्य जीवनके लिये मनुष्यको कभी कर्तव्यका त्याग करके मिथ्या आचरण नहीं करना चाहिये । आप शोकका त्याग कीजिये और अपने सत्यका पालनकर मुझे मृत्यु (यमराज) के पास जानेकी अनुमति दीजिये । पुत्रके वचन सुनकर उद्दालकको दुःख हुआ; परंतु नचिकेताकी सत्यपरायणता देखकर उन्होंने उसे यमराजके पास भेज दिया । नचिकेताको यमसदन पहुँचनेपर पता लगा कि यमराज कहीं बाहर गये हुए हैं, अतएव नचिकेता तीन दिनोंतक अन्नजल ग्रहण किये बिना ही यमराजकी प्रतीक्षा करता रहा । यमराजके लौटनेपर उनकी पत्नीने कहा—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।
तस्यैताꣳशान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥

वैवस्वत=हे सूर्यपुत्र, **वैश्वानरः**=स्वयं अग्निदेवता (ही), **ब्राह्मणः अतिथिः**=ब्राह्मण अतिथिके रूपमें, **गृहान्**=(गृहस्थके) घरोंमें, **प्रविशति**=प्रवेश करते हैं, **तस्य**=उनकी; (साधु पुरुष) **एताम्**=ऐसी (अर्थात् अर्घ्य-पाद्य

आसन आदिके द्वारा), शान्तिम्=शान्ति, कुर्वन्ति=किया करते हैं, (अत: आप) उदकम् हर=(उनके पाद-प्रक्षालनादिके लिये) जल ले जाइये ॥ ७ ॥

व्याख्या—साक्षात् अग्नि ही मानो तेजसे प्रज्वलित होकर ब्राह्मण अतिथिके रूपमें गृहस्थके घरपर पधारते हैं। साधुहृदय गृहस्थ अपने कल्याणके लिये उस अतिथिरूप अग्निको शान्त करनेके लिये उसे जल (पाद्य-अर्घ्य आदि) दिया करते हैं, अतएव हे सूर्यपुत्र ! आप उस ब्राह्मण-बालकके पैर धोनेके लिये तुरत जल ले जाइये। भाव यह कि वह अतिथि लगातार तीन दिनोंसे आपकी प्रतीक्षामें अनशन किये बैठा है, आप स्वयं उसकी सेवा करेंगे, तभी वह शान्त होगा ॥ ७ ॥

आशाप्रतीक्षे संगतꣳ सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान् ।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥

यस्य=जिसके, **गृहे**=घरमें; **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण अतिथि, **अनश्नन्**=बिना भोजन किये, **वसति**=निवास करता है, [**तस्य**=उस,] **अल्पमेधसः**=मन्दबुद्धि, **पुरुषस्य**=मनुष्यकी, **आशाप्रतीक्षे**=नाना प्रकारकी आशा और प्रतीक्षा, **संगतम्**=उनकी पूर्तिसे होनेवाले सब प्रकारके सुख, **सूनृताम् च**=सुन्दर भाषणके फल एवं, **इष्टापूर्ते च**=यज्ञ, दान आदि शुभ कर्मोंके और कुआँ, बगीचा, तालाब आदि निर्माण करानेके फल तथा, **सर्वान् पुत्रपशून्**=समस्त पुत्र और पशु, **एतद् वृङ्क्ते**=इन सबको (वह) नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—जिसके घरपर अतिथि ब्राह्मण भूखा बैठा रहता है, उस मन्दबुद्धि मनुष्यको न तो वे इच्छित पदार्थ मिलते हैं, जिनके मिलनेकी उसे पूरी आशा थी, न वे ही पदार्थ मिलते हैं, जिनके मिलनेका निश्चय था और वह बाट ही देख रहा था, कभी कोई पदार्थ मिल भी गया तो उससे सुखकी प्राप्ति नहीं होती। उसकी वाणीमेंसे सौन्दर्य, सत्य और माधुर्य निकल जाते हैं, अतः सुन्दर वाणीसे प्राप्त होनेवाला सुख भी उसे नहीं मिलता; उसके यज्ञ-दानादि इष्ट-कर्म और कूप, तालाब, धर्मशाला आदिके निर्माणरूप पूर्तकर्म एवं उनके फल नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं, अतिथिका असत्कार उसके पूर्वपुण्यसे प्राप्त पुत्र और पशु आदि धनको भी नष्ट कर देता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—पत्नीके वचन सुनकर धर्ममूर्ति यमराज तुरत नचिकेताके पास गये और पाद्य-अर्घ्य आदिके द्वारा विधिवत् उसकी पूजा करके कहने लगे—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे
अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु
तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥ ९ ॥

ब्रह्मन्=हे ब्राह्मणदेवता, **नमस्यः अतिथिः**=आप नमस्कार करनेयोग्य अतिथि हैं; **ते**=आपको, **नमः अस्तु**=नमस्कार हो, **ब्रह्मन्**=हे ब्राह्मण, **मे स्वस्ति**=मेरा कल्याण, **अस्तु**=हो, **यत्**=(आपने) जो, **तिस्रः**=तीन; **रात्रीः**=रात्रियोंतक, **मे**=मेरे, **गृहे**=घरपर, **अनश्नन्**=विना भोजन किये, **अवात्सीः**=निवास किया है; **तस्मात्**=इसलिये (आप मुझसे), **प्रति**=प्रत्येक रात्रिके बदले (एक-एक करके), **त्रीन् वरान्**=तीन वरदान, **वृणीष्व**=माँग लीजिये ॥ ९ ॥

व्याख्या—'ब्राह्मणदेवता ! आप नमस्कारादि सत्कारके योग्य मेरे माननीय अतिथि हैं, कहाँ तो मुझे चाहिये था कि मैं आपका यथायोग्य पूजन-सेवन करके आपको सतुष्ट करता, और कहाँ मेरे प्रमादसे आप लगातार तीन रात्रियोंसे भूखे बैठे हैं ! मुझसे यह बडा अपराध हो गया है । आपको नमस्कार है । भगवन् ! इस मेरे दोषकी निवृत्ति होकर मेरा कल्याण हो । आप प्रत्येक रात्रिके बदले एक-एक करके मुझसे अपनी इच्छाके अनुरूप तीन वर माँग लीजिये' ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—तपोमूर्ति अतिथि ब्राह्मण-बालकके अनशनसे भयभीत होकर धर्मज्ञ यमराजने जब इस प्रकार कहा, तब पिताको सुख पहुँचानेकी इच्छासे नचिकेता बोला—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो ।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥

मृत्यो=हे मृत्युदेव, **यथा**=जिस प्रकार, **गौतमः**=(मेरे पिता) गौतम-वंशीय उद्दालक, **मा अभि**=मेरे प्रति, **शान्तसंकल्पः**=शान्त संकल्पवाले; **सुमनाः**=प्रसन्नचित्त (और), **वीतमन्युः**=क्रोध एवं खेदसे रहित, **स्यात्**=हो जायँ (तथा), **त्वत्प्रसृष्टम्**=आपके द्वारा वापस भेजा जानेपर जब मैं उनके पास जाऊँ तो, **मा प्रतीतः**=वे मुझपर विश्वास करके (यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है, ऐसा भाव रखकर); **अभिवदेत्**=मेरे साथ प्रेमपूर्वक बातचीत करें; **एतत्**=यह, (मैं) **त्रयाणाम्**=अपने तीनों वरोंमेंसे; **प्रथमम् वरम्**=पहला वर, **वृणे**=माँगता हूँ ॥ १० ॥

व्याख्या—मृत्युदेव ! तीन वरोंमेंसे मैं प्रथम वर यही माँगता हूँ कि मेरे गौतमवंशीय पिता उद्दालक, जो क्रोधके आवेशमें मुझे आपके पास भेजकर

अब अशान्त और दुखी हो रहे हैं, मेरे प्रति क्रोधरहित, शान्तचित्त और सर्वथा सन्तुष्ट हो जायँ । और आपके द्वारा अनुमति पाकर जब मैं घर जाऊँ, तब वे मुझे अपने पुत्र नचिकेताके रूपमें पहचानकर मेरे साथ पूर्ववत् बड़े स्नेहसे बातचीत करें ॥ १० ॥

सम्बन्ध—यमराजने कहा—

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत
औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः ।
सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्यु-
स्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥

त्वाम्=तुमको; मृत्युमुखात्=मृत्युके मुखसे, प्रमुक्तम्=छूटा हुआ, ददृशिवान्=देखकर; मत्प्रसृष्टः=मुझसे प्रेरित; आरुणिः=(तुम्हारे पिता) अरुण-पुत्र, औद्दालकिः=उद्दालक, यथा पुरस्तात्=पहलेकी भाँति ही; प्रतीतः=यह मेरा पुत्र नचिकेता ही है, ऐसा विश्वास करके; वीतमन्युः=दुःख और क्रोधसे रहित; भविता=हो जायँगे, रात्रीः=(और वे अपनी आयुकी शेष) रात्रियोंमें; सुखम्=सुखपूर्वक; शयिता=शयन करेंगे ॥ ११ ॥

व्याख्या—तुमको मृत्युके मुखसे छूटकर घर लौटा हुआ देखकर मेरी प्रेरणासे तुम्हारे पिता अरुणपुत्र उद्दालक बड़े प्रसन्न होंगे, तुमको अपने पुत्ररूपमें पहचानकर तुमसे पूर्ववत् प्रेम करेंगे तथा उनका दुःख और क्रोध सर्वथा शान्त हो जायगा । तुम्हें पाकर अब वे जीवनभर सुखकी नींद सोयेंगे ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इस वरदानको पाकर नचिकेता बोला, हे यमराज !

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति ।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

स्वर्गे लोके=स्वर्गलोकमें, किंचन भयम्=किंचिन्मात्र भी भय; न अस्ति=नहीं है; तत्र त्वम् न=वहाँ मृत्युरूप स्वयं आप भी नहीं हैं; जरया न बिभेति=वहाँ कोई बुढ़ापेसे भी भय नहीं करता, स्वर्गलोके=स्वर्गलोकके निवासी, अशनायापिपासे=भूख और प्यास, उभे तीर्त्वा=इन दोनोंसे पार होकर, शोकातिगः=दुःखोंसे दूर रहकर; मोदते=आनन्द भोगते हैं ॥ १२ ॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो
प्रब्रूहि त्वꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त
एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥

मृत्यो=हे मृत्युदेव, **सः त्वम्**=वे आप, **स्वर्ग्यम् अग्निम्**=उपर्युक्त स्वर्गकी प्राप्तिके साधनरूप अग्निको, **अध्येषि**=जानते हैं (अतः), **त्वम्**=आप, **मह्यम्**=मुझ, **श्रद्दधानाय**=श्रद्धालुको (वह अग्निविद्या); **प्रब्रूहि**=भलीभाँति समझाकर कहिये; **स्वर्गलोकाः**=स्वर्गलोकके निवासी, **अमृतत्वम्**=अमरत्वको; **भजन्ते**=प्राप्त होते हैं (इसलिये), **एतत्**=यह (मैं), **द्वितीयेन वरेण**=दूसरे वरके रूपमें; **वृणे**=माँगता हूँ ॥ १३ ॥

व्याख्या—मैं जानता हूँ कि स्वर्गलोक बड़ा सुखकर है, वहाँ किसी प्रकारका भी भय नहीं है। स्वर्गमें न तो कोई वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है और न, जैसे मर्त्यलोकमें आप (मृत्यु) के द्वारा लोग मारे जाते हैं वैसे, कोई मारा ही जाता है। वहाँ मृत्युकालीन सकट नहीं है। यहाँ जैसे प्रत्येक प्राणी भूख और प्यास दोनोंकी ज्वालासे जलते हैं, वैसे वहाँ नहीं जलना पड़ता। वहाँके निवासी शोकसे तरकर सदा आनन्द भोगते हैं, परंतु वह स्वर्ग अग्निविज्ञानको जाने बिना नहीं मिलता। हे मृत्युदेव! आप उस स्वर्गके साधनभूत अग्निको यथार्थरूपसे जानते हैं। मेरी उस अग्निविद्यामें और आपमें श्रद्धा है, श्रद्धावान् तत्त्वका अधिकारी होता है, अतः आप कृपया मुझको उस अग्निविद्याका उपदेश कीजिये, जिसे जानकर लोग स्वर्गलोकमें रहकर अमृतत्वको—देवत्वको प्राप्त होते हैं। यह मैं आपसे दूसरा वर माँगता हूँ ॥ १२-१३ ॥

सम्बन्ध—तब यमराज बोले—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध
स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां
विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता, **स्वर्ग्यम् अग्निम्**=स्वर्गदायिनी अग्निविद्याको, **प्रजानन्**=अच्छी तरह जाननेवाला मैं; **ते प्रब्रवीमि**=तुम्हारे लिये उसे भलीभाँति बतलाता हूँ, **तत् उ मे निबोध**=(तुम) उसे मुझसे भलीभाँति समझ लो, **त्वम् एतम्**=तुम इस विद्याको; **अनन्तलोकाप्तिम्**=अविनाशी लोककी प्राप्ति

करानेवाली, **प्रतिष्ठाम्**=उसकी आधारस्वरूपा, **अथो**=और, **गुहायाम् निहितम्**=बुद्धिरूप गुफामें छिपी हुई, **विद्धि**=समझो ॥ १४ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! मैं उस स्वर्गकी साधनरूपा अग्निविद्याको भलीभाँति जानता हूँ और तुमको यथार्थरूपसे बतलाता हूँ । तुम इसको अच्छी तरहसे सुनो । यह अग्निविद्या अनन्त—विनाशरहित लोककी प्राप्ति करानेवाली है और उसकी आधारस्वरूपा है । पर तुम ऐसा समझो कि यह है अत्यन्त गुप्त । विद्वानोंकी बुद्धिरूप गुफामें छिपी रहती है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—इतना कहकर यमराजने—

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै
या इष्टका यावतीर्वा यथा वा ।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्त-
मथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥१५॥

तम् लोकादिम्=उस स्वर्गलोककी कारणरूपा; **अग्निम्**=अग्निविद्याका, **तस्मै उवाच**=उस नचिकेताको उपदेश दिया, **याः वा यावतीः**=उसमें कुण्ड-निर्माण आदिके लिये जो-जो और जितनी, **इष्टकाः**=ईंटें आदि आवश्यक होती हैं; **वा यथा**=तथा जिस प्रकार उनका चयन किया जाता है (वे सब बातें भी बतायीं); **च सः अपि**=तथा उस नचिकेताने भी, **तत् यथोक्तम्**=वह जैसा सुना था, ठीक उसी प्रकार समझकर; **प्रत्यवदत्**=यमराजको पुनः सुना दिया, **अथ**=उसके बाद; **मृत्युः अस्य तुष्टः**=यमराज उसपर संतुष्ट होकर; **पुनः एव आह**=फिर बोले—॥ १५ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकारसे अग्निविद्याकी महत्ता और गोपनीयता बतलाकर यमराजने स्वर्गलोककी कारणरूपा अग्निविद्याका रहस्य नचिकेताको समझाया । अग्निके लिये कुण्ड-निर्माणादिमें किस आकारकी, कैसी और कितनी ईंटें चाहिये एवं अग्निका चयन किस प्रकार किया जाना चाहिये—यह सब भलीभाँति समझाया । तदनन्तर नचिकेताकी बुद्धि तथा स्मृतिकी परीक्षाके लिये यमराजने नचिकेतासे पूछा कि तुमने जो कुछ समझा हो, वह मुझे सुनाओ । तीक्ष्णबुद्धि नचिकेताने सुनकर जैसा यथार्थ समझा था, सब ज्यों-का-त्यों सुना दिया । यमराज उसकी विलक्षण स्मृति और प्रतिभाको देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले—॥ १५ ॥

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा
वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।

तवैव नाम्ना भवितायमग्निः
सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥१६॥

प्रीयमाणः=(उसकी अलौकिक बुद्धि देखकर) प्रसन्न हुए; **महात्मा**= महात्मा यमराज, **तम्**=उस नचिकेतासे; **अब्रवीत्**=बोले; **अद्य**=अब मैं, **तव**=तुमको, **इह**=यहाँ, **भूयः वरम्**=पुनः यह (अतिरिक्त) वर; **ददामि**= देता हूँ कि, **अयम् अग्निः**=यह अग्निविद्या; **तव एव नाम्ना**=तुम्हारे ही नामसे; **भविता**=प्रसिद्ध होगी; **च इमाम्**=तथा इस, **अनेकरूपाम् सृङ्काम्**=अनेक रूपोंवाली रत्नोंकी मालाको भी; **गृहाण**=तुम स्वीकार करो ॥ १६ ॥

व्याख्या—महात्मा यमराजने प्रसन्न होकर नचिकेतासे कहा—'तुम्हारी अप्रतिम योग्यता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है, इससे अब मैं तुम्हें एक वर और तुम्हारे बिना माँगे ही देता हूँ। वह यह कि यह अग्नि, जिसका मैंने तुमको उपदेश किया है, तुम्हारे ही नामसे प्रसिद्ध होगी। और साथ ही यह लो, मैं तुम्हें तुम्हारे देवत्वकी सिद्धिके लिये यह अनेक रूपोंवाली विविध यज्ञ-विज्ञानरूपी रत्नोंकी माला देता हूँ। इसे स्वीकार करो ॥ १६ ॥

सम्बन्ध—उस अग्निविद्याका फल बतलाते हुए यमराज कहते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं
त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू ।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा
निचाय्येमाᳬशान्तिमत्यन्तमेति ॥१७॥

त्रिणाचिकेतः=इस (अग्निका शास्त्रोक्त रीतिसे) तीन बार अनुष्ठान करनेवाला; **त्रिभिः संधिम् एत्य**=तीनों (ऋक्, साम, यजुर्वेद) के साथ सम्बन्ध जोड़कर, **त्रिकर्मकृत्**=यज्ञ, दान और तपरूप तीनों कर्मोंको निष्काम-भावसे करता रहनेवाला मनुष्य; **जन्ममृत्यू तरति**=जन्म-मृत्युसे तर जाता है, **ब्रह्मजज्ञम्**=(यह) ब्रह्मासे उत्पन्न सृष्टिके जाननेवाले; **ईड्यम् देवम्**=स्तवनीय इस अग्निदेवको, **विदित्वा**=जानकर तथा; **निचाय्य**=इसका निष्कामभावसे चयन करके, **इमाम् अत्यन्तम् शान्तिम् एति**=इस अनन्त शान्तिको पा जाता है (जो मुझको प्राप्त है) ॥ १७ ॥

व्याख्या—इस अग्निका तीन बार अनुष्ठान करनेवाला पुरुष ऋक्, यजुः, साम—तीनों वेदोंसे सम्बन्ध जोड़कर, तीनों वेदोंके तत्त्व-रहस्यमें निष्णात होकर, निष्कामभावसे यज्ञ, दान और तपरूप तीनों कर्मोंको करता हुआ जन्म-मृत्युसे तर जाता है। वह ब्रह्मासे उत्पन्न सृष्टिको जाननेवाले स्तवनीय इस

अग्निदेवको भलीभाँति जानकर इसका निष्कामभावसे चयन करके उस अनन्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है, जो मुझको प्राप्त है ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा
य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम् ।
स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥१८॥

एतत् त्रयम्=ईंटोंके स्वरूप, संख्या और अग्नि-चयन-विधि—इन तीनों बातोंको; **विदित्वा**=जानकर; **त्रिणाचिकेतः**=तीन बार नाचिकेत-अग्निविद्याका अनुष्ठान करनेवाला तथा; **यः एवम्**=जो कोई भी इस प्रकार; **विद्वान्**=जाननेवाला पुरुष; **नाचिकेतम्**=इस नाचिकेत अग्निका; **चिनुते**=चयन करता है; **सः मृत्युपाशान्**=वह मृत्युके पाशको; **पुरतः प्रणोद्य**=अपने सामने ही (मनुष्य-शरीरमें ही) काटकर; **शोकातिगः**=शोकसे पार होकर; **स्वर्गलोके मोदते**=स्वर्गलोकमें आनन्दका अनुभव करता है ॥ १८ ॥

व्याख्या—किस आकारकी कैसी ईंटें हों और कितनी संख्यामें हों एवं किस प्रकारसे अग्निका चयन किया जाय—इन तीनों बातोंको जानकर जो विद्वान् तीन बार नाचिकेत अग्निविद्याका निष्कामभावसे अनुष्ठान करता है—अग्निका चयन करता है, वह देहपातसे पहले ही (जन्म) मृत्युके पाशको तोड़कर शोकरहित होकर अन्तमें स्वर्गलोकके (अविनाशी ऊर्ध्वलोकके) आनन्दका अनुभव करता है ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो
यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण ।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनास-
स्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१९॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; **एषः ते**=यह तुम्हें बतलायी हुई; **स्वर्ग्यः अग्निः**=स्वर्ग प्रदान करनेवाली अग्निविद्या है; **यम् द्वितीयेन वरेण अवृणीथाः**=जिसको तुमने दूसरे वरसे माँगा था, **एतम् अग्निम्**=इस अग्निको (अबसे); **जनासः**=लोग; **तव एव**=तुम्हारे ही नामसे; **प्रवक्ष्यन्ति**=कहा करेंगे; **नचिकेतः**=हे नचिकेता; **तृतीयम् वरम् वृणीष्व**=(अब तुम) तीसरा वर माँगो ॥ १९ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—नचिकेता ! तुम्हें यह उसी स्वर्गकी

साधनरूपा अग्निविद्याका उपदेश दिया गया है, जिसके लिये तुमने दूसरे वरमें याचना की थी। अबसे लोग तुम्हारे ही नामसे इस अग्निको पुकारा करेंगे। नचिकेता ! अब तुम तीसरा वर माँगो ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—नचिकेता तीसरा वर माँगता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

प्रेते मनुष्ये=मरे हुए मनुष्यके विषयमें; **या इयम्**=जो यह; **विचिकित्सा**=संशय है, **एके (आहुः) अयम् अस्ति इति**=कोई तो यों कहते हैं कि मरनेके बाद यह आत्मा रहता है; **च एके (आहुः) न अस्ति इति**=और कोई ऐसा कहते हैं कि नहीं रहता; **त्वया अनुशिष्टः**=आपके द्वारा उपदेश पाया हुआ; **अहम् एतत् विद्याम्**=मैं इसका निर्णय भलीभाँति समझ लूँ; **एषः वराणाम्**=यही तीनों वरोंमेंसे; **तृतीयः वरः**=तीसरा वर है ॥ २० ॥

व्याख्या—इस लोकके कल्याणके लिये पिताकी संतुष्टिका वर और परलोकके लिये स्वर्गके साधनरूप अग्निविज्ञानका वर प्राप्त करके अब नचिकेता आत्माके यथार्थ स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय जाननेके लिये यमराजके सामने दूसरे लोगोंके दो मत उपस्थित करके उसपर उनका अनुभूत विचार सुनना चाहता है। इसलिये नचिकेता कहता है कि भगवन् ! मृत मनुष्यके सम्बन्धमें यह एक बड़ा संदेह फैला हुआ है। कुछ लोग तो कहते हैं कि मृत्युके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं, नहीं रहता। इस विषयमें आपका जो अनुभव हो, वह मुझे बतलाइये।* आपके

---

* मृत्युके पश्चात् आत्माका अस्तित्व रहता है या नहीं, इस सम्बन्धमें नचिकेताको स्वयं कोई संदेह नहीं है। पिताको दक्षिणामें जरा-जीर्ण गौएँ देते देखकर नचिकेताने स्पष्ट कहा था कि ऐसी गौओंका दान करनेवाले आनन्दरहित (अनन्दाः) नरकादि लोकोंको प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार दूसरे वरमें नचिकेताने स्वर्गसुखोंका वर्णन करके स्वर्गप्राप्तिके साधनरूप अग्निविद्याके उपदेशकी प्रार्थना की थी। इससे सिद्ध है कि वह स्वर्ग और नरकमें विश्वास करता था। स्वर्ग-नरकादि लोकोंकी प्राप्ति मरनेके पश्चात् ही होती है। आत्माका अस्तित्व न हो तो ये लोक किसको प्राप्त हों। यहाँ इसीलिये नचिकेताने अपना मत न बताकर कहा है कि कुछ लोग मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व मानते हैं और कुछ लोग नहीं मानते। यह प्रश्नका एक ऐसा सुन्दर प्रकार है कि जिसके उत्तरमें आत्माकी

द्वारा उपदेश पाकर मैं इस रहस्यको भलीभाँति समझ लूँ। बस, तीनों वरोंमेंसे यही मेरा अभीष्ट तीसरा वर है ॥ २० ॥

सम्बन्ध—नचिकेताका महत्त्वपूर्ण प्रश्न सुनकर यमराजने मन-ही-मन उसकी प्रशंसा की। सोचा कि ऋषिकुमार बालक होनेपर भी बड़ा प्रतिभाशाली है, कैसे गोपनीय विषयको जानना चाहता है, परंतु आत्मतत्त्व उपयुक्त अधिकारीको ही बतलाना चाहिये। अनधिकारीके प्रति आत्मतत्त्वका उपदेश करना हानिकर होता है, अतएव पहले पात्र-परीक्षाकी आवश्यकता है यों विचारकर यमराजने इस तत्त्वकी कठिनताका वर्णन करके नचिकेताको टालना चाहा और कहा—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व
मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता; अत्र पुरा=इस विषयमें पहले, देवैः अपि=देवताओंने भी, विचिकित्सितम्=संदेह किया था (परंतु उनकी भी समझमें नहीं आया), हि एषः धर्मः अणुः=क्योंकि यह विषय बड़ा सूक्ष्म है, न सुविज्ञेयम्=सहज ही समझमें आनेवाला नहीं है (इसलिये), अन्यम् वरम् वृणीष्व=तुम दूसरा वर माँग लो, मा मा उपरोत्सीः=मुझपर दबाव मत डालो, एनम् मा=इस आत्मज्ञानसम्बन्धी वरको मुझे, अतिसृज=लौटा दो ॥२१॥

व्याख्या—नचिकेता ! यह आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म विषय है। इसका समझना सहज नहीं है। पहले देवताओंको भी इस विषयमें संदेह हुआ था। उनमें भी बहुत विचार-विनिमय हुआ था, परंतु वे भी इसको जान नहीं पाये। अतएव तुम दूसरा वर माँग लो। मैं तुम्हें तीन वर देनेका वचन दे चुका हूँ; अतएव तुम्हारा ऋणी हूँ; पर तुम इस वरके लिये, जैसे महाजन ऋणीको दबाता है वैसे मुझको मत दबाओ। इस आत्मतत्त्वविषयक वरको मुझे लौटा दो। इसको मेरे लिये छोड़ दो ॥ २१ ॥

नित्य सत्ता, उसके स्वरूप, गुण और परमलक्ष्य परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंका विवरण अपने-आप ही आ जाता है। अतः यह प्रश्न आत्मज्ञान-विषयक है, न कि आत्माके अस्तित्वमें संदेह-व्यंजक। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें नचिकेताका जो इतिहास मिलता है, उसमें भी नचिकेताने तीसरे वरमें पुनर्मृत्यु (जन्म-मृत्यु) पर विजय पानेका—मुक्तिका साधन जानना चाहा है (तृतीयं वृणीष्वेति। पुनर्मृत्योर्मेऽपचितिं ब्रूहि)।

सम्बन्ध——नचिकेता आत्मतत्त्वकी कठिनताकी बात सुनकर तनिक भी घबराया नहीं, न उसका उत्साह ही मन्द हुआ, वरं उसने और भी दृढ़ताके साथ कहा——

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥२२॥

मृत्यो=हे यमराज, **त्वम् यत् आत्थ**=आपने जो यह कहा कि, **अत्र किल देवैः अपि**=सचमुच इस विषयपर देवताओंने भी, **विचिकित्सितम्**=विचार किया था (परन्तु वे निर्णय नही कर पाये), **च न सुविज्ञेयम्**=और यह सुविज्ञेय भी नहीं है (इतना ही नही), **च**=इसके सिवा, **अस्य वक्ता**=इस विषयका कहनेवाला भी, **त्वादृक्**=आपके जैसा, **अन्यः न लभ्यः**=दूसरा नहीं मिल सकता; [**अतः**]=इसलिये मेरी समझमे तो, **एतस्य तुल्यः**=इसके समान, **अन्यः कश्चित्**=दूसरा कोई भी; **वरः न**=वर नही है ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे मृत्यो ! आप जो यह कहते हैं कि पूर्वकालमें देवताओंने भी जब इस विषयपर विचार-विनिमय किया था तथा वे भी इसे जान नहीं पाये थे,और यह विषय सहज नही है, बड़ा ही सूक्ष्म है, तब यह तो सिद्ध ही है कि यह बड़े ही महत्त्वका विषय है और ऐसे महत्त्वपूर्ण विषयको समझानेवाला आपके समान अनुभवी वक्ता मुझे ढूँढनेपर भी दूसरा कोई मिल नही सकता । आप कहते हैं इसे छोडकर दूसरा वर माँग लो । परन्तु मैं तो समझता हूँ कि इसकी तुलनाका दूसरा कोई वर है ही नहीं । अतएव कृपापूर्वक मुझे इसीका उपदेश कीजिये ॥ २२ ॥

सम्बन्ध——विषयकी कठिनतासे नचिकेता नहीं घबराया, वह अपने निश्चयपर ज्यों-का-त्यों दृढ रहा । इस एक परीक्षामें वह उत्तीर्ण हो गया । अब यमराज दूसरी परीक्षाके रूपमें उसके सामने विभिन्न प्रकारके प्रलोभन रखनेकी बात सोचकर उससे कहने लगे—

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व
बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

शतायुषः=सैकड़ों वर्षोंकी आयुवाले; **पुत्रपौत्रान्**=बेटे और पोतोंको (तथा), **बहून् पशून्**=बहुत-से गौ आदि पशुओंको (एव); **हस्तिहिरण्यम्**=

हाथी, सुवर्ण और; अश्वान् वृणीष्व=घोड़ोंको माँग लो; भूमेः महत् आयतनम्=भूमिके बड़े विस्तारवाले मण्डल (साम्राज्य) को, वृणीष्व=माँग लो, स्वयम् च=तुम स्वयं भी, यावत् शरदः=जितने वर्षोंतक, इच्छसि=चाहो; जीव=जीते रहो ॥ २३ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! तुम बड़े भोले हो, क्या करोगे इस वरको लेकर ? तुम ग्रहण करो इन सुखकी विशाल सामग्रियोंको । इन सौ-सौ वर्ष जीनेवाले पुत्र-पौत्रादि बड़े परिवारको माँग लो । गौ आदि बहुत-से उपयोगी पशु, हाथी सुवर्ण, घोड़े और विशाल भूमण्डलके महान् साम्राज्यको माँग लो और इन सबको भोगनेके लिये जितने वर्षोंतक जीनेकी इच्छा हो, उतने ही वर्षोंतक जीते रहो ॥ २३ ॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि
कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥२४॥

नचिकेतः=हे नचिकेता, वित्तम् चिरजीविकाम्=धन, सम्पत्ति और अनन्तकालतक जीनेके साधनोंको; यदि त्वम्=यदि तुम; एतत्तुल्यम्=इस आत्मज्ञानविषयक वरदानके समान, वरम् मन्यसे वृणीष्व=वर मानते हो तो माँग लो, च महाभूमौ=और तुम इस पृथ्वीलोकमें; एधि=बड़े भारी सम्राट् बन जाओ, त्वा कामानाम्=(मैं) तुम्हें सम्पूर्ण भोगोंमेंसे, कामभाजम्=अति उत्तम भोगोंको भोगनेवाला, करोमि=बना देता हूँ ॥ २४ ॥

व्याख्या—'नचिकेता ! यदि तुम प्रचुर धन-सम्पत्ति, दीर्घजीवनके लिये उपयोगी सुख-सामग्रियाँ अथवा और भी जितने भोग मनुष्य भोग सकता है, उन सबको मिलाकर उस आत्मतत्त्व-विषयक वरके समान समझते हो तो इन सबको माँग लो । तुम इस विशाल भूमिके सम्राट् बन जाओ । मैं तुम्हें समस्त भोगोंको इच्छानुसार भोगनेवाला बनाये देता हूँ ।' इस प्रकार यहाँ यमराजने वाक्चातुर्यसे आत्मतत्त्वका महत्त्व बढ़ाते हुए नचिकेताको विशाल भोगोंका प्रलोभन दिया ॥२४॥

सम्बन्ध—इतनेपर भी नचिकेता अपने निश्चयपर अटल रहा, तब स्वर्गके दैवी भोगोंका प्रलोभन देते हुए यमराजने कहा—

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके
सर्वान् कामाᳶश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या
न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व
नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥ २५ ॥

ये ये कामाः=जो-जो भोग, **मर्त्यलोके**=मनुष्यलोकमें, **दुर्लभाः**=दुर्लभ हैं, **सर्वान् कामान्**=उन सम्पूर्ण भोगोंको; **छन्दतः प्रार्थयस्व**=इच्छानुसार माँग लो; **सरथाः सतूर्याः इमाः रामाः**=रथ और नाना प्रकारके बाजोंके सहित इन स्वर्गकी अप्सराओंको (अपने साथ ले जाओ); **मनुष्यैः ईदृशाः**=मनुष्योंको ऐसी स्त्रियाँ, **न हि लम्भनीयाः**=निःसंदेह अलभ्य हैं; **मत्प्रत्ताभिः**—मेरे द्वारा दी हुई, **आभिः**=इन स्त्रियोंसे, **परिचारयस्व**=तुम अपनी सेवा कराओ, **नचिकेतः**=हे नचिकेता, **मरणम्**=मरनेके बाद आत्माका क्या होता है, **मा अनुप्राक्षीः**=इस बातको मत पूछो ॥ २५ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! जो-जो भोग मृत्युलोकमें दुर्लभ हैं, उन सबको तुम अपने इच्छानुसार माँग लो। ये रथों और विविध प्रकारके बाद्योंसहित जो स्वर्गकी सुन्दरी रमणियाँ हैं, ऐसी रमणियाँ मनुष्योंमें कहीं नहीं मिल सकती। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि इनके लिये ललचाते रहते हैं। मैं इन सबको तुम्हें सहज ही दे रहा हूँ। तुम इन्हें ले जाओ और इनसे अपनी सेवा कराओ; परंतु नचिकेता ! आत्मतत्त्वविषयक प्रश्न मत पूछो ॥ २५ ॥

सम्बन्ध—यमराज शिष्यपर स्वाभाविक ही दया करनेवाले महान् अनुभवी आचार्य हैं। इन्होंने अधिकारि-परीक्षाके साथ ही इस प्रकार भय और एकके बाद एक उत्तम भोगोंका प्रलोभन दिखाकर, जैसे खूँटेको हिला-हिलाकर दृढ किया जाता है, वैसे ही नचिकेताके वैराग्यसम्पन्न निश्चयको और भी दृढ किया। पहले कठिनताका भय दिखाया, फिर इस लोकके एक-से-एक बढ़कर भोगोंके चित्र उसके सामने रखे और अन्तमें स्वर्गलोकमें भी उसका वैराग्य करा देनेके लिये स्वर्गके दैवी भोगोंका चित्र उपस्थित किया और कहा कि इनको यदि तुम अपने उस आत्मतत्त्वसम्बन्धी वरके समान समझते हो तो इन्हें माँग लो। परंतु नचिकेता तो दृढनिश्चयी और सच्चा अधिकारी था। वह जानता था कि इस लोक और परलोकके बड़े-से-बड़े भोग-सुखकी आत्मज्ञानके सुखके किसी क्षुद्रतम अंशके साथ भी तुलना नहीं की जा सकती। अतएव उसने अपने निश्चयका युक्तिपूर्वक समर्थन करते हुए पूर्ण वैराग्ययुक्त वचनोंमें यमराजसे कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्-
सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव
तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

अन्तक=हे यमराज ! (जिनका आपने वर्णन किया, वे), **श्वोभावाः**=क्षणभङ्गुर भोग (और उनसे प्राप्त होनेवाले सुख), **मर्त्यस्य**=मनुष्यके **सर्वेन्द्रियाणाम्**=अन्तःकरणसहित सम्पूर्ण इन्द्रियोंका, **यत् तेजः**=जो तेज है; **एतत्**=उसको, **जरयन्ति**=क्षीण कर डालते हैं, **अपि सर्वम्**=इसके सिवा समस्त; **जीवितम्**=आयु चाहे वह कितनी भी बड़ी क्यों न हो, **अल्पम् एव**=अल्प ही है, इसलिये, **तव वाहाः**=ये आपके रथ आदि वाहन और, **नृत्यगीते**=ये अप्सराओंके नाच-गान, **तव एव**=आपके ही पास रहें (मुझे नहीं चाहिये)॥२६॥

व्याख्या—हे सबका अन्त करनेवाले यमराज ! आपने जिन भोग्य वस्तुओंकी महिमाके पुल बाँधे हैं, वे सभी क्षणभङ्गुर हैं। कलतक रहेंगी या नहीं, इसमें भी सन्देह है। इनके संयोगसे प्राप्त होनेवाला सुख वास्तवमें सुख ही नहीं है, वह तो दुःख ही है (गीता ५। २२)। ये भोग्यवस्तुएँ कोई लाभ तो देतीं ही नहीं, वर मनुष्यकी इन्द्रियोंके तेज और धर्मको हरण कर लेती हैं। आपने जो दीर्घजीवन देना चाहा है, वह भी अनन्तकालकी तुलनामें अत्यन्त अल्प ही है। जब ब्रह्मा आदि देवताओंका जीवन भी अल्पकालका है—एक दिन उन्हें भी मरना पड़ता है, तब औरोंकी तो बात ही क्या है। अतएव मैं वह सब नहीं चाहता। ये आपके रथ, हाथी, घोड़े, ये रमणियाँ और इनके नाच-गान आप अपने ही पास रखें ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत् त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥२७॥

मनुष्यः=मनुष्य, **वित्तेन**=धनसे, **तर्पणीयः न**=कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता है, **चेत्**=जब कि (हमने), **त्वा अद्राक्ष्म**=आपके दर्शन पा लिये हैं, (तब); **वित्तम्**=धनको, **लप्स्यामहे**=(तो हम) पा ही लेंगे; (और) **त्वम् यावत्**=आप जबतक, **ईशिष्यसि**=शासन करते रहेंगे, तबतक तो, **जीविष्यामः**=हम जीते ही रहेंगे (इन सबको भी क्या माँगना है अतः), **मे वरणीयः वरः तु**=मेरे माँगने लायक वर तो; **सः एव**=वह (आत्मज्ञान) ही है ॥ २७ ॥

व्याख्या—आप जानते ही हैं, धनसे मनुष्य कभी तृप्त नहीं हो सकता !

आगमें घी-ईंधन डालनेसे जैसे आग जोरोंसे भड़कती है, उसी प्रकार धन और भोगोंकी प्राप्तिसे भोग-कामनाका और भी विस्तार होता है। वहाँ तृप्ति कैसी। वहाँ तो दिन-रात अपूर्णता और अभावकी अग्निमें ही जलना पड़ता है। ऐसे दुःखमय धन और भोगोंको कोई भी बुद्धिमान् पुरुष नहीं माँग सकता। मुझे अपने जीवननिर्वाहके लिये जितने धनकी आवश्यकता होगी, उतना तो आपके दर्शनसे अपने-आप प्राप्त हो जायगा। रही दीर्घजीवनकी बात, सो जबतक मृत्युके पदपर आपका शासन है, तबतक मुझे मरनेका भी भय क्यों होने लगा। अतएव किसी भी दृष्टिसे दूसरा वर माँगना उचित नहीं मालूम होता। इसलिये मेरा प्रार्थनीय तो वह आत्मतत्त्वविषयक वर ही है। मैं उसे लौटा नहीं सकता ॥ २७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार भोगोंकी तुच्छताका वर्णन करके अब नचिकेता अपने वरका महत्त्व बतलाता हुआ उसीको प्रदान करनेके लिये दृढतापूर्वक निवेदन करता है—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य
जीर्यन् मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदा-
नतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥२८॥

जीर्यन् मर्त्यः=यह मनुष्य जीर्ण होनेवाला और मरणधर्मा है, **प्रजानन्**=इस तत्त्वको भलीभाँति समझनेवाला, **क्वधःस्थः**=मनुष्यलोकका निवासी, **कः**=कौन (ऐसा) मनुष्य है (जो कि); **अजीर्यताम्**=बुढ़ापेसे रहित; **अमृतानाम्**=न मरनेवाले (आप-सदृश) महात्माओंका, **उपेत्य**=सङ्ग पाकर भी, **वर्णरतिप्रमोदान्**=(स्त्रियोंके) सौन्दर्य, क्रीडा और आमोद-प्रमोदका, **अभिध्यायन्**=बार-बार चिन्तन करता हुआ, **अतिदीर्घे**=बहुत कालतक, **जीविते**=जीवित रहनेमें; **रमेत**=प्रेम करेगा ? ॥ २८ ॥

व्याख्या—हे यमराज ! आप ही बताइये—भला, आप-सरीखे अजर-अमर महात्मा देवताओंका दुर्लभ एवं अमोघ सङ्ग प्राप्त करके मृत्युलोकका जरा-मरणशील ऐसा कौन बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो स्त्रियोंके सौन्दर्य, क्रीडा और आमोद-प्रमोदमें आसक्त होकर उनकी ओर दृष्टिपात करेगा और इस लोकमें दीर्घकालतक जीवित रहनेमें आनन्द मानेगा ? ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो
यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो
नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥२९॥

मृत्यो=हे यमराज, **यस्मिन्**=जिस, **महति साम्पराये**=महान् आश्चर्यमय परलोकसम्बन्धी आत्मज्ञानके विषयमें, **इदम् विचिकित्सन्ति**=(लोग) यह शङ्का करते हैं कि यह आत्मा मरनेके बाद रहता है या नहीं; (तत्र) **यत्**=उसमें जो निर्णय है, **तत् नः ब्रूहि**=वह आप हमें बतलाइये, **यः अयम्**=जो यह **गूढम् अनुप्रविष्टः वरः**=अत्यन्त गम्भीरताको प्राप्त हुआ वर है, **तस्मात्**=इससे, **अन्यम्**=दूसरा वर, **नचिकेताः**=नचिकेता, **न वृणीते**=नहीं माँगता ॥ २९ ॥

व्याख्या—नचिकेता कहता है—'हे यमराज ! जिस आत्मतत्त्व-सम्बन्धी महान् ज्ञानके विषयमें लोग यह शङ्का करते हैं कि मरनेके बाद आत्माका अस्तित्व रहता है या नहीं, उसके सम्बन्धमें निर्णयात्मक जो आपका अनुभूत ज्ञान हो, मुझे कृपापूर्वक उसीका उपदेश कीजिये । यह आत्मतत्त्वसम्बन्धी वर अत्यन्त गूढ है—यह सत्य है, पर आपका शिष्य यह नचिकेता इसके अतिरिक्त दूसरा कोई वर नहीं चाहता ॥ २९ ॥

प्रथम वल्ली समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय वल्ली

सम्बन्ध—इस प्रकार परीक्षा करके जब यमराजने समझ लिया कि नचिकेता दृढनिश्चयी, परम वैराग्यवान् एवं निर्भीक है, अतः ब्रह्मविद्याका उत्तम अधिकारी है, तब ब्रह्मविद्याका उपदेश आरम्भ करनेके पहले उसका महत्त्व प्रकट करते हुए यमराज बोले—

> अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेय-
> स्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः ।
> तयोः श्रेय आददानस्य साधु
> भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥

श्रेयः=कल्याणका साधन, **अन्यत्**=अलग है, **उत**=और; **प्रेयः**=प्रिय लगनेवाले भोगोंका साधन, **अन्यत् एव**=अलग ही है, **ते**=वे, **नानार्थे**=भिन्न-भिन्न फल देनेवाले, **उभे**=दोनों साधन, **पुरुषम्**=मनुष्यको, **सिनीतः**=बाँधते हैं—अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं; **तयोः**=उन दोनोंमेंसे, **श्रेयः**=कल्याणके साधनको, **आददानस्य**=ग्रहण करनेवालेका, **साधु भवति**=कल्याण होता है, **उ यः**=परंतु जो, **प्रेयः वृणीते**=सांसारिक भोगोंके साधनको स्वीकार करता है; [**सः**=वह,] **अर्थात्**=यथार्थ लाभसे; **हीयते**=भ्रष्ट हो जाता है ॥१॥

व्याख्या—मनुष्य-शरीर अन्यान्य योनियोंकी भाँति केवल कर्मोंका फल भोगनेके लिये ही नहीं मिला है । इसमें मनुष्य भविष्यमें सुख देनेवाले साधनका अनुष्ठान भी कर सकता है । वेदोंमें सुखके साधन दो बताये गये हैं—(१) श्रेय अर्थात् सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे सर्वथा छूटकर नित्य आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त करनेका उपाय और (२) प्रेय अर्थात् स्त्री, पुत्र, धन, मकान, सम्मान, यश आदि इहलोककी और स्वर्गलोककी जितनी भी प्राकृत सुखभोगकी सामग्रियाँ हैं, उनकी प्राप्तिका उपाय । इस प्रकार अपने-अपने ढंगसे मनुष्यको सुख पहुँचा सकनेवाले ये दोनों साधन मनुष्यको बाँधते हैं—उसे अपनी-अपनी ओर खींचते हैं । अधिकांश लोग तो 'भोगोंमें प्रत्यक्ष और तत्काल सुख मिलता है' इस प्रतीतिके कारण उसका परिणाम सोचे-समझे बिना ही प्रेयकी ओर खिंच जाते हैं; परंतु कोई-कोई भाग्यवान् मनुष्य भगवान्की दयासे प्राकृत भोगोंकी आपातरमणीयता एवं परिणामदुःखताका रहस्य जानकर उनकी ओरसे विरक्त हो श्रेयकी ओर आकर्षित हो जाता है । इन दोनों प्रकारके मनुष्योंमेंसे जो भगवान्की कृपाका पात्र होकर श्रेयको अपना लेता है और तत्परताके साथ उसके साधनमें लग जाता है, उसका तो सब प्रकारसे कल्याण हो जाता है । वह सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे सर्वथा छूटकर अनन्त असीम आनन्दस्वरूप परमात्माको पा लेता है । परंतु जो सांसारिक सुखके साधनोंमें लग जाता है, वह अपने मानव-जीवनके परम लक्ष्य परमात्माकी प्राप्ति-रूप यथार्थ प्रयोजनको सिद्ध नहीं कर पाता, इसलिये उसे आत्यन्तिक और नित्य सुख नहीं मिलता । उसे तो भ्रमवश सुखरूप प्रतीत होनेवाले वे अनित्य भोग मिलते हैं, जो वास्तवमें दुःखरूप ही हैं । अतः वह वास्तविक सुखसे भ्रष्ट हो जाता है ॥ १ ॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेत-
स्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते
प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥ २ ॥

श्रेयः च प्रेयः च=श्रेय और प्रेय—ये दोनों ही, **मनुष्यम् एतः**=मनुष्यके सामने आते हैं, **धीरः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **तौ**=उन दोनोंके स्वरूपपर, **सम्परीत्य**=भलीभाँति विचार करके; **विविनक्ति**=उनको पृथक्-पृथक् समझ लेता है, (और) **धीरः**=वह श्रेष्ठबुद्धि मनुष्य, **श्रेयः हि**=परम कल्याणके साधनको ही; **प्रेयसः**=भोग-साधनकी अपेक्षा, **अभिवृणीते**=श्रेष्ठ समझकर

ग्रहण करता है (परंतु), मन्दः=मन्दबुद्धिवाला मनुष्य, योगक्षेमात्=लौकिक योगक्षेमकी इच्छासे, प्रेयः वृणीते=भोगोंके साधनरूप प्रेयको अपनाता है ॥ २ ॥

व्याख्या—अधिकांश मनुष्य तो पुनर्जन्ममें विश्वास न होनेके कारण इस विषयमें विचार ही नहीं करते, वे भोगोंमें आसक्त होकर अपने देवदुर्लभ मनुष्य-जीवनको पशुवत् भोगोंके भोगनेमें ही समाप्त कर देते हैं। किंतु जिनका पुनर्जन्ममें और परलोकमें विश्वास है, उन विचारशील मनुष्योंके सामने जब ये श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं, तब वे इन दोनोंके गुण-दोषोंपर विचार करके दोनोंको पृथक्-पृथक् समझनेकी चेष्टा करते हैं। इनमें जो श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न होता है, वह तो दोनोंके तत्त्वको पूर्णतया समझकर नीर-क्षीर-विवेकी हंसकी तरह प्रेयकी उपेक्षा करके श्रेयको ही ग्रहण करता है। परंतु जो मनुष्य अल्पबुद्धि है, जिसकी बुद्धिमें विवेक-शक्तिका अभाव है, वह श्रेयके फलमें अविश्वास करके प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले लौकिक योगक्षेमकी सिद्धिके लिये प्रेयको अपनाता है, वह इतना ही समझता है कि जो कुछ भोगपदार्थ प्राप्त हैं, वे सुरक्षित बने रहें और जो अप्राप्त हैं, वे प्रचुर मात्रामें मिल जायँ। यही योगक्षेम है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप श्रेयकी प्रशंसा करके अब यमराज साधारण मनुष्योंसे नचिकेताकी विशेषता दिखलाते हुए उसके वैराग्यकी प्रशंसा करते हैं—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपाꣳश्च कामा-
नभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैताꣳ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो
यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता ! (उन्हीं मनुष्योंमें); सः त्वम्=तुम (ऐसे निःस्पृह हो कि), प्रियान् च=प्रिय लगनेवाले और, प्रियरूपान्=अत्यन्त सुन्दर रूपवाले, कामान्=इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंको, अभिध्यायन्=भलीभाँति सोच-समझकर, अत्यस्राक्षीः=तुमने छोड़ दिया; एताम्=वित्तमयीम् सृङ्काम्=इस सम्पत्तिरूप शृङ्खला (बेड़ी) को, न अवाप्तः=(तुम) नहीं प्राप्त हुए (इसके बन्धनमें नहीं फँसे), यस्याम्=जिसमें, बहवः मनुष्याः=बहुतसे मनुष्य, मज्जन्ति=फँस जाते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—'हे नचिकेता ! तुम्हारी परीक्षा करके मैंने अच्छी तरह देख लिया कि तुम बड़े बुद्धिमान्, विवेकी तथा वैराग्यसम्पन्न हो। अपनेको बहुत बड़े चतुर विवेकी और तार्किक माननेवाले लोग भी जिस चमक-दमकवाली सम्पत्तिके मोहजालमें फँस जाया करते हैं, उसे भी तुमने स्वीकार नहीं

किया । मैंने बडी ही लुभावनी भाषामें तुम्हें बार-बार पुत्र, पौत्र, हाथी, घोड़े, गौएँ, धन, सम्पत्ति, भूमि आदि अनेकों दुष्प्राप्य और लोभनीय भोगोंका प्रलोभन दिया; इतना ही नहीं, स्वर्गके दिव्य भोगों और अप्रतिम सुन्दरी स्वर्गीय रमणियोंके चिर-भोगसुखका लालच दिया, परंतु तुमने सहज ही उन सबकी उपेक्षा कर दी । अतः तुम अवश्य ही परमात्मतत्त्वका श्रवण करनेके सर्वोत्तम अधिकारी हो ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

या अविद्या=जो कि अविद्या, **च विद्या इति ज्ञाता**=और विद्या नामसे विख्यात हैं; **एते**=ये दोनों, **दूरम् विपरीते**=परस्पर अत्यन्त विपरीत (और), **विषूची**=भिन्न-भिन्न फल देनेवाली हैं, **नचिकेतसम्**=तुम नचिकेताको, **विद्याभीप्सिनम् मन्ये**=मैं विद्याका ही अभिलाषी मानता हूँ, (क्योंकि), **त्वा बहवः कामाः**=तुमको बहुत-से भोग, **न अलोलुपन्त**=(किसी प्रकार भी) नहीं लुभा सके ॥ ४ ॥

व्याख्या—ये अविद्या और विद्या नामसे प्रसिद्ध दो साधन पृथक्-पृथक् फल देनेवाले हैं और परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। जिसकी भोगोंमें आसक्ति है, वह कल्याण-साधनमें आगे नहीं बढ सकता और जो कल्याणमार्गका पथिक है, वह भोगोंकी ओर दृष्टि नहीं डालता । वह सब प्रकारके भोगोंको दुःखरूप मानकर उनका परित्याग कर देता है। हे नचिकेता ! मैं मानता हूँ कि तुम विद्याके ही अभिलाषी हो; क्योंकि बहुत-से बड़े-बड़े भोग भी तुम्हारे मनमें किञ्चिन्मात्र भी लोभ नहीं उत्पन्न कर सके ॥ ४ ॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः* ॥ ५ ॥

अविद्यायाम् अन्तरे वर्तमानाः=अविद्याके भीतर रहते हुए (भी), **स्वयं धीराः**=अपने आपको बुद्धिमान् (और), **पण्डितम् मन्यमानाः**=विद्वान् माननेवाले, **मूढाः**=(भोगकी इच्छा करनेवाले) वे मूर्खलोग, **दन्द्रम्यमाणाः**=नाना योनियोंमें चारों ओर भटकते हुए, (**तथा**) **परियन्ति**=ठीक वैसे ही

* यह मन्त्र मुण्डकोपनिषद्में भी आया है । (मु० उ० १ । २ । ८)

ठोकरें खाते रहते हैं, **यथा**=जैसे, **अन्धेन एव नीयमानाः**=अन्धे मनुष्यके द्वारा चलाये जानेवाले, **अन्धाः**=अन्धे (अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते हैं) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जब अन्धे मनुष्यको मार्ग दिखलानेवाला भी अन्धा ही मिल जाता है, तब जैसे वह अपने अभीष्ट स्थानपर नहीं पहुँच पाता, बीचमें ही ठोकरें खाता भटकता है और काँटे-कंकड़ोंसे बिंधकर या गहरे गड्ढे आदिमें गिरकर अथवा किसी चट्टान, दीवाल और पशु आदिसे टकराकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता है, वैसे ही उन मूर्खोंको भी पशु, पक्षी, कीट, पतग आदि विविध दुःखपूर्ण योनियोंमें एव नरकादिमें प्रवेश करके अनन्त जन्मोंतक अनन्त यन्त्रणाओंका भोग करना पड़ता है, जो अपने-आपको ही बुद्धिमान् और विद्वान् समझते हैं, विद्या-बुद्धिके मिथ्याभिमानमें शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंकी कुछ भी परवा न करके उनकी अवहेलना करते और प्रत्यक्ष सुखरूप प्रतीत होनेवाले भोगोंका भोग करनेमें तथा उनके उपार्जनमें ही निरन्तर सलग्न रहकर मनुष्य-जीवनका अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट करते रहते हैं ॥ ५ ॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

वित्तमोहेन मूढम्=इस प्रकार सम्पत्तिके मोहसे मोहित, **प्रमाद्यन्तम् बालम्**=निरन्तर प्रमाद करनेवाले अज्ञानीको, **साम्परायः**=परलोक, **न प्रतिभाति**=नहीं सूझता, **अयम् लोकः**=(वह समझता है) कि यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सत्य है, **परः न अस्ति**=इसके सिवा दूसरा (स्वर्ग-नरक आदि लोक) कुछ भी नहीं है, **इति मानी**=इस प्रकार माननेवाला अभिमानी मनुष्य, **पुनःपुनः**=बार-बार; **मे वशम्**=मेरे (यमराजके) वशमें, **आपद्यते**=आता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस प्रकार मनुष्य-जीवनके महत्त्वको नहीं समझनेवाला अभिमानी मनुष्य सासारिक भोग-सम्पत्तिकी प्राप्तिके साधनरूप धनादिके मोहसे मोहित हुआ रहता है, अतएव भोगोंमें आसक्त होकर वह प्रमादपूर्वक मनमाना आचरण करने लगता है। उसे परलोक नहीं सूझता । उसके अन्तःकरणमें इस प्रकारके विचार उत्पन्न ही नहीं होते कि मरनेके बाद मुझे अपने समस्त कर्मोंका फल भोगनेके लिये बाध्य होकर बारंबार विविध योनियोंमें जन्म लेना पड़ेगा।

वह मूर्ख समझता है कि बस, जो कुछ यहाँ प्रत्यक्ष दिखायी देता है, यही लोक है। इसीकी सत्ता है। यहाँ जितना विषय-सुख भोग लिया जाय, उतनी ही बुद्धिमानी है। इसके आगे क्या है। परलोकको किसने देखा है। परलोक तो लोगोंकी कल्पनामात्र है इत्यादि। इस प्रकारकी मान्यता रखनेवाला मनुष्य बारंबार यमराजके चंगुलमें पड़ता है और वे उसके कर्मानुसार उसे नाना योनियोंमें ढकेलते रहते हैं। उसके जन्म-मरणका चक्र नहीं छूटता ॥ ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार विषयासक्त, प्रत्यक्षवादी मूर्खोंकी निन्दा करके अब उस आत्मतत्त्वकी और उसको जानने, समझने तथा वर्णन करनेवाले पुरुषोंकी दुर्लभताका वर्णन करते हैं—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥ ७ ॥

यः बहुभिः=जो (आत्मतत्त्व) बहुतोंको तो, **श्रवणाय अपि**=सुननेके लिये भी, **न लभ्यः**=नहीं मिलता; **यम्**=जिसको, **बहवः**=बहुत-से लोग, **शृण्वन्तः अपि**=सुनकर भी, **न विद्युः**=नहीं समझ सकते, **अस्य**=ऐसे इस गूढ आत्मतत्त्वका, **वक्ता आश्चर्यः**=वर्णन करनेवाला महापुरुष आश्चर्यमय है (बड़ा दुर्लभ है), **लब्धा कुशलः**=उसे प्राप्त करनेवाला भी बड़ा कुशल (सफल-जीवन) कोई एक ही होता है, **कुशलानुशिष्टः**=और जिसे तत्त्वकी उपलब्धि हो गयी है, ऐसे ज्ञानी महापुरुषके द्वारा शिक्षा प्राप्त किया हुआ; **ज्ञाता**=आत्म-तत्त्वका ज्ञाता भी, **आश्चर्यः**=आश्चर्यमय है (परम दुर्लभ है) ॥ ७ ॥

व्याख्या—आत्मतत्त्वकी दुर्लभता बतलानेके लिये यमराजने कहा—नचिकेता ! आत्मतत्त्व कोई साधारण-सी बात नहीं। जगत्‌में अधिकांश मनुष्य तो ऐसे हैं—जिनको आत्मकल्याणकी चर्चातक सुननेको नहीं मिलती। वे ऐसे वाता-वरणमें रहते हैं कि जहाँ प्रातःकाल जागनेसे लेकर रात्रिको सोनेतक केवल विषय-चर्चा ही हुआ करती है, जिससे उनका मन आठों पहर विषय-चिन्तनमें डूबा रहता है। उनके मनमें आत्मतत्त्व सुनने-समझनेकी कभी कल्पना ही नहीं आती, और भूले-भटके यदि ऐसा कोई प्रसङ्ग आ जाता है तो उन्हें विषय-सेवनसे अवकाश नहीं मिलता। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो सुनना-समझना उत्तम समझकर सुनते तो हैं, परन्तु उनके विषयाभिभूत मनमें उसकी धारणा नहीं हो पाती अथवा मन्द-बुद्धिके कारण वे उसे समझ नहीं पाते। जो तीक्ष्णबुद्धि पुरुष समझ लेते हैं, उनमें भी ऐसे आश्चर्यमय महापुरुष कोई विरले ही होते हैं, जो उस आत्मतत्त्वका यथार्थ-

रूपसे वर्णन करनेवाले समर्थ वक्ता हों। एवं ऐसे पुरुष भी कोई एक ही होते हैं, जिन्होंने आत्मतत्त्वको प्राप्त करके जीवनकी सफलता सम्पन्न की हो, और भली-भाँति समझाकर वर्णन करनेवाले सफलजीवन अनुभवी आत्मदर्शी आचार्यके द्वारा उपदेश प्राप्त करके उसके अनुसार मनन-निदिध्यासन करते-करते तत्त्वका साक्षात्कार करनेवाले पुरुष भी जगत्में कोई विरले ही होते हैं। अतः इसमें सर्वत्र ही दुर्लभता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब आत्मज्ञानकी दुर्लभताका कारण बताते हैं—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति
अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

अवरेण नरेण प्रोक्तः=अल्पज्ञ मनुष्यके द्वारा बतलाये जानेपर; **बहुधा चिन्त्यमानः**=(और उसके अनुसार) बहुत प्रकारसे चिन्तन किये जानेपर भी, **एषः**=यह आत्मतत्त्व, **सुविज्ञेयः न**=सहज ही समझमें आ जाय, ऐसा नहीं है; **अनन्यप्रोक्ते**=किसी दूसरे ज्ञानी पुरुषके द्वारा उपदेश न किये जानेपर, **अत्र गतिः न अस्ति**=इस विषयमें मनुष्यका प्रवेश नहीं होता, **हि अणुप्रमाणात्**=क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुसे भी, **अणीयान्**=अधिक सूक्ष्म है, **अतर्क्यम्**=(इसलिये) तर्कसे अतीत है ॥ ८ ॥

व्याख्या—प्रकृतिपर्यन्त जो भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व है, यह आत्मतत्त्व उससे भी सूक्ष्म है। यह इतना गहन है कि जबतक इसे यथार्थरूपसे समझानेवाले कोई महापुरुष नहीं मिलते, तबतक मनुष्यका इसमें प्रवेश पाना अत्यन्त ही कठिन है। अल्पज्ञ—साधारण ज्ञानवाले मनुष्य यदि इसे बतलाते हैं और उसके अनुसार यदि कोई विविध प्रकारसे इसके चिन्तनका अभ्यास करता है, तो उसका आत्मज्ञानरूपी फल नहीं होता, आत्मतत्त्व तनिक-सा भी समझमें नहीं आता। दूसरेसे सुने बिना केवल अपने-आप तर्क-वितर्कयुक्त विचार करनेसे भी यह आत्मतत्त्व समझमें नहीं आ सकता। अतः सुनना आवश्यक है, पर सुनना उनसे है, जो इसे भलीभाँति जाननेवाले महापुरुष हों। तभी तर्कसे सर्वथा अतीत इस गहन विषयकी जानकारी हो सकती है ॥ ८ ॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।

यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

प्रेष्ठ=हे प्रियतम !, **याम् त्वम् आपः**=जिसको तुमने पाया है, **एषा मतिः**=यह बुद्धि; **तर्केण न आपनेया**=तर्कसे नहीं मिल सकती (यह तो); **अन्येन प्रोक्ता एव**=दूसरेके द्वारा कही हुई ही; **सुज्ञानाय**=आत्मज्ञानमें निमित्त; **[भवति]**=होती है, **बत**=सचमुच ही, (तुम) **सत्यधृतिः**=उत्तम धैर्यवाले; **असि**=हो, **नचिकेतः**=हे नचिकेता ! (हम चाहते हैं कि), **त्वादृक्**=तुम्हारे-जैसे ही, **प्रष्टा**=पूछनेवाले; **नः भूयात्**=हमें मिला करे ॥ ९ ॥

व्याख्या—नचिकेताकी प्रशंसा करते हुए यमराज फिर कहते हैं कि हे प्रियतम ! तुम्हारी इस पवित्र मति—निर्मल निष्ठाको देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। ऐसी निष्ठा तर्कसे कभी नहीं मिल सकती। यह तो तभी उत्पन्न होती है, जब भगवत्कृपासे किसी महापुरुषका सङ्ग प्राप्त होता है और उनके द्वारा लगातार परमात्माके महत्त्वका विशद विवेचन सुननेका सौभाग्य मिलता है। ऐसी निष्ठा ही मनुष्यको आत्मज्ञानके लिये प्रयत्न करनेमें प्रवृत्त करती है। इतना प्रलोभन दिये जानेपर भी तुम अपनी निष्ठापर दृढ रहे, इससे यह सिद्ध है कि वस्तुतः तुम सच्ची धारणासे सम्पन्न हो। नचिकेता! हमें तुम-जैसे ही पूछनेवाले जिज्ञासु मिला करें ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—अब यमराज अपने उदाहरणसे निष्कामभावकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥१०॥

अहम् जानामि=मैं जानता हूँ कि, **शेवधिः**=कर्मफलरूप निधि, **अनित्यम् इति**=अनित्य है, **हि अध्रुवैः**=क्योंकि अनित्य (विनाशशील) वस्तुओंसे, **तत् ध्रुवम्**=वह नित्य पदार्थ (परमात्मा), **न हि प्राप्यते**=नहीं मिल सकता, **ततः**=इसलिये, **मया**=मेरे द्वारा (कर्तव्यबुद्धिसे), **अनित्यैः द्रव्यैः**=अनित्य पदार्थोंके द्वारा, **नाचिकेतः**=नाचिकेत नामक, **अग्निः चितः**=अग्निका चयन किया गया (अनित्य भोगोंकी प्राप्तिके लिये नहीं, अतः उस निष्काम भावकी अपूर्व शक्तिसे मैं); **नित्यम्**=नित्य वस्तु परमात्माको, **प्राप्तवान् अस्मि**=प्राप्त हो गया हूँ ॥ १० ॥

व्याख्या—नचिकेता ! मैं इस बातको भलीभाँति जानता हूँ कि कर्मोंके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके भोगसमूहकी जो निधि मिलती है, वह चाहे कितनी ही महान् क्यों न हो, एक दिन उसका विनाश निश्चित है, अतएव वह अनित्य है । और यह सिद्ध है कि अनित्य साधनोंसे नित्य पदार्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती । इस रहस्यको जानकर ही मैंने नाचिकेत अग्निके चयनादिरूपसे जो कुछ यज्ञादि कर्तव्य कर्म अनित्य वस्तुओंके द्वारा किये, सब-के-सब कामना और आसक्तिसे रहित होकर केवल कर्तव्यबुद्धिसे किये । इस निष्कामभावकी ही यह महिमा है कि अनित्य पदार्थोंके द्वारा कर्तव्य-पालनरूप ईश्वर-पूजा करके मैंने नित्य-सुखरूप परमात्माको प्राप्त कर लिया ॥ १० ॥

सम्बन्ध—नचिकेतामें वह निष्कामभाव पूर्णरूपसे है, इसलिये यमराज उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां
दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

नचिकेतः=हे नचिकेता !, **कामस्य आप्तिम्**=जिसमें सब प्रकारके भोग मिल सकते हैं, **जगतः प्रतिष्ठाम्**=जो जगत्का आधार, **क्रतोः अनन्त्यम्**=यज्ञका चिरस्थायी फल, **अभयस्य पारम्**=निर्भयताकी अवधि (और), **स्तोममहत्**=स्तुति करनेयोग्य एवं महत्त्वपूर्ण है (तथा), **उरुगायम्**=वेदोंमें जिसके गुण नाना प्रकारसे गाये गये हैं, **प्रतिष्ठाम्**=(और) जो दीर्घकालतककी स्थितिसे सम्पन्न है, ऐसे स्वर्गलोकको, **दृष्ट्वा धृत्या**=देखकर भी तुमने धैर्यपूर्वक, **अत्यस्राक्षीः**=उसका त्याग कर दिया, [**अतः**]=इसलिये मैं समझता हूँ कि **धीरः (असि)**=(तुम) बहुत ही बुद्धिमान हो ॥ ११ ॥

व्याख्या—नचिकेता ! तुम सब प्रकारसे श्रेष्ठ बुद्धिसम्पन्न और निष्काम हो । मैंने तुम्हारे सामने वरदानके रूपमें उस स्वर्गलोकको रक्खा, जो सब प्रकारके भोगोंसे परिपूर्ण, जगत्का आधारस्वरूप, यज्ञादि शुभकर्मोंका अन्तरहित फल, सब प्रकारके दुःख और भयसे रहित, स्तुति करनेयोग्य और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । वेदोंने भाँति-भाँतिसे उसकी शोभाके गुणगान किये हैं और वह दीर्घकालतक स्थित रहनेवाला है, तुमने उसके महत्त्वको समझकर भी बड़े धैर्यके साथ उसका परित्याग कर दिया, तुम्हारा मन तनिक भी उसमें आसक्त नहीं हुआ, तुम अपने निश्चयपर दृढ और अटल रहे—यह साधारण बात नहीं है। इसलिये

मैं यह मानता हूँ कि तुम बड़े ही बुद्धिमान्, अनासक्त और आत्मतत्त्वको जाननेके अधिकारी हो ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार नचिकेताके निष्कामभावको देखकर यमराजने निश्चय कर लिया कि यह परमात्माके तत्त्वज्ञानका यथार्थ अधिकारी है, अतः उसके अन्तःकरणमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न करनेके लिये यमराज अब दो मन्त्रोंमें परब्रह्म परमात्माकी महिमाका वर्णन करते हैं—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥१२॥

गूढम्=जो योगमायाके पर्देमें छिपा हुआ, **अनुप्रविष्टम्**=सर्वव्यापी; **गुहाहितम्**=सबके हृदयरूप गुफामें स्थित (अतएव), **गह्वरेष्ठम्**=संसाररूप गहन वनमें रहनेवाला, **पुराणम्**=सनातन है, ऐसे, **तम् दुर्दर्शम् देवम्**=उस कठिनतासे देखे जानेवाले परमात्मदेवको, **धीरः**=शुद्ध बुद्धियुक्त साधक, **अध्यात्मयोगाधिगमेन**=अध्यात्मयोगकी प्राप्तिके द्वारा, **मत्वा**=समझकर, **हर्ष-शोकौ जहाति**=हर्ष और शोकको त्याग देता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत् एक अत्यन्त दुर्गम गहन वनके सदृश है, परंतु यह परब्रह्म परमेश्वरसे परिपूर्ण है, वह सर्वव्यापी इसमें सर्वत्र प्रविष्ट है (गीता ९ । ४) । वह सबके हृदयरूपी गुफामें स्थित है (गीता १३ । १७, १५ । १५, १८ । ६१) । इस प्रकार नित्य साथ रहनेपर भी लोग उसे सहजमें देख नहीं पाते, क्योंकि यह अपनी योगमायाके पर्देमें छिपा है (गीता ७ । २५), इसलिये अत्यन्त गुप्त है । उसके दर्शन बहुत ही दुर्लभ हैं । जो शुद्ध-बुद्धिसम्पन्न साधक अपने मन-बुद्धिको नित्य-निरन्तर उसके चिन्तनमें संलग्न रखता है, वह उस सनातन देवको प्राप्त करके सदाके लिये हर्ष-शोकसे रहित हो जाता है । उसके अन्तःकरणमेंसे हर्ष-शोकादि विकार समूल नष्ट हो जाते हैं* ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः
प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।

* प्रातःस्मरणीय भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजीने भी ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें इस प्रकरणको परमात्मविषयक माना है ('प्रकरणं चेदं परमात्मनः'—देखिये ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पा० २ के १२ वें सूत्रका भाष्य) ।

स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा ।
विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

मर्त्यः=मनुष्य (जब), **एतत्**=इस, **धर्म्यम्**=धर्ममय (उपदेश) को, **श्रुत्वा**=सुनकर, **सम्परिगृह्य**=भलीभाँति ग्रहण करके; **प्रवृह्य**=(और) उसपर विवेकपूर्वक विचार करके, **एतम्**=इस, **अणुम्**=सूक्ष्म आत्मतत्त्वको, **आप्य**=जानकर अनुभव कर लेता है, (तब); **सः**=वह, **मोदनीयम्**=आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको, **लब्ध्वा**=पाकर, **मोदते हि**=आनन्दमें ही मग्न हो जाता है, **नचिकेतसम्**=तुम नचिकेताके लिये; **विवृतम् सद्म मन्ये**=(मैं) परमधामका द्वार खुला हुआ मानता हूँ ॥ १३ ॥

व्याख्या—इस अध्यात्म-विषयक धर्ममय उपदेशको पहले तो अनुभवी महापुरुषके द्वारा अतिशय श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिये, सुनकर उसका मनन करना चाहिये। तदनन्तर एकान्तमें उसपर विचार करके बुद्धिमें उसको स्थिर करना चाहिये। इस प्रकार साधन करनेपर जब मनुष्यको आत्मस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् जब वह आत्माको तत्त्वसे समझ लेता है, तब आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। उस आनन्दके महान् समुद्रको पाकर वह उसमें निमग्न हो जाता है। हे नचिकेता ! तुम्हारे लिये उस परमधामका द्वार खुला हुआ है। तुमको वहाँ जानेसे कोई रोक नहीं सकता। तुम ब्रह्मप्राप्तिके उत्तम अधिकारी हो, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—यमराजके मुखसे परब्रह्म पुरुषोत्तमकी महिमा सुनकर और अपनेको उसका अधिकारी जानकर नचिकेताके मनमें परमात्मतत्त्वकी-जिज्ञासा उत्पन्न हो गयी। साथ ही उसे यमराजके द्वारा अपनी प्रशंसा सुनकर साधु-सम्मत संकोच भी हुआ। इसलिये उसने यमराजसे बीचमें ही पूछा—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

यत् तत्=जिस उस परमेश्वरको; **धर्मात् अन्यत्र**=धर्मसे अतीत, **अधर्मात् अन्यत्र**=अधर्मसे भी अतीत, **च**=तथा, **अस्मात् कृताकृतात्**=इस कार्य और कारणरूप सम्पूर्ण जगत्से भी, **अन्यत्र**=भिन्न, **च**=और, **भूतात् भव्यात्**=भूत, वर्तमान एव भविष्यत्—तीनों कालोंसे तथा इनसे सम्बन्धित पदार्थोंसे भी; **अन्यत्र**=पृथक्; **पश्यसि**=(आप) जानते हैं; **तत्**=उसे, **वद**=बतलाइये ॥ १४ ॥

व्याख्या—नचिकेता कहता है—भगवन् ! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं

तो धर्म और अधर्मके सम्बन्धसे रहित, कार्य-कारणरूप प्रकृतिसे पृथक् एव भूत, वर्तमान और भविष्यत्—इन सबसे भिन्न जिस परमात्मतत्त्वको आप जानते हैं, उसे मुझको बतलाइये* ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—नचिकेताके इस प्रकार पूछनेपर यमराज उस ब्रह्मतत्त्वके वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उपदेश आरम्भ करते है—

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

सर्वे वेदाः=सम्पूर्ण वेद; **यत् पदम्**=जिस परम पदका, **आमनन्ति**=बारबार प्रतिपादन करते हैं, **च**=और, **सर्वाणि तपांसि**=सम्पूर्ण तप, **यत्**=जिस पदका; **वदन्ति**=लक्ष्य कराते हैं अर्थात् वे जिसके साधन हैं; **यत् इच्छन्तः**=जिसको चाहनेवाले साधकगण; **ब्रह्मचर्यम्**=ब्रह्मचर्यका; **चरन्ति**=पालन करते हैं, **तत् पदम्**=वह पद, **ते**=तुम्हें, (मैं) **संग्रहेण**=संक्षेपसे, **ब्रवीमि**=बतलाता हूँ, (वह है) **ओम्**=ओम्; **इति**=ऐसा; **एतत्**=यह (एक अक्षर) ॥ १५ ॥

व्याख्या—यमराज यहाँ परब्रह्म पुरुषोत्तमको परमप्राप्य बतलाकर उसके वाचक ॐकारको प्रतीकरूपसे उसका स्वरूप बतलाते हैं। वे कहते हैं कि समस्त वेद नाना प्रकार और नाना छन्दोंसे जिसका प्रतिपादन करते हैं, सम्पूर्ण तप आदि साधनोंका जो एकमात्र परम और चरम लक्ष्य है तथा जिसको प्राप्त करनेकी इच्छासे साधक निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्यका अनुष्ठान किया करते हैं, उस पुरुषोत्तम भगवान्का परमतत्त्व मैं तुम्हें संक्षेपमें बतलाता हूँ। वह है 'ॐ' यह एक अक्षर ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—नामरहित होनेपर भी परमात्मा अनेक नामोंसे पुकारे जाते हैं। उनके सब नामोंमें 'ॐ' सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अतः यहाँ नाम और नामीका अभेद मानकर 'प्रणव'को परब्रह्म पुरुषोत्तमके स्थानमें वर्णन करते हुए यमराज कहते है—

---

* भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजीने इस प्रकरणको भी अपने ब्रह्मसूत्रभाष्यमें परमेश्वरविषयक ही माना है ('पृष्ट चेह ब्रह्म'—देखिये ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पा० २ के २४ वें सूत्रका भाष्य)।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

एतत्=यह; **अक्षरम् एव हि**=अक्षर ही तो; **ब्रह्म**=ब्रह्म है (और); **एतत्**=यह; **अक्षरम् एव हि**=अक्षर ही, **परम्**=परब्रह्म है, **हि**=इसलिये; **एतत् एव**=इसी; **अक्षरम्**=अक्षरको, **ज्ञात्वा**=जानकर; **यः**=जो; **यत्**=जिसको; **इच्छति**=चाहता है, **तस्य**=उसको, **तत्**=वही (मिल जाता है) ॥ १६ ॥

व्याख्या—यह अविनाशी प्रणव—ॐकार ही तो ब्रह्म (परमात्माका स्वरूप) है और यही परब्रह्म परम पुरुष पुरुषोत्तम है अर्थात् उस ब्रह्म और परब्रह्म दोनोंका ही नाम ॐकार है अतः इस तत्त्वको समझकर साधक इसके द्वारा दोनोंमेंसे किसी भी अभीष्ट रूपको प्राप्त कर सकता है ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

एतत्=यही, **श्रेष्ठम्**=अत्युत्तम, **आलम्बनम्**=आलम्बन है, **एतत्**=यही (सबका), **परम् आलम्बनम्**=अन्तिम आश्रय है, **एतत्**=इस; **आलम्बनम्**=आलम्बनको; **ज्ञात्वा**=भलीभाँति जानकर (साधक), **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें, **महीयते**=महिमान्वित होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—यह ॐकार ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये सब प्रकारके आलम्बनोंमेंसे सबसे श्रेष्ठ आलम्बन है और यही चरम आलम्बन है। इससे परे और कोई आलम्बन नहीं है अर्थात् परमात्माके श्रेष्ठ नामकी शरण हो जाना ही उनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम एवं अमोघ साधन है। इस रहस्यको समझकर जो साधक श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इसपर निर्भर करता है, वह निस्सन्देह परमात्माकी प्राप्तिका परम गौरव लाभ करता है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार ॐकारको ब्रह्म और परब्रह्म—इन दोनोंका प्रतीक बताकर अब नचिकेताके प्रश्नानुसार यमराज पहले आत्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

विपश्चित्=नित्य ज्ञानस्वरूप आत्मा, **न जायते**=न तो जन्मता है; **वा न म्रियते**=और न मरता ही है, **अयम् न**=यह न तो स्वयं; **कुतश्चित्**=

किसीसे हुआ है, [न]=न (इससे), **कश्चित्**=कोई भी, **बभूव**=हुआ है अर्थात् यह न तो किसीका कार्य है और न कारण ही है, **अयम्**=यह, **अजः**= अजन्मा, **नित्यः**=नित्य, **शाश्वतः**=सदा एकरस रहनेवाला (और), **पुराणः**= पुरातन है अर्थात् क्षय और वृद्धिसे रहित है, **शरीरे हन्यमाने**=शरीरके नाश किये जानेपर भी (इसका), **न हन्यते**=नाश नहीं किया जा सकता* ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

चेत्=यदि कोई; **हन्ता**=मारनेवाला व्यक्ति, **हन्तुम्**=अपनेको मारनेमें समर्थ, **मन्यते**=मानता है (और), **चेत्**=यदि, **हतः**=(कोई) मारा जानेवाला व्यक्ति, **हतम्**=अपनेको मारा गया; **मन्यते**=समझता है (तो), **तौ उभौ**=वे दोनों ही; **न विजानीतः**=(आत्मस्वरूपको) नहीं जानते (क्योंकि); **अयम्**=यह आत्मा, **न हन्ति**=न तो (किसीको) मारता है (और), **न हन्यते**=न मारा (ही) जाता है† ॥ १९ ॥

व्याख्या—यमराज यहाँ आत्माके शुद्ध स्वरूपका और उसकी नित्यताका निरूपण करते हैं, क्योंकि जबतक साधकको अपनी नित्यता और निर्विकारताका अनुभव नहीं हो जाता एवं वह जबतक अपनेको शरीर आदि अनित्य वस्तुओंसे भिन्न नहीं समझ लेता, तबतक इन अनित्य पदार्थोंसे वैराग्य होकर उसके अन्तःकरणमें नित्य तत्त्वकी अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती । उसको वह दृढ अनुभूति होनी चाहिये कि जीवात्मा नित्य चेतन ज्ञानस्वरूप है, अनित्य, विनाशी,

---

* गीतामें इस मन्त्रके भावको इस प्रकार समझाया गया है—

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ (२ । २०)

'यह आत्मा किसी भी कालमें न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है, क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता ।'

† गीतामें इस मन्त्रके भावको और भी स्पष्टरूपसे व्यक्त किया गया है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ (२ । १९)

'जो इस आत्माको मारनेवाला समझता है तथा जो इसको मारा गया मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा वास्तवमें न तो किसीको मारता है न किसीके द्वारा मारा जाता है ।

जड शरीर और भोगोंसे वास्तवमें इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । यह अनादि और अनन्त है, न तो इसका कोई कारण है और न कार्य ही, अतः यह जन्म-मरणसे सर्वथा रहित, सदा एकरस, सर्वथा निर्विकार है। शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता। जो लोग इसको मारनेवाला या मरनेवाला मानते हैं, वे वस्तुतः आत्मस्वरूपको जानते ही नहीं, वे सर्वथा भ्रान्त हैं । उनकी बातोंपर ध्यान नहीं देना चाहिये। वस्तुतः आत्मा न तो किसीको मारता है और न इसे कोई मार ही सकता है।

साधकको शरीर और भोगोंकी अनित्यता और अपने आत्माकी नित्यतापर विचार करके, इन अनित्य भोगोंसे सुखकी आशाका त्याग करके सदा अपने साथ रहनेवाले नित्य सुखस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त करनेका अभिलाषी बनना चाहिये ॥ १८-१९ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार आत्मतत्त्वके वर्णनद्वारा नचिकेताके अन्तःकरणमें परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न करके यमराज अब परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हैं—

अणोरणीयान्महतो महीया-
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥*

अस्य=इस, **जन्तोः**=जीवात्माके, **गुहायाम्**=हृदयरूप गुफामें, **निहितः**=रहनेवाला, **आत्मा**=परमात्मा, **अणोः अणीयान्**=सूक्ष्मसे अतिसूक्ष्म (और); **महतः महीयान्**=महान्से भी महान् है, **आत्मनः तम् महिमानम्**=परमात्माकी उस महिमाको; **अक्रतुः**=कामनारहित (और), **वीतशोकः**=चिन्तारहित (कोई विरला साधक), **धातुप्रसादात्**=सर्वाधार परब्रह्म परमेश्वरकी कृपासे ही, **पश्यति**=देख पाता है ॥ २० ॥

व्याख्या—इससे पहले जीवात्माके शुद्ध स्वरूपका वर्णन किया गया है, उसीको इस मन्त्रमें 'जन्तु' नाम देकर उसकी बद्धावस्था व्यक्त की गयी है। भाव यह कि यद्यपि परब्रह्म पुरुषोत्तम उस जीवात्माके अत्यन्त समीप जहाँ यह स्वयं रहता है, वहीं हृदयमें छिपे हुए हैं, तो भी यह उनकी ओर नहीं देखता। मोहवश भोगोंमें भूला रहता है। इसी कारण यह 'जन्तु' है—मनुष्य शरीर पाकर भी कीट-पतङ्ग आदि तुच्छ प्राणियोंकी भाँति अपना दुर्लभ जीवन व्यर्थ नष्ट कर रहा है। जो साधक पूर्वोक्त विवेचनके अनुसार अपने आपको नित्य चेतनस्वरूप

* यह मन्त्र श्वेता० उ० (३ । २०) में भी है।

समझकर सब प्रकारके भोगोंकी कामनासे रहित और शोकरहित हो जाता है, वह परमात्माकी कृपासे यह अनुभव करता है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान्—सर्वव्यापी हैं और इस प्रकार उनकी महिमाको समझकर उनका साक्षात्कार कर लेता है। (यहाँ 'धातुप्रसादात्' का अर्थ 'परमेश्वरकी कृपा' किया गया है। 'धातु' शब्दका अर्थ सर्वाधार परमात्मा माना गया है। विष्णुसहस्रनाममें भी 'अनादि निधनो धाता विधाता धातुरुत्तमः'—'धातु'को भगवान्‌का एक नाम माना गया है) ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

आसीनः=(वह परमेश्वर) बैठा हुआ ही; **दूरम् व्रजति**=दूर पहुँच जाता है; **शयानः**=सोता हुआ (भी), **सर्वतः याति**=सब ओर चलता रहता है, **तम् मदामदम् देवम्**=उस ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त न होनेवाले देवको; **मदन्यः कः**=मुझसे भिन्न दूसरा कौन, **ज्ञातुम्**=जाननेमें; **अर्हति**=समर्थ है ॥२१॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्ध धर्मोंके आश्रय हैं। एक ही समयमें उनमें विरुद्ध धर्मोंकी लीला होती है। इसीसे वे एक ही साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्‌-से-महान् बताये गये हैं। यहाँ यह कहते हैं कि ये परमेश्वर अपने नित्य परमधाममें विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर-से-दूर चले जाते हैं। परमधाममें निवास करनेवाले पार्षद भक्तोंकी दृष्टिमें वहाँ शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं। अथवा वे परमात्मा सदा-सर्वदा सर्वत्र स्थित हैं। उनकी सर्वव्यापकता ऐसी है कि बैठे भी वही हैं, दूर देशमें चलते भी वही हैं, सोते भी वही हैं और सब ओर जाते-आते भी वही हैं। वे सर्वत्र सब रूपोंमें नित्य अपनी महिमामें स्थित हैं। इस प्रकार अलौकिक परमैश्वर्यस्वरूप होनेपर भी उन्हें अपने ऐश्वर्यका तनिक भी अभिमान नहीं है। उन परमदेवको जाननेका अधिकारी उनका कृपापात्र मेरे (आत्म-तत्त्वज्ञ यमराजके सदृश अधिकारियोंके) सिवा दूसरा कौन हो सकता है ॥ २१ ॥

सम्बन्ध—अब इस प्रकार उन परमेश्वरकी महिमाको समझनेवाले पुरुषकी पहचान बताते हैं—

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

अनवस्थेषु=(जो) स्थिर न रहनेवाले (विनाशशील), **शरीरेषु**=शरीरोंमें; **अशरीरम्**=शरीररहित (एव); **अवस्थितम्**=अविचलभावसे स्थित

है, महान्तम्=(उस) महान्, विभुम्=सर्वव्यापी; आत्मानम्=परमात्माको, मत्वा=जानकर, धीरः=बुद्धिमान् महापुरुष, न शोचति=(कभी किसी भी कारणसे) शोक नहीं करता ॥ २२ ॥

व्याख्या—प्राणियोंके शरीर अनित्य और विनाशशील हैं, इनमें प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। इन सबमें समभावसे स्थित परब्रह्म पुरुषोत्तम इन शरीरोंसे सर्वथा रहित, अशरीरी है। इसी कारण वे नित्य और अचल हैं। प्राकृत देश-काल-गुणादिसे अपरिच्छिन्न उन महान्, सर्वव्यापी, सबके आत्मरूप परमेश्वरको जान लेनेके बाद वह ज्ञानी महापुरुष कभी किसी भी कारणसे किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं करता। यही उसकी पहचान है ॥ २२ ॥

सम्बन्ध—अब यह बतलाते हैं कि वे परमात्मा अपने पुरुषार्थसे नहीं मिलते, वरं उसीको मिलते हैं, जिसको वे स्वीकार कर लेते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥ २३ ॥*

अयम् आत्मा=यह परब्रह्म परमात्मा; न=न तो, प्रवचनेन=प्रवचनसे, न मेधया=न बुद्धिसे (और); न बहुना श्रुतेन=न बहुत सुननेसे ही, लभ्यः=प्राप्त हो सकता है; यम्=जिसको; एषः=यह, वृणुते=स्वीकार कर लेता है; तेन एव लभ्यः=उसके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है (क्योंकि); एषः आत्मा=यह परमात्मा, तस्य=उसके लिये, स्वाम् तनूम्=अपने यथार्थ स्वरूपको; विवृणुते=प्रकट कर देता है ॥ २३ ॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरकी महिमाका वर्णन मैं कर रहा हूँ, वे न तो उनको मिलते हैं, जो शास्त्रोंको पढ़-सुनकर लच्छेदार भाषामें परमात्म-तत्त्वका नाना प्रकारसे वर्णन करते हैं, न उन तर्कशील बुद्धिमान् मनुष्योंको ही मिलते हैं, जो बुद्धिके अभिमानमें प्रमत्त हुए तर्कके द्वारा विवेचन करके उन्हें समझनेकी चेष्टा करते हैं; और न उनको ही मिलते हैं, जो परमात्माके विषयमें बहुत कुछ सुनते रहते हैं। वे तो उसीको प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वयं स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनके लिये उत्कट इच्छा होती है, जो उनके बिना रह नहीं सकता। जो अपनी बुद्धि या साधनपर भरोसा न करके केवल उनकी कृपाकी ही प्रतीक्षा करता रहता है, ऐसे कृपा-निर्भर साधकपर परमात्मा कृपा करते हैं और योगमायाका परदा हटाकर उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं ॥ २३ ॥

---

* यह मन्त्र मुण्डकोपनिषद् (३ । २ । ३) में भी इसी प्रकार है।

सम्बन्ध—अब यह बतलाते हैं कि परमात्मा किसको प्राप्त नहीं होते—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

प्रज्ञानेन=सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा, **अपि**=भी, **एनम्**=इस परमात्माको; **न दुश्चरितात् अविरतः आप्नुयात्**=न तो वह मनुष्य प्राप्त कर सकता है, जो बुरे आचरणोंसे निवृत्त नहीं हुआ है; **न अशान्तः**=न वह प्राप्त कर सकता है, जो अशान्त है, **न असमाहितः**=न वह कि जिसके मन, इन्द्रियाँ संयत नहीं हैं; **वा**=और, **न अशान्तमानसः (आप्नुयात्)**=न वही प्राप्त करता है, जिसका मन शान्त नहीं है ॥ २४ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य बुरे आचरणोंसे विरक्त होकर उनका त्याग नहीं कर देता, जिसका मन परमात्माको छोड़कर दिन-रात सांसारिक भोगोंमें भटकता रहता है, परमात्मापर विश्वास न होनेके कारण जो सदा अशान्त रहता है, जिसका मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ वशमें की हुई नहीं हैं, ऐसा मनुष्य सूक्ष्म बुद्धिद्वारा आत्मविचार करते रहनेपर भी परमात्माको नहीं पा सकता, क्योंकि वह परमात्माकी असीम कृपाका आदर नहीं करता, उसकी अवहेलना करता रहता है, अतः वह उनकी कृपाका अधिकारी नहीं होता ॥ २४ ॥

सम्बन्ध—उस परब्रह्म परमेश्वरके तत्त्वको सुनकर और बुद्धिद्वारा विचार करके भी मनुष्य उसे क्यों नहीं जान सकता ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

यस्य=(संहारकालमें) जिस परमेश्वरके, **ब्रह्म च क्षत्रम् च उभे**=ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों ही अर्थात् सम्पूर्ण प्राणिमात्र; **ओदनः**=भोजन; **भवतः**=बन जाते हैं (तथा), **मृत्युः यस्य**=सबका संहार करनेवाली मृत्यु (भी) जिसका, **उपसेचनम्**=उपसेचन (भोज्य वस्तुके साथ लगाकर खानेका व्यञ्जन, तरकारी आदि), [**भवति**]=बन जाता है, **सः यत्र**=वह परमेश्वर जहाँ (और), **इत्था**=जैसा है, यह ठीक-ठीक, **कः वेद**=कौन जानता है ॥२५॥

व्याख्या—मनुष्य-शरीरमें भी धर्मशील ब्राह्मण और धर्मरक्षक क्षत्रियका शरीर परमात्माकी प्राप्तिके लिये अधिक उत्तम माना गया है, किंतु वे भी उन कालस्वरूप परमेश्वरके भोजन बन जाते हैं, फिर अन्य साधारण मनुष्य-शरीरोंकी तो बात ही क्या है । जो सबको मारनेवाले मृत्युदेव हैं, वे भी उन परमेश्वरके उपसेचन अर्थात् भोजनके साथ लगाकर खाये जानेवाले व्यञ्जन—चटनी-तरकारी

आदिकी भाँति हैं। ऐसे ब्राह्मण क्षत्रियादि समस्त प्राणियोंके और स्वयं मृत्युके संहारक अथवा आश्रयदाता परमेश्वरको भला, कोई भी मनुष्य इन अनित्य मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके द्वारा अन्य ज्ञेय वस्तुओंकी भाँति कैसे जान सकता है। किसकी सामर्थ्य है, जो सबके जाननेवालेको जान ले। अतः (पूर्वोक्त २३ वें मन्त्रके अनुसार) जिसको परमात्मा अपनी कृपाका पात्र बनाकर अपना तत्त्व समझाना चाहते हैं, वही उनको जान सकता है। अपनी शक्तिसे उन्हें कोई भी यथार्थ रूपमें नहीं जान सकता, क्योंकि वे लौकिक ज्ञेय वस्तुओंकी भाँति बुद्धिके द्वारा जाननेमें आनेवाले नहीं हैं ॥ २५ ॥

द्वितीय वल्ली समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय वल्ली

सम्बन्ध—द्वितीय वल्लीमें जीवात्मा और परमात्माके स्वरूपका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया और उनको जानकर परब्रह्मको प्राप्त कर लेनेका फल भी बतलाया गया। संक्षेपमें यह बात भी कही गयी कि जिसको वे परमात्मा स्वीकार करते हैं, वही उन्हें जान सकता है; परंतु परमात्माको प्राप्त करनेके साधनोंका वहाँ स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं हुआ, अतः साधनोंका वर्णन करनेके लिये तृतीय वल्लीका आरम्भ करते हुए यमराज पहले मन्त्रमें जीवात्मा और परमात्माका नित्य सम्बन्ध और निवास-स्थान बतलाते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

सुकृतस्य लोके=शुभ कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरमें, **परमे परार्धे**= परब्रह्मके उत्तम निवास-स्थान (हृदय-आकाश) में, **गुहाम् प्रविष्टौ**=बुद्धिरूप गुफामें छिपे हुए; **ऋतम् पिबन्तौ**=सत्यका पान करनेवाले (दो हैं), **छायातपौ**=(वे) छाया और धूपकी भाँति परस्पर भिन्न हैं, (यह बात) **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महापुरुष; **वदन्ति**=कहते हैं, **च ये**=तथा जो; **त्रिणाचिकेताः**=तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन कर लेनेवाले (और) **पञ्चाग्नयः**=पञ्चाग्निसम्पन्न गृहस्थ हैं, [**ते वदन्ति**]=वे भी यही बात कहते हैं॥१॥

व्याख्या—यमराजने यहाँ जीवात्मा और परमात्माके नित्य सम्बन्धका परिचय देते हुए कहा कि ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महानुभाव तथा यज्ञादि शुभकर्मोंका

अनुष्ठान करनेवाले आस्तिक सज्जन—सभी एक स्वरसे यही कहते हैं कि यह मनुष्य-शरीर बहुत ही दुर्लभ है। पूर्वजन्मार्जित अनेकों पुण्यकर्मोंको निमित्त बनाकर परम कृपालु परमात्मा कृपापरवश हो जीवको उसके कल्याण-सम्पादनके लिये यह श्रेष्ठ शरीर प्रदान करते हैं और फिर उस जीवात्माके साथ ही स्वयं भी उसीके हृदयके अन्तस्तलमें—परब्रह्मके निवासस्वरूप श्रेष्ठ स्थानमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो रहते हैं (छा० उ० ६ । ३ । २)। इतना ही नहीं, वे दोनों साथ-ही-साथ वहाँ सत्यका पान करते हैं—शुभ कर्मोंके अवश्यम्भावी सत्फलका भोग करते हैं (गीता ५ । २९)। अवश्य ही दोनोंके भोगमें बड़ा अन्तर है। (परमात्मा असङ्ग और अभोक्ता हैं) उनका प्रत्येक प्राणीके हृदयमें निवास करके उसके शुभ कर्मोंके फलका उपभोग करना उनकी वैसी ही लीला है, जैसी अजन्मा होकर जन्म ग्रहण करना। इसलिये यह कहा जाता है कि वे भोगते हुए भी वस्तुतः नहीं भोगते। अथवा यह भी कहा जा सकता है कि परमात्मा सत्यको पिलाते हैं—शुभ कर्मका फल भुगताते हैं और जीवात्मा पीता है—फल भोगता है। परंतु जीवात्मा फलभोगके समय असङ्ग नहीं रहता। वह अभिमानवश उसमें सुखका उपभोग करता है। इस प्रकार साथ रहनेपर भी जीवात्मा और परमात्मा दोनों छाया और धूपकी भाँति परस्पर भिन्न हैं। जीवात्मा छायाकी भाँति अल्पप्रकाश—अल्पज्ञ है और परमात्मा धूपकी भाँति पूर्णप्रकाश—सर्वज्ञ। परंतु जीवात्मामें जो कुछ अल्पज्ञान है, वह भी परमात्माका ही है, जैसे छायामें अल्पप्रकाश पूर्णप्रकाशरूप धूपका ही होता है।*

इस रहस्यको समझकर मनुष्यको अपनेमें किसी प्रकारकी भी शक्तिसामर्थ्यका अभिमान नहीं करना चाहिये और अन्तर्यामीरूपसे सदा-सर्वदा अपने हृदयमें रहनेवाले परम आत्मीय परम कृपालु परमात्माका नित्य-निरन्तर चिन्तन करते रहना चाहिये ॥ १ ॥

सम्बन्ध—परमात्माको जानने और प्राप्त करनेका जो सर्वोत्तम साधन 'उन्हें जानने और पानेकी शक्ति प्रदान करनेके लिये उन्हींसे प्रार्थना करना' है इस बातको यमराज स्वयं प्रार्थना करते हुए बतलाते हैं—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥ २ ॥

ईजानानाम्=यज्ञ करनेवालोंके लिये, **यः सेतुः**=जो दुःखसमुद्रसे पार

---

* इस मन्त्रमें 'जीवात्मा' और 'परमात्मा'को ही गुहामें प्रविष्ट बतलाया गया है, 'बुद्धि' और 'जीव' को नहीं। 'गुहाहितत्वं तु······'परमात्मन एव दृश्यते' (देखिये—ब्रह्मसूत्र अध्याय १ पाद २ सू० ११ का शाङ्करभाष्य)।

पहुँचा देने योग्य सेतु है, (तम्) नाचिकेतम्=उस नाचिकेत अग्निको (और), पारम् तितीर्षताम्=संसार-समुद्रसे पार होनेकी इच्छावालोंके लिये, यत् अभयम्=जो भयरहित पद है, (तत्) अक्षरम्=उस अविनाशी, परम् ब्रह्म=परब्रह्म पुरुषोत्तमको, शकेमहि=जानने और प्राप्त करनेमें भी हम समर्थ हों ॥ २ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं कि हे परमात्मन् ! आप हमें वह सामर्थ्य दीजिये, जिससे हम निष्कामभावसे यज्ञादि शुभ कर्म करनेकी विधिको भलीभाँति जान सकें और आपके आज्ञापालनार्थ उनका अनुष्ठान करके आपकी प्रसन्नता प्राप्त कर सकें तथा जो संसार-समुद्रसे पार होनेकी इच्छावाले विरक्त पुरुषोंके लिये निर्भयपद है, उस परम अविनाशी आप परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌को भी जानने और प्राप्त करनेके योग्य बन जायँ ।

इस मन्त्रमें यमराजने परमात्मासे उन्हें जाननेकी शक्ति प्रदान करनेके लिये प्रार्थना करके यह भाव दिखलाया है कि परब्रह्म पुरुषोत्तमको जानने और प्राप्त करनेका सबसे उत्तम और सरल साधन उनसे प्रार्थना करना ही है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—अब, उस परब्रह्म पुरुषोत्तमके परमधाममें किन साधनोंसे सम्पन्न मनुष्य पहुँच सकता है, यह बात रथ और रथीके रूपककी कल्पना करके समझायी जाती है—

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

आत्मानम्=(हे नचिकेता ! तुम) जीवात्माको तो, रथिनम्=रथका स्वामी (उसमें बैठकर चलनेवाला), विद्धि=समझो, तु=और; शरीरम् एव= शरीरको ही, रथम्=रथ (समझो); तु बुद्धिम्=तथा बुद्धिको, सारथिम्= सारथि (रथको चलानेवाला), विद्धि=समझो, च मनः एव=और मनको ही; प्रग्रहम्=लगाम (समझो) ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

मनीषिणः=ज्ञानीजन (इस रूपकमें), इन्द्रियाणि=इन्द्रियोंको; हयान्= घोड़े, आहुः=बतलाते हैं (और); विषयान्=विषयोंको, तेषु गोचरान्= उन घोड़ोंके विचरनेका मार्ग (बतलाते हैं), आत्मेन्द्रियमनोयुक्तम्=(तथा) शरीर, इन्द्रिय और मन—इन सबके साथ रहनेवाला जीवात्मा ही; भोक्ता=भोक्ता है; इति आहुः=यों कहते हैं ॥ ४ ॥

व्याख्या—जीवात्मा परमात्मासे बिछुड़ा हुआ है, अनन्त कालसे वह अनवरत संसाररूपी बीहड़ वनमें इधर-उधर सुखकी खोजमें भटक रहा है। सुख समझकर जहाँ भी जाता है, वहीं धोखा खाता है। सर्वथा साधनहीन और दयनीय है। जबतक वह परम सुखस्वरूप परमात्माके समीप नहीं पहुँच जाता, तबतक उसे सुख-शान्ति कभी नहीं मिल सकती। उसकी इस दयनीय दशाको देखकर दयामय परमात्माने उसे मानव-शरीररूपी सुन्दर सर्वसाधनसम्पन्न रथ दिया। इन्द्रियरूप बलवान् घोड़े दिये। उनके मनरूपी लगाम लगाकर उसे बुद्धिरूपी सारथिके हाथोंमें सौंप दिया और जीवात्माको उस रथमें बैठाकर—उसका स्वामी बनाकर यह बतला दिया कि वह निरन्तर बुद्धिको प्रेरणा करता रहे और परमात्माकी ओर ले जानेवाले भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम आदिके श्रवण, कीर्तन, मननादि विषयरूप प्रशस्त और सहज मार्गपर चलकर शीघ्र परमात्माके धाममें पहुँच जाय।

जीवात्मा यदि ऐसा करता तो वह शीघ्र ही परमात्मातक पहुँच जाता; परंतु वह अपने परमानन्दमय भगवत्प्राप्तिरूप इस महान् लक्ष्यको मोहवश भूल गया। उसने बुद्धिको प्रेरणा देना बंद कर दिया, जिससे बुद्धिरूपी सारथि असावधान हो गया, उसने मनरूपी लगामको इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंकी इच्छापर छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि जीवात्मा विषयप्रवण इन्द्रियोंके अधीन होकर सतत संसारचक्रमें डालनेवाले लौकिक शब्द-स्पर्शादि विषयोंमें भटकने लगा। अर्थात् वह जिन शरीर, इन्द्रिय, मनके सहयोगसे भगवान्‌को प्राप्त कर सकता, उन्हींके साथ युक्त होकर वह विषय-विषके उपभोगमें लग गया ॥ ३-४ ॥

सम्बन्ध—परमात्माकी ओर न आकर उसकी इन्द्रियाँ लौकिक विषयोंमें क्यों लग गयीं, इसका कारण बतलाते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

यः सदा=जो सदा, **अविज्ञानवान्**=विवेकहीन बुद्धिवाला, **तु**=और; **अयुक्तेन**=अवशीभूत (चञ्चल); **मनसा**=मनसे (युक्त), **भवति**=रहता है, **तस्य**=उसकी, **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ, **सारथेः**=असावधान सारथिके, **दुष्टाश्वाः इव**=दुष्ट घोड़ोंकी भाँति; **अवश्यानि**=वशमें न रहनेवाली, [**भवन्ति**]=हो जाती हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—रथको घोड़े ही चलाते हैं, परंतु उन घोड़ोंको चाहे जिस ओर, चाहे जिस मार्गपर ले जाना—लगाम हाथमें थामे हुए बुद्धिमान् सारथिका काम है। इन्द्रियरूपी बलवान् और दुर्धर्ष घोड़े स्वाभाविक ही आपातरमणीय

विषयोंसे भरे संसाररूप हरी-हरी घासके जगलकी ओर मनमाना दौडना चाहते हैं, परतु यदि बुद्धिरुप सारथि मनरूपी लगामको जोरसे खींचकर उन्हें अपने वशमें कर लेता है तो फिर घोड़े मनरूपी लगामके सहारे बिना चाहे जिस ओर नहीं जा सकते। यह सभी जानते हैं कि इन्द्रियाँ विषयोंका ग्रहण तभी कर सकती हैं, जब मन उनके साथ होता है। घोडे उसी ओर दौडते हैं, जिस ओर लगामका सहारा होता है, पर इस लगामको ठीक रखना सारथिकी बल-बुद्धिपर निर्भर करता है। यदि बुद्धिरूपी सारथि विवेकयुक्त स्वामीका आज्ञाकारी, लक्ष्यपर सदा स्थिर, बलवान्, मार्गके ज्ञानसे सम्पन्न और इन्द्रियरूपी घोडोंको चलानेमें दक्ष नहीं होता तो इन्द्रियरूपी दुष्ट घोडे उसके वशमें न रहकर लगामके सहारे सम्पूर्ण रथको ही अपने वशमें कर लेते हैं और फलस्वरूप रथी और सारथिसमेत उस रथको लिये हुए गहरे गड्ढेमें जा पडते हैं। बुद्धिके नियन्त्रणसे रहित इन्द्रियाँ उत्तरोत्तर उसी प्रकार उच्छृङ्खल होती चली जाती हैं जैसे असावधान सारथिके दुष्ट घोडे ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब स्वय सावधान रहकर अपनी बुद्धिको विवेकशील बनानेका काम बतलाते हैं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ६ ॥

तु यः सदा=परंतु जो सदा, **विज्ञानवान्**=विवेकयुक्त बुद्धिवाला (और), **युक्तेन**=वशमें किये हुए; **मनसा**=मनसे सम्पन्न, **भवति**=रहता है, **तस्य**=उसकी; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियाँ, **सारथेः**=सावधान सारथिके; **सदश्वाः इव**=अच्छे घोड़ोंकी भाँति, **वश्यानि**=वशमें, [**भवन्ति**]=रहती हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—जो जीवात्मा अपनी बुद्धिको विवेकसम्पन्न बना लेता है—जिसकी बुद्धि अपने लक्ष्यकी ओर ध्यान रखती हुई नित्य-निरन्तर निपुणताके साथ इन्द्रियोंको सन्मार्गपर चलानेके लिये मनको बाध्य किये रहती है, उसका मन भी लक्ष्यकी ओर लगा रहता है एव उसकी इन्द्रियाँ निश्चयात्मिका बुद्धिके अधीन रहकर भगवत्सम्बन्धी पवित्र विषयोंके सेवनमें उसी प्रकार सलग्न रहती हैं, जैसे श्रेष्ठ अश्व सावधान सारथिके अधीन रहकर उसके निर्दिष्ट मार्गपर चलते रहते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पाँचवें मन्त्रके अनुसार जिसके बुद्धि और मन आदि विवेक और सयमसे हीन होते हैं, उसकी क्या गति होती है—इसे बतलाते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति॥ ७॥

यः तु सदा=जो कोई सदा, **अविज्ञानवान्**=विवेकहीन बुद्धिवाला, **अमनस्कः**=असंयतचित्त (और), **अशुचिः**=अपवित्र, **भवति**=रहता है, **सः तत्पदम्**=वह उस परमपदको, **न आप्नोति**=नहीं पा सकता, **च**=अपि तु, **संसारम् अधिगच्छति**=बार-बार जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें ही भटकता रहता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—जिसकी बुद्धि सदा ही विवेकसे—कर्तव्याकर्तव्यके ज्ञानसे रहित और मनको वशमें रखनेमें असमर्थ रहती है, जिसका मन निग्रहरहित—असंयत है और जिसका विचार दूषित रहता है, और जिसकी इन्द्रियाँ निरन्तर दुराचारमें प्रवृत्त रहती हैं—ऐसे बुद्धिशक्तिसे रहित मन-इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले मनुष्यका जीवन कभी पवित्र नहीं रह पाता और इसलिये वह मानव-शरीरसे प्राप्त होनेयोग्य परमपदको नहीं पा सकता, वरं अपने दुष्कर्मोंके परिणामस्वरूप अनवरत इस संसार-चक्रमें ही भटकता रहता है—कूकर-शूकरादि विभिन्न योनियोंमें जन्मता एवं मरता रहता है ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥ ८ ॥

तु यः सदा=परंतु जो सदा, **विज्ञानवान्**=विवेकशील बुद्धिसे युक्त, **समनस्कः**=संयतचित्त (और); **शुचिः**=पवित्र; **भवति**=रहता है; **सः तु**=वह तो; **तत्पदम्**=उस परमपदको; **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है, **यस्मात् भूयः**=जहाँसे (लौटकर) पुनः, **न जायते**=जन्म नहीं लेता ॥ ८ ॥

व्याख्या—इसके विपरीत जो छठे मन्त्रके अनुसार स्वयं सावधान होकर अपनी बुद्धिको निरन्तर विवेकशील बनाये रखता है और उसके द्वारा मनको रोककर पवित्रभावमें स्थित रहता है अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार पवित्र कर्मोंका निष्कामभावसे आचरण करता है तथा भगवान्‌को अर्पण किये हुए भोगोंका राग-द्वेषसे रहित हो निष्कामभावसे शरीरनिर्वाहके लिये उपभोग करता रहता है, वह परमेश्वरके उस परमधामको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे फिर लौटना नहीं होता ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—आठवें मन्त्रमें कही हुई बातको फिरसे स्पष्ट करते हुए रथके रूपकका उपसंहार करते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

यः नरः=जो (कोई) मनुष्य; **विज्ञानसारथिः तु**=विवेकशील बुद्धिरूप सारथिसे सम्पन्न (और); **मनःप्रग्रहवान्**=मनरूप लगामको वशमें

रखनेवाला है, सः=वह; अध्वनः=संसारमार्गके; पारम्=पार पहुँचकर, विष्णोः= सर्वव्यापी परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान्‌के, तत् परमम् पदम्=उस सुप्रसिद्ध परमपदको, आप्नोति=प्राप्त हो जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—तृतीय मन्त्रसे नवम मन्त्रतक—सात मन्त्रोंमें रथके रूपकसे यह बात समझायी गयी है कि यह अति दुर्लभ मनुष्य शरीर जिस जीवात्माको परमात्माकी कृपासे मिल गया है, उसे शीघ्र सचेत होकर भगवत्प्राप्तिके मार्गमें लग जाना चाहिये। शरीर अनित्य है, प्रतिक्षण इसका ह्रास हो रहा है। यदि अपने जीवनके इस अमूल्य समयको पशुओंकी भाँति सांसारिक भोगोंके भोगनेमें ही नष्ट कर दिया गया तो फिर बारबार जन्म-मृत्युरूप संसार-चक्रमें घूमनेको बाध्य होना पड़ेगा। जिस महान् कार्यकी सिद्धिके लिये यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर मिला था, वह पूरा नहीं होगा। अतः मनुष्यको भगवान्‌की कृपासे मिली हुई विवेकशक्तिका सदुपयोग करना चाहिये। संसारकी अनित्यताको और इन आपातरमणीय विषय-जनित सुखोंकी यथार्थ दुःखरूपताको समझकर इनके चिन्तन और उपभोगसे सर्वथा उपरत हो जाना चाहिये। केवल शरीरनिर्वाहके उपयुक्त कर्तव्यकर्मोंका निष्कामभावसे भगवान्‌की आज्ञा समझकर अनुष्ठान करते हुए अपनी बुद्धिमें भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम तथा उनकी अलौकिक शक्ति और अहैतुकी दयापर दृढ विश्वास उत्पन्न करना चाहिये और सर्वतोभावसे भगवान्‌पर ही निर्भर हो जाना चाहिये। अपने मनको भगवान्‌के तत्त्व-चिन्तनमें, वाणीको उनके गुण-वर्णनमें, नेत्रोंको उनके दर्शनमें तथा कानोंको उनके महिमा-श्रवणमें लगाना चाहिये। इस प्रकार सारी इन्द्रियोंका सम्बन्ध भगवान्‌से जोड़ देना चाहिये। जीवनका एक क्षण भी भगवान्‌की मधुर-स्मृतिके बिना न बीतने पाये। इसीमें मनुष्य-जीवनकी सार्थकता है। जो ऐसा करता है, वह निश्चय ही परब्रह्म पुरुषोत्तमके अचिन्त्य परमपदको प्राप्त होकर सदाके लिये कृतकृत्य हो जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त वर्णनमें रथके रूपककी कल्पना करके भगवत्प्राप्तिके लिये जो साधन बतलाया गया, उसमें विवेकशील बुद्धिके द्वारा मनको वशमें करके, इन्द्रियोंको विपरीत मार्गसे हटाकर, भगवत्प्राप्तिके मार्गमें लगानेकी बात कही गयी। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि स्वभावसे ही दुष्ट और बलवान् इन्द्रियोंको उनके प्रिय और अभ्यस्त असत्-मार्गसे किस प्रकार हटाया जाय, अतः इस बातका तात्त्विक विवेचन करके इन्द्रियोंको असत्-मार्गसे रोककर भगवान्‌की ओर लगानेका प्रकार बतलाते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१०॥

हि इन्द्रियेभ्यः=क्योंकि इन्द्रियोंसे, अर्थाः=शब्दादि विषय, पराः= बलवान् हैं; च=और; अर्थेभ्यः=शब्दादि विषयोंसे, मनः=मन; परम्=पर (प्रबल) है, तु मनसः=और मनसे भी, बुद्धिः=बुद्धि; परा=पर (बलवती) है; बुद्धेः=(तथा) बुद्धिसे, महान् आत्मा=महान् आत्मा (उन सबका स्वामी होनेके कारण), परः=अत्यन्त श्रेष्ठ और बलवान् है ॥ १० ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें 'पर' शब्दका प्रयोग बलवान्‌के अर्थमें हुआ है, यह बात समझ लेनी चाहिये, क्योंकि कार्य-कारणभावसे या सूक्ष्मताकी दृष्टिसे इन्द्रियोंकी अपेक्षा शब्दादि विषयोंको श्रेष्ठ बतलाना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार 'महान्' विशेषणके सहित, 'आत्मा' शब्द भी 'जीवात्मा' का वाचक है, 'महत्तत्त्व'का नहीं। जीवात्मा इन सबका स्वामी है, अतः उसके लिये महान् विशेषण देना उचित ही है। यदि महत्तत्त्वके अर्थमें इसका प्रयोग होता तो 'आत्मा' शब्दके प्रयोगकी कोई आवश्यकता ही नहीं थी। दूसरी बात यह भी है कि बुद्धि-तत्त्व ही महत्तत्त्व है। तत्त्व-विचारकालमें इनमें भेद नहीं माना जाता। इसके सिवा आगे चलकर जहाँ निरोध (एक तत्त्वको दूसरेमें लीन करने) का प्रसङ्ग है, वहाँ भी बुद्धिका निरोध 'महान् आत्मा' में करनेके लिये कहा गया है। इन सब कारणोंसे तथा ब्रह्मसूत्रकारको साङ्ख्यमतानुसार महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृतिरूप अर्थ स्वीकार न होनेसे भी यही मानना चाहिये कि यहाँ 'महान्' विशेषणके सहित 'आत्मा' पदका अर्थ जीवात्मा ही है।* इसलिये मन्त्रका साराश यह है कि इन्द्रियोंसे अर्थ (विषय) बलवान् हैं। वे साधककी इन्द्रियोंको बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं, अतः साधकको उचित है कि इन्द्रियोंको विषयोंसे दूर रक्खे। विषयोंसे बलवान् मन है। यदि मनकी विषयोंमें आसक्ति न रहे तो इन्द्रियाँ और विषय—ये दोनों साधककी कुछ भी हानि नहीं कर सकते। मनसे भी बुद्धि बलवान् है, अतः बुद्धिके द्वारा विचार करके मनको राग-द्वेषरहित बनाकर अपने वशमें कर लेना चाहिये। एव बुद्धिसे भी इन सबका स्वामी महान् 'आत्मा' बलवान् है। उसकी आज्ञा माननेके लिये ये सभी बाध्य हैं। अतः मनुष्यको आत्मशक्तिका अनुभव करके उसके द्वारा बुद्धि आदि सबको नियन्त्रणमें रखना चाहिये ॥ १० ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

---

* भाष्यकार प्रातःस्मरणीय स्वामी शंकराचार्यजीने भी यहाँ 'महान् आत्मा' को जीवात्मा ही माना है, महत्तत्त्व नहीं (देखिये ब्रह्मसूत्र अ० १ पा० ४ सू० १ का शाङ्करभाष्य)।

महतः=उस जीवात्मासे, **परम्**=बलवती है, **अव्यक्तम्**=भगवान्की अव्यक्त मायाशक्ति, **अव्यक्तात्**=अव्यक्त मायासे भी, **परः**=श्रेष्ठ है, **पुरुषः**=परमपुरुष (स्वयं परमेश्वर); **पुरुषात्**=परम पुरुष भगवान्से, **परम्**=श्रेष्ठ और बलवान्; **किञ्चित्**=कुछ भी, **न**=नहीं है, **सा काष्ठा**=वही सबकी परम अवधि (और); **सा परा गतिः**=वही परम गति है ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें 'अव्यक्त' शब्द भगवान्की उस त्रिगुणमयी दैवी मायाशक्तिके लिये प्रयुक्त हुआ है, जो गीतामें दुरत्यय (अतिदुस्तर) बतायी गयी है (गीता ७ । १४) तथा जिससे मोहित हुए जीव भगवान्को नहीं जानते (गीता ७ । १३) । यही जीवात्मा और परमात्माके बीचमें परदा है, जिसके कारण जीव सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वरको नित्य समीप होनेपर भी नहीं देख पाता । इसे इस प्रकरणमें जीवसे भी बलवान् बतलानेका यह भाव है कि जीव अपनी शक्तिसे इस मायाको नहीं हटा सकता, भगवान्की शरण ग्रहण करनेपर भगवान्की दयाके बलसे ही वह इससे पार हो सकता है (गीता ७ । १४) । यहाँ 'अव्यक्त' शब्दसे सांख्यमतावलम्बियोंका 'प्रधान तत्त्व' नहीं ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि उनके मतमें 'प्रधान' स्वतन्त्र है; वह आत्मासे पर नहीं है, तथा आत्माको भोग और मुक्ति—दोनों वस्तुएँ देकर उसका प्रयोजन सिद्ध करनेवाला है । परंतु उपनिषद् और गीतामें इस अव्यक्त प्रकृतिको कहीं भी मुक्ति देनेमें समर्थ नहीं माना है । अतः इस मन्त्रका तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि—इन सबपर आत्माका अधिकार है; अतः यह स्वयं उनको वशमें करके भगवान्की ओर बढ़ सकता है । परन्तु इस आत्मासे भी बलवान् एक और तत्त्व है, जिसका नाम 'अव्यक्त' है । कोई उसे प्रकृति और कोई माया भी कहते हैं । इसीसे सब जीवसमुदाय मोहित होकर उसके वशमें हो रहा है । इसको हटाना जीवके अधिकारकी बात नहीं है, अतः इससे भी बलवान् जो इसके स्वामी परमपुरुष परमेश्वर हैं—जो बल, क्रिया और ज्ञान आदि सभी शक्तियोंकी अन्तिम अवधि और परम आधार हैं,—उन्हींकी शरण लेनी चाहिये । जब वे दया करके इस मायारूप परदेको स्वयं हटा लेंगे, तब उसी क्षण वहीं भगवान्की प्राप्ति हो जायगी, क्योंकि वे तो सदासे ही सर्वत्र विद्यमान हैं ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—यही भाव अगले मन्त्रमें स्पष्ट करते हैं—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

एषः आत्मा=यह सबका आत्मरूप परमपुरुष, **सर्वेषु भूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें रहता हुआ भी, **गूढः**=मायाके परदेमें छिपा रहनेके कारण, **न प्रकाशते**=सबके प्रत्यक्ष नहीं होता, **तु सूक्ष्मदर्शिभिः**=केवल सूक्ष्मतत्त्वोंको समझनेवाले पुरुषो-

द्वारा ही; **सूक्ष्मया अग्र्यया बुद्ध्या**=अति सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धिसे; **दृश्यते**=देखा जाता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—ये परब्रह्म पुरुषोत्तम भगवान् सबके अन्तर्यामी हैं, अतः सब प्राणियोंके हृदयमें विराजमान हैं, परंतु अपनी मायाके परदेमें छिपे हुए हैं, इस कारण उनके जाननेमें नहीं आते । जिन्होंने भगवान्‌का आश्रय लेकर अपनी बुद्धिको तीक्ष्ण बना लिया है, वे सूक्ष्मदर्शी ही भगवान्‌की दयासे सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा उन्हें देख पाते हैं ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—विवेकशील मनुष्यको भगवान्‌के शरण होकर किस प्रकार भगवान्‌की प्राप्तिके लिये साधन करना चाहिये ?—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥

प्राज्ञः=बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि, **वाक्**=(पहले) वाक् आदि (समस्त इन्द्रियों) को; **मनसी**=मनमें; **यच्छेत्**=निरुद्ध करे; **तत्**=उस मनको; **ज्ञाने आत्मनि**=ज्ञानस्वरूप बुद्धिमें; **यच्छेत्**=विलीन करे; **ज्ञानम्**=ज्ञानस्वरूप बुद्धिको; **महति आत्मनि**=महान् आत्मामें; **नियच्छेत्**=विलीन करे (और); **तत्**=उसको; **शान्ते आत्मनि**=शान्तस्वरूप परमपुरुष परमात्मामें; **यच्छेत्**=विलीन करे ॥ १३ ॥

व्याख्या—बुद्धिमान् मनुष्यको उचित है कि वह पहले तो वाक् आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर मनमें विलीन कर दे अर्थात् इनकी ऐसी स्थिति कर दे कि इनकी कोई भी क्रिया न हो—मनमें विषयोंकी स्फुरणा न रहे । जब यह साधन भलीभाँति होने लगे, तब मनको ज्ञानस्वरूप बुद्धिमें विलीन कर दे अर्थात् एकमात्र विज्ञानस्वरूप निश्चयात्मिका बुद्धिकी वृत्तिके सिवा मनकी भिन्न सत्ता न रहे, किसी प्रकारका अन्य कोई भी चिन्तन न रहे । जब यहाँतक दृढ अभ्यास हो जाय, तदनन्तर उस ज्ञानस्वरूपा बुद्धिको भी जीवात्माके शुद्ध स्वरूपमें विलीन कर दे । अर्थात् ऐसी स्थितिमें स्थित हो जाय, जहाँ एकमात्र आत्मतत्त्वके सिवा—अपनेसे भिन्न किसी भी वस्तुकी सत्ता या स्मृति नहीं रह जाती । इसके पश्चात् अपने-आपको भी पूर्व-निश्चयके अनुसार शान्त आत्मारूप परब्रह्म पुरुषोत्तममें विलीन कर दे ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्माके स्वरूपका वर्णन करके, तथा उसकी प्राप्तिका महत्त्व और साधन बतलाकर अब श्रुति मनुष्योंको सावधान करती हुई कहती है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

उत्तिष्ठत=(हे मनुष्यो !) उठो, जाग्रत=जागो (सावधान हो जाओ और), वरान् प्राप्य=श्रेष्ठ महापुरुषोंको पाकर—उनके पास जाकर (उनके द्वारा); निबोधत=उस परब्रह्म परमेश्वरको जान लो (क्योंकि), कवयः=त्रिकालज्ञ ज्ञानीजन; तत् पथः=उस तत्वज्ञानके मार्गको, क्षुरस्य=छूरेकी; निशिता दुरत्यया=तीक्ष्ण की हुई दुस्तर, धारा (इव)=धारके सदृश, दुर्गम्=दुर्गम (अत्यन्त कठिन); वदन्ति=बतलाते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—हे मनुष्यो ! तुम जन्म-जन्मान्तरसे अज्ञाननिद्रामें सो रहे हो। अब तुम्हें परमात्माकी दयासे यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर मिला है । इसे पाकर अब एक क्षण भी प्रमादमें मत खोओ । शीघ्र सावधान हो जाओ । श्रेष्ठ महापुरुषोंके पास जाकर उनके उपदेशद्वारा अपने कल्याणका मार्ग और परमात्माका रहस्य समझ लो। परमात्माका तत्त्व बड़ा गहन है, उसके स्वरूपका ज्ञान, उसकी प्राप्तिका मार्ग महापुरुषोंकी सहायता और परमात्माकी कृपाके बिना वैसा ही दुस्तर है, जिस प्रकार छूरेकी तेज धारपर चलना। ऐसे दुस्तर मार्गसे सुगमतापूर्वक पार होनेका सरल उपाय वे अनुभवी महापुरुष ही बता सकते हैं, जो स्वयं इसे पार कर चुके हैं ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—ब्रह्मप्राप्तिका मार्ग इतना दुस्तर क्यों है ?—इस जिज्ञासापर परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए उसको जाननेका फल बतलाते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

यत्=जो, अशब्दम्=शब्दरहित; अस्पर्शम्=स्पर्शरहित, अरूपम्=रूपरहित, अरसम्=रसरहित, च=और; अगन्धवत्=बिना गन्धवाला है, तथा=तथा (जो), अव्ययम्=अविनाशी, नित्यम्=नित्य, अनादि=अनादि, अनन्तम्=अनन्त (असीम); महतः परम्=महान् आत्मासे श्रेष्ठ (एवं), ध्रुवम्=सर्वथा सत्य तत्त्व है; तत्=उस परमात्माको, निचाय्य=जानकर (मनुष्य), मृत्युमुखात्=मृत्युके मुखसे, प्रमुच्यते=सदाके लिये छूट जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उस परब्रह्म परमात्माको प्राकृत शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे रहित बतलाकर यह दिखलाया गया है कि सांसारिक विषयोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियोंकी वहाँ पहुँच नहीं है । व नित्य, अविनाशी, अनादि

और असीम हैं । जीवात्मासे भी श्रेष्ठ और सर्वथा सत्य हैं । उन्हें जानकर मनुष्य सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाता है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—यहाँतक एक अध्यायके उपदेशको पूर्ण करके अब इस आख्यानके श्रवण और वर्णनका माहात्म्य बतलाते हैं—

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳ सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६ ॥

मेधावी=बुद्धिमान् मनुष्य, **मृत्युप्रोक्तम्**=यमराजके द्वारा कहे हुए, **नाचिकेतम्**=नचिकेताके; **सनातनम्**=(इस) सनातन, **उपाख्यानम्**=उपाख्यानका, **उक्त्वा**=वर्णन करके; **च**=और, **श्रुत्वा**=श्रवण करके, **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें; **महीयते**=महिमान्वित होता है (प्रतिष्ठित होता है) ॥१६॥

व्याख्या—यह जो इस अध्यायमें नचिकेताके प्रति यमराजका उपदेश है, यह कोई नयी बात नहीं है; यह परम्परागत सनातन उपाख्यान है । बुद्धिमान् मनुष्य इसका वर्णन और श्रवण करके ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठावाला होता है ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि ।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ।
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

यः=जो मनुष्य, **प्रयतः**=सर्वथा शुद्ध होकर; **इमम्**=इस; **परमम् गुह्यम्**=परम गुह्य—रहस्यमय प्रसङ्गको, **ब्रह्मसंसदि**=ब्राह्मणोंकी सभामें, **श्रावयेत्**=सुनाता है, **वा**=अथवा, **श्राद्धकाले**=श्राद्धकालमें; [**श्रावयेत्**]=(भोजन करनेवालोंको) सुनाता है; **तत्**=(उसका) वह श्रवण करानारूप कर्म, **आनन्त्याय कल्पते**=अनन्त होनेमें (अविनाशी फल देनेमें) समर्थ होता है, **तत् आनन्त्याय कल्पते इति**=वह अनन्त होनेमें समर्थ होता है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जो मनुष्य विशुद्ध होकर सावधानीसे इस परम रहस्यमय प्रसङ्गको तत्त्वविवेचनपूर्वक भगवत्प्रेमी शुद्धबुद्धि ब्राह्मणोंकी सभामें सुनाता है अथवा श्राद्धकालमें भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंको सुनाता है, उसका वह वर्णनरूप कर्म अनन्त फल देनेवाला होता है, अनन्त होनेमें समर्थ होता है । दुबारा कहकर इस सिद्धान्तकी निश्चितता और अध्यायकी समाप्तिका लक्ष्य कराया गया है ॥ १७ ॥

॥ तृतीय वल्ली समाप्त ॥ ३ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्रथम वल्ली

सम्बन्ध—तृतीय वल्लीमें यह बतलाया गया कि वे परब्रह्म परमेश्वर सम्पूर्ण प्राणियोंमें वर्तमान हैं, परंतु सबको दीखते नहीं। कोई विरला ही उन्हें सूक्ष्म बुद्धिके द्वारा देख सकता है। इसपर यह प्रश्न होता है कि जब वे ब्रह्म अपने ही हृदयमें हैं तब उन्हें सभी लोग अपनी बुद्धिरूप नेत्रोंद्वारा क्यों नहीं देख लेते ? कोई विरला ही क्यों देखता है ? इसपर कहते हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

स्वयंभूः=स्वयं प्रकट होनेवाले परमेश्वरने, **खानि**=समस्त इन्द्रियोंके द्वार, **पराञ्चि**=बाहरकी ओर जानेवाले ही, **व्यतृणत्**=बनाये हैं, **तस्मात्**=इसलिये (मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा प्रायः), **पराङ्**=बाहरकी वस्तुओंको ही, **पश्यति**=देखता है, **अन्तरात्मन्**=अन्तरात्माको, **न**=नहीं, **कश्चित् धीरः**=किसी (भाग्यशाली) बुद्धिमान् मनुष्यने ही; **अमृतत्वम्**=अमर पदको, **इच्छन्**=पानेकी इच्छा करके, **आवृत्तचक्षुः**=चक्षु आदि इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंकी ओरसे लौटाकर, **प्रत्यगात्मानम्**=अन्तरात्माको, **ऐक्षत्**=देखा है ॥ १ ॥

व्याख्या—शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—इन्द्रियोंके ये सभी स्थूल विषय बाहर हैं। इनका यथार्थ ज्ञान करानेके लिये इन्द्रियोंकी रचना हुई है, क्योंकि इनका ज्ञान हुए बिना न तो मनुष्य किसी विषयके स्वरूप और गुणको ही जान सकता है और न उसका यथायोग्य त्याग एवं ग्रहण करके भगवान्के इन्द्रिय-निर्माणके उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये उनके द्वारा नवीन शुभ कर्मोंका सम्पादन ही कर सकता है। इन्द्रिय-निर्माण इसीलिये है कि मनुष्य इन्द्रियोंके द्वारा स्वास्थ्यकर, सुबुद्धिदायक, विशुद्ध विषयोंका ग्रहण करके सुखमय जीवन बिताते हुए परमात्माकी ओर अग्रसर हो। इसीलिये स्वयम्भू भगवान्ने इन्द्रियोंका मुख बाहरकी ओर बनाया, परंतु विवेकके अभावसे अधिकांश मनुष्य इस बातको नहीं जानते और विषयासक्तिवश उन्मत्तकी भाँति आपातरमणीय परिणाममें

भगवान्से हटाकर दुःखशोकमय नरकोंमें पहुँचानेवाले अशुद्ध विषयभोगोंमें ही रचे-पचे रहते हैं। वे अन्तर्यामी परमात्माकी ओर देखते ही नहीं। कोई विरला ही बुद्धिमान् मनुष्य ऐसा होता है जो सत्सङ्ग, स्वाध्याय तथा भगवत्कृपासे अशुद्ध विषयभोगोंकी परिणामदुःखताको जानकर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे लौटाकर, उन्हें भगवत्सम्बन्धी विषयोंमें लगाकर अन्तरात्माको—अन्तर्यामी परमात्माको देखता है ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बाला-
स्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा
ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

(ये) **बालाः**=जो मूर्ख, **पराचः कामान्**=बाह्य भोगोंका, **अनुयन्ति**=अनुसरण करते हैं (उन्हीमें रचे-पचे रहते हैं), **ते**=वे, **विततस्य**=सर्वत्र फैले हुए, **मृत्योः**=मृत्युके, **पाशम्**=बन्धनमें, **यन्ति**=पड़ते हैं, **अथ**=किंतु, **धीराः**=बुद्धिमान् मनुष्य, **ध्रुवम्**=नित्य, **अमृतत्वम्**=अमरपदको, **विदित्वा**=विवेकद्वारा जानकर, **इह**=इस जगत्में; **अध्रुवेषु**=अनित्य भोगोंमेंसे किसीको (भी); **न प्रार्थयन्ते**=नही चाहते ॥ २ ॥

व्याख्या—जो बाह्य विषयोंकी चमक-दमक और आपातरमणीयताको देखकर उनमें आसक्त हुए रहते है और उनके पाने तथा भोगनेमें ही दुर्लभ एवं अमूल्य मनुष्यजीवनको खो देते हैं, वे मूर्ख हैं। निश्चय ही वे सर्वकालव्यापी मृत्युके पाशमें बँध जाते हैं, दीर्घकालतक नाना प्रकारकी योनियोंमें जन्म धारण करके बार-बार जन्मते-मरते रहते हैं, परंतु जो बुद्धिमान् है, वे इस विषयपर गहराईसे यों विचार करते हैं कि ये इन्द्रियोंके भोग तो जीवको दूसरी योनियोंमें भी पर्याप्त मिल सकते हैं। मनुष्य-शरीर उन सबसे विलक्षण है। इसका वास्तविक उद्देश्य विषयोपभोग कभी नही हो सकता। इस प्रकार विचार करनेपर जब यह बात उनकी समझमें आ जाती है कि इसका उद्देश्य अमृतस्वरूप नित्य परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करना है और वह इसी शरीरमें प्राप्त किया जा सकता है, तब वे सर्वतोभावसे उसीकी ओर लग जाते हैं। फिर वे इस विनाशशील जगत्में क्षणभङ्गुर भोगोंको प्राप्त करनेकी इच्छा नही करते, इनसे सर्वथा विरक्त होकर सावधानीके साथ परमार्थ-साधनमें लग जाते हैं ॥ २ ॥

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ३ ॥

येन=जिसके अनुग्रहसे मनुष्य, **शब्दान्**=शब्दोंको, **स्पर्शान्**=स्पर्शोंको, **रूपम्**=रूप-समुदायको, **रसम्**=रस-समुदायको, **गन्धम्**=गन्ध-समुदायको, **च**=और, **मैथुनान्**=स्त्री-प्रसग आदिके सुखोंको, **विजानाति**=अनुभव करता है, **एतेन एव**=इसीके अनुग्रहसे यह भी जानता है कि, **अत्र किम्**= यहाँ क्या, **परिशिष्यते**=शेष रह जाता है, **एतत् वै**=यह ही है, **तत्**=वह परमात्मा (जिसके विषयमें तुमने पूछा था ।) ॥ ३ ॥

व्याख्या—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धात्मक सब प्रकारके विषयोंका और स्त्री-सहवासादिसे होनेवाले सुखोंका मनुष्य जिस परम देवसे मिली हुई ज्ञानशक्तिके द्वारा अनुभव करता है, उन्हींकी दी हुई शक्तिसे इनकी क्षणभङ्गुरताको देखकर वह यह भी समझ सकता है कि इन सबमेंसे ऐसी कौन वस्तु है, जो यहाँ शेष रहेगी ! विचार करनेपर यही समझमें आता है कि ये सभी पदार्थ प्रतिक्षण बदलनेवाले होनेसे विनाशशील हैं । इन सबके परम कारण एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही नित्य हैं । वे पहले भी थे और पीछे भी रहेंगे । अतः हे नचिकेता ! तुम्हारा पूछा हुआ वह ब्रह्मतत्त्व यही है, जो सबका शेषी है, सबका पर्यवसान है, सबकी अवधि और सबकी परम गति है ॥ ३ ॥

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

स्वप्नान्तम् च=स्वप्नके दृश्योंको और, **जागरितान्तम्**=जाग्रत्-अवस्थाके दृश्योंको, **उभौ**=इन दोनों अवस्थाओंके दृश्योंको (मनुष्य), **येन**=जिससे, **अनुपश्यति**=बार-बार देखता है, [**तम्**]=उस; **महान्तम्**=सर्वश्रेष्ठ; **विभुम्**=सर्वव्यापी, **आत्मानम्**=सबके आत्माको, **मत्वा**=जानकर, **धीरः**= बुद्धिमान् मनुष्य; **न शोचति**=शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिस परमात्माके सहयोगसे यह जीवात्मा स्वप्नमें और जाग्रत्में होनेवाली समस्त घटनाओंका बारंबार अनुभव करता रहता है, इन सबको जाननेकी शक्ति इसको जिस परब्रह्म परमेश्वरसे मिली है, जिसकी कृपासे इस जीवको उस (परमात्मा) की विज्ञानशक्तिका एक अंश प्राप्त हुआ है, उस सबकी अपेक्षा महान् सदा-सर्वदा सर्वत्र व्याप्त परब्रह्म परमात्माको जानकर धीर पुरुष कभी, किसी भी कारणसे, किञ्चिन्मात्र भी शोक नहीं करता ॥ ४ ॥

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥ ५ ॥

यः=जो मनुष्य, **मध्वदम्**=कर्मफलदाता, **जीवम्***=सबको जीवन

* यहाँ 'जीव' शब्द परमात्माके लिये ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि भूत, भविष्य

प्रदान करनेवाले, (तथा) **भूतभव्यस्य**=भूत, (वर्तमान) और भविष्यका, **ईशानम्**=शासन करनेवाले, **इमम्**=इस, **आत्मानम्**=परमात्माको, **अन्तिकात् वेद**=(अपने) समीप जानता है, **ततः (सः)**=उसके बाद वह; **न विजुगुप्सते**=(कभी) किसीकी निन्दा नहीं करता, **एतद् वै**=यह ही (है), **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जो साधक सबको जीवन प्रदान करनेवाले, जीवोंके परम जीवन और उन्हें उनके कर्मोंका फल भुगतानेवाले तथा भूत, वर्तमान और भावी जगत्का एकमात्र शासन करनेवाले उस परब्रह्म परमेश्वरको इस प्रकार समझ लेता है कि 'वह अन्तर्यामीरूपसे निरन्तर मेरे समीप-मेरे हृदयमें ही स्थित है,' और इससे स्वाभाविक ही यह अनुमान कर लेता है कि इसी प्रकार वे सर्वनियन्ता परमात्मा सबके हृदयमें स्थित हैं; वह फिर उनके इस महिमामय स्वरूपको कभी नहीं भूल सकता। इसलिये वह कभी किसीकी निन्दा नहीं करता, किसीसे भी घृणा या द्वेष नहीं करता। नचिकेता ! तुमने जिस ब्रह्मके विषयमें पूछा था, वह यही है, जिसका मैंने ऊपर वर्णन किया है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब यह बतलाते हैं कि ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त प्राणी उन परब्रह्म परमेश्वरसे ही उत्पन्न हुए हैं, अतः जो कुछ भी है, सब उन्हींका रूपविशेष है। उनसे भिन्न यहाँ कुछ भी नहीं है, क्योंकि इस सम्पूर्ण जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण एकमात्र परमेश्वर ही हैं, वे एक ही अनेक रूपोंमें स्थित हैं।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत॥एतद्वै तत् ॥ ६ ॥

यः=जो, **अद्भ्यः**=जलसे, **पूर्वम्**=पहले; **अजायत**=हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुआ था, [**तम्**]=उस, **पूर्वम्**=सबसे पहले; **तपसः जातम्**=तपसे उत्पन्न, **गुहाम् प्रविश्य**=हृदय-गुफामें प्रवेश करके, **भूतेभिः (सह)**= जीवात्माओंके साथ, **तिष्ठन्तम्**=स्थित रहनेवाले परमेश्वरको; **यः**=जो पुरुष, **व्यपश्यत**=देखता है (वही ठीक देखता है); **एतत् वै**=यह ही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ६ ॥

व्याख्या—जो जलसे उपलक्षित पाँचों महाभूतोंसे पहले हिरण्यगर्भ ब्रह्माके रूपमें प्रकट हुए थे, उन अपने ही संकल्परूप तपसे प्रकट होनेवाले और सब जीवोंके हृदयरूप गुफामें प्रविष्ट होकर उनके साथ रहनेवाले परमेश्वरको जो

और वर्तमानका शासक जीव नहीं हो सकता। और प्रकरण भी यहाँ परमात्माका है, जीवका नहीं (देखिये ब्रह्मसूत्र १ । ३ । २४ का शाङ्करभाष्य)।

इस प्रकार जानता है कि 'सबके हृदयमें निवास करनेवाले सबके अन्तर्यामी परमेश्वर एक ही हैं, यह सम्पूर्ण जगत् उन्हींकी महिमाका प्रकाश करता है,' वही यथार्थ जानता है। वे सदा सबके हृदयमें रहनेवाले ही ये तुम्हारे पूछे हुए परब्रह्म परमेश्वर हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—उन्हीं परब्रह्मका अब अदितिदेवीके रूपसे वर्णन करते हैं—

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत एतद्वै तत् ॥ ७ ॥

या=जो; **देवतामयी**=देवतामयी; **अदितिः**=अदिति; **प्राणेन**=प्राणोंके सहित, **सम्भवति**=उत्पन्न होती है, **या**=जो; **भूतेभिः**=प्राणियोंके सहित; **व्यजायत**=उत्पन्न हुई है, (तथा जो) **गुहाम्**=हृदयरूपी गुफामें; **प्रविश्य**=प्रवेश करके; **तिष्ठन्तीम्**=वहीं रहनेवाली है उसे, (जो पुरुष देखता है, वही यथार्थ देखता है,) **एतत् वै**=यही है, **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो सर्वदेवतामयी भगवती अदितिदेवी पहले-पहल उस परब्रह्मके संकल्पसे सब जगत्की जीवनी-शक्तिके सहित उत्पन्न होती है, तथा जो सम्पूर्ण प्राणियोंको बीजरूपसे अपने साथ लेकर प्रकट हुई थी, हृदयरूपी गुहामें प्रविष्ट होकर वहीं रहनेवाली वह भगवती—भगवान्की अचिन्त्यमहाशक्ति भगवान्से सर्वथा अभिन्न है, भगवान् और उनकी शक्तिमें कोई भेद नहीं है, भगवान् ही शक्तिरूपसे सबके हृदयमें प्रवेश किये हुए हैं । हे नचिकेता ! वे ही ये ब्रह्म हैं, जिनके विषयमें तुमने पूछा था ।

अथवा—जननीरूपमें समस्त देवताओंका सृजन करनेवाली होनेके कारण जो सर्वदेवतामयी हैं शब्दादि समस्त भोगसमूहका अदन—भक्षण करनेवाली होनेसे भी जिनका नाम अदिति है, जो हिरण्यगर्भरूप प्राणोंके सहित प्रकट होती हैं और समस्त भूतप्राणियोंके साथ ही जिनका प्रादुर्भाव होता है तथा जो सम्पूर्ण भूतप्राणियोंकी हृदय-गुफामें प्रविष्ट होकर वहाँ स्थित रहती हैं, वे परमेश्वरकी महाशक्ति वस्तुतः उनका प्रतीक ही हैं । स्वयं परमेश्वर ही इस रूपमें अपनेको प्रकट करते हैं। ये ही वह ब्रह्म हैं जिनके सम्बन्धमें नचिकेता ! तुमने पूछा था ॥ ७ ॥

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥*
एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

[यः]=जो; **जातवेदाः**=सर्वज्ञ, **अग्निः**=अग्निदेवता, **गर्भिणीभिः**=

* यह मन्त्र ऋग्वेद (मण्डल ३ सू० २९ । २) में और सामवेद (पूर्वार्चिक खण्ड ८ । ७) में भी है।

गर्भिणी स्त्रियोंद्वारा, **सुभृतः**=भली प्रकार धारण किये हुए, **गर्भः**=गर्भकी; **इव**=भाँति; **अरण्योः**=दो अरणियोंमें; **निहितः**=सुरक्षित है—छिपा है (तथा जो); **जागृवद्भिः**=सावधान (और), **हविष्मद्भिः**=हवन करने योग्य सामग्रियोंसे युक्त, **मनुष्येभिः**=मनुष्योंद्वारा, **दिवे दिवे**=प्रतिदिन, **ईड्यः**=स्तुति करनेयोग्य (है), **एतत् वै**=यही है, **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ८ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार गर्भिणी स्त्रीके द्वारा धारण किया हुआ शुद्ध अन्न-पानादिसे परिपुष्ट बालक गर्भमें छिपा रहता है उसी प्रकार जो सर्वज्ञ अग्निदेवता अधर और उत्तर अरणि (ऊपर-नीचेके काष्ठखण्ड) के भीतर छिपे हुए हैं तथा अग्निविद्याके जाननेवाले, प्रयत्नशील, सावधान, श्रद्धालु, सब प्रकारकी आवश्यक सामग्रियोंसे सम्पन्न मनुष्यगण प्रतिदिन जिनकी स्तुति और आदर किया करते हैं, वे अग्निदेवता सर्वज्ञ परमेश्वरके ही प्रतीक हैं। नचिकेता ! ये ही वे तुम्हारे पूछे हुए ब्रह्म हैं ॥ ८ ॥

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥ ९ ॥*

यतः=जहाँसे; **सूर्यः**=सूर्यदेव; **उदेति**=उदय होते हैं; **च**=और; **यत्र**=जहाँ; **अस्तम् च**=अस्तभावको भी; **गच्छति**=प्राप्त होते हैं, **सर्वे**=सभी; **देवाः**=देवता, **तम्**=उसीमें, **अर्पिताः**=समर्पित हैं, **तत् उ**=उस परमेश्वरको; **कश्चन**=कोई (कभी भी); **न अत्येति**=नहीं लाँघ सकता, **एतत् वै**=यही है, **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ९ ॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरसे सूर्यदेव प्रकट होते हैं और जिनमें जाकर विलीन हो जाते हैं, जिनकी महिमामें ही यह सूर्यदेवताकी उदय-अस्तलीला नियम-पूर्वक चलती है, उन परब्रह्ममें ही सम्पूर्ण देवता प्रविष्ट हैं—सब उन्हींमें ठहरे हुए हैं। ऐसा कोई भी नहीं है, जो उन सर्वात्मक, सर्वमय, सबके आदि-अन्त आश्रयस्थल परमेश्वरकी महिमा और व्यवस्थाका उल्लङ्घन कर सके । सर्वतोभावसे सभी सर्वदा उनके अधीन और उन्हींके अनुशासनमें रहते हैं । कोई भी उनकी महिमाका पार नहीं पा सकता । वे सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तम ही तुम्हारे पूछे हुए ब्रह्म हैं ॥ ९ ॥

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥

* अथर्ववेद १० । ८ । १६ ।

यत् इह=जो परब्रह्म यहाँ (है); तत् एव अमुत्र=वही वहाँ (परलोकमें भी है), यत् अमुत्र=जो वहाँ (है); तत् अनु इह=वही यहाँ (इस लोकमें) भी है, सः मृत्योः=वह मनुष्य मृत्युसे, मृत्युम्=मृत्युको (अर्थात् बारबार जन्म-मरणको), आप्नोति=प्राप्त होता है, यः=जो, इह=इस जगत्में, नाना इव=(उस परमात्माको) अनेककी भाँति, पश्यति=देखता है ॥ १० ॥

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, सर्वरूप, सबके परम कारण, परब्रह्म पुरुषोत्तम यहाँ इस पृथ्वीलोकमें हैं, वही वहाँ परलोकमें अर्थात् देव-गन्धर्वादि विभिन्न अनन्त लोकोंमें भी हैं, तथा जो वहाँ हैं, वे ही यहाँ भी हैं। एक ही परमात्मा अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त हैं। जो उन एक ही परब्रह्मको लीलासे नाना नामों और रूपोंमें प्रकाशित देखकर मोहवश उनमें नानात्वकी कल्पना करता है, उसे पुनः-पुनः मृत्युके अधीन होना पड़ता है, उसके जन्म-मरणका चक्र सहज ही नहीं छूटता। अतः दृढतापूर्वक यही समझना चाहिये कि वे एक ही परब्रह्म परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तिके सहित नाना रूपोंमें प्रकट हैं और यह सारा जगत् बाहर-भीतर उन एक परमात्मासे ही व्याप्त होनेके कारण उन्हींका स्वरूप है ॥ १० ॥

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥

मनसा एव=(शुद्ध) मनसे ही इदम् आप्तव्यम्=यह परमात्मतत्त्व प्राप्त किये जानेयोग्य है, इह=इस जगत्में (एक परमात्माके अतिरिक्त), नाना=नाना (भिन्न-भिन्न भाव) किंचन=कुछ भी, न अस्ति=नहीं है; (इसलिये) यः इह=जो इस जगत्में, नाना इव=नानाकी भाँति, पश्यति=देखता है, सः=वह मनुष्य, मृत्योः=मृत्युसे, मृत्युम् गच्छति=मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परमात्माका परमतत्त्व शुद्ध मनसे ही इस प्रकार जाना जा सकता है कि इस जगत्में एकमात्र पूर्णब्रह्म परमात्मा ही परिपूर्ण हैं। सब कुछ उन्हींका स्वरूप है। यहाँ परमात्मासे भिन्न कुछ भी नहीं है। जो यहाँ विभिन्नताकी झलक देखता है, वह मनुष्य मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है अर्थात् बार-बार जन्मता-मरता रहता है ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ एतद्वै तत्॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः=अङ्गुष्ठमात्र (परिमाणवाला), पुरुषः=परम पु-

(परमात्मा); **आत्मनि मध्ये**=शरीरके मध्यभाग—हृदयाकाशमें, **तिष्ठति**= स्थित है; **भूतभव्यस्य**=जो कि भूत, (वर्तमान) और भविष्यका, **ईशानः**= शासन करनेवाला (है), **ततः**=उसे जान लेनेके बाद (वह); **न विजुगुप्सते**= किसीकी भी निन्दा नही करता, **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमे तुमने पूछा था) ॥ १२ ॥

व्याख्या—यद्यपि अन्तर्यामी परमेश्वर जो कि भूत, वर्तमान और भविष्यमें होनेवाले सभी प्राणियोंके शासक हैं, समानभावसे सर्वदा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, तथापि हृदयमें उनका विशेष स्थान माना गया है । परमेश्वर किसी स्थूल सूक्ष्म आकार-विशेषवाले नहीं हैं, परतु स्थितिके अनुसार वे सभी आकारोंसे सम्पन्न हैं । क्षुद्र चींटीके हृदयदेशमें वे चींटीके हृदय-परिमाणके अनुसार परिमाणवाले हैं और विशालकाय हाथीके हृदयमें उसके हृदय-परिमाणवाले बनकर विराजित हैं। मनुष्यका हृदय अङ्गुष्ठ-परिमाणका है, और मनुष्य ही परमात्माकी प्राप्तिका अधिकारी माना गया है । अतः मनुष्यका हृदय ही परब्रह्म परमेश्वरकी उपलब्धिका स्थान समझा जाता है । इसलिये यहाँ मनुष्यके हृदय-परिमाणके अनुसार परमेश्वरको अङ्गुष्ठमात्र परिमाणका कहा गया है । इस प्रकार परमेश्वरको अपने हृदयमें स्थित देखनेवाला स्वाभाविक ही यह जानता है कि इसी भाँति वे सबके हृदयमें स्थित हैं, अतएव वह फिर किसीकी निन्दा नहीं करता एवं न किसीसे घृणा या द्वेष ही करता है । नचिकेता ! यही वह ब्रह्म हैं, जिनके विषयमें तुमने पूछा था ॥ १२ ॥

> **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।**
> **ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥ एतद्वै तत् ॥ १३ ॥**

अङ्गुष्ठमात्रः=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला, **पुरुषः**=परमपुरुष परमात्मा, **अधूमकः**=धूमरहित; **ज्योतिः इव**=ज्योतिकी भाँति है, **भूतभव्यस्य**= भूत, (वर्तमान और) भविष्यपर; **ईशानः**=शासन करनेवाला; **सः एव अद्य**= वह परमात्मा ही आज है, **उ**=और, **सः** (**एव**) **श्वः**=वही कल भी है (अर्थात् वह नित्य सनातन है); **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ १३ ॥

व्याख्या—मनुष्यकी हृदय-गुफामें स्थित ये अङ्गुष्ठमात्र पुरुष भूत, भविष्य और वर्तमानका नियन्त्रण करनेवाले स्वतन्त्र शासक हैं । ये ज्योतिर्मय हैं । सूर्य, अग्निकी भाँति उष्ण प्रकाशवाले नहीं, परतु दिव्य, निर्मल और शान्त प्रकाशस्वरूप हैं । लौकिक ज्योतियोंमें धूम्ररूप दोष होता है, ये धूम्ररहित—दोषरहित, सर्वथा विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हैं । अन्य ज्योतियाँ घटती-बढती हैं और समयपर बुझ जाती हैं, परतु ये जैसे आज हैं, वैसे ही कल भी हैं। इनकी एकरसता नित्य अक्षुण्ण है । ये कभी न तो घटते-बढते हैं और न

कभी मिटते ही हैं। नचिकेता ! ये परिवर्तनरहित अविनाशी परमेश्वर ही वे ब्रह्म हैं, जिनके सम्बन्धमें तुमने पूछा था * ॥ १३ ॥

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥

यथा=जिस प्रकार, **दुर्गे**=ऊँचे शिखरपर, **वृष्टम्**=बरसा हुआ, **उदकम्**=जल, **पर्वतेषु**=पहाड़के नाना स्थलोंमें, **विधावति**=चारों ओर चला जाता है, **एवम्**=इसी प्रकार, **धर्मान्**=भिन्न-भिन्न धर्मों (स्वभावों) से युक्त देव असुर, मनुष्य आदिको **पृथक्**=परमात्मासे पृथक्, **पश्यन्**=देखकर (उनका सेवन करनेवाला मनुष्य), **तान् एव**=उन्हींके **अनुविधावति**=पीछे दौड़ता रहता है (उन्हींके शुभाशुभ लोकोंमें और नाना उच्च-नीच योनियोंमें भटकता रहता है) ॥ १४ ॥

व्याख्या—वर्षाका जल एक ही है; पर वह जब ऊँचे पर्वतकी ऊबड़-खाबड़ चोटीपर बरसता है तो वहाँ ठहरता नहीं, तुरंत ही नीचेकी ओर बहकर विभिन्न वर्ण, आकार और गन्धको धारण करके पर्वतमें चारों ओर बिखर जाता है। इसी प्रकार एक ही परमात्मासे उत्पन्न हुए विभिन्न स्वभाववाले देव-असुर-मनुष्यादिको जो परमात्मासे पृथक् मानता है और पृथक् मानकर ही उनकी उपासना, पूजा आदि करता है, उसे भी बिखरे हुए जलकी भाँति ही विभिन्न देव-असुरादिके लोकोंमें एवं नाना प्रकारकी योनियोंमें भटकना पड़ता है (गीता ९ । २३, २४, २५)। वह ब्रह्मको प्राप्त नहीं हो सकता ॥१४॥

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

यथा=(परंतु) जिस प्रकार, **शुद्धे** (उदके)=निर्मल जलमें, **आसिक्तम्**=(मेघोंद्वारा) सब ओरसे बरसाया हुआ, **शुद्धम्**=निर्मल, **उदकम्**=जल, **तादृक् एव**=वैसा ही, **भवति**=हो जाता है, **एवम्**=उसी प्रकार, **गौतम**=हे गौतमवंशी नचिकेता, **विजानतः**=(एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तम

* यहाँ 'अङ्गुष्ठमात्र' शब्द परमात्माका वाचक है, जीवका नहीं। प्रातःस्मरणीय आचार्यने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—'परमात्मैवायमङ्गुष्ठमात्रपरिमितः पुरुषो भवितुमर्हति । कस्मात् ? शब्दात्—'ईशानो भूतभव्यस्य' इति । न ह्यन्यः परमेश्वराद् भूतभव्यस्य निरङ्कुशमीशिता ।' अर्थात् यहाँ अङ्गुष्ठमात्र परिमाण पुरुष परमात्मा ही है। कैसे जाना ? 'ईशानो' आदि श्रुतिसे। भूत और भव्यका निरङ्कुश नियन्ता परमेश्वरके सिवा दूसरा नहीं हो सकता (देखिये ब्रह्मसूत्र १ । ३ । २४) का शाङ्करभाष्य । यह बात उस प्रकरणके मूल मन्त्रोंमें भी स्पष्ट है।

ही सब कुछ है, इस प्रकार) जाननेवाले, **मुनेः**=मुनिका (संसारसे उपरत हुए महापुरुषका) **आत्मा**=आत्मा, **भवति**=(ब्रह्मको प्राप्त) हो जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—परंतु वही वर्षाका निर्मल जल यदि निर्मल जलमें ही बरसता है तो वह उसी क्षण निर्मल जल ही हो जाता है। उसमें न तो कोई विकार उत्पन्न होता है और न वह कहीं बिखरता ही है। इसी प्रकार, हे गौतमवंशीय नचिकेता! जो इस बातको भलीभाँति जान गया है कि जो कुछ है, वह सब परब्रह्म पुरुषोत्तम ही है, उस मननशील—संसारके बाहरी स्वरूपसे उपरत पुरुषका आत्मा परब्रह्ममें मिलकर उसके साथ तादात्म्यभावको प्राप्त हो जाता है ॥ १५ ॥

प्रथम वल्ली समाप्त ॥ १ ॥ (४)

द्वितीय वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥१॥

अवक्रचेतसः=सरल, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप, **अजस्य**=अजन्मा परमेश्वरका; **एकादशद्वारम्**=ग्यारह द्वारोंवाला (मनुष्य-शरीररूप), **पुरम्**=पुर (नगर), [**अस्ति**]=है (इसके रहते हुए ही), **अनुष्ठाय**=(परमेश्वरका ध्यान आदि) साधन करके, **न शोचति**=(मनुष्य) कभी शोक नहीं करता, **च**=अपि तु, **विमुक्तः**=जीवन्मुक्त होकर, **विमुच्यते**=(मरनेके बाद) विदेहमुक्त हो जाता है, **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥१॥

व्याख्या—यह मनुष्य-शरीररूपी पुर दो आँख, दो कान, दो नासिकाके छिद्र, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और शिश्न—इन ग्यारह द्वारोंवाला है। यह सर्वव्यापी, अविनाशी, अजन्मा, नित्य निर्विकार, एकरस, विशुद्ध ज्ञानस्वरूप परमेश्वरकी नगरी है। वे सर्वत्र समभावसे सदासे परिपूर्ण रहते हुए भी अपनी राजधानीरूप इस मनुष्य-शरीरके हृदय-प्रासादमें राजाकी भाँति विशेषरूपसे विराजित रहते हैं। इस रहस्यको समझकर मनुष्यशरीरके रहते हुए ही—जीते-जी जो मनुष्य भजन-स्मरणादि साधन करता है, नगरके महान् स्वामी परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन और ध्यान करता है, वह कभी शोक नहीं करता। वह शोकके कारणरूप संसार-बन्धनसे छूटकर जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर छूटनेके पश्चात् विदेहमुक्त हो जाता है—परमात्माका साक्षात्कार करके जन्म-मृत्युके चक्रसे सदाके लिये

छूट जाता है । यह जो सर्वव्यापक ब्रह्म है, यही वह है, जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था ॥ १ ॥

सम्बन्ध—अब उस परमेश्वरकी सर्वरूपताका स्पष्टीकरण करते हैं—

हꣳसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षस-
द्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा
गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥*

शुचिषत्=जो विशुद्ध परमधाममें रहनेवाला, **हंसः**=स्वयंप्रकाश (पुरुषोत्तम) है (वही), **अन्तरिक्षसत्**=अन्तरिक्षमें निवास करनेवाला, **वसुः**=वसु है, **दुरोणसत्**=घरोंमें उपस्थित होनेवाला, **अतिथिः**=अतिथि है (और), **वेदिषत् होता**=यज्ञकी वेदीपर स्थापित अग्निस्वरूप तथा उसमें आहुति डालनेवाला 'होता' है (तथा), **नृषत्**=समस्त मनुष्योंमें रहनेवाला, **वरसत्**=मनुष्योंसे श्रेष्ठ देवताओंमें रहनेवाला; **ऋतसत्**=सत्यमें रहनेवाला (और), **व्योमसत्**=आकाशमें रहनेवाला (है तथा), **अब्जाः**=जलोंमें नाना रूपोंसे प्रकट होनेवाला, **गोजाः**=पृथिवीमें नाना रूपोंसे प्रकट होनेवाला, **ऋतजाः**=सत्कर्मोंमें प्रकट होनेवाला; (और) **अद्रिजाः**=पर्वतोंमें नानारूपसे प्रकट होनेवाला (है); **बृहत् ऋतम्**=(वही) सबसे बड़ा परम सत्य है ॥ २ ॥

व्याख्या—जो प्राकृतिक गुणोंसे सर्वथा अतीत दिव्य विशुद्ध परमधाममें विराजित स्वयंप्रकाश परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं, वे ही अन्तरिक्षमें विचरनेवाले वसु नामक देवता हैं, वे ही अतिथिके रूपमें गृहस्थके घरोंमें उपस्थित होते हैं, वे ही यज्ञकी वेदीपर प्रतिष्ठित ज्योतिर्मय अग्नि तथा उसमें आहुति प्रदान करनेवाले 'होता' हैं, वे ही समस्त मनुष्योंके रूपमें स्थित हैं; मनुष्योंकी अपेक्षा श्रेष्ठ देवता और पितृ आदि रूपमें स्थित, आकाशमें स्थित और सत्यमें प्रतिष्ठित हैं, वे ही जलोंमें मत्स्य, शङ्ख, शुक्ति आदिके रूपमें प्रकट होते हैं, पृथिवीमें वृक्ष, अङ्कुर, अन्न, ओषधि आदिके रूपमें, यज्ञादि सत्कर्मोंमें नाना प्रकारके यज्ञफलादिके रूपमें और पर्वतोंमें नद-नदी आदिके रूपमें प्रकट होते हैं। वे सभी दृष्टियोंसे सभीकी अपेक्षा श्रेष्ठ, महान् और परम सत्य तत्त्व हैं ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

प्राणम्=(जो) प्राणको; **ऊर्ध्वम्**=ऊपरकी ओर; **उन्नयति**=उठाता है (और), **अपानम्**=अपानको, **प्रत्यक् अस्यति**=नीचे ढकेलता है, **मध्ये**=

* यह मन्त्र यजुर्वेद १० । २४, १२ । १४ और ऋग्वेद ४ । ४० । ५ में है ।

शरीरके मध्य (हृदय)में; आसीनम्=बैठे हुए (उस), वामनम्=सर्वश्रेष्ठ भजनेयोग्य परमात्माकी, विश्वे देवाः=सभी देवता, उपासते=उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—शरीरमे नियमितरूपसे अनवरत प्राण-अपानादिकी क्रिया हो रही है, इन जड पदार्थोंमे जो क्रियाशीलता आ रही है, वह उन परमात्माकी शक्ति और प्रेरणासे ही आ रही है। वे ही मानव-हृदयमे राजाकी भाँति विराजित रहकर प्राणको ऊपरकी ओर चढा रहे हैं और अपानको नीचेकी ओर ढकेल रहे हैं। इस प्रकार वे शरीरके अंदर होनेवाले सारे व्यापारोंका सुचारुरूपसे सम्पादन कर रहे हैं। उन हृदयस्थित परम भजनीय परब्रह्म पुरुषोत्तमकी सभी देवता उपासना कर रहे हैं—शरीरस्थित प्राण-मन-बुद्धि इन्द्रियादिके सभी अधिष्ठातृ-देवता उन परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये उन्हींकी प्रेरणाके अनुसार नित्य सावधानीके साथ समस्त कार्योंका यथाविधि सम्पादन करते रहते हैं ॥ ३ ॥

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥ ४ ॥

अस्य=इस, शरीरस्थस्य=शरीरमें स्थित; विस्रंसमानस्य=एक शरीरसे दूसरे शरीरमे जानेवाले, देहिनः=जीवात्माके, देहात्=शरीरसे; विमुच्यमानस्य=निकल जानेपर; अत्र=यहाँ (इस शरीरमें); किम् परिशिष्यते=क्या शेष रहता है, एतत् वै=यही है, तत्=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ४ ॥

व्याख्या—यह एक शरीरसे दूसरे शरीरमे गमन करनेके स्वभाववाला देही (जीवात्मा) जब इस वर्तमान शरीरसे निकलकर चला जाता है और उसके साथ ही जब इन्द्रिय, प्राण आदि भी चले जाते हैं, तब इस मृत शरीरमें क्या बच रहता है ? देखनेमें तो कुछ भी नहीं रहता, पर वह परब्रह्म परमेश्वर, जो सदा-सर्वदा समानभावसे सर्वत्र परिपूर्ण है, जो चेतन जीव तथा जड प्रकृति—सभीमें सदा व्याप्त है, वह रह जाता है। यही वह ब्रह्म है, जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब निम्नाङ्कित दो मन्त्रोंमें यमराज नचिकेताके पूछे हुए तत्त्वको पुन दूसरे प्रकारसे वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करते है—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥
हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

कश्चन=कोई भी, **मर्त्यः**=मरणधर्मा प्राणी, **न प्राणेन**=न तो प्राणसे (जीता है और), **न अपानेन**=न अपानसे (ही), **जीवति**=जीता है **तु**=किंतु, **यस्मिन्**=जिसमें, **एतौ उपाश्रितौ**=(प्राण और अपान) ये दोनों आश्रय पाये हुए हैं, **इतरेण**=(ऐसे किसी) दूसरेसे ही, **जीवन्ति**=(सब) जीते हैं, **गौतम**=हे गौतमवंशीय, **गुह्यम् सनातनम्**=(वह) रहस्यमय सनातन, **ब्रह्म**=ब्रह्म (जैसा है), **च**=और, **आत्मा**=जीवात्मा, **मरणम् प्राप्य**=मरकर, **यथा**=जिस प्रकारसे, **भवति**=रहता है, **इदम् ते**=यह बात तुम्हें, **हन्त प्रवक्ष्यामि**=मैं अब फिरसे बतलाऊँगा ॥ ५-६ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं—नचिकेता ! एक दिन निश्चय ही मृत्युके मुखमें जानेवाले ये मनुष्यादि प्राणी न तो प्राणकी शक्तिसे जीवित रहते हैं और न अपानकी शक्तिसे ही । इन्हें जीवित रखनेवाला तो कोई दूसरा ही चेतन तत्त्व है और वह है जीवात्मा । ये प्राण-अपान दोनों उस जीवात्माके ही आश्रित हैं । जीवात्माके बिना एक क्षण भी ये नहीं रह सकते, जब जीवात्मा जाता है, तब केवल ये ही नहीं, इन्हींके साथ इन्द्रियादि सभी उसका अनुसरण करते हुए चले जाते हैं । (गीता १५ । ८ ९) अब मैं तुमको यह बतलाऊँगा कि मनुष्यके मरनेके बाद इस जीवात्माका क्या होता है, यह कहाँ जाता है, तथा किस प्रकार रहता है और साथ ही यह भी बतलाऊँगा कि उस परम रहस्यमय सर्वव्यापी सर्वाधार सर्वाधिपति परब्रह्म परमेश्वरका क्या स्वरूप है ॥ ५-६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

यथाकर्म=जिसका जैसा कर्म होता है, **यथाश्रुतम्**=और शास्त्रादिके श्रवणद्वारा जिसको जैसा भाव प्राप्त हुआ है (उन्हींके अनुसार), **शरीरत्वाय**=शरीर धारण करनेके लिये, **अन्ये**=कितने ही, **देहिनः**=जीवात्मा तो, **योनिम्** (नाना प्रकारकी जङ्गम) योनियोंको; **प्रपद्यन्ते**=प्राप्त हो जाते हैं और, **अन्ये**=दूसरे (कितने ही), **स्थाणुम्**=स्थाणु (स्थावर) भावका, **अनुसंयन्ति**=अनुसरण करते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—यमराज कहते हैं कि अपने-अपने शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार और शास्त्र, गुरु, सङ्ग, शिक्षा, व्यवसाय आदिके द्वारा देखे-सुने हुए भावोंसे निर्मित अन्तःकालीन वासनाके अनुसार मरनेके पश्चात् कितने ही जीवात्मा तो दूसरा शरीर धारण करनेके लिये वीर्यके साथ माताकी योनिमें प्रवेश कर जाते हैं । इनमें जिनके पुण्य-पाप समान होते हैं, वे मनुष्यका और जिसके पुण्य कम तथा पाप अधिक होते हैं, वे पशु-पक्षीका शरीर धारण करके उत्पन्न होते हैं और

कितने ही, जिनके पाप अत्यधिक होते हैं, स्थावरभावको प्राप्त होते हैं अर्थात् वृक्ष, लता, तृण, पर्वत आदि जड शरीरमे उत्पन्न होते हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—यमराजने जीवात्माकी गति और परमात्माका स्वरूप—इन दो बातोंको बतलानेकी प्रतिज्ञा की थी, इनमें मरनेके बाद जीवात्माकी क्या गति होती है, इसको बतलाकर अब वे दूसरी बात बतलाते है—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ ८ ॥

यः एषः=जो यह, **कामम् कामम्**=(जीवोंके कर्मानुसार) नाना प्रकारके भोगोंका, **निर्मिमाणः**=निर्माण करनेवाला, **पुरुषः**=परमपुरुष परमेश्वर; **सुप्तेषु**=(प्रलयकालमें सबके) सो जानेपर भी, **जागर्ति**=जागता रहता है; **तत् एव**=वही, **शुक्रम्**=परम विशुद्ध तत्त्व है, **तत् ब्रह्म**=वही ब्रह्म है; **तत् एव**=वही, **अमृतम्**=अमृत; **उच्यते**=कहलाता है, (तथा) **तस्मिन्**=उसीमें, **सर्वे**=सम्पूर्ण, **लोकाः श्रिताः**=लोक आश्रय पाये हुए हैं, **तत् कश्चन उ**=उसे कोई भी; **न अत्येति**=अतिक्रमण नहीं कर सकता, **एतत् वै**=यही है; **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था) ॥ ८ ॥

व्याख्या—जीवात्माओंके कर्मानुसार उनके लिये नाना प्रकारके भोगोंका निर्माण करनेवाला तथा उनकी यथायोग्य व्यवस्था करनेवाला जो यह परमपुरुष परमेश्वर समस्त जीवोंके सो जानेपर अर्थात् प्रलयकालमें सबका ज्ञान लुप्त हो जानेपर भी अपनी महिमामें नित्य जागता रहता है, जो स्वयं ज्ञानस्वरूप है, जिसका ज्ञान सदैव एकरस रहता है, कभी अधिक न्यून या लुप्त नहीं होता, वही परम विशुद्ध दिव्य तत्त्व है, वही परब्रह्म है, उसीको ज्ञानी महापुरुषोंके द्वारा प्राप्य परम अमृतस्वरूप परमानन्द कहा जाता है। ये सम्पूर्ण लोक उसीके आश्रित हैं । उसे कोई भी नहीं लाँघ सकता—कोई भी उसके नियमोंका अतिक्रमण नहीं कर सकता। सभी सदा-सर्वदा एकमात्र उसीके शासनमें रहनेवाले और उसीके अधीन हैं। कोई भी उसकी महिमाका पार नहीं पा सकता। यही है वह ब्रह्म-तत्त्व, जिसके विषयमें तुमने पूछा था ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब अग्निके दृष्टान्तसे उस परब्रह्म परमेश्वरकी व्यापकता और निर्लेपताका वर्णन करते है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥

यथा=जिस प्रकार, भुवनम्=समस्त ब्रह्माण्डमें; प्रविष्टः=प्रविष्ट, एकः अग्निः=एक ही अग्नि, रूपम् रूपम्=नाना रूपोंमें, प्रतिरूपः=उनके समान रूपवाला-सा, बभूव=हो रहा है, तथा=वैसे (ही), सर्वभूतान्तरात्मा= समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म, एकः (सन् अपि)=एक होते हुए भी रूपम् रूपम्=नाना रूपोंमें, प्रतिरूपः=उन्हींके जैसे रूपवाला (हो रहा है); च बहिः=और उनके बाहर भी है ॥ ९ ॥

व्याख्या—एक ही अग्नि निराकाररूपसे सारे ब्रह्माण्डमें व्याप्त है, उसमें कोई भेद नहीं है; परंतु जब वह साकाररूपसे प्रज्वलित होता है, तब उन आधार-भूत वस्तुओंका जैसा आकार होता है, वैसा ही आकार अग्निका भी दृष्टिगोचर होता है । इसी प्रकार समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी परमेश्वर एक हैं और सबमें समभावसे व्याप्त हैं, उनमें किसी प्रकारका कोई भेद नहीं है, तथापि वे भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें उन-उन प्राणियोंके अनुरूप नाना रूपोंमें प्रकाशित होते हैं । भाव यह कि आधारभूत वस्तुके अनुरूप ही उनकी महिमाका प्राकट्य होता है । वास्तवमें उन परमेश्वरकी महत्ता इतनी ही नहीं है, इससे बहुत अधिक विलक्षण है । उनकी अनन्त शक्तिके एक क्षुद्रतम अंशसे ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नाना प्रकारकी आश्चर्यमय शक्तियोंसे सम्पन्न हो रहा है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—वही बात वायुके दृष्टान्तसे कहते हैं—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ १० ॥

यथा=जिस प्रकार, भुवनम्=समस्त ब्रह्माण्डमें, प्रविष्टः=प्रविष्ट, एकः वायुः=एक (ही) वायु, रूपम् रूपम्=नाना रूपोंमें; प्रतिरूपः= उनके समान रूपवाला-सा; बभूव=हो रहा है; तथा=वैसे (ही); सर्वभूतान्तरात्मा=सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म, एकः (सन् अपि)= एक होते हुए भी, रूपम् रूपम्=नाना रूपोंमें, प्रतिरूपः=उन्हींके-जैसे रूपवाला (हो रहा है), च बहिः=और उनके बाहर भी है ॥ १० ॥

व्याख्या—एक ही वायु अव्यक्तरूपसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त है, तथापि व्यक्तमें भिन्न-भिन्न वस्तुओंके संयोगसे उन-उन वस्तुओंके अनुरूप गति और शक्तिवाला दिखायी देता है। उसी प्रकार समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमेश्वर एक होते हुए भी उन-उन प्राणियोंके सम्बन्धसे पृथक्-पृथक् शक्ति और गतिवाला दीखता है, किंतु वह उतना ही नहीं है, उन सबके बाहर भी अनन्त—असीम एवं विलक्षण रूपसे स्थित है (नवम मन्त्रकी व्याख्याके अनुसार इसे भी समझ लेना चाहिये) ॥ १० ॥

सम्बन्ध—इस मन्त्रमें सूर्यके दृष्टान्तसे परमात्माकी निर्लेपता दिखलाते हैं—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥११॥

यथा=जिस प्रकार; **सर्वलोकस्य**=समस्त ब्रह्माण्डका; **चक्षुः सूर्यः**=प्रकाशक सूर्य देवता, **चाक्षुषैः**=लोगोंकी आँखोंसे होनेवाले, **बाह्यदोषैः**=बाहरके दोषोंसे, **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होता, **तथा**=उसी प्रकार; **सर्वभूतान्तरात्मा**=सब प्राणियोंका अन्तरात्मा; **एकः**=एक परब्रह्म परमात्मा, **लोकदुःखेन**=लोगोंके दुःखोंसे, **न लिप्यते**=लिप्त नहीं होता, [**यतः**]=क्योंकि; **बाह्यः**=सबमें रहता हुआ भी वह सबसे अलग है ॥ ११ ॥

व्याख्या—एक ही सूर्य सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको प्रकाशित करता है। उसका प्रकाश प्राणिमात्रकी आँखोंका सहायक है। उस प्रकाशकी ही सहायता लेकर लोग नाना प्रकारके गुणदोषमय कर्म करते हैं, परन्तु सूर्य उनके नेत्रोंद्वारा किये जानेवाले नाना प्रकारके बाह्य कर्मरूप दोषोंसे तनिक भी लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार सबके अन्तर्यामी भगवान् परब्रह्म पुरुषोत्तम एक हैं, उन्हींकी शक्तिसे शक्तियुक्त होकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा मनुष्य नाना प्रकारके शुभाशुभ कर्म करते हैं तथा उनका फलरूप सुख-दुःखादि भोगते हैं। परंतु वे परमेश्वर उनके कर्म और दुःखोंसे लिप्त नहीं होते; क्योंकि वे सबमें रहते हुए भी सबसे पृथक् और सर्वथा असङ्ग हैं (गीता १३ । ३१) ॥ ११ ॥

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥१२॥*

* यह मन्त्र श्वेताश्वतर उपनिषद् ६ । १२ से मिलता-जुलता है ।

यः=जो, सर्वभूतान्तरात्मा=सब प्राणियोंका अन्तर्यामी, एकः वशी=अद्वितीय एवं सबको वशमें रखनेवाला (परमात्मा), एकम् रूपम्=(अपने) एक ही रूपको, बहुधा=बहुत प्रकारसे, करोति=बना लेता है, तम् आत्मस्थम्=उस अपने अंदर रहनेवाले (परमात्मा) को; ये धीराः=जो ज्ञानी पुरुष, अनुपश्यन्ति=निरन्तर देखते रहते हैं; तेषाम्=उन्हींको; शाश्वतम् सुखम्=सदा अटल रहनेवाला परमानन्दस्वरूप वास्तविक सुख (मिलता है), इतरेषाम् न=दूसरोंको नहीं ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो परमात्मा सदा सबके अन्तरात्मारूपसे स्थित हैं, जो अद्वितीय और सर्वथा स्वतन्त्र हैं, सम्पूर्ण जगत्‌मे देव-मनुष्यादि सभीको सदा अपने वशमें रखते हैं, वे ही सर्वशक्तिमान् सर्वभवनसमर्थ परमेश्वर अपने एक ही रूपको अपनी लीलासे बहुत प्रकारका बना लेते हैं। उन परमात्माको जो ज्ञानी महापुरुष निरन्तर अपने अंदर स्थित देखते हैं, उन्हींको सदा स्थिर रहनेवाला—सनातन परमानन्द मिलता है, दूसरोंको नहीं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

यः=जो; नित्यानाम्=नित्योंका (भी); नित्यः=नित्य (है); चेतनानाम्=चेतनोंका (भी); चेतनः=चेतन है (और), एकः बहूनाम्=अकेला ही इन अनेक (जीवों) के; कामान्=कर्मफलभोगोंका; विदधाति=विधान करता है; तम् आत्मस्थम्=उस अपने अंदर रहनेवाले (पुरुषोत्तमको); ये धीराः=जो ज्ञानी; अनुपश्यन्ति=निरन्तर देखते रहते हैं, तेषाम्=उन्हींको; शाश्वती शान्तिः=सदा अटल रहनेवाली शान्ति (प्राप्त होती है); इतरेषाम् न=दूसरोंको नहीं ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो समस्त नित्य चेतन आत्माओंके भी नित्य चेतन आत्मा हैं और जो स्वयं अकेले ही अनन्त जीवोंके भोगोंका उन-उनके कर्मानुसार विधान करते हैं, उन अपने अंदर रहनेवाले सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तमको जो ज्ञानी महापुरुष निरन्तर देखते हैं, उन्हींको सदा स्थिर रहनेवाली—सनातनी परम शान्ति मिलती है, दूसरोंको नहीं ॥ १३ ॥

सम्बन्ध–जिज्ञासु नचिकेता इस प्रकार उस ब्रह्मप्राप्तिके आनन्द और शान्तिकी महिमा सुनकर मन-ही-मन विचार करने लगा—

* इसका पूर्वार्ध श्वेताश्वतरोपनिषद् ६। १३ में ठीक इसी प्रकार है। और उत्तरार्ध ६। १२ से मिलता है।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥ १४ ॥

तत्=वह; अनिर्देश्यम्=अनिर्वचनीय; परमम्=परम, सुखम्=सुख, एतत्=यह (परमात्मा ही है), इति=यों; मन्यन्ते=(ज्ञानीजन) मानते हैं, तत्=उसको, कथम् नु=किस प्रकारसे, विजानीयाम्=मैं भलीभाँति समझूँ; किमु=क्या वह; भाति=प्रकाशित होता है, वा=या, विभाति=अनुभवमें आता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—उस सनातन परम आनन्द और परम शान्तिको प्राप्त ज्ञानी महात्माजन ऐसा मानते हैं कि परब्रह्म पुरुषोत्तम ही वह अलौकिक सर्वोपरि आनन्द है, जिसका निर्देश मन-वाणीसे नहीं किया जा सकता । उस परमानन्द-स्वरूप परमेश्वरको मैं अपरोक्षरूपसे किस प्रकार जानूँ ? क्या वह प्रत्यक्ष प्रकट होता है या अनुभवमें आता है ? उसका ज्ञान किस प्रकारसे होता है ? ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—नचिकेताके आन्तरिक भावको समझकर यमराजने कहा—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥*

तत्र=वहाँ; न सूर्यः भाति=न (तो) सूर्य प्रकाशित होता है; न चन्द्रतारकम्=न चन्द्रमा और तारोंका समुदाय (ही प्रकाशित होता है); न इमाः विद्युतः भान्ति=(और) न ये बिजलियाँ ही (वहाँ) प्रकाशित होती हैं, अयम् अग्निः कुतः=फिर यह (लौकिक) अग्नि कैसे (प्रकाशित हो सकता है क्योंकि); तम्=उसके, भान्तम् एव=प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे); सर्वम्=ऊपर बतलाये हुए सूर्यादि सब, अनुभाति=प्रकाशित होते हैं; तस्य भासा=उसीके प्रकाशसे, इदम् सर्वम्=यह सम्पूर्ण जगत्, विभाति=प्रकाशित होता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—उस स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता । जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश प्रकट होनेपर खद्योतका प्रकाश लुप्त हो जाता है, वैसे ही सूर्यका तेज भी उस असीम तेजके सामने लुप्त हो जाता है । चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ नहीं चमकते; फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है । क्योंकि प्राकृत जगत्में जो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील हैं, सब उस परब्रह्म परमेश्वरकी प्रकाश-

* यह मन्त्र ठीक इसी प्रकार मु० उ० २ । २ । १० और श्वेता० उ० ६ । १४ में है ।

शक्तिके अंशको पाकर ही प्रकाशित हैं । वे अपने प्रकाशकके समीप अपना प्रकाश कैसे फैला सकते हैं । सारांश यह कि यह सम्पूर्ण जगत् उस जगदात्मा पुरुषोत्तमके प्रकाशसे अथवा उस प्रकाशके एक क्षुद्रतम अंशसे प्रकाशित हो रहा है ॥ १५ ॥

द्वितीय वल्ली समाप्त ॥ २ ॥ (५)

तृतीय वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूलः=ऊपरकी ओर मूलवाला, **अवाक्शाखः**=नीचेकी ओर शाखावाला; **एषः**=यह (प्रत्यक्ष जगत्), **सनातनः अश्वत्थः**=सनातन पीपलका वृक्ष है, [**तन्मूलम्**]=इसका मूलभूत, **तत् एव शुक्रम्**=वह (परमेश्वर) ही विशुद्ध तत्त्व है, **तत् ब्रह्म**=वही ब्रह्म है (और), **तत् एव**=वही; **अमृतम् उच्यते**=अमृत कहलाता है, **सर्वे लोकाः**=सब लोक; **तस्मिन्**=उसीके; **श्रिताः**=आश्रित हैं, **कश्चन उ**=कोई भी, **तत्**=उसको, **न अत्येति**=लाँघ नहीं सकता, **एतत् वै**=यही है, **तत्**=वह (परमात्मा, जिसके विषयमें तुमने पूछा था)*॥ १ ॥

व्याख्या—जिसका मूलभूत परब्रह्म पुरुषोत्तम ऊपर है अर्थात् सर्वश्रेष्ठ, सबसे सूक्ष्म और सर्वशक्तिमान् है, और जिसकी प्रधान शाखा ब्रह्मा तथा अवान्तर शाखाएँ देव, पितर, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि क्रमसे नीचे हैं, ऐसा यह ब्रह्माण्डरूप पीपल-वृक्ष अनादिकालीन—सदासे है । कभी प्रकटरूपमें और कभी अप्रकटरूपसे अपने कारणरूप परब्रह्ममें नित्य स्थित रहता है, अतः सनातन है । इसका जो मूल कारण है, जिससे यह उत्पन्न होता है, जिससे सुरक्षित है और जिसमें विलीन होता है, वही विशुद्ध दिव्य तत्त्व है, वही ब्रह्म है, उसीको अमृत कहते हैं तथा सब लोक उसीके आश्रित हैं । कोई भी उसका अतिक्रमण करनेमें समर्थ नहीं है । नचिकेता ! यही है वह तत्त्व, जिसके सम्बन्धमें तुमने पूछा था ॥ १ ॥

यदिदं किं च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

* इस मन्त्रके प्रथम दो पादोंको छोड़कर शेष चारों पाद २।२।८ के ही समान हैं।

निःसृतम्=(परब्रह्म परमेश्वरसे) निकला हुआ; **इदम् यत् किं च**=यह जो कुछ भी; **सर्वम् जगत्**=सम्पूर्ण जगत् है, **प्राणे एजति**=उस प्राणस्वरूप परमेश्वरमें ही चेष्टा करता है, **एतत्**=इस; **उद्यतम् वज्रम्**=उठे हुए वज्रके समान; **महत् भयम्**=महान् भयस्वरूप (सर्वशक्तिमान्) परमेश्वरको, **ये विदुः**=जो जानते हैं, **ते**=वे, **अमृताः भवन्ति**=अमर हो जाते हैं अर्थात् जन्म-मरणसे छूट जाते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—यह जो कुछ भी इन्द्रिय, मन और बुद्धिके द्वारा देखने, सुनने और समझनेमें आनेवाला सम्पूर्ण चराचर जगत् है, सब अपने परम कारण-रूप जिन परब्रह्म पुरुषोत्तमसे प्रकट हुआ है, उन्हीं प्राणस्वरूप परमेश्वरमें चेष्टा करता है। अर्थात् इसकी चेष्टाओंके आधार एवं नियामक भी वे परमेश्वर ही हैं। वे परमेश्वर परम दयालु होते हुए भी महान् भयरूप हैं—छोटे बड़े सभी उनसे भय मानते हैं। साथ ही वे उठे हुए वज्रके समान हैं। जिस प्रकार हाथमें वज्र लिये हुए प्रभुको देखकर सभी सेवक यथाविधि निरन्तर आज्ञापालनमें तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार समस्त देवता सदा-सर्वदा नियमानुसार इन परमेश्वरके आज्ञापालन-में नियुक्त रहते हैं। इन परब्रह्मको जो जानते हैं, वे तत्त्वज्ञ पुरुष अमर हो जाते हैं—जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जाते हैं ॥ २ ॥

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥*

अस्य भयात्=इसीके भयसे; **अग्निः तपति**=अग्नि तपता है; **भयात्**=(इसीके) भयसे; **सूर्यः तपति**=सूर्य तपता है; **च**=तथा; **(अस्य) भयात्**=इसीके भयसे, **इन्द्रः वायुः**=इन्द्र, वायु; **च**=और; **पञ्चमः मृत्युः**=पाँचवें मृत्यु देवता; **धावति**=(अपने-अपने काममें) प्रवृत्त हो रहे हैं ॥ ३ ॥

व्याख्या—सबपर शासन करनेवाले और सबको नियन्त्रणमें रखकर नियमानुसार चलानेवाले इन परमेश्वरके भयसे ही अग्नि तपता है, इन्हींके भयसे सूर्य तप रहा है, इन्हींके भयसे इन्द्र, वायु और पाँचवें मृत्यु देवता—ये सब दौड़-दौड़कर जल आदि बरसाना, प्राणियोंको जीवन-शक्ति प्रदान करना, जीवोंके शरीरोंका अन्त करना आदि अपना-अपना काम सावधानीपूर्वक कर रहे हैं। साराश यह कि इस जगत्में देवसमुदायके द्वारा सारे कार्य जो नियमितरूपसे सम्पन्न हो रहे हैं, वे इन सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर, सबके शासक एवं नियन्ता परमेश्वरके अमोघ शासनसे ही हो रहे हैं ॥३॥

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

---

* इस भावका मन्त्र तै० उ० २ । ८ के आरम्भमें आया है।

चेत्=यदि, **शरीरस्य**=शरीरका, **विस्रसः**=पतन होनेसे, **प्राक्**=पहले-पहले, **इह**=इस मनुष्यशरीरमें ही (साधक), **बोद्धुम्**=परमात्माको साक्षात्, **अशकत्**=कर सका (तब तो ठीक है); **ततः**=नहीं तो फिर, **सर्गेषु**=अनेक कल्पोंतक; **लोकेषु**=नाना लोक और योनियोंमें, **शरीरत्वाय कल्पते**=शरीर धारण करनेको विवश होता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस सर्वशक्तिमान्, सबके प्रेरक और सबपर शासन करनेवाले परमेश्वरको यदि कोई साधक इस दुर्लभ मनुष्यशरीरका नाश होनेसे पहले ही जान लेता है, अर्थात् जबतक इसमें भजन-स्मरण आदि साधन करनेकी शक्ति बनी हुई है और जबतक यह मृत्युके मुखमें नहीं चला जाता, तभीतक (इसके रहते-रहते ही) सावधानीके साथ प्रयत्न करके परमात्माके तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब तो उसका जीवन सफल हो जाता है, अनादिकालसे जन्म-मृत्युके प्रवाहमें पड़ा हुआ यह जीव उससे छुटकारा पा जाता है। नहीं तो, फिर उसे अनेक कल्पोंतक विभिन्न लोकों और योनियोंमें शरीर धारण करनेके लिये बाध्य होना पड़ता है। अतएव मनुष्यको मृत्युसे पहले-पहले ही परमात्माको जान लेना चाहिये ॥ ४ ॥

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥५॥

यथा आदर्शे=जैसे दर्पणमें (सामने आयी हुई वस्तु दीखती है); **तथा आत्मनि**=वैसे ही शुद्ध अन्तःकरणमें (ब्रह्मके दर्शन होते हैं), **यथा स्वप्ने**=जैसे स्वप्नमें (वस्तु अस्पष्ट दिखलायी देती है), **तथा पितृलोके**=उसी प्रकार पितृलोकमें (परमेश्वर दीखता है); **यथा अप्सु**=जैसे जलमें (वस्तुके रूपकी झलक पड़ती है); **तथा गन्धर्वलोके**=उसी प्रकार गन्धर्वलोकमें; **परि ददृशे इव**=परमात्माकी झलक-सी पड़ती है (और); **ब्रह्मलोके**=ब्रह्मलोकमें (तो); **छायातपयोः इव**=छाया और धूपकी भाँति (आत्मा और परमात्मा दोनोंका स्वरूप पृथक्-पृथक् स्पष्ट दिखलायी देता है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जैसे मलरहित दर्पणमें उसके सामने आयी हुई वस्तु दर्पणसे विलक्षण और स्पष्ट दिखलायी देती है, उसी प्रकार ज्ञानी महापुरुषोंके विशुद्ध अन्तःकरणमें वे परमेश्वर उससे विलक्षण एवं स्पष्ट दिखलायी देते हैं। जैसे स्वप्नमें वस्तुसमूह यथार्थरूपमें न दीखकर स्वप्नद्रष्टा मनुष्यकी वासना और विविध संस्कारोंके अनुसार कहींकी वस्तु कहीं विशृङ्खलरूपसे अस्पष्ट दिखायी देती है, वैसे ही

पितृलोकमें परमेश्वरका स्वरूप यथावत् स्पष्ट न दीखकर अस्पष्ट ही दीखता है; क्योंकि पितृलोकको प्राप्त प्राणियोंको पूर्वजन्मकी स्मृति और वहाँके सम्बन्धियोंका पूर्ववत् ज्ञान होनेके कारण वे तदनुरूप वासनाजालमें आबद्ध रहते हैं। गन्धर्वलोक पितृलोककी अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ है, इसलिये जैसे स्वप्नकी अपेक्षा जाग्रत्-अवस्थामें जलके अंदर देखनेपर प्रतिबिम्ब कुछ-का-कुछ न दीखकर यथावत् तो दीखता है, परंतु जलकी लहरोंके कारण हिलता हुआ-सा प्रतीत होता है, स्पष्ट नहीं दीखता, वैसे ही गन्धर्वलोकमें भी भोग-लहरियोंमें लहराते हुए चित्तसे युक्त वहाँके निवासियोंको भगवान्‌के सर्वथा स्पष्ट दर्शन नहीं होते । किंतु ब्रह्मलोकमें वहाँ रहनेवालोंको छाया और धूपकी तरह अपना और उन परब्रह्म परमेश्वरका ज्ञान प्रत्यक्ष और सुस्पष्ट होता है । वहाँ किसी प्रकारका भ्रम नहीं रहता। प्रथम अध्यायकी तीसरी वल्लीके पहले मन्त्रमें भी बतलाया गया है कि यह मनुष्यशरीर भी एक लोक है, इसमें परब्रह्म परमेश्वर और जीवात्मा—दोनों छाया और धूपकी तरह हृदयरूप गुफामें रहते हैं। अतः मनुष्यको दूसरे लोकोंकी कामना न करके इस मनुष्यशरीरके रहते-रहते ही उस परब्रह्म परमेश्वरको जान लेना चाहिये। यही इसका अभिप्राय है ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

पृथक्=(अपने-अपने कारणसे) भिन्न-भिन्न रूपोंमें, **उत्पद्यमानानाम्**=उत्पन्न हुई; **इन्द्रियाणाम्**=इन्द्रियोंकी; **यत्**=जो; **पृथक् भावम्**=पृथक्-पृथक् सत्ता है, **च**=और, [**यत्**]= जो उनका, **उदयास्तमयौ**=उदय और लय हो जानारूप स्वभाव है, [**तत्**=] उसे, **मत्वा**=जानकर, **धीरः**=(आत्माका स्वरूप उनसे विलक्षण समझनेवाला) धीर पुरुष, **न शोचति**=शोक नहीं करता ॥ ६ ॥

व्याख्या—शब्द-स्पर्शादि विषयोंके अनुभवरूप पृथक्-पृथक् कार्य करनेके लिये भिन्न-भिन्न रूपमें उत्पन्न हुई इन्द्रियोंके जो पृथक्-पृथक् भाव हैं तथा जाग्रत्-अवस्थामें कार्यशील हो जाना और सुषुप्तिकालमें लय हो जानारूप जो उनकी परिवर्तनशीलता है, इनपर विचार करके जब बुद्धिमान् मनुष्य इस रहस्यको समझ लेता है कि 'ये इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि या इनका सङ्घातरूप यह शरीर मैं नहीं हूँ, मैं इनसे सर्वथा विलक्षण नित्य चेतन हूँ, सर्वथा विशुद्ध एवं सदा एकरस हूँ,' तब वह किसी प्रकारका शोक नहीं करता; सदाके लिये दुःख और शोकसे रहित हो जाता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अगले दो मन्त्रोंमें तत्त्वविचार करते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्
सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियेभ्यः=इन्द्रियोंसे (तो); मनः=मन, परम्=श्रेष्ठ है, मनसः=मनसे, सत्त्वम्=बुद्धि, उत्तमम्=उत्तम है, सत्त्वात्=बुद्धिसे, महान् आत्मा=उसका स्वामी जीवात्मा, अधि=ऊँचा है (और), महतः=जीवात्मासे, अव्यक्तम्=अव्यक्त शक्ति; उत्तमम्=उत्तम है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे बुद्धि उत्तम है, बुद्धिसे इनका स्वामी जीवात्मा ऊँचा है; क्योंकि उन सबपर इसका अधिकार है। वे सभी इसकी आज्ञा-पालन करनेवाले हैं और यह उनका शासक है, अतः उनसे सर्वथा विलक्षण है। इस जीवात्मासे भी इसका अव्यक्त (कारण) शरीर प्रबल है,—जो कि भगवान्‌की उस प्रकृतिका अंग है, जिसने इसको बन्धनमें डाल रक्खा है। तुलसीदासजीने भी कहा है 'जेहि बस कीन्हे जीव निकाया'। गीतामें भी प्रकृतिजनित तीनों गुणोंके द्वारा जीवात्माके बाँधे जानेकी बात कही गयी है (१४।५) ॥ ७ ॥

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥८॥*

तु=परंतु; अव्यक्तात्=अव्यक्तसे (भी वह), व्यापकः=व्यापक; च=और, अलिङ्गः एव=सर्वथा आकाररहित, पुरुषः=परम पुरुष; परः=श्रेष्ठ है; यम्=जिसको, ज्ञात्वा=जानकर, जन्तुः=जीवात्मा, मुच्यते=मुक्त हो जाता है; च=और, अमृतत्वम्=अमृतस्वरूप आनन्दमय ब्रह्मको, गच्छति=प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—परंतु इस प्रकृतिसे भी इसके स्वामी परमपुरुष परमात्मा श्रेष्ठ हैं, जो निराकाररूपसे सर्वत्र व्यापक हैं (गीता ९।४)। जिनको जानकर यह जीवात्मा प्रकृतिके बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो जाता है और अमृतस्वरूप परमानन्दको पा लेता है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह इस प्रकृतिके बन्धनसे छूटनेके लिये इसके स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तमकी शरण ग्रहण करे। (गीता ७।१४) परमात्मा जब इस जीवपर दया करके मायाके परदेको हटा लेते हैं, तभी इसको उनकी प्राप्ति होती है। नहीं तो यह मूढजीव सर्वदा अपने समीप रहते हुए भी उन परमेश्वरको पहचान नहीं पाता ॥ ८ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।

* इसका विस्तार इसी उपनिषद्के १।३।१०, ११ में देखना चाहिये।

हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥९॥*

अस्य=इस परमेश्वरका; **रूपम्**=वास्तविक स्वरूप, **संदृशे**=अपने सामने प्रत्यक्ष विषयके रूपमें, **न तिष्ठति**=नहीं ठहरता, **एनम्**=इसको, **कश्चन**=कोई भी, **चक्षुषा**=चर्मचक्षुओंद्वारा, **न पश्यति**=नहीं देख पाता, **मनसा**=मनसे, **अभिक्लृप्तः**=बारबार चिन्तन करके ध्यानमें लाया हुआ (वह परमात्मा); **हृदा**=निर्मल और निश्चल हृदयसे, **मनीषा**=(और) विशुद्ध बुद्धिके द्वारा, [**दृश्यते**]=देखनेमें आता है, **ये एतत् विदुः**=जो इसको जानते हैं; **ते अमृताः भवन्ति**=वे अमृत (आनन्द) स्वरूप हो जाते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—इन परब्रह्म परमेश्वरका दिव्य स्वरूप प्रत्यक्ष विषयके रूपमें अपने सामने नहीं ठहरता, परमात्माके दिव्यरूपको कोई भी मनुष्य प्राकृत चर्मचक्षुओंके द्वारा नहीं देख सकता। जो भाग्यवान् साधक निरन्तर प्रेमपूर्वक मनसे उनका चिन्तन करता रहता है, उसके हृदयमें जब भगवान्के उस दिव्य स्वरूपका ध्यान प्रगाढ होता है, उस समय उस साधकका हृदय भगवान्के ध्यानजनित स्वरूपमें निश्चल हो जाता है। ऐसे निश्चल हृदयसे ही वह साधक विशुद्ध बुद्धिरूप नेत्रोंके द्वारा परमात्माके उस दिव्य स्वरूपकी झाँकी करता है। जो इन परमेश्वरको जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं, अर्थात् परमानन्द-स्वरूप बन जाते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—योगधारणाके द्वारा मन और इन्द्रियोंको रोककर परमात्माको प्राप्त करनेका दूसरा साधन बतलाते हैं—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥

यदा=जब, **मनसा सह**=मनके सहित, **पञ्च ज्ञानानि**=पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ, **अवतिष्ठन्ते**=भलीभाँति स्थिर हो जाती हैं; **बुद्धिः च**=और बुद्धि भी, **न विचेष्टति**=किसी प्रकारकी चेष्टा नहीं करती, **ताम्**=उस स्थितिको; **परमाम् गतिम् आहुः**=(योगी) परमगति कहते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—योगाभ्यास करते-करते जब मनके सहित पाँचों इन्द्रियाँ भलीभाँति स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी एक परमात्माके स्वरूपमें इस प्रकार स्थित हो जाती है, जिससे उसको परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुका तनिक भी ज्ञान नहीं रहता, उससे कोई भी चेष्टा नहीं बनती, उस स्थितिको योगीगण परमगति—योगकी सर्वोत्तम स्थिति—बतलाते हैं ॥ १० ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

---

* इससे मिलता-जुलता मन्त्र श्वेता० उ० ४। २० है।

ताम्=उस, **स्थिराम् इन्द्रियधारणाम्**=इन्द्रियोंकी स्थिर धारणाको ही, **योगम् इति**='योग', **मन्यन्ते**=मानते हैं, **हि**=क्योंकि, **तदा**=उस समय, **अप्रमत्तः**=(साधक) प्रमादरहित, **भवति**=हो जाता है; **योगः**=योग, **प्रभवाप्ययौ**=उदय और अस्त होनेवाला है ॥ ११ ॥

व्याख्या—इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी स्थिर धारणाका ही नाम योग है—ऐसा अनुभवी योगी महानुभाव मानते हैं; क्योंकि उस समय साधक विषय-दर्शनरूप सब प्रकारके प्रमादसे सर्वथा रहित हो जाता है । परन्तु यह योग उदय और अस्त होनेवाला है; अतः परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छावाले साधकको निरन्तर योगयुक्त रहनेका दृढ अभ्यास करते रहना चाहिये ॥ ११ ॥

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥

न वाचा=(वह परब्रह्म परमेश्वर) न तो वाणीसे, **न मनसा**=न मनसे (और); **न चक्षुषा एव**=न नेत्रोंसे ही, **प्राप्तुम् शक्यः**=प्राप्त किया जा सकता है (फिर); **तत् अस्ति**='वह अवश्य है', **इति ब्रुवतः अन्यत्र**=इस प्रकार कहनेवालेके अतिरिक्त दूसरेको; **कथम् उपलभ्यते**=कैसे मिल सकता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—वह परब्रह्म परमात्मा वाणी आदि कर्मेन्द्रियोंसे,चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों-से और मन-बुद्धिरूप अन्तःकरणसे भी नहीं प्राप्त किया जा सकता, क्योंकि वह इन सबकी पहुँचसे परे है। परतु वह है अवश्य और उसे प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छा रखनेवालेको वह अवश्य मिलता है—इस बातको जो नहीं कहता, नहीं स्वीकार करता अर्थात् इसपर जिसका दृढ विश्वास नहीं है, उसको वह कैसे मिल सकता है। अतः पूर्व मन्त्रोंमें बतलायी हुई रीतिके अनुसार इन्द्रिय-मन आदि सबको योगाभ्यासके द्वारा रोककर 'वह अवश्य है और साधकको मिलता है' ऐसे दृढ़तम निश्चयसे निरन्तर उसकी प्राप्तिके लिये परम उत्कण्ठाके साथ प्रयत्नशील रहना चाहिये ॥ १२ ॥

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

अस्ति=(अतः उस परमात्माको पहले तो) 'वह अवश्य है', **इति एव**=इस प्रकार निश्चयपूर्वक, **उपलब्धव्यः**=ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् पहले उसके अस्तित्वका दृढ़ करना चाहिये; [**तदनु**]=तदनन्तर; **तत्त्वभावेन**=तत्त्वभावसे भी; [**उपलब्धव्यः**]=उसे प्राप्त करना चाहिये, **उभयोः**=इन दोनों

प्रकारोंमेंसे, **अस्ति इति एव**='वह अवश्य है' इस प्रकार निश्चयपूर्वक; **उपलब्धस्य**=परमात्माकी सत्ताको स्वीकार करनेवाले साधकके लिये; **तत्त्वभावः**=परमात्माका तात्त्विक स्वरूप (अपने-आप), **प्रसीदति**=(शुद्ध हृदयमें) प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—साधकको चाहिये कि पहले तो वह इस बातका दृढ निश्चय करे कि 'परमेश्वर अवश्य हैं और वे साधकको अवश्य मिलते हैं;' फिर इसी विश्वाससे उन्हें स्वीकार करे और उसके पश्चात् तात्त्विक विवेचनपूर्वक निरन्तर उनका ध्यान करके उन्हें प्राप्त करे । जब साधक इस निश्चित विश्वाससे भगवान्‌को स्वीकार कर लेता है कि 'वे अवश्य हैं और अपने हृदयमें ही विराजमान हैं, उनकी प्राप्ति अवश्य होती है,' तो परमात्माका वह तात्त्विक दिव्य स्वरूप उसके विशुद्ध हृदयमें अपने-आप प्रकट हो जाता है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब निष्कामभावकी महिमा बतलाते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

अस्य=इस (साधक) के; **हृदि श्रिताः**=हृदयमें स्थित; **ये कामाः**=जो कामनाएँ (हैं); **सर्वे यदा**=(वे) सब-की सब जब; **प्रमुच्यन्ते**=समूल नष्ट हो जाती हैं; **अथ**=तब, **मर्त्यः**=मरणधर्मा मनुष्य, **अमृतः**=अमर; **भवति**=हो जाता है (और), **अत्र**=(वह) यहीं, **ब्रह्म समश्नुते**=ब्रह्मका भली-भाँति अनुभव कर लेता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—मनुष्यका हृदय नित्य-निरन्तर विभिन्न प्रकारकी ऐहलौकिक और पारलौकिक कामनाओंसे भरा रहता है; इसी कारण न तो वह कभी यह विचार ही करता है कि परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है और न काम्यविषयोंकी आसक्तिके कारण वह परमात्माको पानेकी अभिलाषा ही करता है । ये सारी कामनाएँ साधक पुरुषके हृदयसे जब समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह—जो सदासे मरणधर्मा था—अमर हो जाता है और यहीं—इस मनुष्य-शरीरमें ही उस परब्रह्म परमेश्वरका भलीभाँति साक्षात् अनुभव कर लेता है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—संशयरहित दृढ निश्चयकी महिमा बतलाते हैं—

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥

यदा=जब (इसके), हृदयस्य=हृदयकी; सर्वे=सम्पूर्ण, ग्रन्थयः=ग्रन्थियाँ, प्रभिद्यन्ते=भलीभाँति खुल जाती हैं; अथ=तब, मर्त्यः=वह मरणधर्मा मनुष्य, इह=इसी शरीरमें, अमृतः=अमर, भवति=हो जाता है, हि एतावत्=बस, इतना ही, अनुशासनम्=सनातन उपदेश है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जब साधकके हृदयकी अहंता-ममतारूप समस्त अज्ञान-ग्रन्थियाँ भलीभाँति कट जाती हैं, उसके सब प्रकारके संशय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं और उपर्युक्त उपदेशके अनुसार उसे यह दृढ निश्चय हो जाता है कि 'परब्रह्म परमेश्वर अवश्य हैं और वे निश्चय ही मिलते हैं,' तब वह इस शरीरमें रहते हुए ही परमात्माका साक्षात् करके अमर हो जाता है। बस, इतना ही वेदान्तका सनातन उपदेश है ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—अब मरनेके बाद होनेवाली जीवात्माकी गतिका वर्णन करते हैं—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्य-
स्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति
विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

हृदयस्य=हृदयकी; शतम् च एका च=(कुल मिलाकर) एक सौ एक; नाड्यः=नाड़ियाँ हैं; तासाम्=उनमेंसे; एका=एक; मूर्धानम्=मूर्धा (कपाल) की ओर, अभिनिःसृता=निकली हुई है (इसे ही सुषुम्णा कहते हैं); तया=उसके द्वारा, ऊर्ध्वम्=ऊपरके लोकोंमें, आयन्=जाकर (मनुष्य), अमृतत्वम्=अमृतभावको, एति=प्राप्त हो जाता है; अन्याः=दूसरी एक सौ नाडियाँ, उत्क्रमणे=मरणकालमें (जीवको); विष्वङ्=नाना प्रकारकी योनियोंमें ले जानेकी हेतु; भवन्ति=होती हैं ॥ १६ ॥

व्याख्या—हृदयमें एक सौ एक प्रधान नाडियाँ हैं, जो वहाँसे सब ओर फैली हुई हैं। उनमेंसे एक नाड़ी, जिसको सुषुम्णा कहते हैं, हृदयसे मस्तककी ओर गयी है। भगवान्‌के परमधाममें जानेका अधिकारी उस नाडीके द्वारा शरीरसे बाहर निकलकर सबसे ऊँचे लोकमें अर्थात् भगवान्‌के परमधाममें जाकर अमृत-स्वरूप परमानन्दमय परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है, और दूसरे जीव मरणकालमें दूसरी नाड़ियोंके द्वारा शरीरसे बाहर निकलकर अपने-अपने कर्म और वासनाके अनुसार नाना योनियोंको प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥*

अन्तरात्मा=सबका अन्तर्यामी; **अङ्गुष्ठमात्रः**=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **पुरुषः**=परम पुरुष, **सदा**=सदैव, **जनानाम्**=मनुष्योंके, **हृदये**=हृदयमें, **सन्निविष्टः**=भलीभाँति प्रविष्ट है; **तम्**=उसको, **मुञ्जात्**=मूँजसे, **इषीकाम् इव**=सींककी भाँति, **स्वात्**=अपनेसे (और), **शरीरात्**=शरीरसे; **धैर्येण**=धीरतापूर्वक; **प्रवृहेत्**=पृथक् करके देखे, **तम्**=उसीको; **शुक्रम् अमृतम् विद्यात्**=विशुद्ध अमृतस्वरूप समझे; **तम् शुक्रम् अमृतम् विद्यात्**=(और) उसीको विशुद्ध अमृतस्वरूप समझे ॥ १७ ॥

व्याख्या—सबके अन्तर्यामी परमपुरुष परमेश्वर हृदयके अनुरूप अङ्गुष्ठमात्र रूपवाले होकर सदैव सभी मनुष्योंके भीतर निवास करते हैं, तो भी मनुष्य उनकी ओर देखतातक नहीं । जो प्रमादरहित होकर उनकी प्राप्तिके साधनमें लगे हैं, उन मनुष्योंको चाहिये कि उन शरीरस्थ परमेश्वरको इस शरीरसे और अपने-आपसे भी उसी तरह पृथक् और विलक्षण समझे, जैसे साधारण लोग मूँजसे सींकको पृथक् देखते हैं । अर्थात् जिस प्रकार मूँजमें रहनेवाली सींक मूँजसे विलक्षण और पृथक् है, उसी प्रकार वह शरीर और आत्माके भीतर रहनेवाला परमेश्वर उन दोनोंसे सर्वथा विलक्षण है । वही विशुद्ध अमृत है, वही विशुद्ध अमृत है । यहाँ यह वाक्यकी पुनरावृत्ति उपदेशकी समाप्ति एवं सिद्धान्तकी निश्चितताको सूचित करती है ॥ १७ ॥

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा
विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्यु-
रन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥

अथ=इस प्रकार उपदेश सुननेके अनन्तर; **नचिकेतः**=नचिकेता, **मृत्युप्रोक्ताम्**=यमराजद्वारा बतलायी हुई; **एताम्**=इस; **विद्याम्**=विद्याको; **च**=और; **कृत्स्नम्**=सम्पूर्ण; **योगविधिम्**=योगकी विधिको; **लब्ध्वा**=प्राप्त करके; **विमृत्युः**=मृत्युसे रहित (और); **विरजः (सन्)**=सब प्रकारके विकारोंसे शून्य विशुद्ध होकर, **ब्रह्मप्राप्तः अभूत्**=ब्रह्मको प्राप्त हो गया; **अन्यः अपि यः**=दूसरा भी जो कोई, **(इदम्) अध्यात्मम् एवंवित्**=इस अध्यात्म-विद्याको इसी प्रकार जाननेवाला है, **(सः अपि एवम्) एव (भवति)**=वह भी ऐसा ही हो जाता है अर्थात् मृत्यु और विकारोंसे रहित होकर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ १८ ॥

* इसका पूर्वार्ध श्वेता० ३ । १३ के पूर्वार्धसे मिलता है ।

व्याख्या—इस प्रकार यमराजके द्वारा उपदिष्ट समस्त विवेचनको श्रद्धापूर्वक सुननेके पश्चात् नचिकेता उनके द्वारा बतायी हुई सम्पूर्ण विद्या और योगकी विधिको प्राप्त करके जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त, सब प्रकारके विकारोंसे रहित एवं सर्वथा विशुद्ध होकर परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त हो गया। दूसरा भी जो कोई इस अध्यात्मविद्याको इस प्रकार नचिकेताकी भाँति ठीक-ठीक जान लेता है और श्रद्धापूर्वक उसे धारण कर लेता है, वह भी नचिकेताकी भाँति सब विकारोंसे रहित तथा जन्म-मृत्युसे मुक्त होकर परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है॥ १८॥

तृतीय वल्ली समाप्त ॥ ३ ॥ (६)

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय कठोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु। मा विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ इस उपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

प्रश्नोपनिषद्

प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेदके पिप्पलाद-शाखीय ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है। इस उपनिषद्में पिप्पलाद ऋषिने सुकेशा आदि छः ऋषियोंके छः प्रश्नोंका क्रमसे उत्तर दिया है, इसलिये इसका नाम प्रश्नोपनिषद् हो गया।

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥*
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥†
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

देवाः=हे देवगण !; (**वयम्**) **यजत्राः** (**सन्तः**)=हम भगवान्का यजन (आराधन) करते हुए, **कर्णेभिः**=कानोंसे; **भद्रम्**=कल्याणमय वचन; **शृणुयाम**=सुनें, **अक्षभिः**=नेत्रोंसे; **भद्रम्**=कल्याण (ही), **पश्येम**=देखें; **स्थिरैः**=सुदृढ, **अङ्गैः**=अङ्गों; **तनूभिः**=एवं शरीरोंसे, **तुष्टुवांसः**(**वयम्**)=भगवान्की स्तुति करते हुए हमलोग; **यत्**=जो, **आयुः**=आयु, **देवहितम्**=आराध्यदेव परमात्माके काम आ सके; [**तत्**]=उसका; **व्यशेम**=उपभोग करें, **वृद्धश्रवाः**=सब ओर फैले हुए सुयशवाले, **इन्द्रः**=इन्द्र; **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति दधातु**=कल्याणका पोषण करें; **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण विश्वका ज्ञान रखनेवाले, **पूषाः**=पूषा, **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति** (**दधातु**)=कल्याणका पोषण करें, **अरिष्टनेमिः**=अरिष्टोंको मिटानेके लिये चक्रसदृश शक्तिशाली; **तार्क्ष्यः**=गरुडदेवः, **नः**=हमारे लिये; **स्वस्ति** (**दधातु**)=कल्याणका पोषण करें, (तथा) **बृहस्पतिः**=(बुद्धिके स्वामी) बृहस्पति भी; **नः**=हमारे लिये, **स्वस्ति** (**दधातु**)=कल्याणकी पुष्टि करें; **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=परमात्मन्! हमारे त्रिविध तापकी शान्ति हो।

व्याख्या—गुरुके यहाँ अध्ययन करनेवाले शिष्य अपने गुरु, सहपाठी तथा मानवमात्रका कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओंसे प्रार्थना करते हैं कि 'हे देवगण! हम अपने कानोंसे शुभ—कल्याणकारी वचन ही सुनें। निन्दा,

---

*-† यह दोनों मन्त्र यजु० २५। २१, १९; ऋग्० १०। ८९। ६-८ में है।

चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पापकी बातें हमारे कानोंमें न पड़ें और हमारा अपना जीवन यजन-परायण हो—हम सदा भगवान्‌की आराधनामें ही लगे रहें। न केवल कानोंसे सुनें, नेत्रोंसे भी हम सदा कल्याणका ही दर्शन करें। किसी अमङ्गलकारी अथवा पतनकी ओर ले जानेवाले दृश्योंकी ओर हमारी दृष्टिका आकर्षण कभी न हो। हमारे शरीर, हमारा एक-एक अवयव सुदृढ एवं सुपुष्ट हो—वह भी इसलिये कि हम उनके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते रहें। हमारी आयु भोग-विलास या प्रमादमें न बीते। हमें ऐसी आयु मिले, जो भगवान्‌के कार्यमें आ सके। [देवता हमारी प्रत्येक इन्द्रियमें व्याप्त रहकर उसका संरक्षण और सञ्चालन करते हैं। उनके अनुकूल रहनेसे हमारी इन्द्रियाँ सुगमतापूर्वक सन्मार्गमें लगी रह सकती हैं, अतः उनसे प्रार्थना करनी उचित ही है।] जिनका सुयश सब ओर फैला है, वे देवराज इन्द्र, सर्वज्ञ पूषा, अरिष्टनिवारक तार्क्ष्य (गरुड) और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति—ये सभी देवता भगवान्‌की दिव्य विभूतियाँ हैं। ये सदा हमारे कल्याणका पोषण करें। इनकी कृपासे हमारे सहित प्राणिमात्रका कल्याण होता रहे। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो।

प्रथम प्रश्न

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ १ ॥

ॐ=ॐ इस परमात्माके नामका स्मरण करके उपनिषद्‌का आरम्भ करते हैं, **भारद्वाजः सुकेशा**=भरद्वाज-पुत्र सुकेशा, **च शैब्यः सत्यकामः**=और शिबिकुमार सत्यकाम; **च गार्ग्यः सौर्यायणी**=तथा गर्ग-गोत्रमें उत्पन्न सौर्यायणी, **च कौसल्यः आश्वलायनः**=एवं कोसलदेशीय आश्वलायन, **च वैदर्भिः भार्गवः**=तथा विदर्भनिवासी भार्गव, (**च**) **कात्यायनः कबन्धी**=और कत्य-ऋषिका प्रपौत्र कबन्धी; **ते एते ह ब्रह्मपराः**=वे ये छः प्रसिद्ध ऋषि, जो वेदपरायण (और); **ब्रह्मनिष्ठाः**=वेदमें निष्ठा रखनेवाले थे; **ते ह**=वे सब-के-सब; **परम् ब्रह्म**=परब्रह्मकी; **अन्वेषमाणाः**=खोज करते हुए; **एषः ह वै तत् सर्वम् वक्ष्यति इति**=यह समझकर कि ये (पिप्पलाद ऋषि) निश्चय ही उस ब्रह्मके विषयमें सारी बातें बतायेंगे, **समित्पाणयः**=हाथमें समिधा लिये हुए; **भगवन्तम् पिप्पलादम् उपसन्नाः**=भगवान् पिप्पलाद ऋषिके पास गये ॥ १ ॥

व्याख्या—ओंकारस्वरूप सच्चिदानन्दघन परमात्माका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है । प्रसिद्ध है कि भरद्वाजके पुत्र सुकेशा, शिबिकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्रमें उत्पन्न सौर्यायणी, कोसलदेश-निवासी आश्वलायन, विदर्भदेशीय भार्गव और कत्यके प्रपौत्र कबन्धी—ये वेदाभ्यासके परायण और ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् श्रद्धापूर्वक वेदानुकूल आचरण करनेवाले थे । एक बार ये छहों ऋषि परब्रह्म परमेश्वरकी जिज्ञासासे एक साथ बाहर निकले । इन्होंने सुना था कि पिप्पलाद ऋषि इस विषयको विशेषरूपसे जानते हैं; अतः यह सोचकर कि 'परब्रह्मके सम्बन्धमें हम जो कुछ जानना चाहते हैं, वह सब वे हमें बता देंगे' वे लोग जिज्ञासुके वेषमें हाथमें समिधा लिये हुए महर्षि पिप्पलादके पास गये ॥१॥

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥ २ ॥

तान् सः ह=उन सुकेशा आदि ऋषियोंसे वे प्रसिद्ध, **ऋषिः उवाच**=(पिप्पलाद) ऋषि बोले—; **भूयः एव**=तुमलोग पुनः, **श्रद्धया**=श्रद्धाके साथ; **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए; (और) **तपसा**=तपस्यापूर्वक, **संवत्सरम्**=एक वर्षतक (यहाँ); **संवत्स्यथ**=भलीभाँति निवास करो; **यथाकामम्**=(उसके बाद) अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार; **प्रश्नान् पृच्छत**=प्रश्न पूछना; **यदि विज्ञास्यामः**=यदि (तुम्हारी पूछी हुई बातोंको) मैं जानता होऊँगा; **ह सर्वम्**=तो निस्सन्देह वे सब बातें, **वः वक्ष्यामः इति**=तुमलोगोंको बताऊँगा ॥ २ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त छहों ऋषियोंको परब्रह्मकी जिज्ञासासे अपने पास आया देखकर महर्षि पिप्पलादने उनसे कहा—तुमलोग तपस्वी हो, तुमने ब्रह्मचर्यके पालनपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़े हैं; तथापि मेरे आश्रममें रहकर पुनः एक वर्षतक श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए तपश्चर्या करो । उसके बाद तुमलोग जो चाहो, मुझसे प्रश्न करना । यदि तुम्हारे पूछे हुए विषयका मुझे ज्ञान होगा तो निस्सन्देह तुम्हें सब बातें भलीभाँति समझाकर बतलाऊँगा ॥ २ ॥

सम्बन्ध—ऋषिके आज्ञानुसार सबने श्रद्धा, ब्रह्मचर्य और तपस्याके साथ विधिपूर्वक एक वर्षतक वहाँ निवास किया ।

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ ।
भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ ३ ॥

अथ=तदनन्तर (उनमेंसे); **कात्यायनः कबन्धी**=कत्य ऋषिके

प्रपौत्र कबन्धीने, उपेत्य=(पिप्पलाद ऋषिके) पास जाकर, पप्रच्छ=पूछा—, भगवन्=भगवन्!, कुतः ह वै=किस प्रसिद्ध और सुनिश्चित कारणविशेषसे, इमाः प्रजाः=यह सम्पूर्ण प्रजा, प्रजायन्ते=नाना रूपोंमें उत्पन्न होती है, इति=यह मेरा प्रश्न है ॥ ३ ॥

व्याख्या—महर्षि पिप्पलादकी आज्ञा पाकर वे लोग श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए वहीं तपश्चर्या करने लगे। महर्षिकी देख-रेखमें संयमपूर्वक रहकर एक वर्षतक उन्होंने त्यागमय जीवन बिताया। उसके बाद वे सब पुनः पिप्पलाद ऋषिके पास गये तथा उनमेंसे सर्वप्रथम कत्यऋषिके प्रपौत्र कबन्धीने श्रद्धा और विनयपूर्वक पूछा—'भगवन्! जिससे ये सम्पूर्ण चराचर जीव नाना रूपोंमें उत्पन्न होते हैं, जो इनका सुनिश्चित परम कारण है, वह कौन है?' ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥ ४ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे वे प्रसिद्ध महर्षि बोले—; **वै प्रजाकामः**= निश्चय ही प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छावाला (जो), **प्रजापतिः**=प्रजापति है, **सः तपः अतप्यत**=उसने तप किया, **सः तपः तप्त्वा**=उसने तपस्या करके (जब सृष्टिका आरम्भ किया, उस समय पहले); **सः**=उसने, **रयिम् च**=एक तो रयि तथा, **प्राणम् च**=दूसरा प्राण भी; **इति मिथुनम्**=यह जोड़ा, **उत्पादयते**= उत्पन्न किया, **एतौ मे**=(इन्हें उत्पन्न करनेका उद्देश्य यह था) कि ये दोनों मेरी, **बहुधा**=नाना प्रकारकी, **प्रजाः**=प्रजाओंको, **करिष्यतः इति**=उत्पन्न करेंगे ॥ ४ ॥

व्याख्या—कबन्धी ऋषिका यह प्रश्न सुनकर महर्षि पिप्पलाद बोले— हे कात्यायन! यह बात वेदोंमें प्रसिद्ध है कि सम्पूर्ण जीवोंके स्वामी परमेश्वरको सृष्टिके आदिमें जब प्रजा उत्पन्न करनेकी इच्छा हुई, तब उन्होंने संकल्परूप तप किया। तपसे उन्होंने सर्वप्रथम रयि और प्राण—इन दोनोंका एक जोड़ा उत्पन्न किया। उसे उत्पन्न करनेका उद्देश्य यह था कि ये दोनों मिलकर मेरे लिये नाना प्रकारकी सृष्टि उत्पन्न करेंगे। इस मन्त्रमें सबको जीवन प्रदान करनेवाली जो समष्टि जीवनी शक्ति है, उसे ही 'प्राण' नाम दिया गया है। इस जीवनी शक्तिसे ही प्रकृतिके स्थूल स्वरूपमें—समस्त पदार्थोंमें जीवन, स्थिति और यथायोग्य सामञ्जस्य आता है एवं स्थूल भूत-समुदायका नाम 'रयि' रक्खा गया है, जो प्राणरूप जीवनी शक्तिसे अनुप्राणित होकर कार्यक्षम होता है। प्राण चेतना है, रयि शक्ति और आकृति है। प्राण और रयिके संयोगसे ही सृष्टिका समस्त कार्य

सम्पन्न होता है। इन्हींको अन्यत्र अग्नि और सोमके नामसे भी कहा गया है ॥४॥

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥ ५ ॥

ह=यह निश्चय है कि; **आदित्यः वै**=सूर्य ही; **प्राणः**=प्राण है (और); **चन्द्रमाः एव**=चन्द्रमा ही; **रयिः**=रयि है; **यत् मूर्तम् च**=जो कुछ आकारवाला है (पृथ्वी, जल और तेज); **अमूर्तम् च**=और जो आकाररहित है (आकाश और वायु), **एतत् सर्वम् वै**=यह सभी कुछ, **रयिः**=रयि है, **तस्मात्**=इसलिये, **मूर्तिः एव**=मूर्तमात्र ही अर्थात् देखने तथा जाननेमें आनेवाली सभी वस्तुएँ; **रयिः**=रयि हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उपर्युक्त प्राण और रयिका स्वरूप समझाया गया है। पिप्पलाद कहते हैं कि यह दीखनेवाला सम्पूर्ण जगत् प्राण और रयि—इन दोनों तत्त्वोंके संयोग या सम्मिश्रणसे बना है, इसलिये यद्यपि इन्हें पृथक्-पृथक् करके नहीं बताया जा सकता, तथापि तुम इस प्रकार समझो—यह सूर्य, जो हमें प्रत्यक्ष दिखलायी देता है, यही प्राण है, क्योंकि इसीमें सबको जीवन प्रदान करनेवाली चेतना-शक्तिकी प्रधानता और अधिकता है। यह सूर्य उस सूक्ष्म जीवनी शक्तिका घनीभूत स्वरूप है। उसी प्रकार यह चन्द्रमा ही 'रयि' है; क्योंकि इसमें स्थूल तत्त्वोंको पुष्ट करनेवाली भूत-तन्मात्राओंकी ही अधिकता है। समस्त प्राणियोंके स्थूल शरीरोंका पोषण इस चन्द्रमाकी शक्तिको पाकर ही होता है। हमारे शरीरोंमें ये दोनों शक्तियाँ प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गमें व्याप्त हैं। उनमें जीवनी शक्तिका सम्बन्ध सूर्यसे है और मांस, मेद आदि स्थूल तत्त्वोंका सम्बन्ध चन्द्रमासे है ॥ ५ ॥

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते । यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ ६ ॥

अथ=रात्रिके अनन्तर; **उदयन्**=उदय होता हुआ, **आदित्यः**=सूर्य, **यत् प्राचीम् दिशम्**=जो पूर्व दिशामें, **प्रविशति**=प्रवेश करता है; **तेन प्राच्यान् प्राणान्**=उससे पूर्व दिशाके प्राणोंको, **रश्मिषु**=अपनी किरणोंमें, **संनिधत्ते**=धारण करता है (उसी प्रकार); **यत् दक्षिणाम्**=जो दक्षिण दिशाको, **यत् प्रतीचीम्**=जो पश्चिम दिशाको; **यत् उदीचीम्**=जो उत्तर दिशाको,

यत् अधः=जो नीचेके लोकोंको; **यत् ऊर्ध्वम्**=जो ऊपरके लोकोंको; **यत् अन्तरा दिशः**=जो दिशाओंके बीचके भागों (कोणों) को (और), **यत् सर्वम्**=जो अन्य सबको, **प्रकाशयति**=प्रकाशित करता है, **तेन सर्वान् प्राणान्**=उससे समस्त प्राणोंको अर्थात् सम्पूर्ण जगत्‌के प्राणोंको; **रश्मिषु संनिधत्ते**=अपनी किरणोंमें धारण करता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सम्पूर्ण प्राणियोंके शरीरोंमें जो जीवनी-शक्ति है, उसके साथ सूर्यका सम्बन्ध दिखलाया गया है । भाव यह है कि रात्रिके बाद जब सूर्य उदय होकर पूर्वदिशामें अपना प्रकाश फैलाता है, उस समय वहाँके प्राणियोंके प्राणोंको अपनी किरणोंमें धारण करता है अर्थात् उनकी जीवनी-शक्तिका सूर्यकी किरणोंसे सम्बन्ध होकर उसमें नवीन स्फूर्ति आ जाती है । उसी प्रकार जिस समय जिस दिशामें जहाँ-जहाँ सूर्य अपना प्रकाश फैलाता है, वहाँ-वहाँके प्राणियोंको स्फूर्ति देता रहता है; अतः सूर्य ही समस्त प्राणियोंका प्राण है ॥ ६ ॥

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते ।
तदेतदृचाभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

सः एषः=वह यह सूर्य ही, **उदयते**=उदय होता है, **वैश्वानरः अग्निः**=(जो कि) वैश्वानर अग्नि (जठराग्नि) और, **विश्वरूपः प्राणः**=विश्वरूप प्राण है, **तत् एतत्**=वही यह बात, **ऋचा**=ऋचाद्वारा, **अभ्युक्तम्**=आगे कही गयी है ॥ ७ ॥

व्याख्या—प्राणियोंके शरीरमें जो वैश्वानर नामसे कही जानेवाली जठराग्नि है, जिससे अन्नका पाचन होता है (गीता १५ । १४), वह सूर्यका ही अंश है; अतः सूर्य ही है । तथा जो प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—इन पाँच रूपोंमें विभक्त प्राण है, वह भी इस उदय होनेवाले सूर्यका ही अंश है, अतः सूर्य ही है । यही बात अगली ऋचाद्वारा समझायी गयी है ॥ ७ ॥

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं
परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम् ।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥

विश्वरूपम्=सम्पूर्ण रूपोंके केन्द्र; **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ; **परायणम्**=सर्वाधार; **ज्योतिः**=प्रकाशमय, **तपन्तम्**=तपते हुए; **हरिणम्**=किरणोंवाले

सूर्यको, **एकम्**=अद्वितीय (बतलाते हैं), **एषः**=यह, **सहस्ररश्मिः**=सहस्रों किरणोंवाला, **सूर्यः**=सूर्य, **शतधा वर्तमानः**=सैकडो प्रकारसे वर्तता हुआ; **प्रजानाम्**=समस्त जीवोंका, **प्राणः**=प्राण (जीवनदाता) होकर, **उदयति**=उदय होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस सूर्यके तत्त्वको जाननेवालोका कहना है कि यह किरण-जालसे मण्डित एवं प्रकाशमय, तपता हुआ सूर्य विश्वके समस्त रूपोका केन्द्र है। सभी रूप (रंग और आकृतियाँ) सूर्यसे उत्पन्न और प्रकाशित होते हैं। यह सविता ही सबका उत्पत्तिस्थान है और यही सबकी जीवन-ज्योतिका मूल स्रोत है। यह सर्वज्ञ और सर्वाधार है, वैश्वानर अग्नि और प्राण-शक्तिके रूपमें सर्वत्र व्याप्त है और सबको धारण किये हुए है। समस्त जगत्का प्राणरूप सूर्य एक ही है—इसके समान इस जगत्मे दूसरी कोई भी जीवनी शक्ति नही है। यह सहस्रो किरणोवाला सूर्य हमारे सैकडो प्रकारके व्यवहार सिद्ध करता हुआ उदय होता है। जगत्में उष्णता और प्रकाश फैलाना, सबको जीवन-प्रदान करना, ऋतुओंका परिवर्तन करना आदि हमारी सैकडो प्रकारकी आवश्यकताओंको पूर्ण करता हुआ सम्पूर्ण सृष्टिका जीवनदाता प्राण ही सूर्यके रूपमे उदित होता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार यहाँतक कात्यायन कबन्धीके प्रश्नानुसार संक्षेपमें यह बताया गया कि उस सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरसे ही उसके संकल्पद्वारा प्राण और रयिके संयोगसे इस सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति आदि होती है। अब इस प्राणशक्ति और रयि-शक्तिके सम्बन्धसे परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार और उसका फल बतलानेके लिये दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥ ९ ॥

संवत्सरः वै=संवत्सर (बारह महीनोंवाला काल) ही, **प्रजापतिः**=प्रजापति है; **तस्य अयने**=उसके दो अयन हैं—, **दक्षिणम् च**=एक दक्षिण और; **उत्तरम् च**=दूसरा उत्तर, **तत् ये ह**=वहाँ मनुष्योंमें जो लोग निश्चयपूर्वक, **तत् इष्टापूर्ते वै**=(केवल) उन इष्ट और पूर्त कर्मोंको ही, **कृतम् इति**=करने योग्य कर्म मानकर (सकाम भावसे), **उपासते**=उनकी उपासना करते हैं (उन्हींके अनुष्ठानमें लगे रहते हैं); **ते चान्द्रमसम्**=वे चन्द्रमाके, **लोकम् एव**=लोकको ही, **अभिजयन्ते**=जीतते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं (और),

ते एव=वे ही, **पुनः आवर्तन्ते**=पुनः (यहाँ) लौटकर आते हैं, **तस्मात् एते**=इसलिये ये, **प्रजाकामाः ऋषयः**=संतानकी कामनावाले ऋषिगण, **दक्षिणम् प्रतिपद्यन्ते**=दक्षिण (मार्ग) को प्राप्त होते हैं, **ह एषः वै रयिः**=निस्सन्देह यही वह रयि है, **यः पितृयाणः**=जो 'पितृयान' नामक मार्ग है ॥ ९ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें संवत्सरको परमात्माका प्रतीक बनाकर उसके अङ्गरूप रयिस्थानीय भोग्य-पदार्थोंके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासना और उसका फल बताते हैं। भाव यह है कि बारह महीनोंका यह संवत्सररूप काल ही मानो सृष्टिके स्वामी परमेश्वरका स्वरूप है। इसके दो अयन हैं—दक्षिण और उत्तर। दक्षिणायनके जो छः महीने हैं, जिनमें सूर्य दक्षिणकी ओर घूमता है—वे मानो इसके दक्षिण अङ्ग हैं और उत्तरायणके छः महीने ही उत्तर अङ्ग हैं। उनमें उत्तर अङ्ग तो प्राण है, इस विश्वके आत्मारूप उस परमेश्वरका सर्वान्तर्यामी स्वरूप है और दक्षिण अङ्ग रयि अर्थात् उसका बाह्य भोग्य स्वरूप है। इस जगत्में जो संतानकी कामनावाले ऋषि स्वर्गादि सांसारिक भोगोंमें आसक्त हैं, वे यज्ञादिद्वारा देवताओंका पूजन करना, ब्राह्मण एवं श्रेष्ठ पुरुषोंका धनादिसे सत्कार करना, दुखी प्राणियोंकी सेवा करना आदि इष्टकर्म तथा कुँआ, बावली, तालाब, बगीचा, धर्मशाला, विद्यालय, औषधालय, पुस्तकालय आदि लोकोपकारी चिरस्थायी स्मारकोंकी स्थापना करना आदि पूर्तकर्मोंको उत्कृष्ट कर्तव्य समझते हैं और इनके फलस्वरूप इस लोक तथा परलोकके भोगोंके उद्देश्यसे इनकी उपासना अर्थात् विधिवत् अनुष्ठान करते हैं; यह उस संवत्सररूप परमेश्वरके दक्षिण अङ्गकी उपासना है। इसीको ईशावास्य-उपनिषद्में असम्भूतिकी उपासनाके नामसे देव, पितर, मनुष्य आदि शरीरोंकी सेवा बताया है। इसके प्रभावसे वे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं और वहाँ अपने कर्मोंका फल भोगकर पुनः इस लोकमें लौट आते हैं; यही पितृयाण मार्ग है ॥ ९ ॥

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

अथ=किंतु (जो); **तपसा**=तपस्याके साथ; **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्यपूर्वक (और), **श्रद्धया**=श्रद्धासे युक्त होकर, **विद्यया**=अध्यात्मविद्याके द्वारा, **आत्मानम्**=परमात्माकी, **अन्विष्य**=खोज करके (जीवन सार्थक करते हैं, वे), **उत्तरेण**=उत्तरायण-मार्गसे, **आदित्यम्**=सूर्यलोकको, **अभिजयन्ते**=जीत लेते हैं (प्राप्त करते हैं), **एतत् वै**=यह (सूर्य) ही; **प्राणानाम्**=प्राणोंका, **आयतनम्**=केन्द्र है, **एतत् अमृतम्**=यह अमृत (अविनाशी) और; **अभयम्**=निर्भय पद है, **एतत् परायणम्**=यह परमगति है, **एतस्मात्**=

इससे; न पुनः आवर्तन्ते=पुनः लौटकर नहीं आते, इति एषः=इस प्रकार यह; निरोधः=निरोध (पुनरावृत्तिका निवारक) है, तत् एषः=इस बातको स्पष्ट करनेवाला यह (अगला); श्लोकः=श्लोक है ॥ १० ॥

व्याख्या—उपर्युक्त सकाम उपासकोंसे भिन्न जो कल्याणकामी साधक हैं, वे इन सांसारिक भोगोंकी अनित्यता और दुःखरूपताको समझकर इनसे सर्वथा विरक्त हो जाते हैं । वे श्रद्धापूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए संयमके साथ त्यागमय जीवन बिताते हैं और अध्यात्मविद्याके द्वारा अर्थात् परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले किसी भी अनुकूल साधनद्वारा सबके आत्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरकी निष्काम उपासना करते हैं । यह मानो उस संवत्सररूप प्रजापतिके उत्तर अङ्गकी उपासना है । इसको ईशावास्य उपनिषद्में सम्भूतिकी उपासना कहा है। इसके उपासक उत्तरायण-मार्गसे सूर्यलोकमें जाकर सूर्यके आत्मारूप परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं। यह सूर्य ही समस्त जगत्के प्राणोंका केन्द्र है । यही अमृत—अविनाशी और निर्भय पद है । यही परम गति है। इसे प्राप्त हुए महापुरुष फिर लौटकर नहीं आते । यह निरोध अर्थात् पुनर्जन्मको रोकनेवाला आत्यन्तिक प्रलय है । इस मन्त्रमें सूर्यको परमेश्वरका स्वरूप मानकर ही उपर्युक्त महिमा कही गयी है। इसी बातको अगले मन्त्रमें स्पष्ट किया गया है ॥ १० ॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥ ११ ॥*

(कितने ही लोग तो इस सूर्यको) **पञ्चपादम्**=पाँच चरणोंवाला, **पितरम्**=सबका पिता, **द्वादशाकृतिम्**=बारह आकृतियोंवाला, **पुरीषिणम्**=जलका उत्पादक, **दिवः परे अर्धे**=(और) स्वर्गलोकसे भी ऊपरके स्थानमें (स्थित); **आहुः**=बतलाते हैं; **अथ इमे**=तथा ये, **अन्ये उ**=दूसरे कितने ही लोग; **इति आहुः**=ऐसा बतलाते हैं कि यह, **परे**=विशुद्ध; **सप्तचक्रे**=सात पहियोंवाले (और), **षडरे**=छः अरोंवाले (रथमें); **अर्पितम्**=बैठा हुआ(एव); **विचक्षणम्**=सबको भलीभाँति जाननेवाला है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरके प्रत्यक्ष—दृष्टिगोचर स्वरूप इस सूर्यके विषयमें कितने ही तत्त्ववेत्ता तो यों कहते हैं कि इसके पाँच पैर हैं। अर्थात् छः ऋतुओंमेंसे हेमन्त और शिशिर—इन दो ऋतुओंकी एकता करके पाँच ऋतुओंको वे इस सूर्यके पाँच चरण बतलाते हैं, तथा यह भी कहते

* यह मन्त्र अथर्ववेद काण्ड ९ सूक्त १४ का बारहवाँ है। तथा ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ का बारहवाँ है।

है कि बारह महीने ही इसकी बारह आकृतियाँ अर्थात् बारह शरीर हैं। इसका स्थान स्वर्गलोकसे भी ऊँचा है। स्वर्गलोक भी इसीके आलोकसे प्रकाशित है। इस लोकमें जो जल बरसता है, उस जलकी उत्पत्ति इसीसे होती है। अतः सबको जलरूप जीवन प्रदान करनेवाला होनेसे यह सबका पिता है। दूसरे ज्ञानी पुरुषोंका कहना है कि लाल, पीले आदि सात रंगोंकी किरणोंसे युक्त तथा वसन्त आदि छः ऋतुओंके हेतुभूत इस विशुद्ध प्रकाशमय सूर्यमण्डलमें—जिसे सात चक्र एवं छः अरोंवाला रथ कहा गया है—बैठा हुआ इसका आत्मारूप, सबको भलीभाँति जाननेवाला सर्वज्ञ परमेश्वर ही उपास्य है। यह स्थूल नेत्रोंसे दिखायी देनेवाला सूर्यमण्डल उसका शरीर है। इसलिये यह उसीकी महिमा है ॥ ११ ॥

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राण-स्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥ १२ ॥

मासः वै=महीना ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है, **तस्य**=उसका, **कृष्णपक्षः एव**=कृष्णपक्ष ही, **रयिः**=रयि है (और), **शुक्लः प्राणः**=शुक्लपक्ष प्राण है, **तस्मात्**=इसलिये, **एते ऋषयः**=ये (कल्याणकामी) ऋषिगण, **शुक्ले**=शुक्ल-पक्षमें (निष्कामभावसे), **इष्टम्**=यज्ञादि कर्तव्य-कर्म, **कुर्वन्ति**=किया करते हैं; (तथा) **इतरे**=दूसरे (जो सांसारिक भोगोंको चाहते हैं), **इतरस्मिन्**=दूसरे पक्षमें—कृष्णपक्षमें (सकामभावसे यज्ञादि शुभकर्मोंका अनुष्ठान किया करते हैं) ॥ १२ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महीनेको प्रजापति परमेश्वरका रूप देकर कर्मों-द्वारा उसकी उपासना करनेका रहस्य बताया गया है। भाव यह है कि प्रत्येक महीना ही मानो प्रजापति है, उसमें कृष्णपक्षके पन्द्रह दिन तो उस परमात्माका दाहिना अङ्ग हैं; इसे रयि (स्थूल भूत समुदायका कारण) समझना चाहिये। यह उस परमेश्वरका शक्तिस्वरूप भोगमय रूप है। और शुक्लपक्षके पन्द्रह दिन ही मानो उत्तर अङ्ग हैं। यही प्राण अर्थात् सबको जीवन प्रदान करनेवाले परमात्माका सर्वान्तर्यामी रूप है। इसलिये जो कल्याणकामी ऋषि हैं, अर्थात् जो रयिस्थानीय भोग-पदार्थोंसे विरक्त होकर प्राणस्थानीय सर्वात्मरूप परब्रह्मको चाहनेवाले हैं, वे अपने समस्त शुभ कर्मोंको शुक्ल-पक्षमें करते हैं अर्थात् शुक्ल-पक्षस्थानीय प्राणाधार परब्रह्म परमेश्वरके अर्पण करके करते हैं—स्वयं उसका कोई फल नहीं चाहते, यही गीतोक्त कर्मयोग है। इनसे भिन्न जो भोगासक्त मनुष्य हैं, वे कृष्णपक्षमें अर्थात् कृष्णपक्षस्थानीय स्थूल पदार्थोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे सब प्रकारके कर्म किया करते हैं। इनका वर्णन गीतामें 'स्वर्गपराः' के नामसे हुआ है (गीता २ । ४२—४४) ॥ १२ ॥

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

अहोरात्रः वै=दिन और रातका जोडा ही; **प्रजापतिः**=प्रजापति है, **तस्य**=उसका, **अहः एव**=दिन ही; **प्राणः**=प्राण है (और); **रात्रिः एव**=रात्रि ही, **रयिः**=रयि है, **ये दिवा**=(अतः) जो दिनमे; **रत्या संयुज्यन्ते**=स्त्री-सहवास करते हैं, **एते**=ये लोग, **वै प्राणम्**=सचमुच अपने प्राणोंको ही, **प्रस्कन्दन्ति**=क्षीण करते हैं तथा; **यत् रात्रौ**=जो रात्रिमें, **रत्या संयुज्यन्ते**=स्त्री-सहवास करता है; **तत् ब्रह्मचर्यम् एव**=वह ब्रह्मचर्य ही है ॥ १३ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें दिन और रात्रिरूप चौबीस घंटेके कालरूपमे परमेश्वरके स्वरूपकी कल्पना करके जीवनोपयोगी कर्मोंका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि ये दिन और रात मिलकर जगत्पति परमेश्वरका पूर्णरूप हैं। उसका यह दिन तो मानो प्राण अर्थात् सबको जीवन देनेवाला प्रकाशमय विशुद्ध स्वरूप है और रात्रि ही भोगरूप रयि है। अतः जो मनुष्य दिनमें स्त्री-प्रसग करते हैं अर्थात् परमात्माके विशुद्ध स्वरूपको प्राप्त करनेकी इच्छासे प्रकाशमय मार्गमें चलना प्रारम्भ करके भी स्त्री-प्रसङ्ग आदि विलासमें आसक्त हो जाते हैं, वे अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर इस अमूल्य जीवनको व्यर्थ खो देते हैं। उनसे भिन्न जो सासारिक उन्नति चाहनेवाले हैं, वे यदि शास्त्रके नियमानुसार ऋतुकालमें रात्रिके समय नियमानुकूल स्त्री-प्रसङ्ग करते हैं तो वे शास्त्रकी आज्ञाका पालन करनेके कारण ब्रह्मचारीके तुल्य ही हैं। लौकिक दृष्टिसे यों कह सकते हैं कि इस मन्त्रमें गृहस्थोंको दिनमें स्त्री-प्रसङ्ग कदापि न करनेका और विहित रात्रियोंमें शास्त्रानुसार नियमित और सयमित रूपमें केवल संतानकी इच्छासे स्त्री-सहवास करनेका उपदेश दिया गया है। तभी वह ब्रह्मचर्यकी गणनामें आ सकता है* ॥ १३ ॥

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥ १४ ॥

---

* रजोदर्शनके दिनसे लेकर सोलह दिनोंतक स्वाभाविक ऋतुकाल कहलाता है। इनमें पहली चार रात्रियाँ तथा ग्यारहवी और तेरहवी रात्रियाँ सर्वथा वर्जित हैं। शेष दस रात्रियोंमें पर्व-(एकादशी, अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण, व्यतिपात, सङ्क्रान्ति, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, रामनवमी आदि) दिनोंको छोडकर पत्नीकी रतिकामनासे जो पुरुष महीनेमें केवल दो रात्रि स्त्री-सहवास करता है, वह गृहस्थाश्रममें रहता हुआ ही ब्रह्मचारी माना जाता है (मनुस्मृति ३ । ४५—४७, ५०)।

अन्नम् वै=अन्न ही, प्रजापतिः=प्रजापति है; ह ततः वै=क्योंकि उसीसे; तत् रेतः=वह वीर्य (उत्पन्न होता है); तस्मात्=उस वीर्यसे; इमाः प्रजाः= ये सम्पूर्ण चराचर प्राणी; प्रजायन्ते इति=उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें अन्नको प्रजापतिका स्वरूप बताकर अन्नकी महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि यह सब प्राणियोंका आहाररूप अन्न ही प्रजापति है, क्योंकि इसीसे वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्यसे समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं । इस कारण इस अन्नको भी प्रकारान्तरसे प्रजापति माना गया है ॥ १४ ॥

सम्बन्ध—अब पहले बतलाये हुए दो प्रकारके साधकोंको मिलनेवाले पृथक्-पृथक् फलका वर्णन करते हैं—

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

तत् ये ह वै=जो कोई भी निश्चयपूर्वक, तत् प्रजापतिव्रतम्= उस प्रजापति-व्रतका, चरन्ति=अनुष्ठान करते हैं; ते मिथुनम्=वे जोड़ेको, उत्पादयन्ते=उत्पन्न करते हैं; येषाम् तपः=जिनमें तप (और), ब्रह्मचर्यम्= ब्रह्मचर्य (है), येषु सत्यम्=जिनमें सत्य; प्रतिष्ठितम्=प्रतिष्ठित है, तेषाम् एव= उन्हींको; एषः ब्रह्मलोकः=यह ब्रह्मलोक मिलता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जो लोग संतानोत्पत्तिरूप प्रजापतिके व्रतका अनुष्ठान करते हैं अर्थात् स्वर्गादि लोकोंके भोगकी प्राप्तिके लिये शास्त्रविहित शुभ कर्मोंका आचरण करते हुए नियमानुसार स्त्री-प्रसङ्ग आदि भोगोंका उपभोग करते हैं, वे तो पुत्र और कन्यारूप जोड़ेको उत्पन्न करके प्रजाकी वृद्धि करते हैं । और जो उनसे भिन्न हैं, जिनमें ब्रह्मचर्य और तप भरा हुआ है, जिनका जीवन सत्यमय है तथा जो सत्यस्वरूप परमेश्वरको अपने हृदयमें नित्य स्थित देखते हैं, उन्हींको वह ब्रह्मलोक (परम पद, परमगति) मिलता है, दूसरोंको नहीं ॥ १५ ॥

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥ १६ ॥

येषु न=जिनमें न तो; जिह्मम्=कुटिलता (और); अनृतम्=झूठ है; च न=तथा न, माया=माया (कपट) ही है, तेषाम्=उन्हींको; असौ=वह; विरजः=विकाररहित, विशुद्ध; ब्रह्मलोकः इति=ब्रह्मलोक (मिलता है) ॥१६॥

व्याख्या—जिनमें कुटिलताका लेश भी नहीं है, जो स्वप्नमें भी मिथ्याभाषण नहीं करते और असत्यमय आचरणसे सदा दूर रहते हैं, जिनमें राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा अभाव है, जो सब प्रकारके छल-कपटसे शून्य हैं, उन्हींको वह विकाररहित विशुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है। जो इनसे विपरीत लक्षणोंवाले हैं, उनको नहीं मिलता ॥ १६ ॥

॥ प्रथम प्रश्न समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय प्रश्न

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ । भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥१॥

अथ ह एनम्=इसके पश्चात् इन प्रसिद्ध (महात्मा पिप्पलाद) ऋषिसे, **वैदर्भिः भार्गवः**=विदर्भदेशीय भार्गवने; **पप्रच्छ**=पूछा; **भगवन्**=भगवन्!, **कति देवाः एव**=कुल कितने देवता, **प्रजां विधारयन्ते**=प्रजाको धारण करते हैं, **कतरे एतत्**=उनमेंसे कौन-कौन इसे; **प्रकाशयन्ते**=प्रकाशित करते हैं, **पुनः**=फिर (यह भी बतलाइये कि); **एषाम्**=इन सबमें; **कः**=कौन, **वरिष्ठः**=सर्वश्रेष्ठ है, **इति**=यही (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें भार्गव ऋषिने महर्षि पिप्पलादसे तीन बातें पूछी हैं—(१) प्रजाको यानी प्राणियोंके शरीरको धारण करनेवाले कुल कितने देवता हैं ? (२) उनमेंसे कौन-कौन इसको प्रकाशित करनेवाले हैं ? (३) इन सबमें अत्यन्त श्रेष्ठ कौन है ? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाण-मवष्टभ्य विधारयामः ॥ २ ॥

सः ह=उन प्रसिद्ध महर्षि (पिप्पलाद) ने, **तस्मै उवाच**=उन भार्गवसे कहा, **ह आकाशः वै**=निश्चय ही वह प्रसिद्ध आकाश, **एषः देवः**=यह देवता है (तथा), **वायुः**=वायु; **अग्निः**=अग्नि, **आपः**=जल, **पृथिवी**=पृथिवी, **वाक्**=वाणी (कर्मेन्द्रियाँ), **चक्षुः च श्रोत्रम् मनः**=नेत्र और श्रोत्र (ज्ञानेन्द्रियाँ) तथा मन (अन्तःकरण) भी [देवता हैं], **ते प्रकाश्य**=वे सब अपनी-अपनी शक्ति प्रकट करके; **अभिवदन्ति**=अभिमानपूर्वक कहने लगे, **वयम्**

एतत् बाणम्=हमने इस शरीरको, अवष्टभ्य=आश्रय देकर, विधारयामः=धारण कर रक्खा है ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार भार्गवके पूछनेपर महर्षि पिप्पलाद उत्तर देते हैं। यहाँ दो प्रश्नोंका उत्तर एक ही साथ दे दिया गया है। वे कहते हैं कि सबका आधार तो वैसे आकाशरूप देवता ही है, परंतु उससे उत्पन्न होनेवाले वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये चारों महाभूत भी शरीरको धारण किये रहते हैं। यह स्थूल शरीर इन्हींसे बना है। इसलिये ये धारक देवता हैं। वाणी आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, नेत्र और कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं मन आदि चार अन्तःकरण—ये चौदह देवता इस शरीरके प्रकाशक हैं। ये देवता देहको धारण और प्रकाशित करते हैं, इसलिये ये धारक और प्रकाशक देवता कहलाते हैं। ये इस देहको प्रकाशित करके आपसमें झगड पडे और अभिमानपूर्वक परस्पर कहने लगे कि 'हमने इस शरीरको आश्रय देकर धारण कर रक्खा है' ॥२॥

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥ ३ ॥

तान्=उनसे; वरिष्ठः प्राणः=सर्वश्रेष्ठ प्राण; उवाच=बोला; मोहम्=(तुमलोग) मोहमें; मा आपद्यथ=न पडो; अहम् एव=मैं ही; एतत् आत्मानम्=अपने इस स्वरूपको, पञ्चधा प्रविभज्य=पाँच भागोंमें विभक्त करके; एतत् बाणम्=इस शरीरको; अवष्टभ्य=आश्रय देकर; विधारयामि=धारण करता हूँ; इति ते=यह (सुनकर भी) वे; अश्रद्दधानाः=अविश्वासी ही, बभूवुः=बने रहे ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब सम्पूर्ण महाभूत, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणरूप देवता परस्पर विवाद करने लगे, तब सर्वश्रेष्ठ प्राणने उनसे कहा—'तुमलोग अज्ञानवश आपसमें विवाद मत करो; तुममेंसे किसीमें भी इस शरीरको धारण करने या सुरक्षित रखनेकी शक्ति नहीं है। इसे तो मैंने ही अपनेको (प्राण, अपान, समान, व्यान और उदानरूप) पाँच भागोंमें विभक्त करके आश्रय देते हुए धारण कर रक्खा है और मुझसे ही यह सुरक्षित है।' प्राणकी यह बात सुनकर भी उन देवताओंने उसपर विश्वास नहीं किया, वे अविश्वासी ही बने रहे ॥ ३ ॥

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तद्यथा ।

मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥ ४ ॥

सः=(तब) वह प्राण; **अभिमानात्**=अभिमानपूर्वक, **ऊर्ध्वम् उत्क्रमते इव**=मानो (उस शरीरसे) ऊपरकी ओर बाहर निकलने लगा, **तस्मिन् उत्क्रामति**=उसके बाहर निकलनेपर, **अथ इतरे सर्वे एव**=उसीके साथ-ही-साथ अन्य सब भी, **उत्क्रामन्ते**=शरीरसे बाहर निकलने लगे; **च**=और; **तस्मिन् प्रतिष्ठमाने**=उसके ठहर जानेपर, **सर्वे एव प्रातिष्ठन्ते**=दूसरे सब देवता भी ठहर गये, **तत् यथा**=तब जैसे (मधुके छत्तेसे), **मधुकरराजानम्**=मधुमक्खियोंके राजाके, **उत्क्रामन्तम्**=निकलनेपर उसीके साथ-साथ, **सर्वाः एव**=सारी ही, **मक्षिकाः**=मधुमक्खियाँ; **उत्क्रामन्ते**=बाहर निकल जाती हैं, **च तस्मिन्**=और उसके, **प्रतिष्ठमाने**=बैठ जानेपर, **सर्वाः एव**=सब-की-सब, **प्रातिष्ठन्ते**=बैठ जाती हैं, **एवम्**=ऐसी ही दशा (इन सबकी हुई), **वाक् चक्षुः श्रोत्रम् च मनः**=अत वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन, **ते**=वे (सभी), **प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति**=प्राणकी श्रेष्ठताका अनुभव करके प्रसन्न होकर प्राणकी स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

व्याख्या—तब उनको अपना प्रभाव दिखलाकर सावधान करनेके लिये वह सर्वश्रेष्ठ प्राण अभिमानमें ठेस लगनेसे मानो रूठकर इस शरीरसे बाहर निकलनेके लिये ऊपरकी ओर उठने लगा । फिर तो सब-के-सब देवता विवश होकर उसीके साथ बाहर निकलने लगे, कोई भी स्थिर नहीं रह सका । जब वह अपने स्थानपर स्थित हो गया, तब अन्य सब भी स्थित हो गये । जैसे मधुमक्खियोंका राजा जब अपने स्थानसे उड़ता है, तब उसके साथ ही वहाँ बैठी हुई अन्य सब मधुमक्खियाँ भी उड़ जाती हैं, और जब वह बैठ जाता है तो अन्य सब भी बैठ जाती हैं, ऐसी ही दशा इन सब वागादि देवताओंकी भी हुई । यह देखकर वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि सब इन्द्रियोंको और मन आदि अन्तःकरणकी वृत्तियोंको भी यह विश्वास हो गया कि हम सबमें प्राण ही श्रेष्ठ है; अतः वे सब प्रसन्नतापूर्वक निम्न प्रकारसे प्राणकी स्तुति करने लगे ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—प्राणको ही परब्रह्म परमेश्वरका स्वरूप मानकर उपासना करनेके लिये उसका सर्वात्मरूपसे महत्त्व बतलाया जाता है—*

एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः ।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥ ५ ॥

* इस विषयका वर्णन अथर्ववेद काण्ड ११ सू० ६ में विस्तारपूर्वक आया है ।

एषः अग्निः तपति=यह प्राण अग्निरूपसे तपता है, एषः सूर्यः=यही सूर्य है, एषः पर्जन्यः=यही मेघ है, (एषः) मघवान्=यही इन्द्र है, एषः वायुः=यही वायु है; (तथा) एषः देवः=यह प्राणरूप देव ही, पृथिवी=पृथ्वी (एव); रयिः=रयि है, (तथा) यत्=जो कुछ, सत्=सत्; च=और, असत्=असत् है, च=तथा, [यत्]=जो, अमृतम्=अमृत कहा जाता है, (वह भी प्राण ही है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे वाणी आदि सब देवता स्तुति करते हुए बोले, 'यह प्राण ही अग्निरूप धारण करके तपता है और यही सूर्य है। यही मेघ, इन्द्र और वायु है। यही देव पृथ्वी और रयि (भूतसमुदाय) है तथा सत् और असत् एवं उससे भी श्रेष्ठ जो अमृतस्वरूप परमात्मा है, वह भी यह प्राण ही है ॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ ६ ॥

रथनाभौ=रथके पहियेकी नाभिमें लगे हुए, अराः इव=अरोंकी भाँति, ऋचः यजूꣳषि=ऋग्वेदकी सम्पूर्ण ऋचाएँ यजुर्वेदके मन्त्र (तथा), सामानि=सामवेदके मन्त्र; यज्ञः च=यज्ञ और; ब्रह्म क्षत्रम्=(यज्ञ करनेवाले) ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि अधिकारिवर्ग, सर्वम्=ये सब-के-सब, प्राणे=(इस) प्राणमें; प्रतिष्ठितम्=प्रतिष्ठित हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार रथके पहियेकी नाभिमें लगे हुए अरे नाभिके ही आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार ऋग्वेदकी सब ऋचाएँ, यजुर्वेदके समस्त मन्त्र, सब-का-सब सामवेद, उनके द्वारा सिद्ध होनेवाले यज्ञादि शुभ कर्म और यज्ञादि शुभ कर्म करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अधिकारिवर्ग—ये सब-के-सब प्राणके आधार-पर ही टिके हुए हैं, सबका आश्रय प्राण ही है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्राणका महत्त्व बतलाकर अब उसकी स्तुति की जाती है—

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥ ७ ॥

प्राण=हे प्राण !, त्वम् एव=तू ही; प्रजापतिः=प्रजापति है; [त्वम् एव]=तू ही; गर्भे चरसि=गर्भमें विचरता है; प्रतिजायसे=(और तू ही) माता-पिताके अनुरूप होकर जन्म लेता है, तु=निश्चय ही; इमाः=ये सब, प्रजाः=प्राणी, तुभ्यम्=तुझे, बलिम् हरन्ति=भेंट समर्पण करते हैं, यः=जो तू, प्राणैः प्रतितिष्ठसि=(अपानादि अन्य) प्राणोंके साथ-साथ स्थित हो रहा है ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू ही प्रजापति (प्राणियोंका ईश्वर) है, तू ही गर्भमें विचरनेवाला और माता-पिताके अनुरूप संतानके रूपमें जन्म लेनेवाला है। ये सब जीव तुझे ही भेंट समर्पण करते हैं। भाव यह कि तुम्हारी तृप्तिके लिये ही अन्न भक्षण आदि कर रहे हैं। तू ही अपानादि सब प्राणोंके सहित सबके शरीरमें स्थित हो रहा है ॥ ७ ॥

देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥ ८ ॥

(हे प्राण !) **देवानाम्**=(तू) देवताओंके लिये, **वह्नितमः**=उत्तम अग्नि; **असि**=है; **पितॄणाम्**=पितरोंके लिये; **प्रथमा स्वधा**=पहली स्वधा है, **अथर्वाङ्गिरसाम्**=अथर्वाङ्गिरस आदि; **ऋषीणाम्**=ऋषियोंके द्वारा; **चरितम्**=आचरित, **सत्यम्**=सत्य; **असि**=है ॥ ८ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू ही देवताओंके लिये हवि पहुँचानेवाला उत्तम अग्नि है। पितरोंके लिये पहली स्वधा है। अथर्वाङ्गिरस् आदि ऋषियोंके द्वारा आचरित (अनुभूत) सत्य भी तू ही है ॥ ८ ॥

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥ ९ ॥

प्राण=हे प्राण !, **त्वम् तेजसा**=तू तेजसे (सम्पन्न); **इन्द्रः**=इन्द्र, **रुद्रः**=रुद्र (और); **परिरक्षिता**=रक्षा करनेवाला; **असि**=है; **त्वम्**=तू ही; **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षमें; **चरसि**=विचरता है (और); **त्वम्**=तू ही; **ज्योतिषां पतिः**=समस्त ज्योतिर्गणोंका स्वामी; **सूर्यः**=सूर्य है ॥ ९ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू सब प्रकारके तेज (शक्तियों) से सम्पन्न तीनों लोकोंका स्वामी इन्द्र है। तू ही प्रलयकालमें सबका संहार करनेवाला रुद्र है और तू ही सबकी भलीभाँति यथायोग्य रक्षा करनेवाला है। तू ही अन्तरिक्षमें (पृथ्वी और स्वर्गके बीचमें) विचरनेवाला वायु है तथा तू ही अग्नि, चन्द्र, तारे आदि समस्त ज्योतिर्गणोंका स्वामी सूर्य है ॥ ९ ॥

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥

प्राण=हे प्राण !; **यदा त्वम्**=जब तू, **अभिवर्षसि**=भलीभाँति वर्षा करता है; **अथ**=उस समय, **ते इमाः प्रजाः**=तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा; **कामाय**=यथेष्ट, **अन्नम्**=अन्न; **भविष्यति**=उत्पन्न होगा; **इति**=यह समझकर; **आनन्दरूपाः**=आनन्दमय, **तिष्ठन्ति**=हो जाती है ॥ १० ॥

व्याख्या—हे प्राण ! जब तू मेघरूप होकर पृथ्वीलोकमें सब ओर वर्षा

करता है, तब तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा 'हमलोगोंके जीवन-निर्वाहके लिये यथेष्ट अन्न उत्पन्न होगा'—ऐसी आशा करती हुई आनन्दमें मग्न हो जाती है ॥ १० ॥

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्व नः ॥ ११ ॥

प्राण=हे प्राण ! ; त्वम्=तू; व्रात्यः=संस्काररहित (होते हुए भी), एकर्षिः=एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है (तथा); वयम्=हमलोग (तेरे लिये); आद्यस्य=भोजनको; दातारः=देनेवाले हैं (और तू); अत्ता=भोक्ता (खानेवाला) है; विश्वस्य=समस्त जगत्का; सत्पतिः=(तू ही) श्रेष्ठ स्वामी है; मातरिश्व=हे आकाशमें विचरनेवाले प्राण !; त्वम्=तू; नः=हमारा; पिता=पिता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! तू संस्काररहित होकर भी एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है। तात्पर्य यह कि तू स्वभावसे ही शुद्ध है, अतः तुझे संस्कारद्वारा शुद्धिकी आवश्यकता नहीं है, प्रत्युत तू ही सबको पवित्र करनेवाला एकमात्र सर्वश्रेष्ठ ऋषि है। हमलोग (सब इन्द्रियाँ और मन आदि) तेरे लिये नाना प्रकारकी भोजन-सामग्री अर्पण करनेवाले हैं और तू उसे खानेवाला है। तू ही समस्त विश्वका उत्तम स्वामी है। हे आकाशचारी समष्टिवायुस्वरूप प्राण ! तू हमारा पिता है; क्योंकि तुझीसे हम सबकी उत्पत्ति हुई है ॥ ११ ॥

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥ १२ ॥

(हे प्राण !) या ते तनूः=जो तेरा स्वरूप; वाचि=वाणीमें; प्रतिष्ठिता=स्थित है; च=तथा; या श्रोत्रे=जो श्रोत्रमें; या चक्षुषि=जो चक्षुमें; च=और या मनसि=जो मनमें; संतता=व्याप्त है; ताम्=उसको; शिवाम्=कल्याणमय, कुरु=बना ले; मा उत्क्रमीः=(तू) उत्क्रमण न कर ॥ १२ ॥

व्याख्या—हे प्राण ! जो तेरा स्वरूप वाणी, श्रोत्र, चक्षु आदि समस्त इन्द्रियोंमें और मन आदि अन्तःकरणकी वृत्तियोंमें व्याप्त है, उसे तू कल्याणमय बना ले। अर्थात् तुझमें जो हमें सावधान करनेके लिये आवेश आया है, उसे शान्त कर ले और तू शरीरसे उठकर बाहर न जा। यह हम लोगोंकी प्रार्थना है ॥ १२ ॥

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥

इदम्=यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला जगत् (और); यत् त्रिदिवे=जो कुछ

स्वर्गलोकमें, **प्रतिष्ठितम्**=स्थित है; **सर्वम्**=यह सब-का-सब, **प्राणस्य**=प्राणके, **वशे**=अधीन है (हे प्राण !); **माता पुत्रान् इव**=जैसे माता अपने पुत्रोंकी रक्षा करती है, उसी प्रकार (तू हमारी), **रक्षस्व**=रक्षा कर; **च**=तथा, **नः श्रीः च**= हमें कान्ति और, **प्रज्ञाम्**=बुद्धि, **विधेहि**=प्रदान कर, **इति**=इस प्रकार यह दूसरा प्रश्न समाप्त हुआ ॥ १३ ॥

व्याख्या—प्रत्यक्ष दीखनेवाले इस लोकमें जितने भी पदार्थ हैं और जो कुछ स्वर्गमें स्थित हैं, वे सब-के-सब इस प्राणके ही अधीन हैं । यह सोचकर वे इन्द्रियादि देवगण अन्तमें प्राणसे प्रार्थना करते हैं—'हे प्राण ! जिस प्रकार माता अपने पुत्रोंकी रक्षा करती है, उसी प्रकार तू हमारी रक्षा कर तथा तू हमलोगोंको श्री—कान्ति अर्थात् कार्य करनेकी शक्ति और प्रज्ञा (ज्ञान) प्रदान कर ।'

इस प्रकार इस प्रकरणमें भार्गव ऋषिद्वारा पूछे हुए तीन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महर्षि पिप्पलादने यह बात समझायी कि समस्त प्राणियोंके शरीरोंको अवकाश देकर बाहर और भीतरसे धारण करनेवाला आकाश-तत्त्व है । साथ ही इस शरीरके अवयवोंकी पूर्ति करनेवाले वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—ये चार तत्त्व हैं । दस इन्द्रियाँ और अन्तःकरण—ये इसको प्रकाश देकर क्रियाशील बनानेवाले हैं । इन सबसे श्रेष्ठ प्राण है । अतएव प्राण ही वास्तवमें इस शरीरको धारण करनेवाला है, प्राणके बिना शरीरको धारण करनेकी शक्ति किसीमें नहीं है । अन्य सब इन्द्रिय आदिमें इसीकी शक्ति अनुस्यूत है, इसीकी शक्ति पाकर वे शरीरको धारण करते हैं । इसी प्रकार प्राणकी श्रेष्ठताका वर्णन छान्दोग्य-उपनिषद्के पाँचवें अध्यायके आरम्भमें और बृहदारण्यक-उपनिषद्के छठे अध्यायके आरम्भमें भी आया है । इस प्रकरणमें प्राण-की स्तुतिका प्रसङ्ग अधिक है ॥ १३ ॥

॥ द्वितीय प्रश्न समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय प्रश्न

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥ १ ॥

अथ ह एनम्=उसके बाद इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद) से, कौसल्यः आश्वलायनः=कोसलदेशीय आश्वलायनने, च=भी; पप्रच्छ=पूछा; भगवन्=भगवन् !, एषः प्राणः=यह प्राण, कुतः जायते=किससे उत्पन्न होता है, अस्मिन् शरीरे=इस शरीरमें; कथम् आयाति=कैसे आता है, वा आत्मानम्=तथा अपनेको; प्रविभज्य=विभाजित करके, कथम् प्रातिष्ठते=किस प्रकार स्थित होता है, केन उत्क्रमते=किस ढंगसे उत्क्रमण करता--शरीरसे बाहर निकलता है, कथम् बाह्यम्=किस प्रकार बाह्य जगत्को; अभिधत्ते=भलीभाँति धारण करता है (और); कथम् अध्यात्मम्=किस प्रकार मन और इन्द्रिय आदि शरीरके भीतर रहनेवाले जगत्को; इति=यही (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें आश्वलायन मुनिने महर्षि पिप्पलादसे कुल छः बातें पूछी हैं—(१) जिस प्राणकी महिमाका आपने वर्णन किया, वह प्राण किससे उत्पन्न होता है ? (२) वह इस मनुष्य-शरीरमें कैसे प्रवेश करता है ? (३) अपनेको विभाजित करके किस प्रकार शरीरमें स्थित रहता है ? (४) एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाते समय पहले शरीरसे किस प्रकार निकलता है ? (५) इस बाह्य (पाञ्चभौतिक) जगत्को किस प्रकार धारण करता है ? तथा (६) मन और इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक (आन्तरिक) जगत्को किस प्रकार धारण करता है ? यहाँ प्राणके विषयमें वे ही बातें पूछी गयी हैं, जिनका वर्णन पहले उत्तरमें नहीं आया है और जो पहले प्रश्नके उत्तरको सुनकर ही स्फुरित हुई हैं; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रश्नोत्तरके समय सुकेशादि छहों ऋषि वहाँ साथ-साथ बैठे सुन रहे थे ॥ १ ॥

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥ २ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे उन प्रसिद्ध महर्षिने कहा, अतिप्रश्नान् पृच्छसि=तू बड़े कठिन प्रश्न पूछ रहा है (किंतु), ब्रह्मिष्ठः असि इति=वेदोंको अच्छी तरह जाननेवाला है, तस्मात्=अतः; अहम्=मैं, ते=तेरे, ब्रवीमि=प्रश्नोंका उत्तर देता हूँ ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महर्षि पिप्पलादने आश्वलायन मुनिके प्रश्नोंको कठिन बतलाकर उनकी बुद्धिमत्ता और तर्कशीलताकी प्रशंसा की है और साथ ही यह भाव भी दिखलाया है कि 'तू जिस ढंगसे पूछ रहा है, उसे देखते हुए तो मुझे तेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देना चाहिये । परन्तु

मैं जानता हूँ कि तू तर्कबुद्धिसे नहीं पूछ रहा है, तू श्रद्धालु है, वेदोंमें निष्णात है, अतः मैं तेरे प्रश्नोंका उत्तर दे रहा हूँ' ॥ २ ॥

आत्मन एष प्राणो जायते यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्शरीरे ॥ ३ ॥

एषः प्राणः=यह प्राण, **आत्मनः**=परमात्मासे, **जायते**=उत्पन्न होता है; **यथा**=जिस प्रकार; **एषा छाया**=यह छाया, **पुरुषे**=पुरुषके होनेपर (ही होती है); [**तथा**]=उसी प्रकार, **एतत्**=यह (प्राण), **एतस्मिन्**=इस (परमात्मा) के ही; **आततम्**=आश्रित है (और); **अस्मिन् शरीरे**=इस शरीरमें; **मनोकृतेन**=मनके किये हुए (संकल्प) से; **आयाति**=आता है ॥ ३

व्याख्या—यहाँ महर्षि पिप्पलादने क्रमसे आश्वलायन ऋषिके दो प्रश्नोंका उत्तर दिया है । पहले प्रश्नका उत्तर तो यह है कि जिसका प्रकरण चल रहा है, वह सर्वश्रेष्ठ प्राण परमात्मासे उत्पन्न हुआ है । (मु० उ० २ । ३) वह परब्रह्म परमेश्वर ही इसका उपादानकारण है और वही इसकी रचना करनेवाला है; अतः इसकी स्थिति उस सर्वात्मा महेश्वरके अधीन—उसीके आश्रित है—ठीक उसी प्रकार जैसे किसी मनुष्यकी छाया उसके अधीन रहती है । दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि मनद्वारा किये हुए संकल्पसे वह शरीरमें प्रवेश करता है । भाव यह है कि मरते समय प्राणीके मनमें उसके कर्मानुसार जैसा सङ्कल्प होता है, उसे वैसा ही शरीर मिलता है, अतः प्राणोंका शरीरमें प्रवेश मनके संकल्पसे ही होता है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—अब आश्वलायनके तीसरे प्रश्नका उत्तर विस्तारपूर्वक आरम्भ किया जाता है—

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ॥४॥

यथा=जिस प्रकार; **सम्राट् एव**=चक्रवर्ती महाराज स्वयं ही; **एतान् ग्रामान् एतान् ग्रामान् अधितिष्ठस्व**=इन गाँवोंमें (तुम रहो,) इन गाँवोंमें तुम रहो; **इति**=इस प्रकार; **अधिकृतान्**=अधिकारियोंको; **विनियुङ्क्ते**=अलग-अलग नियुक्त करता है; **एवम् एव**=उसी प्रकार; **एषः प्राणः**=यह मुख्य प्राण; **इतरान्**=दूसरे; **प्राणान्**=प्राणोंको; **पृथक् पृथक् एव**=पृथक्-पृथक् ही; **संनिधत्ते**=स्थापित करता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—यहाँ महर्षि उदाहरणद्वारा तीसरे प्रश्नका समाधान करते

हुए कहते हैं—'जिस प्रकार भूमण्डलका चक्रवर्ती सम्राट् भिन्न-भिन्न ग्राम, मण्डल और जनपद आदिमें पृथक्-पृथक् अधिकारियोंकी नियुक्ति करता है और उनका कार्य बाँट देता है, उसी प्रकार यह सर्वश्रेष्ठ प्राण भी अपने अङ्गस्वरूप अपान, व्यान आदि दूसरे प्राणोंको शरीरके पृथक्-पृथक् स्थानोंमें पृथक्-पृथक् कार्यके लिये नियुक्त कर देता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब मुख्य प्राण, अपान और समान—इन तीनोंका वासस्थान और कार्य बतलाया जाता है—

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः । एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥ ५ ॥

प्राणः=(वह) प्राण; **पायूपस्थे**=गुदा और उपस्थमें; **अपानम्** (**नियुङ्क्ते**)=अपानको रखता है; **स्वयम्**=स्वयं; **मुखनासिकाभ्याम्**=मुख और नासिकाद्वारा (विचरता हुआ); **चक्षुःश्रोत्रे**=नेत्र और श्रोत्रमें; **प्रातिष्ठते**=स्थित रहता है; **तु मध्ये**=और शरीरके मध्यभागमें; **समानः**=समान (रहता) है, **एषः हि**=यह (समान वायु) ही; **एतत् हुतम् अन्नम्**=इस प्राणाग्निमें हवन किये हुए अन्नको; **समम् नयति**=समस्त शरीरमें यथायोग्य समभावसे पहुँचाता है, **तस्मात्**=उससे; **एताः सप्त**=ये सात; **अर्चिषः**=ज्वालाएँ (विषयोंको प्रकाशित करनेवाले ऊपरके द्वार), **भवन्ति**=उत्पन्न होती हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—यह स्वयं तो मुख और नासिकाद्वारा विचरता हुआ नेत्र और श्रोत्रमें स्थित रहता है तथा गुदा और उपस्थमें अपानको स्थापित करता है। उसका काम मल-मूत्रको शरीरके बाहर निकाल देना है, रज, वीर्य और गर्भको बाहर करना भी इसीका काम है। शरीरके मध्यभाग—नाभिमें समानको रखता है। यह समान वायुको ही प्राणरूप अग्निमें हवन किये हुए—उदरमें डाले हुए अन्नको अर्थात् उसके सारको सम्पूर्ण शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें यथायोग्य समभावसे पहुँचाता है। उस अन्नके सारभूत रससे ही इस शरीरमें ये सात ज्वालाएँ अर्थात् समस्त विषयोंको प्रकाशित करनेवाले दो नेत्र, दो कान, दो नासिकाएँ और एक मुख (रसना)—ये सात द्वार उत्पन्न होते हैं; उस रससे पुष्ट होकर ही ये अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब व्यानकी गतिका वर्णन किया जाता है—

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं

शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥ ६ ॥

एषः हि=यह प्रसिद्ध, **आत्मा**=जीवात्मा, **हृदि**=हृदयदेशमे रहता है, **अत्र**=इस (हृदय) मे, **एतत्**=यह; **नाडीनाम् एकशतम्**=मूलरूपसे एक सौ नाडियोंका समुदाय है; **तासाम्**=उनमेसे, **एकैकस्याम्**=एक-एक नाड़ीमें; **शतम् शतम्**=एक-एक सौ (शाखाएँ) हैं (प्रत्येक शाखा-नाडीकी), **द्वासप्ततिः द्वासप्ततिः**=बहत्तर-बहत्तर, **प्रतिशाखानाडीसहस्राणि**=हजार प्रतिशाखानाडियाँ; **भवन्ति**=होती हैं, **आसु**=इनमे; **व्यानः**=व्यानवायु, **चरति**=विचरण करता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस शरीरमे जो हृदयप्रदेश है, जो जीवात्माका निवासस्थान है, उसमें एक सौ मूलभूत नाड़ियाँ हैं; उनमेंसे प्रत्येक नाड़ीकी एक-एक सौ शाखा नाडियाँ हैं और प्रत्येक शाखा नाडीकी बहत्तर-बहत्तर हजार प्रतिशाखा-नाड़ियाँ हैं। इस प्रकार इस शरीरमे कुल बहत्तर करोड नाडियाँ हैं, इन सबमें व्यानवायु विचरण करता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब उदानका स्थान और कार्य बतलाते हैं, साथ ही आश्वलायनके चौथे प्रश्नका उत्तर भी देते है—

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥ ७ ॥

अथ=तथा; **एकया**=जो एक नाडी और है, उसके द्वारा; **उदानः ऊर्ध्वः**=उदान वायु ऊपरकी ओर, [**चरति**]=विचरता है; (**सः**) **पुण्येन**=वह पुण्यकर्मोंके द्वारा, [**मनुष्यम्**]=मनुष्यको; **पुण्यम् लोकम्**=पुण्यलोकोंमें, **नयति**=ले जाता है; **पापेन**=पापकर्मोंके कारण (उसे); **पापम्** (**नयति**)=पापयोनियोंमें ले जाता है (तथा); **उभाभ्याम् एव**=पाप और पुण्य दोनों प्रकारके कर्मोंद्वारा (जीवको); **मनुष्यलोकम्**=मनुष्य-शरीरमें; [**नयति**]=ले जाता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इन ऊपर बतलायी हुई बहत्तर करोड़ नाड़ियोसे भिन्न एक नाड़ी और है जिसको 'सुषुम्णा' कहते हैं जो हृदयसे निकलकर ऊपर मस्तकमें गयी है। उसके द्वारा उदान वायु शरीरमें ऊपरकी ओर विचरण करता है। (इस प्रकार आश्वलायनके तीसरे प्रश्नका समाधान करके अब महर्षि उसके चौथे प्रश्नका उत्तर सक्षेपमें देते हैं—) जो मनुष्य पुण्यशील होता है, जिसके शुभकर्मोंके भोग उदय हो जाते हैं, उसे यह उदान वायु ही अन्य सब प्राण और इन्द्रियोंके

रहित वर्तमान शरीरसे निकालकर पुण्यलोकोंमें अर्थात् स्वर्गादि उच्च लोकोंमें ले जाता है। पापकर्मोंसे युक्त मनुष्यको शूकर-कूकर आदि पाप-योनियोंमें और रौरवादि नरकोंमें ले जाता है तथा जो पाप और पुण्य—दोनो प्रकारके कर्मोंका मिश्रित फल भोगनेके लिये अभिमुख हुए रहते हैं, उनको मनुष्य-शरीरमें ले जाता है* ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब दो मन्त्रोंमें आश्वलायनके पाँचवें और छठे प्रश्नका उत्तर देते हुए जीवात्माके प्राण और इन्द्रियोंसहित एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेकी बात भी स्पष्ट करते हैं—

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥ ८ ॥

ह=यह निश्चय है कि; आदित्यः वै=सूर्य ही; बाह्यः प्राणः=बाह्य प्राण है; एषः हि=यही; एनम् चाक्षुषम्=इस नेत्रसम्बन्धी; प्राणम्=प्राणपर; अनुगृह्णानः=अनुग्रह करता हुआ; उदयति=उदित होता है; पृथिव्याम्=पृथ्वीमें; या देवता=जो (अपान वायुकी शक्तिरूप) देवता है; सा एषा=वही यह; पुरुषस्य=मनुष्यके; अपानम्=अपान वायुको; अवष्टभ्य=स्थिर किये; [वर्तते]=रहता है; अन्तरा=पृथ्वी और स्वर्गके बीच; यत् आकाशः=जो आकाश (अन्तरिक्षलोक) है; सः समानः=वह समान है; वायुः व्यानः=वायु ही व्यान है ॥ ८ ॥

व्याख्या—यह निश्चयपूर्वक समझना चाहिये कि सूर्य ही सबका बाह्य प्राण है। यह मुख्य प्राण सूर्यरूपसे उदय होकर इस शरीरके बाह्य अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको पुष्ट करता है और नेत्र-इन्द्रियरूप आध्यात्मिक शरीरपर अनुग्रह करता है—उसे देखनेकी शक्ति अर्थात् प्रकाश देता है। पृथ्वीमें जो देवता अर्थात् अपानवायुकी शक्ति है, वह मनुष्यके भीतर रहनेवाले अपानवायुको आश्रय देती है—टिकाये रखती है। यह इस अपानवायुकी शक्ति गुदा और उपस्थ इन्द्रियोंकी सहायक है तथा इनके बाहरी स्थूल आकारको धारण करती है। पृथ्वी और स्वर्गलोकके बीचका जो आकाश है; वही समान वायुका बाह्य स्वरूप है। वह इस शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको अवकाश देकर इसकी रक्षा करता है और शरीरके भीतर रहनेवाले समानवायुको

* एक शरीरसे निकलकर जब मुख्य प्राण उदानको साथ लेकर उसके द्वारा दूसरे शरीरमें जाता है, तब अपने अङ्गभूत समान आदि प्राणोंको तथा इन्द्रिय और मनको तो साथ ले ही जाता है, इन सबका स्वामी जीवात्मा भी उसीके साथ जाता है (गीता १५ । ८) यह बात यहाँ कहनी थी, इसीलिये पूर्वमन्त्रमें जीवात्माका स्थान हृदय बतलाया गया है एवं इसका स्पष्टीकरण १० वें मन्त्रमें किया गया है।

विचरनेके लिये शरीरमें अवकाश देता है, इसीकी सहायतासे श्रोत्र-इन्द्रिय शब्द सुन सकती है। आकाशमें विचरनेवाला प्रत्यक्ष वायु ही व्यानका बाह्य स्वरूप है, यह इस शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गको चेष्टाशील करता है और शान्ति प्रदान करता है, भीतरी व्यान वायुको नाडियोंमें संचारित करने तथा त्वचा-इन्द्रियको स्पर्शका ज्ञान करानेमें भी यह सहायक है ॥ ८ ॥

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥ ९ ॥

ह तेजः **वै**=प्रसिद्ध तेज (गर्मी) ही, **उदानः**=उदान है, **तस्मात्**=इसीलिये, **उपशान्ततेजाः**=जिसके शरीरका तेज शान्त हो जाता है, वह (जीवात्मा), **मनसि**=मनमें, **सम्पद्यमानैः**=विलीन हुई, **इन्द्रियैः**=इन्द्रियोंके साथ, **पुनर्भवम्**=पुनर्जन्मको (प्राप्त होता है) ॥ ९ ॥

व्याख्या—सूर्य और अग्निका जो बाहरी तेज अर्थात् उष्णत्व है, वही उदानका बाह्य स्वरूप है। वह शरीरके बाहरी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको ठंढा नहीं होने देता और शरीरके भीतरकी ऊष्माको भी स्थिर रखता है। जिसके शरीरसे उदान वायु निकल जाता है, उसका शरीर गरम नहीं रहता, अतः शरीरकी गर्मी शान्त हो जाते ही उसमें रहनेवाला जीवात्मा मनमें विलीन हुई इन्द्रियोंको साथ लेकर उदानवायुके साथ-साथ दूसरे शरीरमें चला जाता है (गीता १५ । ८) ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—अब आश्वलायनके चौथे प्रश्नमें आयी हुई एक शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरमें या लोकोंमें प्रवेश करनेकी बातका पुनः स्पष्टीकरण किया जाता है—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥ १० ॥

एषः=यह (जीवात्मा); **यच्चित्तः**=जिस संकल्पवाला होता है; **तेन**=उस संकल्पके साथ; **प्राणम्**=मुख्य प्राणमें; **आयाति**=स्थित हो जाता है; **प्राणः**=मुख्य प्राण; **तेजसा युक्तः**=तेज (उदान) से युक्त हो, **आत्मना सह**=अपने सहित (मन, इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माको); **यथासंकल्पितम्**=उसके संकल्पानुसार, **लोकम्**=भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनिमें, **नयति**=ले जाता है ॥ १० ॥

व्याख्या—मरते समय इस आत्माका जैसा संकल्प होता है, इसका मन अन्तिम क्षणमें जिस भावका चिन्तन करता है (गीता ८ । ६), उस संकल्पके सहित मन, इन्द्रियोंको साथ लिये हुए यह मुख्य प्राणमें स्थित हो जाता है। वह मुख्य प्राण उदानवायुसे मिलकर अपने सहित मन और इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माको उस अन्तिम संकल्पके अनुसार यथायोग्य भिन्न-भिन्न लोक अथवा योनिमें ले जाता है।

अतः मनुष्यको उचित है कि अपने मनमें निरन्तर एक भगवान्का ही चिन्तन रक्खे, दूसरा सङ्कल्प न आने दे, क्योंकि जीवन अल्प और अनित्य है, न जाने कब अचानक इस शरीरका अन्त हो जाय । यदि उस समय भगवान्का चिन्तन न होकर कोई दूसरा संकल्प आ गया तो सदाकी भाँति पुनः चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ेगा ॥ १० ॥

सम्बन्ध — अब प्राणविषयक ज्ञानका सांसारिक और पारलौकिक फल बतलाते हैं—

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ११ ॥

यः विद्वान्=जो कोई विद्वान्; एवम् प्राणम्=इस प्रकार प्राण (के रहस्य) को; वेद=जानता है, अस्य=उसकी; प्रजा=संतानपरम्परा; न ह हीयते=कदापि नष्ट नहीं होती, अमृतः=(वह) अमर, भवति=हो जाता है; तत् एषः=इस विषयका यह (अगला), श्लोकः=श्लोक (है) ॥ ११ ॥

व्याख्या—जो कोई विद्वान् इस प्रकार इस प्राणके रहस्यको समझ लेता है, प्राणके महत्त्वको समझकर हर प्रकारसे उसे सुरक्षित रखता है, उसकी अवहेलना नहीं करता, उसकी संतानपरम्परा कभी नष्ट नहीं होती; क्योंकि उसका वीर्य अमोघ और अद्भुत शक्तिसम्पन्न हो जाता है । और वह यदि उसके आध्यात्मिक रहस्यको समझकर अपने जीवनको सार्थक बना लेता है, एक क्षण भी भगवान्के चिन्तनसे शून्य नहीं रहने देता, तो सदाके लिये अमर हो जाता है अर्थात् जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्त हो जाता है । इस विषयपर निम्नलिखित ऋचा है—॥ ११ ॥

उत्पत्तिमायतिं स्थानं
विभुत्वं चैव पञ्चधा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृत-
मश्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥ १२ ॥

प्राणस्य=प्राणकी; उत्पत्तिम्=उत्पत्ति; आयतिम्=आगम; स्थानम्=स्थान; विभुत्वम् एव=और व्यापकताको भी; च=तथा; (बाह्यम्) एव अध्यात्मम् पञ्चधा च=बाह्य एवं आध्यात्मिक पाँच भेदोंको भी; विज्ञाय=भलीभाँति जानकर; अमृतम् अश्नुते=(मनुष्य) अमृतका अनुभव करता है; विज्ञाय अमृतम् अश्नुते इति=जानकर अमृतका अनुभव करता है । यह पुनरुक्ति प्रश्नकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ १२ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त विवेचनके अनुसार जो मनुष्य प्राणकी उत्पत्तिको अर्थात् यह जिससे और जिस प्रकार उत्पन्न होता है—इस रहस्यको जानता है,

शरीरमें उसके प्रवेश करनेकी प्रक्रियाका तथा इसकी व्यापकताका ज्ञान रखता है तथा जो प्राणकी स्थितिको अर्थात् बाहर और भीतर—कहाँ-कहाँ वह रहता है, इस रहस्यको तथा इसके बाहरी और भीतरी अर्थात् आधिभौतिक और आध्यात्मिक पाँचों भेदोंके रहस्यको भलीभाँति समझ लेता है, वह अमृतस्वरूप परमानन्दमय परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है तथा उस आनन्दमयके संयोग-सुखका निरन्तर अनुभव करता है ॥ १२ ॥

॥ तृतीय प्रश्न समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ प्रश्न

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥ १ ॥

अथ=तदनन्तर, ह एनम्=इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद मुनि) से; **गार्ग्यः**=गर्ग गोत्रमें उत्पन्न, **सौर्यायणी पप्रच्छ**=सौर्यायणी ऋषिने पूछा; **भगवन्**=भगवन् !; **एतस्मिन् पुरुषे**=इस मनुष्य-शरीरमें; **कानि स्वपन्ति**=कौन-कौन सोते हैं, **अस्मिन् कानि जाग्रति**=इसमें कौन-कौन जागते रहते हैं, **एषः कतरः देवः**=यह कौन देवता, **स्वप्नान् पश्यति**=स्वप्नोंको देखता है, **एतत् सुखम्**=यह सुख; **कस्य भवति**=किसको होता है; **सर्वे**=(और) ये सब-के-सब; **कस्मिन्**=किसमें; **नु**=निश्चितरूपसे, **सम्प्रतिष्ठिताः**=सम्पूर्णतया स्थित; **भवन्ति इति**=रहते हैं, यह (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—यहाँ गार्ग्य मुनिने महात्मा पिप्पलादसे पाँच बातें पूछी हैं—(१) गाढ निद्राके समय इस मनुष्य-शरीरमें रहनेवाले पूर्वोक्त देवताओंमेंसे कौन-कौन सोते हैं ? (२) कौन-कौन जागते रहते हैं ? (३) स्वप्न-अवस्थामें इनमेंसे कौन देवता स्वप्नकी घटनाओंको देखता रहता है ? (४) निद्रा-अवस्थामें सुखका अनुभव किसको होता है ? और (५) ये सब-के-सब देवता सर्वभावसे किसमें स्थित हैं ? अर्थात् किसके आश्रित हैं ? इस प्रकार इस प्रश्नमें गार्ग्य मुनिने जीवात्मा और परमात्माका पूरा-पूरा तत्त्व पूछ लिया ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति

न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥ २ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे उन सुप्रसिद्ध महर्षिने कहा, **गार्ग्य**=हे गार्ग्य !, **यथा**=जिस प्रकार, **अस्तम् गच्छतः अर्कस्य**=अस्त होते हुए सूर्यकी, **सर्वाः मरीचयः**=सब-की-सब किरणें, **एतस्मिन् तेजोमण्डले**=इस तेजोमण्डलमें **एकीभवन्ति**=एक हो जाती हैं (फिर), **उदयतः ताः**=उदय होनेपर वे (सब), **पुनः पुनः**=पुनः-पुनः, **प्रचरन्ति**=सब ओर फैलती रहती हैं, **ह एवम् वै**=ठीक ऐसे ही (निद्राके समय), **तत् सर्वम्**=वे सब इन्द्रियाँ (भी), **परे देवे मनसि**=परम देव मनमें, **एकीभवति**=एक हो जाती हैं, **तेन तर्हि एषः पुरुषः**=इस कारण उस समय यह जीवात्मा, **न शृणोति**=न (तो) सुनता है, **न पश्यति**=न देखता है, **न जिघ्रति**=न सूँघता है, **न रसयते**=न स्वाद लेता है, **न स्पृशते**=न स्पर्श करता है, **न अभिवदते**=न बोलता है; **न आदत्ते**=न ग्रहण करता है; **न आनन्दयते**=न मैथुनका सुख भोगता है, **न विसृजते**=न मल-मूत्रका त्याग करता है (और); **न इयायते**=न चलता ही है, **स्वपिति इति आचक्षते**=उस समय 'वह सो रहा है' यों (लोग) कहते हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें महात्मा पिप्पलाद ऋषिने गार्ग्यके पहले प्रश्नका इस प्रकार उत्तर दिया है—'गार्ग्य ! जब सूर्य अस्त होता है, उस समय उसकी सब ओर फैली हुई सम्पूर्ण किरणें जिस प्रकार उस तेजःपुञ्जमें मिलकर एक हो जाती हैं ठीक उसी प्रकार गाढ निद्राके समय तुम्हारे पूछे हुए सब देवता अर्थात् सब-की-सब इन्द्रियाँ उन सबसे श्रेष्ठ जो मनरूप देव है, उसमें विलीन होकर तद्रूप हो जाती हैं। इसलिये उस समय यह जीवात्मा न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न चलता है, न मल-मूत्रका त्याग करता है और न मैथुनका सुख ही भोगता है। भाव यह है कि उस समय दसों इन्द्रियोंका कार्य सर्वथा बंद रहता है। केवल लोग कहते हैं कि इस समय यह पुरुष सो रहा है।* उसके जागनेपर पुनः वे सब

* यहाँ सुषुप्तिकालमें मनका व्यापार चालू रहता है या नहीं, इस विषयमें कुछ नहीं कहा। सब इन्द्रियोंका मनमें विलीन हो जाना तो बताया गया, किंतु मन भी किसीमें विलीन हो जाता है—यह बात नहीं कही गयी। महर्षि पतञ्जलि भी निद्राको चित्तकी एक वृत्ति मानते हैं (पा० यो० १ । १०)। इससे तो यह जान पड़ता है कि मन विलीन नहीं होता। परंतु अगले मन्त्रमें पञ्चवृत्त्यात्मक प्राणको ही जागनेवाला बतलाया गया है, मनको नहीं, अतः मनका लय होता है या नहीं—यह बात स्पष्ट नहीं होती। क्योंकि पुनः चतुर्थ मन्त्रमें मनको यजमान बनाकर उसके ब्रह्मलोकमें जानेकी बात कही गयी है। इससे यह कहा जा सकता है कि मनका भी लय हो जाता है।

इन्द्रियाँ मनसे पृथक् होकर अपना-अपना कार्य करने लगती हैं—ठीक वैसे ही जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेपर उसकी किरणे पुनः सब ओर फैल जाती हैं ॥२॥

सम्बन्ध—अब गार्ग्यके प्रश्नका संक्षेपमें उत्तर देकर दो मन्त्रोंद्वारा यह भी बतलाते है कि सब इन्द्रियोंके लय होनेपर मनकी कैसी स्थिति रहती है—

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति । गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात् प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥ ३ ॥

एतस्मिन् पुरे=इस शरीररूप नगरमें, **प्राणाग्नयः एव**=पाँच प्राणरूप अग्नियाँ ही, **जाग्रति**=जागती रहती हैं, **ह एषः अपानः वै**=यह प्रसिद्ध अपान ही, **गार्हपत्यः**=गार्हपत्य अग्नि है, **व्यानः**=व्यान, **अन्वाहार्यपचनः**=अन्वाहार्यपचन नामक अग्नि (दक्षिणाग्नि) है, **गार्हपत्यात् यत् प्रणीयते**=गार्हपत्य अग्निसे जो उठाकर ले जायी जाती है (वह) **आहवनीयः**=आहवनीय अग्नि; **प्रणयनात्**=प्रणयन (उठाकर ले जाये जाने) के कारण ही, **प्राणः**=प्राणरूप है ॥ ३ ॥

व्याख्या—उस समय इस मनुष्य-शरीररूप नगरमें पाँच प्राणरूप अग्नियाँ ही जागती रहती हैं। यह गार्ग्यद्वारा पूछे हुए दूसरे प्रश्नका सक्षेपमें उत्तर है। यहाँ निद्राको यज्ञका रूप देनेके लिये पाँचों प्राणोंको अग्निरूप बतलाया है। यज्ञमें अग्निकी प्रधानता होती है, इसलिये यहाँ संक्षेपतः प्राणमात्रको अग्निके नामसे कह दिया। परतु आगे इस यज्ञके रूपकमें किस प्राणवृत्तिकी किसके स्थानमें कल्पना करनी चाहिये, इसका स्पष्टीकरण करते हैं। कहना यह है कि शरीरमें जो प्राणकी अपानवृत्ति है, यही मानो उस यज्ञकी 'गार्हपत्य' अग्नि है, 'व्यान' दक्षिणाग्नि है, गार्हपत्य अग्निरूप अपानसे पाण उठते हैं, इस कारण मुख्य प्राण ही इस यज्ञकी कल्पनामें आहवनीय अग्नि है; क्योंकि यज्ञमें आहवनीय अग्नि गार्हपत्यसे उठाकर लायी जाती है। पहले तीसरे प्रश्नके प्रसङ्गमें भी प्राणको 'अन्नरूप आहुति जिसमें हवन की जाती है' इस व्युत्पत्तिद्वारा आहवनीय अग्नि ही बताया है (३ । ५) ॥ ३ ॥

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः । मनो ह वाव यजमानः इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥ ४ ॥

यत् उच्छ्वासनिःश्वासौ=जो ऊर्ध्वश्वास और अधोश्वास हैं; **एतौ**=ये दोनों (मानो), **आहुती**=(अग्निहोत्रकी) दो आहुतियाँ हैं; [**एतौ यः**]=इनको जो; **समम्**=समभावसे (सब ओर); **नयति इति सः समानः**=पहुँचाता है

इसीलिये जो 'समान' कहलाता है, वही; [होता]=हवन करनेवाला ऋत्विक् है; ह मनः वाव=यह प्रसिद्ध मन ही; यजमानः=यजमान है, इष्टफलम् एव=अभीष्ट फल ही; उदानः=उदान है, सः एनम्=वह (उदान) ही इस; यजमानम् अहः अहः=मनरूप यजमानको प्रतिदिन (निद्राके समय), ब्रह्म गमयति=ब्रह्मलोकमें भेजता है अर्थात् हृदयगुहामें ले जाता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—यह जो मुख्य प्राणका श्वास-प्रश्वासके रूपमें शरीरके बाहर निकलना और भीतर लौट जाना है, वही मानो इस यज्ञमें आहुतियाँ पड़ती हैं। इन आहुतियोंद्वारा जो शरीरके पोषक-तत्त्व शरीरमें प्रवेश कराये जाते हैं, वे ही हवि हैं। उस हविको समस्त शरीरमें आवश्यकतानुसार समभावसे पहुँचानेका कार्य समान वायुका है; इसलिये उसे समान कहते हैं। वही इस रूपकमें मानो 'होता' अर्थात् हवन करनेवाला ऋत्विक् है। अग्निरूप होनेपर भी आहुतियोंको पहुँचानेका कार्य करनेके कारण इसे 'होता' कहा गया है। पहले बताया हुआ मन ही मानो यजमान है, और उदान वायु ही मानो उस यजमानका अभीष्ट फल है; क्योंकि जिस प्रकार अग्निहोत्र करनेवाले यजमानको उसका अभीष्ट फल उसे अपनी ओर आकर्षित करके कर्मफल भुगतानेके लिये कर्मानुसार स्वर्गादि लोकोंमें ले जाता है, उसी प्रकार यह उदान वायु मनको प्रतिदिन निद्राके समय उसके कर्मफलके भोगस्वरूप ब्रह्मलोकमें परमात्माके निवासस्थानरूप हृदयगुहामें ले जाता है। वहाँ इस मनके द्वारा जीवात्मा निद्राजनित विश्रामरूप सुखका अनुभव करता है; क्योंकि जीवात्माका निवासस्थान भी वही है, यह बात छठे मन्त्रमें कही है। यहाँ 'ब्रह्म गमयति' से यह बात नहीं समझनी चाहिये कि निद्राजनित सुख ब्रह्मप्राप्तिके सुखकी किसी भी अंशमें समानता कर सकता है; क्योंकि यह तो तामस सुख है और परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिका सुख तीनों गुणोंसे अतीत है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—अब तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हैं—

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥ ५ ॥

अत्र स्वप्ने=इस स्वप्न-अवस्थामें; एषः देवः=यह देव (जीवात्मा), महिमानम्=अपनी विभूतिका; अनुभवति=अनुभव करता है, यत् दृष्टम् दृष्टम्=जो बार बार देखा हुआ है; अनुपश्यति=उसीको बार-बार देखता है; श्रुतम् श्रुतम् एव अर्थम् अनुशृणोति=बार-बार सुनी हुई बातोंको ही पुनः

पुनः सुनता है; **देशदिगन्तरैः च**=नाना देश और दिशाओंमें; **प्रत्यनुभूतम्**=बार-बार अनुभव किये हुए विषयोंको, **पुनः पुनः**=पुनः पुनः, **प्रत्यनुभवति**=अनुभव करता है (इतना ही नहीं), **दृष्टम् च अदृष्टम् च**=देखे हुए और न देखे हुएको भी; **श्रुतम् च अश्रुतम् च**=सुने हुए और न सुने हुएको भी; **अनुभूतम् च**=अनुभव किये हुए और, **अननुभूतम् च**=अनुभव न किये हुए-को भी, **सत् च असत् च**=विद्यमान और अविद्यमानको भी; (इस प्रकार) **सर्वम् पश्यति**=सारी घटनाओंको देखता है, (तथा) **सर्वः (सन्)**=स्वयं सब कुछ बनकर, **पश्यति**=देखता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—गार्ग्य मुनिने जो यह तीसरा प्रश्न किया था कि कौन देवता स्वप्नोंको देखता है ?' उसका उत्तर महर्षि पिप्पलाद इस प्रकार देते हैं, इस स्वप्न-अवस्थामें जीवात्मा ही मन और सूक्ष्म इन्द्रियोंद्वारा अपनी विभूतिका अनुभव करता है। इसका पहले जहाँ-कहीं भी जो कुछ बार-बार देखा, सुना और अनु-भव किया हुआ है, उसीको यह स्वप्नमें बार-बार देखता, सुनता और अनुभव करता रहता है। परंतु यह नियम नहीं है कि जाग्रत् अवस्थामें इसने जिस प्रकार, जिस ढंगसे और जिस जगह जो घटना देखी, सुनी और अनुभव की है, उसी प्रकार यह स्वप्नमें भी अनुभव करता है। अपितु स्वप्नमें जाग्रत्‌की किसी घटनाका कोई अंश किसी दूसरी घटनाके किसी अंशके साथ मिलकर एक नये ही रूपमें इसके अनुभवमें आता है, अतः कहा जाता है कि स्वप्नकालमें यह देखे और न देखे हुएको भी देखता है, सुने और न सुने हुएको भी सुनता है, अनुभव किये हुए और अनुभव न किये हुएको भी अनुभव करता है। जो वस्तु वास्तवमें है, उसे और जो नहीं है, उसे भी स्वप्नमें देख लेता है। इस प्रकार स्वप्नमें यह विचित्र ढंगसे सब घटनाओंका बार-बार अनुभव करता रहता है, और स्वयं ही सब कुछ बनकर देखता है। उस समय जीवात्माके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं रहती ॥ ५ ॥

स यदा तेजसाभिभूतो भवत्यत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति ॥ ६ ॥

सः यदा=वह (मन) जब, **तेजसा अभिभूतः**=तेज (उदान वायु) से अभिभूत; **भवति**=हो जाता है;* **अत्र एषः देवः**=इस स्थितिमें यह जीवात्मारूप

* पहले तीसरे प्रश्नोत्तर (३ । ९-१०) में बतला आये हैं कि उदान वायुका नाम तेज है। इस प्रकरणमें भी कहा गया है कि उदान वायु ही मनको ब्रह्मलोकमें अर्थात् हृदयमें ले जाता है, अतः यहाँ तेजसे अभिभूत होनेका अर्थ मनका उदान वायुसे आक्रान्त हो जाना है—यह बात समझनी चाहिये।

देवता; स्वप्नान्=स्वप्नोंको; न पश्यति=नहीं देखता; अथ=तथा, तदा=उस समय, एतस्मिन् शरीरे=इस मनुष्य-शरीरमें (जीवात्माको), एतत्=इस, सुखम्=सुषुप्तिके सुखका अनुभव, भवति=होता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—गार्ग्य मुनिने चौथी बात यह पूछी थी कि 'निद्रामें सुखका अनुभव किसको होता है ?' उसका उत्तर महर्षि इस प्रकार देते हैं। जब निद्राके समय यह मन उदान वायुके अधीन हो जाता है, अर्थात् जब उदान वायु इस मनको जीवात्माके निवासस्थान हृदयमें पहुँचाकर मोहित कर देता है, उस निद्रा-अवस्थामें यह जीवात्मा मनके द्वारा स्वप्नकी घटनाओंको नहीं देखता। उस समय निद्राजनित सुखका अनुभव जीवात्माको ही होता है। इस शरीरमें सुख दुःखोंको भोगनेवाला प्रत्येक अवस्थामें प्रकृतिस्थ पुरुष अर्थात् जीवात्मा ही है (गीता १३ । २१) ॥ ६ ॥

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ७ ॥

सः=(पाँचवीं बात जो तुमने पूछी थी) वह (इस प्रकार समझनी चाहिये); सोम्य=हे प्रिय; यथा=जिस प्रकार; वयांसि=बहुत-से पक्षी (सायंकालमें), वासोवृक्षम्=अपने निवासरूप वृक्षपर (आकर), संप्रतिष्ठन्ते=आरामसे ठहरते हैं (बसेरा लेते हैं); ह एवम् वै तत् सर्वम्=ठीक वैसे ही वे (आगे बताये जानेवाले पृथिवी आदि तत्त्वोंसे लेकर प्राणतक) सब-के-सब, परे आत्मनि=परमात्मामें; संप्रतिष्ठते=सुखपूर्वक आश्रय पाते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—गार्ग्य मुनिने जो यह पाँचवीं बात पूछी थी कि 'ये मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ और प्राण—सब-के-सब किसमें स्थित हैं—किसके आश्रित हैं ?' उसका उत्तर महर्षि इस प्रकार देते हैं—'प्यारे गार्ग्य ! आकाशमें उड़नेवाले पक्षिगण जिस प्रकार सायंकालमें लौटकर अपने निवासभूत वृक्षपर आरामसे बसेरा लेते हैं, ठीक उसी प्रकार आगे बतलाये जानेवाले पृथ्वीसे लेकर प्राणतक जितने तत्त्व हैं वे सब-के-सब परब्रह्म पुरुषोत्तममें, जो कि सबके आत्मा हैं, आश्रय लेते हैं, क्योंकि वे ही इन सबके परम आश्रय हैं ॥ ७ ॥

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक्च स्पर्शयितव्यं च वाक्च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च

गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहङ्कर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥ ८ ॥

पृथिवी च=पृथिवी और, **पृथिवीमात्रा च**=उसकी तन्मात्रा (सूक्ष्म गन्ध) भी; **आपः च आपोमात्रा च**=जल और रसतन्मात्रा भी; **तेजः च तेजोमात्रा च**=तेज और रूप-तन्मात्रा भी; **वायुः च वायुमात्रा च**=वायु और स्पर्श-तन्मात्रा भी; **आकाशः च आकाशमात्रा च**=आकाश और शब्द-तन्मात्रा भी; **चक्षुः च द्रष्टव्यम् च**=नेत्र-इन्द्रिय और देखनेमें आनेवाली वस्तु भी; **श्रोत्रम् च श्रोतव्यम् च**=श्रोत्र-इन्द्रिय और सुननेमें आनेवाली वस्तु भी; **घ्राणम् च घ्रातव्यम् च**=घ्राणेन्द्रिय और सूँघनेमें आनेवाली वस्तु भी; **रसः च रसयितव्यम् च**=रसना-इन्द्रिय और रसनाके विषय भी; **त्वक् च स्पर्शयितव्यम् च**=त्वक्-इन्द्रिय और स्पर्शमें आनेवाली वस्तु भी; **वाक् च वक्तव्यम् च**=वाक्-इन्द्रिय और बोलनेमें आनेवाला शब्द भी; **हस्तौ च आदातव्यम् च**=दोनो हाथ और पकड़नेमें आनेवाली वस्तु भी; **उपस्थः च आनन्दयितव्यम् च**=उपस्थ-इन्द्रिय और उसका विषय भी; **पायुः च विसर्जयितव्यम् च**=गुदा-इन्द्रिय और उसके द्वारा परित्यागयोग्य वस्तु भी; **पादौ च गन्तव्यम् च**=दोनों चरण और गन्तव्य स्थान भी; **मनः च मन्तव्यम् च**=मन और मननमें आनेवाली वस्तु भी; **बुद्धिः च बोद्धव्यम् च**=बुद्धि और जाननेमें आनेवाली वस्तु भी; **अहंकारः च अहंकर्तव्यम् च**=अहंकार और उनका विषय भी; **चित्तं च चेतयितव्यम् च**=चित्त और चिन्तनमें आनेवाली वस्तु भी; **तेजः च विद्योतयितव्यम् च**=प्रभाव और उसका विषय भी; **प्राणः च विधारयितव्यम् च**=प्राण और प्राणके द्वारा धारण किये जानेवाले पदार्थ भी (ये सब-के-सब परमात्माके आश्रित हैं) ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यह बात कही गयी है कि स्थूल और सूक्ष्म पाँचों महाभूत, दसों इन्द्रियाँ और उनके विषय, चारो प्रकारके अन्तःकरण और उनके विषय तथा पाँच भेदोंवाला प्राण वायु—सब-के-सब परमात्माके ही आश्रित हैं। कहना यह है कि स्थूल पृथ्वी और उसका कारण गन्ध-तन्मात्रा, स्थूल जल-तत्त्व और उसका कारण रस-तन्मात्रा, स्थूल तेज-तत्त्व और उसका कारण रूप-तन्मात्रा, स्थूल वायु-तत्त्व और उसका कारण स्पर्श-तन्मात्रा, स्थूल आकाश और उसका कारण शब्द-तन्मात्रा—इस प्रकार अपने कारणोंसहित पाँचो भूत तथा नेत्र-इन्द्रिय और उसके द्वारा देखनेमें आनेवाली

वस्तुएँ, श्रोत्र-इन्द्रिय और उसके द्वारा जो कुछ सुना जा सकता है वह सब, घ्राणेन्द्रिय और उसके द्वारा सूँघनेमें आनेवाले पदार्थ, रसना-इन्द्रिय और उसके द्वारा आस्वादनमें आनेवाले खट्टे-मीठे आदि सब प्रकारके रस, त्वचा-इन्द्रिय और उसके द्वारा स्पर्श करनेमें आनेवाले सब पदार्थ, वाक् इन्द्रिय और उसके द्वारा बोले जानेवाले शब्द, दोनों हाथ और उनके द्वारा पकड़नेमें आनेवाली सब वस्तुएँ, दोनों पैर और उनके गन्तव्य स्थान, उपस्थ-इन्द्रिय और मैथुनका सुख, गुदा-इन्द्रिय और उसके द्वारा त्यागा जानेवाला मल, मन और उसके द्वारा मनन करनेमें आनेवाले सब पदार्थ, बुद्धि और उसके द्वारा जाननेमें आनेवाले सब पदार्थ, अहंकार और उसके विषय, चित्त और चित्तके द्वारा चिन्तनमें आनेवाले पदार्थ, प्रभाव और प्रभावसे प्रभावित होनेवाली वस्तु एवं पाँच वृत्तियाला प्राण और उसके द्वारा जीवन देकर धारण किये जानेवाले सब शरीर—ये सब के-सब इसके कारणभूत परमेश्वरके ही आश्रित हैं ॥ ८ ॥

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

एषः=यह जो; द्रष्टा स्प्रष्टा=देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, श्रोता घ्राता=सुननेवाला, सूँघनेवाला; रसयिता मन्ता=स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला; बोद्धा कर्ता=जाननेवाला तथा कर्म करनेवाला; विज्ञानात्मा=विज्ञानस्वरूप, पुरुषः=पुरुष (जीवात्मा) है; सः हि=वह भी; अक्षरे=अविनाशी, परे आत्मनि=परमात्मामें; संप्रतिष्ठते=भलीभाँति स्थित है ॥ ९ ॥

व्याख्या—देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, स्वाद लेनेवाला, मनन करनेवाला, जाननेवाला तथा सम्पूर्ण इन्द्रियों और मनके द्वारा समस्त कर्म करनेवाला जो यह विज्ञानस्वरूप पुरुष—जीवात्मा है, यह भी उन परम अविनाशी सबके आत्मा परब्रह्म पुरुषोत्तममें ही स्थिति पाता है । उन्हें प्राप्त कर लेनेपर ही इसे वास्तविक शान्ति मिलती है; अतः इसके भी परम आश्रय वे परमेश्वर ही हैं ॥ ९ ॥

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वो भवति । तदेष श्लोकः ॥ १० ॥

ह यः वै=निश्चय ही जो कोई भी; तत् अच्छायम्=उस छायारहित; अशरीरम्=शरीररहित; अलोहितम्=लाल, पीले आदि रंगोंसे रहित; शुभ्रम्=

अक्षरम्=विशुद्ध अविनाशी पुरुषको; **वेदयते**=जानता है, **सः**=वह; **परम् अक्षरम् एव**=परम अविनाशी परमात्माको ही, **प्रतिपद्यते**=प्राप्त हो जाता है, **सोम्य**=हे प्रिय !, **यः तु (एवम्)**=जो कोई ऐसा है, **सः सर्वज्ञः**=वह सर्वज्ञ (और), **सर्वः भवति**=सर्वरूप हो जाता है; **तत् एषः**=इस विषयमें यह (अगला), **श्लोकः**=श्लोक है ॥ १० ॥

व्याख्या—यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जो कोई भी मनुष्य उन छायारहित, शरीररहित, लाल पीले आदि सब रंगोंसे रहित, विशुद्ध अविनाशी परमात्माको जान लेता है, वह परम अक्षर परमात्माको ही प्राप्त हो जाता है—इसमें तनिक भी संशय नहीं है। हे सोम्य ! जो कोई भी ऐसा है, अर्थात् जो भी उस परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है, वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है। इस विषयमें निम्नलिखित ऋचा है ॥ १० ॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः
प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य
स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥ ११ ॥

यत्र=जिसमें, **प्राणाः**=समस्त प्राण (और); **भूतानि च**=पाँचो भूत तथा; **सर्वैः देवैः सह**=सम्पूर्ण इन्द्रिय और अन्तःकरणके सहित; **विज्ञानात्मा**=विज्ञानस्वरूप आत्मा, **संप्रतिष्ठन्ति**=आश्रय लेते हैं; **सोम्य**=हे प्रिय !; **तत् अक्षरम्**=उस अविनाशी परमात्माको; **यः तु वेदयते**=जो कोई जान लेता है, **सः सर्वज्ञः**=वह सर्वज्ञ है, **सर्वम् एव**=(वह) सर्वस्वरूप परमेश्वरमें, **आविवेश**=प्रविष्ट हो जाता है; **इति**=इस प्रकार (इस प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ) ॥ ११ ॥

व्याख्या—सबके परम कारण जिन परमेश्वरमें समस्त प्राण और पाँचो महाभूत तथा समस्त इन्द्रियाँ और अन्तःकरणके सहित स्वयं विज्ञानस्वरूप जीवात्मा—ये सब आश्रय लेते हैं, उन परम अक्षर अविनाशी परमात्माको जो कोई जान लेता है, वह सर्वज्ञ है तथा सर्वरूप परमेश्वरमें प्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार यह चतुर्थ प्रश्न समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

॥ चतुर्थ प्रश्न समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम प्रश्न

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति ॥ १ ॥

अथ ह एनम्=उसके बाद इन ख्यातनामा महर्षि पिप्पलादसे, **शैब्यः सत्यकामः**=शिबिपुत्र सत्यकामने; **पप्रच्छ**=पूछा, **भगवन्**=भगवन् !' **मनुष्येषु**=मनुष्योंमेंसे, **सः यः ह वै**=वह जो कोई भी, **प्रायणान्तम्**=मृत्युपर्यन्त, **तत् ओंकारम्**=उस ओंकारका; **अभिध्यायीत**=सदा भलीभाँति ध्यान करता है, **सः तेन**=वह उस उपासनाके बलसे; **कतमम् लोकम्**=किस लोकको, **वाव जयति**=निस्सन्देह जीत लेता है; **इति**=यह (मेरा प्रश्न है) ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सत्यकामने ओंकारकी उपासनाके विषयमें प्रश्न किया है । उसने यही जिज्ञासा की है कि जो मनुष्य आजीवन सदा ओंकारकी भलीभाँति उपासना करता है, उसे उस उपासनाके द्वारा कौन-से लोककी प्राप्ति होती है, अर्थात् उसका क्या फल मिलता है ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः । तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

तस्मै सः ह उवाच=उससे उन प्रसिद्ध महर्षिने कहा; **सत्यकाम**=हे सत्यकाम; **एतत् वै**=निश्चय ही यह; **यत् ओंकारः**=जो ओंकार है; **परम् ब्रह्म च अपरम् च**=(वही) परब्रह्म और अपरब्रह्म भी है; **तस्मात्**=इसलिये; **विद्वान्**=इस प्रकारका ज्ञान रखनेवाला मनुष्य; **एतेन एव**=इस एक ही; **आयतनेन**=अवलम्बसे (अर्थात् प्रणवमात्रके चिन्तनसे); **एकतरम्**=अपर और परब्रह्ममेंसे किसी एकका, **अन्वेति**=(अपनी श्रद्धाके अनुसार) अनुसरण करता है ॥ २ ॥

व्याख्या—इसके उत्तरमें महर्षि पिप्पलाद 'ओम्' इस अक्षरकी उसके लक्ष्यभूत परब्रह्म पुरुषोत्तमके साथ एकता करते हुए कहते हैं—सत्यकाम ! यह जो 'ॐ' है, यह अपने लक्ष्यभूत परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न नहीं है। इसलिये यही परब्रह्म है और यही उन परब्रह्मसे प्रकट हुआ उनका विराट्-स्वरूप—अपर ब्रह्म भी है।* केवल इसी एक ओंकारका जप, स्मरण और चिन्तन करके उसके द्वारा अपने इष्टको चाहनेवाला विज्ञानसम्पन्न मनुष्य उसे पा लेता है । भाव यह है कि जो मनुष्य परमेश्वरके विराट्-स्वरूप—इस जगत्के ऐश्वर्यमय किसी भी अङ्गको प्राप्त करनेकी इच्छासे ओंकारकी उपासना करता है, वह अपनी भावनाके अनुसार

* कठोपनिषद् १ । २ । १६ में भी यही बात कही है, वहाँ "अपर" विशेषण नहीं दिया है ।

विराट्स्वरूप परमेश्वरके किसी एक अङ्गको प्राप्त करता है और जो इसके अन्तर्यामी आत्मा पूर्ण ब्रह्म पुरुषोत्तमको लक्ष्य बनाकर उनको पानेके लिये निष्कामभावसे इसकी उपासना करता है, वह परब्रह्म पुरुषोत्तमको पा लेता है। यही बात अगले मन्त्रोंमें भी स्पष्ट की गयी है ॥ २ ॥

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

सः यदि=यह उपासक यदि, **एकमात्रम्**=एक मात्रासे युक्त ओंकारका, **अभिध्यायीत**=भलीभाँति ध्यान करे तो; **सः तेन एव**=वह उस उपासनासे ही; **संवेदितः**=अपने ध्येयकी ओर प्रेरित किया हुआ, **तूर्णम् एव**=शीघ्र ही, **जगत्याम्**=पृथ्वीमें; **अभिसंपद्यते**=उत्पन्न हो जाता है; **तम् ऋचः**=उसको ऋग्वेदकी ऋचाएँ; **मनुष्यलोकम्**=मनुष्य-शरीर, **उपनयन्ते**=प्राप्त करा देती हैं, **तत्र सः**=वहाँ यह उपासक, **तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नः**=तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न होकर, **महिमानम्**=महिमाका, **अनुभवति**=अनुभव करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—ओंकारका चिन्तन करनेवाला मनुष्य यदि विराट् परमेश्वरके भूः, भुवः और स्वः—इन तीनो रूपोंमेंसे भूलोकके ऐश्वर्यमें आसक्त होकर उसकी प्राप्तिके लिये ओंकारकी उपासना करता है तो वह मरनेके बाद अपने प्रापणीय ऐश्वर्यकी ओर प्रेरित होकर तत्काल पृथ्वीलोकमें आ जाता है। ॐकारकी पहली मात्रा ऋग्वेदस्वरूपा है, उसका पृथ्वीलोकसे सम्बन्ध है; अतः उसके चिन्तनसे साधकको ऋग्वेदकी ऋचाएँ पुनः मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट करा देती हैं। वह उस नवीन मनुष्य-जन्ममें तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धासे सम्पन्न उत्तम आचरणोंवाला श्रेष्ठ मनुष्य बनकर अतिशय ऐश्वर्यका उपभोग करता है। अर्थात् उसे नीची योनियोंमें नहीं भटकना पड़ता, वह मरनेके बाद मनुष्य होकर पुनः शुभ कर्म करनेमें समर्थ हो जाता है और वहाँ नाना प्रकारके सुखोंका उपभोग करता है ॥ ३ ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥ ४ ॥

अथ यदि=परंतु यदि; **द्विमात्रेण**=दो मात्राओंसे युक्त (ओंकार); [**अभिध्यायीत**]=अच्छी प्रकार ध्यान करता है तो (उससे); **मनसि**=मनोमय चन्द्रलोकको; **संपद्यते**=प्राप्त होता है, **सः यजुर्भिः**=वह यजुर्वेदके मन्त्रोंद्वारा, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षमें स्थित; **सोमलोकम्**=चन्द्रलोकको; **उन्नीयते**=ऊपरको

ओर ले जाया जाता है, सः सोमलोके=वह चन्द्रलोकमें, विभूतिम्=वहाँके ऐश्वर्यका; अनुभूय=अनुभव करके, पुनः आवर्तते=पुनः इस लोकमें लौट आता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—यदि साधक दो मात्रावाले ओंकारकी उपासना करता है, अर्थात् उस विराट्स्वरूप परमेश्वरके अङ्गभूत भूः (मनुष्यलोक) और भुवः (स्वर्गलोक)— इन दोनोंके ऐश्वर्यकी अभिलाषासे—उसीको लक्ष्य बनाकर ओंकारकी उपासना करता है तो वह मनोमय चन्द्रलोकको प्राप्त होता है, उसको यजुर्वेदके मन्त्र अन्तरिक्षमें ऊपरकी ओर चन्द्रलोकमें पहुँचा देते हैं । उस विनाशशील स्वर्गलोकमें नाना प्रकारके ऐश्वर्यका उपभोग करके अपनी उपासनाके पुण्यका क्षय हो जानेपर पुनः मृत्युलोकमें आ जाता है । वहाँ उसे अपने पूर्वकर्मानुसार मनुष्य-शरीर या उससे कोई नीची योनि मिल जाती है ॥ ४ ॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥

पुनः यः=परन्तु जो, त्रिमात्रेण=तीन मात्राओंवाले; ओम् इति=‘ओम्’ रूप, एतेन अक्षरेण एव=इस अक्षरके द्वारा ही; एतम् परम् पुरुषम्=इस परम पुरुषका; अभिध्यायीत=निरन्तर ध्यान करता है; सः तेजसि=वह तेजोमय, सूर्ये सम्पन्नः=सूर्यलोकमें जाता है; (तथा) यथा पादोदरः=जिस प्रकार सर्प, त्वचा विनिर्मुच्यते=केंचुलीसे अलग हो जाता है; एवम् ह वै=ठीक उसी तरह, सः पाप्मना=वह पापोंसे विनिर्मुक्तः=सर्वथा मुक्त हो जाता है; सः= (इसके बाद) वह, सामभिः=सामवेदकी श्रुतियोंद्वारा; ब्रह्मलोकम् उन्नीयते= ऊपर ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है, सः एतस्मात्=वह इस, जीवघनात्= जीवसमुदायरूप; परात् परम्=परतत्त्वसे अत्यन्त श्रेष्ठ, पुरिशयम्=शरीररूप नगरमें रहनेवाले अन्तर्यामी; पुरुषम्=परमपुरुष पुरुषोत्तमको, ईक्षते=साक्षात् कर लेता है; तत् एतौ=इस विषयमें ये (अगले); श्लोकौ भवतः=दो श्लोक हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें ‘पुनः’ शब्दके प्रयोगसे यह सूचित होता है कि उपर्युक्त कथनके अनुसार इस लोक और स्वर्गलोकतकके ऐश्वर्यकी अभिलाषासे अपर ब्रह्मको लक्ष्य बनाकर ओंकारकी उपासना करनेवाले साधकोंसे विलक्षण

साधकका यहाँ वर्णन किया गया है। उपासनाका सर्वोत्तम प्रकार यही है—यह भाव प्रकट करनेके लिये ही इस मन्त्रमें 'यदि' पदका प्रयोग भी नहीं किया गया है; क्योंकि इसमें कोई विकल्प नहीं है। इस मन्त्रमें यह भी स्पष्टरूपसे बतला दिया गया है कि ओंकार उस परब्रह्मका नाम है, इसके द्वारा उस परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना की जाती है। मन्त्रमें कहा गया है कि जो कोई साधक इन तीन मात्राओंवाले ओंकारस्वरूप अक्षरद्वारा परब्रह्म परमेश्वरकी उपासना करता है, वह जैसे सर्प केंचुलीसे अलग हो जाता है—उसी प्रकार सब प्रकारके कर्मबन्धनोंसे छूटकर सर्वथा निर्विकार हो जाता है। उसे सामवेदके मन्त्र तेजोमय सूर्यमण्डलमेंसे ले जाकर सर्वोपरि ब्रह्मलोकमें पहुँचा देते हैं। वहाँ वह जीव-समुदायरूप चेतनतत्त्वसे अत्यन्त श्रेष्ठ उन परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त हो जाता है, जो सम्पूर्ण जगत्को अपनी शक्तिके किसी एक अंशमें धारण किये हुए हैं और सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त हैं तथा जो अन्तर्यामीरूपसे सबके हृदयमें विराजमान हैं। इसी विषयको स्पष्ट करनेवाले ये दो आगे कहे हुए श्लोक हैं॥ ५॥

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता
अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु
सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः॥ ६॥

तिस्रः मात्राः=ओंकारकी तीनों मात्राएँ ('अ', 'उ' तथा 'म'), **अन्योन्यसक्ताः**=एक दूसरीसे संयुक्त रहकर; **प्रयुक्ताः**=प्रयुक्त की गयी हों, **अनविप्रयुक्ताः**=या पृथक्-पृथक् एक-एक ध्येयके चिन्तनमें इनका प्रयोग किया गया हो (दोनों प्रकारसे ही वे); **मृत्युमत्यः**=मृत्युयुक्त हैं; **बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु**=बाहर, भीतर और बीचकी, **क्रियासु**=क्रियाओंमें, **सम्यक्प्रयुक्तासु**=पूर्णतया इन मात्राओंका प्रयोग किये जानेपर, **ज्ञः न कम्पते**=उस परमेश्वरको जाननेवाला ज्ञानी विचलित नहीं होता॥ ६॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यह भाव दिखाया गया है कि ओंकारवाच्य परब्रह्म परमेश्वरका जो यह जगत्रूप विराट्स्वरूप है अर्थात् जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है, यह उसका वास्तविक परम अविनाशी स्वरूप नहीं है, यह परिवर्तनशील है, अतः इसमें रहनेवाला जीव अमर नहीं होता। वह चाहे ऊँची-से-ऊँची योनिको प्राप्त कर ले, परंतु जन्म-मृत्युके चक्रसे नहीं छूटता। इसके एक अङ्ग पृथ्वीलोककी या पृथ्वी और अन्तरिक्ष इन दोनों लोकोंकी अथवा तीनों लोकोंको मिलाकर सम्पूर्ण जगत्की अभिलाषा रखते हुए जो उपासना करता है; जिसका इस जगत्के आत्मरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमकी ओर लक्ष्य नहीं है, वर जो जगत्के बाह्य स्वरूपमें ही आसक्त हो रहा है, वह

उन्हें नहीं पाता, अतः बार-बार जन्मता-मरता रहता है। उन्हें तो वही साधक पा सकता है, जो अपने शरीरके बाहर, भीतर और शरीरके मध्यस्थान—हृदयदेशमें होनेवाली बाहरी, भीतरी और बीचकी समस्त क्रियाओंमें सर्वत्र ओंकारके वाच्यार्थरूप एकमात्र परब्रह्म पुरुषोत्तमको व्याप्त समझता है और ओंकारके द्वारा उनकी उपासना करता है—उन्हें पानेकी ही अभिलाषासे ओंकारका जप, स्मरण और चिन्तन करता है; वह ज्ञानी परमात्माको पाकर फिर कभी अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता ॥ ६ ॥

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं
सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्
यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥ ७ ॥

ऋग्भिः=(एक मात्राकी उपासनासे उपासक) ऋचाओंद्वारा, **एतम्**=इस मनुष्यलोकमें (पहुँचाया जाता है), **यजुर्भिः**=(दूसरा दो मात्राओंकी उपासना करनेवाला) यजुःश्रुतियोंद्वारा, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षमें (चन्द्रलोकतक पहुँचाया जाता है), **सामभिः**=(पूर्णरूपसे ओंकारकी उपासना करनेवाला) सामश्रुतियोंद्वारा; **तत्**=उस ब्रह्मलोकमें (पहुँचाया जाता है); **यत्**=जिसको; **कवयः**=ज्ञानीजन, **वेदयन्ते**=जानते हैं, **विद्वान्**=विवेकशील साधक; **ओङ्कारेण एव**=केवल ओंकाररूप; **आयतनेन**=अवलम्बनके द्वारा ही; **तम्**=उस परब्रह्म पुरुषोत्तमको; **अन्वेति**=पा लेता है, **यत्**=जो; **तत्**=वह, **शान्तम्**=परम शान्त, **अजरम्**=जरारहित, **अमृतम्**=मृत्युरहित; **अभयम्**=भयरहित, **च**=और, **परम् इति**=सर्वश्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें तीसरे, चौथे और पाँचवें मन्त्रोंके भावका संक्षेपमें वर्णन करके ब्राह्मण-ग्रन्थके वाक्योंमें कही हुई बातका समर्थन किया गया है। भाव यह है कि एक मात्रा अर्थात् एक अङ्गको लक्ष्य बनाकर उपासना करनेवाले साधकको ऋग्वेदकी ऋचाएँ मनुष्यलोकमें पहुँचा देती हैं। दो मात्राकी उपासना करनेवालेको अर्थात् जगत्के ऊँचे-से-ऊँचे—स्वर्गीय ऐश्वर्यको लक्ष्य बनाकर ओंकारकी उपासना करनेवालेको यजुर्वेदके मन्त्र चन्द्रलोकमें ले जाते हैं और जो इन सबमें परिपूर्ण इनके आत्मरूप परमेश्वरकी ओंकारके द्वारा उपासना करता है, उसको सामवेदके मन्त्र उस ब्रह्मलोकमें पहुँचा देते हैं, जिसे ज्ञानीजन जानते हैं। सम्पूर्ण रहस्यको समझनेवाले बुद्धिमान् मनुष्य बाह्य जगत्में आसक्त न होकर ओंकारकी उपासनाद्वारा समस्त जगत्के आत्मरूप उन परब्रह्म परमात्माको पा लेते

हैं, जो परम शान्त—सब प्रकारके विकारोंसे रहित हैं, जहाँ न बुढ़ापा है, न मृत्यु है, न भय है, जो अजर, अमर, निर्भय एवं सर्वश्रेष्ठ परम पुरुषोत्तम हैं॥७॥

॥ पञ्चम प्रश्न समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ प्रश्न

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ—भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत । षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ । तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम् । स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज । तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥ १ ॥

अथ=फिर; **ह एनम्**=इन प्रसिद्ध महात्मा (पिप्पलाद) से, **भारद्वाजः**=भरद्वाजपुत्र; **सुकेशा**=सुकेशाने; **पप्रच्छ**=पूछा—, **भगवन्**=भगवन् !, **कौसल्यः**=कोसलदेशीय; **राजपुत्रः**=राजकुमार, **हिरण्यनाभः**=हिरण्यनाभने; **माम् उपेत्य**=मेरे पास आकर; **एतम् प्रश्नम्**=यह प्रश्न; **अपृच्छत**=पूछा; **भारद्वाज**=हे भारद्वाज ! (क्या तुम), **षोडशकलम्**=सोलह कलाओंवाले, **पुरुषम्**=पुरुषको, **वेत्थ**=जानते हो, **तम् कुमारम्**=(तब) उस राजकुमारसे, **अहम्**=मैंने, **अब्रुवम्**=कहा—, **अहम्**=मैं, **इमम्**=इसे, **न वेद**=नहीं जानता, **यदि**=यदि, **अहम्**=मैं, **इमम् अवेदिषम्**=इसे जानता होता (तो), **ते**=तुझे, **कथम् न अवक्ष्यम् इति**=क्यों नहीं बताता; **एषः वै**=वह मनुष्य अवश्य, **समूलः**=मूलके सहित, **परिशुष्यति**=सर्वथा सूख जाता है (नष्ट हो जाता है), **यः**=जो, **अनृतम्**=झूठ, **अभिवदति**=बोलता है; **तस्मात्**=इसलिये (मैं), **अनृतम्**=झूठ, **वक्तुम्**=बोलनेमें; **न अर्हामि**=समर्थ नहीं हूँ, **सः**=वह राजकुमार (मेरा उत्तर सुनकर), **तूष्णीम्**=चुपचाप, **रथम्**=रथपर, **आरुह्य**=सवार होकर, **प्रवव्राज**=चला गया, **तम्**=उसी बातको, **त्वा पृच्छामि**=मैं आपसे पूछ रहा हूँ, **असौ**=वह (सोलह कलाओंवाला); **पुरुषः**=पुरुष, **क्व इति**=कहाँ है ? ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सुकेशा ऋषिने अपनी अल्पज्ञता और सत्य-भाषण का महत्त्व प्रकट करते हुए सोलह कलाओंवाले पुरुषके विषयमें प्रश्न किया है । वे बोले—"भगवन् ! एक बार कोसलदेशका राजकुमार हिरण्यनाभ मेरे पास आया था । उसने मुझसे पूछा—'भारद्वाज ! क्या तुम सोलह कलाओंवाले पुरुषके विषयमें जानते हो ?' मैंने उससे स्पष्ट कह दिया—'भाई ! मैं उसे नहीं जानता,

जानता होता तो तुम्हें अवश्य बता देता। न बतानेका कोई कारण नहीं है। तुम अपने मनमें यह न समझना कि मैंने बहाना करके तुम्हारे प्रश्नको टाल दिया है, क्योंकि मैं झूठ नहीं बोलता। झूठ बोलनेवालेका मूलोच्छेद हो जाता है, वह इस लोकमें या परलोकमें—कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं पा सकता।'-मेरी इस बातको सुनकर राजकुमार चुपचाप रथपर सवार होकर जैसे आया था, वैसे ही लौट गया। अब मैं आपके द्वारा उसी सोलह कलाओंवाले पुरुषका तत्त्व जानना चाहता हूँ, कृपया आप मुझे बतलायें कि वह कहाँ है और उसका स्वरूप क्या है" ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥ २ ॥

तस्मै=उससे, सः ह=वे सुप्रसिद्ध महर्षि, उवाच=बोले, सोम्य=हे प्रिय !; इह=यहाँ, अन्तःशरीरे=इस शरीरके भीतर, एव=ही; सः=वह; पुरुषः= पुरुष है, यस्मिन्=जिसमें, एताः=ये; षोडश=सोलह, कलाः=कलाएँ, प्रभवन्ति= इति=प्रकट होती हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें उस सोलह कलाओंवाले पुरुषका सकेतमात्र किया गया है। महर्षि पिप्पलाद कहते हैं— प्रिय सुकेशा ! जिन परमेश्वरसे सोलह कलाओंका समुदाय सम्पूर्ण जगद्रूप उनका विराट् शरीर उत्पन्न हुआ है, वे पर पुरुष हमारे इस शरीरके भीतर ही विराजमान हैं; उनको खोजनेके लिये कहीं अन्यत्र नहीं जाना है। भाव यह है कि जब मनुष्यके हृदयमें परमात्मा- को पानेके लिये उत्कट अभिलाषा जाग्रत् हो जाती है, तब वे उसे वहीं उसके हृदयमें ही मिल जाते हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—इस परब्रह्म पुरुषोत्तमका तत्त्व समझानेके लिये संक्षेपसे सृष्टिक्रमका वर्णन करते हैं—

स ईक्षांचक्रे। कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥ ३ ॥

सः=उसने, ईक्षांचक्रे=विचार किया (कि), कस्मिन्=(शरीरसे) किसके, उत्क्रान्ते=निकल जानेपर, अहम् उत्क्रान्तः=मैं (भी) निकला हुआ (सा); भविष्यामि=हो जाऊँगा; वा=तथा, कस्मिन् प्रतिष्ठिते=किसके स्थित रहनेपर, प्रतिष्ठास्यामि इति=मैं स्थित रहूँगा ॥ ३ ॥

व्याख्या—महासर्गके आदिमें जगत्‌की रचना करनेवाले परम पुरुष परमेश्वरने विचार किया कि 'मैं जिस ब्रह्माण्डकी रचना करना चाहता हूँ, उसमें एक ऐसा कौन-सा तत्त्व डाला जाय कि जिसके न रहनेपर मैं स्वयं भी उसमें

न रह सकूँ अर्थात् मेरी सत्ता स्पष्टरूपसे व्यक्त न रहे और जिसके रहनेपर मेरी सत्ता स्पष्ट प्रतीत होती रहे' ॥ ३ ॥

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥४॥

(यह सोचकर सबसे पहले) **सः**=उसने, **प्राणम् असृजत**=प्राणकी रचना की, **प्राणात् श्रद्धाम्**=प्राणके बाद श्रद्धाको (उत्पन्न किया), **खम् वायुः ज्योतिः आपः पृथिवी**=(उसके बाद क्रमशः) आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी (ये पाँच महाभूत प्रकट हुए, फिर), **मनः इन्द्रियम्**=मन (अन्तःकरण) और इन्द्रियसमुदाय (की उत्पत्ति हुई), **अन्नम्**=(उसके बाद) अन्न हुआ, **अन्नात्**=अन्नसे, **वीर्यम्**=वीर्य (की रचना हुई, फिर) **तपः**=तप, **मन्त्राः**=नाना प्रकारके मन्त्र, **कर्म**=नाना प्रकारके कर्म, **च लोकाः**=और उनके फलरूप भिन्न-भिन्न लोकों (का निर्माण हुआ); **च**=और; **लोकेषु**=उन लोकोंमें, **नाम**=नाम (की रचना हुई) ॥ ४ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरने सर्वप्रथम सबके प्राणरूप सर्वात्मा हिरण्यगर्भको बनाया । उसके बाद शुभकर्ममें प्रवृत्त करानेवाली श्रद्धा अर्थात् आस्तिकबुद्धिको प्रकट करके फिर क्रमशः शरीरके उपादानभूत आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी—इन पाँच महाभूतोंकी सृष्टि की । इन पाँच महाभूतोंका कार्य ही यह दृश्यमान सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है । पाँच महाभूतोंके बाद परमेश्वरने मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन चारोंके समुदायरूप अन्तःकरणको रचा । फिर विषयोंके ज्ञान एवं कर्मके लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा पाँच कर्मेन्द्रियोंको उत्पन्न किया, फिर प्राणियोंके शरीरकी स्थितिके लिये अन्नकी और अन्नके परिपाकद्वारा बलकी सृष्टि की । उसके बाद अन्तःकरण और इन्द्रियोंके संयमरूप तपका प्रादुर्भाव किया । उपासनाके लिये भिन्न-भिन्न मन्त्रोंकी कल्पना की । अन्तःकरणके संयोगसे इन्द्रियोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंका निर्माण किया । उनके भिन्न-भिन्न फलरूप लोकोंको बनाया और उन सबके नाम-रूपोंकी रचना की । इस प्रकार सोलह कलाओंसे युक्त इस ब्रह्माण्डकी रचना करके जीवात्माके सहित परमेश्वर स्वयं इसमें प्रविष्ट हो गये, इसीलिये वे सोलह कलाओंवाले पुरुष कहलाते हैं । हमारा यह मनुष्य-शरीर भी ब्रह्माण्डका ही एक छोटा-सा नमूना है, अतः परमेश्वर जिस प्रकार इस सारे ब्रह्माण्डमें हैं, उसी प्रकार हमारे इस शरीरमें भी हैं और इस शरीरमें भी वे सोलह कलाएँ वर्तमान हैं । उन हृदयस्थ परमदेव पुरुषोत्तमको जान लेना ही उस सोलह कलावाले पुरुषको जान लेना है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—सर्गके आरम्भका वर्णन करके जिन परब्रह्मका लक्ष्य कराया गया, उन्हींका अब प्रलयके वर्णनसे लक्ष्य कराते हैं—

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते । एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥ ५ ॥

सः=वह (प्रलयका दृष्टान्त) इस प्रकार है; **यथा**=जिस प्रकार, **इमाः**=ये, **नद्यः**=नदियाँ, **समुद्रायणाः स्यन्दमानाः**=समुद्रकी ओर लक्ष्य करके जाती (और) बहती हुई, **समुद्रम्**=समुद्रको, **प्राप्य**=पाकर; **अस्तम् गच्छन्ति**=(उसीमें) विलीन हो जाती हैं, **तासाम् नामरूपे**=उनके नाम और रूप, **भिद्येते**=नष्ट हो जाते हैं, **समुद्रः इति एवम्**=(फिर उनको) समुद्र इस एक नामसे ही, **प्रोच्यते**=पुकारा जाता है, **एवम् एव**=इसी प्रकार, **अस्य परिद्रष्टुः**=सब ओरसे पूर्णतया देखनेवाले इन परमेश्वरकी; **इमाः**=ये (ऊपर बतायी हुई), **षोडश कलाः**=सोलह कलाएँ; **पुरुषायणाः**=जिनका परमाधार और परमगति पुरुष है, **पुरुषम् प्राप्य**=(प्रलयकालमें) परम पुरुष परमात्माको पाकर; **अस्तम् गच्छन्ति**=(उन्हींमें) विलीन हो जाती हैं; **च**=तथा; **आसाम्**=इन सबके; **नामरूपे**=(पृथक्-पृथक्) नाम और रूप, **भिद्येते**=नष्ट हो जाते हैं, **पुरुषः इति एवम्**=(फिर उनको) 'पुरुष' इस एक नामसे ही; **प्रोच्यते**=पुकारा जाता है, **सः**=वही; **एषः**=यह, **अकलः**=कलारहित, (और), **अमृतः**=अमर परमात्मा, **भवति**=है, **तत्**=उसके विषयमें; **एषः**=यह (अगला), **श्लोकः**=श्लोक है ॥ ५ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंवाली ये बहुत-सी नदियाँ अपने उद्गमस्थान समुद्रकी ओर दौड़ती हुई समुद्रमें पहुँचकर उसीमें विलीन हो जाती हैं, उनका समुद्रसे पृथक् कोई नामरूप नहीं रहता—वे समुद्र ही बन जाती हैं, उसी प्रकार सर्वसाक्षी सबके आत्मरूप परमात्मासे उत्पन्न हुई ये सोलह कलाएँ (अर्थात् यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड) प्रलयकालमें अपने परमाधार परम पुरुष परमेश्वरमें जाकर उसीमें विलीन हो जाती हैं । फिर इन सबके अलग-अलग नाम-रूप नहीं रहते । एकमात्र परम पुरुष परमेश्वरके स्वरूपमें ये तदाकार हो जाती हैं । अतः उन्हींके नामसे, उन्हींके वर्णनसे इनका वर्णन होता है, अलग नहीं । उस समय परमात्मामें किसी प्रकारका सङ्कल्प नहीं रहता । अतः वे समस्त

कलाओंसे रहित, अमृतस्वरूप कहे जाते हैं। इस तत्त्वको समझनेवाला मनुष्य भी उन परब्रह्मको प्राप्त होकर अकल और अमर हो जाता है। इस विषयपर आगे कहा जानेवाला मन्त्र है—॥ ५ ॥

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिताः ।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥ ६ ॥

रथनाभौ=रथ-चक्रकी नाभिके आधारपर, **अराः इव**=जिस प्रकार अरे स्थित होते हैं (वैसे ही), **यस्मिन्**=जिसमें, **कलाः**=(ऊपर बतायी हुई सब) कलाएँ, **प्रतिष्ठिताः**=सर्वथा स्थित हैं; **तम् वेद्यम् पुरुषम्**=उस जाननेयोग्य (सबके आधारभूत) परम पुरुष परमेश्वरको, **वेद**=जानना चाहिये; **यथा**=जिससे (हे मनुष्यो !), **वः**=तुमलोगोंको, **मृत्युः**=मृत्यु; **मा परिव्यथाः इति**=दुःख न दे सके ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें सर्वाधार परमेश्वरको जाननेके लिये प्रेरणा करके उसका फल जन्म-मृत्युसे रहित हो जाना बताया गया है। वेद भगवान् मनुष्योंसे कहते हैं—'जिस प्रकार रथके पहियेमें लगे रहनेवाले सब अरे उस पहियेके मध्यस्थ नाभिमें प्रविष्ट रहते हैं, उन सबका आधार नाभि है—नाभिके बिना वे टिक ही नहीं सकते, उसी प्रकार ऊपर बतायी हुई प्राण आदि सोलह कलाओंके जो आधार हैं ये सब कलाएँ जिनके आश्रित हैं, जिनसे उत्पन्न होती हैं और जिनमें विलीन हो जाती हैं, वे ही जानने योग्य परब्रह्म परमेश्वर हैं। उन सर्वाधार परमात्माको जानना चाहिये। उन्हें जान लेनेके बाद तुम्हें मौतका डर नहीं रहेगा, फिर मृत्यु तुमको इस जन्म-मृत्युयुक्त संसारमें डालकर दुखी नहीं कर सकेगी। तुमलोग सदाके लिये अमर हो जाओगे ॥ ६ ॥

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद । नातः परमस्तीति ॥७॥

ह=(तत्पश्चात्) उन प्रसिद्ध महर्षि पिप्पलादने, **तान् उवाच**=उन सबसे कहा; **एतत्**=इस, **परम् ब्रह्म**=परम ब्रह्मको, **अहम्**=मैं; **एतावत्**=इतना, **एव**=ही, **वेद**=जानता हूँ, **अतः परम्**=इससे पर (उत्कृष्ट तत्त्व), **न**=नहीं, **अस्ति इति**=है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इतना उपदेश करनेके बाद महर्षि पिप्पलादने परम भाग्यवान् सुकेशा आदि छहों ऋषियोंको सम्बोधन करके कहा—'ऋषियो ! इन परब्रह्म परमेश्वरके विषयमें मैं इतना ही जानता हूँ। इनसे पर अर्थात् श्रेष्ठ अन्य कुछ भी नहीं है।' मैंने तुमलोगोंसे उनके विषयमें जो कुछ कहना था, सब कह दिया ॥७॥

सम्बन्ध—अन्तमें कृतज्ञता प्रकट करते हुए वे सुकेशा आदि मुनिगण महर्षिको बार-बार प्रणाम करते हुए कहते हैं—

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ८ ॥

ते=उन छहों ऋषियोंने; तम् अर्चयन्तः=पिप्पलादकी पूजा की (और कहा,) त्वम्=आप; हि=ही; नः=हमारे; पिता=पिता (हैं); यः=जिन्होंने, अस्माकम्=हमलोगोंको, अविद्यायाः परम् पारम्=अविद्याके दूसरे पार, तारयसि इति=पहुँचा दिया है; नमः परमऋषिभ्यः=आप परम ऋषिको नमस्कार है; नमः परमऋषिभ्यः=परम ऋषिको नमस्कार है ॥ ८ ॥

व्याख्या—इस प्रकार आचार्य पिप्पलादसे ब्रह्मका उपदेश पाकर उन छहों ऋषियोंने पिप्पलादकी पूजा की और कहा—'भगवन्! आप ही हमारे वास्तविक पिता हैं, जिन्होंने हमें इस संसार-समुद्रके पार पहुँचा दिया। ऐसे गुरुसे बढ़कर दूसरा कोई हो ही कैसे सकता है। आप परम ऋषि हैं, ज्ञानस्वरूप हैं। आपको नमस्कार है, नमस्कार है, बार-बार नमस्कार है। अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति ग्रन्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ ८ ॥

षष्ठ प्रश्न समाप्त ॥ ६ ॥

॥ अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥*

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ इस उपनिषद्के आरम्भमें दिया जा चुका है।

---

* यजुर्वेद २५ । १९—२१ तथा ऋग्वेद १० । ८९ । ६, ८ ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

मुण्डकोपनिषद्

यह उपनिषद् अथर्ववेदकी शौनकी शाखामें है।

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

देवाः=हे देवगण! (**वयम्**) **यजत्राः** (**सन्तः**)=हम भगवान्का यजन (आराधन) करते हुए; **कर्णेभिः**=कानोंसे; **भद्रम्**=कल्याणमय वचन, **शृणुयाम**=सुनें; **अक्षभिः**=नेत्रोंसे; **भद्रम्**=कल्याण (ही), **पश्येम**=देखें; **स्थिरैः**=सुदृढ, **अङ्गैः**=अङ्गों; **तनूभिः**=एवं शरीरोंसे; **तुष्टुवांसः** (**वयम्**)= भगवान्की स्तुति करते हुए हमलोग, **यत्**=जो, **आयुः**=आयु; **देवहितम्**= आराध्यदेव परमात्माके काम आ सके, (**तत्**)=उसका, **व्यशेम**=उपभोग करें, **वृद्धश्रवाः**=सब ओर फैले हुए सुयशवाले, **इन्द्रः**=इन्द्र, **नः**=हमारे लिये, **स्वस्ति दधातु**=कल्याणका पोषण करें; **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण विश्वका ज्ञान रखनेवाले, **पूषा**=पूषा, **नः**=हमारे लिये, **स्वस्ति** (**दधातु**)=कल्याणका पोषण करें, **अरिष्टनेमिः**=अरिष्टोंको मिटानेके लिये चक्रसदृश शक्तिशाली, **तार्क्ष्यः**=गरुडदेव, **नः**=हमारे लिये, **स्वस्ति** (**दधातु**)=कल्याणका पोषण करें, (**तथा**)=तथा, **बृहस्पतिः**=(बुद्धिके स्वामी) बृहस्पति भी; **नः**=हमारे लिये, **स्वस्ति** (**दधातु**)= कल्याणकी पुष्टि करें, **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=परमात्मन्! हमारे त्रिविध तापकी शान्ति हो।

व्याख्या—गुरुके यहाँ अध्ययन करनेवाले शिष्य अपने गुरु, सहपाठी तथा मानवमात्रका कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओंसे प्रार्थना करते हैं कि 'हे देवगण! हम अपने कानोंसे शुभ—कल्याणकारी वचन ही सुनें। निन्दा, चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पापकी बातें हमारे कानोंमें न पड़ें और हमारा

अपना जीवन यजन-परायण हो—हम सदा भगवान्‌की आराधनामें ही लगे रहें। न केवल कानोंसे सुनें, नेत्रोंसे भी हम सदा कल्याणका ही दर्शन करें। किसी अमङ्गलकारी अथवा पतनकी ओर ले जानेवाले दृश्योंकी ओर हमारी दृष्टिका आकर्षण कभी न हो। हमारे शरीर, हमारा एक-एक अवयव सुदृढ एवं सुपुष्ट हों—वह भी इसलिये कि हम उनके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते रहें। हमारी आयु भोग-विलास या प्रमादमें न बीते। हमें ऐसी आयु मिले, जो भगवान्‌के कार्यमें आ सके। [देवता हमारी प्रत्येक इन्द्रियमें व्याप्त रहकर उसका संरक्षण और संचालन करते हैं। उनके अनुकूल रहनेसे हमारी इन्द्रियाँ सुगमतापूर्वक सन्मार्गमें लगी रह सकती हैं; अतः उनसे प्रार्थना करनी उचित ही है।] जिनका सुयश सब ओर फैला है, वे देवराज इन्द्र, सर्वज्ञ पूषा, अरिष्टनिवारक तार्क्ष्य (गरुड) और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति—ये सभी देवता भगवान्‌की दिव्य विभूतियाँ हैं। ये सदा हमारे कल्याणका पोषण करें। इनकी कृपासे हमारे सहित प्राणिमात्रका कल्याण होता रहे। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो।

प्रथम मुण्डक

प्रथम खण्ड

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

'ॐ' इस परमेश्वरके नामका स्मरण करके उपनिषद्‌का आरम्भ किया जाता है। इसके द्वारा यहाँ यह सूचित किया गया है कि मनुष्यको प्रत्येक कार्यके आरम्भमें ईश्वरका स्मरण तथा उनके नामका उच्चारण अवश्य करना चाहिये।

विश्वस्य कर्ता=सम्पूर्ण जगत्‌के रचयिता (और); **भुवनस्य गोप्ता**=सब लोकोंकी रक्षा करनेवाले; **ब्रह्मा**=(चतुर्मुख) ब्रह्माजी; **देवानाम्**=सब देवताओंमें; **प्रथमः**=पहले; **सम्बभूव**=प्रकट हुए; **सः**=उन्होंने; **ज्येष्ठपुत्राय अथर्वाय**=सबसे बड़े पुत्र अथर्वाको; **सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्**=समस्त विद्याओंकी आधारभूता; **ब्रह्मविद्याम् प्राह**=ब्रह्मविद्याका भलीभाँति उपदेश किया ॥ १ ॥

व्याख्या—सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरसे देवताओंमें सर्वप्रथम ब्रह्मा प्रकट हुए। फिर इन्होंने ही सब देवताओं, महर्षियों और मरीचि आदि

प्रजापतियोंको उत्पन्न किया । साथ ही, समस्त लोकोंकी रचना भी की तथा उन सबकी रक्षाके सुदृढ़ नियम आदि बनाये । उनके सबसे बड़े पुत्र महर्षि अथर्वा थे, उन्हींको सबसे पहले ब्रह्माजीने ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था । जिस विद्यासे ब्रह्मके पर और अपर—दोनों स्वरूपोंका पूर्णतया ज्ञान हो, उसे ब्रह्मविद्या कहते हैं, यह सम्पूर्ण विद्याओंकी आश्रय है ॥ १ ॥

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्मा-
थर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय
प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥ २ ॥

ब्रह्मा=ब्रह्माने; **याम्**=जिस विद्याका, **अथर्वणे**=अथर्वाको, **प्रवदेत**=उपदेश दिया था, **ताम् ब्रह्मविद्याम्**=उसी ब्रह्मविद्याको; **अथर्वा**=अथर्वाने, **पुरा**=पहले, **अङ्गिरे**=अङ्गी ऋषिसे; **उवाच**=कहा था; **सः**=उन अङ्गी ऋषिने, **भारद्वाजाय**=भरद्वाजगोत्री, **सत्यवहाय**=सत्यवह नामक ऋषिको, **प्राह**=बतलायी, **भारद्वाजः**=भारद्वाजने, **परावराम्**=पहलेवालोंसे पीछेवालोंको प्राप्त हुई उस परम्परागत विद्याको; **अङ्गिरसे**=अङ्गिरा नामक ऋषिसे, [**प्राह**]=कहा ॥ २ ॥

व्याख्या—अथर्वा ऋषिको जो ब्रह्मविद्या ब्रह्मासे मिली थी, वही ब्रह्मविद्या उन्होंने अङ्गी ऋषिको बतलायी और अङ्गीने भरद्वाजगोत्रमें उत्पन्न सत्यवह नामक ऋषिको कही । भारद्वाज ऋषिने परम्परासे चली आती हुई ब्रह्मके पर और अपर—दोनों स्वरूपोंका ज्ञान करानेवाली इस ब्रह्मविद्याका उपदेश अङ्गिरा नामक ऋषिको दिया ॥ २ ॥

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

ह=विख्यात है (कि), **शौनकः वै**=शौनक नामसे प्रसिद्ध मुनि, **महाशालः**=जो अति बृहत् विद्यालय (ऋषिकुल) के अधिष्ठाता थे, **विधिवत्**=शास्त्र-विधिके अनुसार; **अङ्गिरसम् उपसन्नः**=महर्षि अङ्गिराके पास आये (और उनसे); **पप्रच्छ**=(विनयपूर्वक) पूछा; **भगवः**=भगवन् !; **नु**=निश्चयपूर्वक; **कस्मिन् विज्ञाते**=किसके जान लिये जानेपर; **इदम्**=यह, **सर्वम्**=सब कुछ; **विज्ञातम्**=जाना हुआ, **भवति**=हो जाता है, **इति**=यह (मेरा प्रश्न है) ॥ ३ ॥

व्याख्या—शौनक नामसे प्रसिद्ध एक महर्षि थे, जो बड़े भारी विश्वविद्यालयके अधिष्ठाता थे, पुराणोंके अनुसार उनके ऋषिकुलमें अट्ठासी हजार ऋषि रहते थे। वे उपर्युक्त ब्रह्मविद्याको जाननेके लिये शास्त्रविधिके अनुसार हाथमें समिधा लेकर श्रद्धापूर्वक महर्षि अङ्गिराके पास आये। उन्होंने अत्यन्त विनयपूर्वक महर्षिसे पूछा—'भगवन्! जिसको भलीभाँति जान लेनेपर यह जो कुछ देखने, सुनने और अनुमान करनेमें आता है, सब-का-सब जान लिया जाता है, वह परम तत्त्व क्या है? कृपया बतलाइये कि उसे कैसे जाना जाय' ॥ ३ ॥

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ ४ ॥

तस्मै=उन शौनक मुनिसे; **स**: **ह**=वे विख्यात महर्षि अङ्गिरा; **उवाच**=बोले; **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मको जाननेवाले; **इति**=इस प्रकार; **ह**=निश्चयपूर्वक; **वदन्ति स्म यत्**=कहते आये हैं कि; **द्वे विद्ये**=दो विद्याएँ, **एव**=ही, **वेदितव्ये**=जानने योग्य हैं, **परा**=एक परा, **च**=और, **अपरा**=दूसरी अपरा, **च**=भी ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस प्रकार शौनकके पूछनेपर महर्षि अङ्गिरा बोले—'शौनक! ब्रह्मको जाननेवाले महर्षियोंका कहना है कि मनुष्यके लिये जाननेयोग्य दो विद्याएँ हैं—एक तो परा और दूसरी अपरा ॥ ४ ॥

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥

तत्र=उन दोनोंमेंसे; **ऋग्वेदः**=ऋग्वेद, **यजुर्वेदः**=यजुर्वेद; **सामवेदः**=सामवेद, (तथा) **अथर्ववेदः**=अथर्ववेद; **शिक्षा**=शिक्षा, **कल्पः**=कल्प; **व्याकरणम्**=व्याकरण, **निरुक्तम्**=निरुक्त, **छन्दः**=छन्द, **ज्योतिषम्**=ज्योतिष, **इति अपरा**=ये (सब तो) अपरा विद्या (के अन्तर्गत हैं), **अथ**=तथा, **यया**=जिससे, **तत्**=वह, **अक्षरम्**=अविनाशी परब्रह्म, **अधिगम्यते**=तत्त्वसे जाना जाता है; [**सा**]=वह; **परा**=परा विद्या (है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—उन दोनोंमेंसे जिसके द्वारा इस लोक और परलोकसम्बन्धी भोगों तथा उनकी प्राप्तिके साधनोंका ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जिसमें भोगोंकी स्थिति, भोगोंके उपभोग करनेके प्रकार भोग-सामग्रीकी रचना और उनको उपलब्ध करनेके नाना साधन आदिका वर्णन है, वह तो अपरा विद्या है; जैसे

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चारों वेद । इनमें नाना प्रकारके यज्ञोंकी विधिका और उनके फलका विस्तारपूर्वक वर्णन है । जगत्‌के सभी पदार्थोंका एवं विषयोंका वेदोंमें भलीभाँति वर्णन किया गया है । यह अवश्य है कि इस समय वेदकी सब शाखाएँ उपलब्ध नहीं हैं और उनमें वर्णित विविध विज्ञानसम्बन्धी बातोंको समझनेवाले भी नहीं हैं । वेदोंका पाठ अर्थात् यथार्थ उच्चारण करनेकी विधिका उपदेश 'शिक्षा' है । जिसमें यज्ञ याग आदिकी विधि बतलायी गयी है, उसे 'कल्प' कहते हैं (गृह्यसूत्र आदिकी गणना कल्पमें ही है) । वैदिक और लौकिक शब्दोंके अनुशासनका—प्रकृति-प्रत्यय विभागपूर्वक शब्द-साधनकी प्रक्रिया, शब्दार्थबोधके प्रकार एवं शब्दप्रयोग आदिके नियमोंके उपदेशका नाम 'व्याकरण' है । वैदिक शब्दोंका जो कोष है, जिसमें अमुक पद अमुक वस्तुका वाचक है—यह बात कारणसहित बतायी गयी है, उसको 'निरुक्त' कहते हैं । वैदिक छन्दोंकी जाति और भेद बतलानेवाली विद्या 'छन्द' कहलाती है । ग्रह और नक्षत्रोंकी स्थिति, गति और उनके साथ हमारा क्या सम्बन्ध है–इन सब बातोंपर जिसमें विचार किया गया है, वह 'ज्योतिष' विद्या है । इस प्रकार चार वेद और छः वेदाङ्ग—इन दसका नाम अपरा विद्या है; और जिसके द्वारा परब्रह्म अविनाशी परमात्माका तत्त्वज्ञान होता है, वह परा विद्या है । उसका वर्णन भी वेदोंमें ही है, अतः उतने अंशको छोड़कर अन्य सब वेद और वेदाङ्गोंको अपरा विद्याके अन्तर्गत समझना चाहिये ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलायी हुई परा विद्याके द्वारा जिसका ज्ञान होता है, वह अविनाशी ब्रह्म कैसा है—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥ ६ ॥

तत्=वह, यत्=जो, अद्रेश्यम्=जाननेमें न आनेवाला, अग्राह्यम्=पकड़नेमें न आनेवाला, अगोत्रम्=गोत्र आदिसे रहित; अवर्णम्=रंग और आकृतिसे रहित, अचक्षुःश्रोत्रम्=नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे (भी) रहित, अपाणिपादम्=(और) हाथ पैर आदि कर्मेन्द्रियोंसे (भी) रहित है, [तथा]=तथा, तत्=वह; यत्=जो; नित्यम्=नित्य, विभुम्=सर्वव्यापी; सर्वगतम्=सबमें फैला हुआ; सुसूक्ष्मम्=अत्यन्त सूक्ष्म (और); अव्ययम्=अविनाशी परब्रह्म है, तत्=उस, भूतयोनिम्=समस्त प्राणियोंके परम कारणको; धीराः=ज्ञानीजन; परिपश्यन्ति=सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमेश्वरके निराकार स्वरूपका वर्णन

किया गया है। सारांश यह है कि वे परब्रह्म परमेश्वर ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा जाननेमें नहीं आते, न कर्मेन्द्रियोंद्वारा पकड़नेमें ही आते हैं। वे गोत्र आदि उपाधियोंसे रहित तथा ब्राह्मण आदि वर्णगतभेदसे एवं रंग और आकृतिसे भी सर्वथा रहित हैं; वे नेत्र, कान आदि ज्ञानेन्द्रियोंसे और हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियोंसे भी रहित हैं। तथा वे अत्यन्त सूक्ष्म, व्यापक, अन्तरात्मारूपसे सबमें फैले हुए और कभी नाश न होनेवाले सर्वथा नित्य हैं। समस्त प्राणियोंके उन परम कारणको ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—वे जगदात्मा परमेश्वर समस्त भूतोंके परम कारण कैसे हैं, सम्पूर्ण जगत् उनसे किस प्रकार उत्पन्न होता है, इस जिज्ञासा पर कहते हैं—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि
तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

यथा=जिस प्रकार; **ऊर्णनाभिः**=मकड़ी, **सृजते**=(जालेको,) बनाती है, **च**=और; **गृह्णते**=निगल जाती है (तथा); **यथा**=जिस प्रकार; **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें, **ओषधयः**=नाना प्रकारकी ओषधियाँ, **सम्भवन्ति**=उत्पन्न होती हैं (और); **यथा**=जिस प्रकार, **सतः पुरुषात्**=जीवित मनुष्यसे, **केशलोमानि** केश और रोएँ (उत्पन्न होते हैं), **तथा**=उसी प्रकार, **अक्षरात्**=अविनाशी परब्रह्मसे, **इह**=यहाँ इस सृष्टिमें, **विश्वम्**=सब कुछ, **सम्भवति**=उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इन मन्त्रमें तीन दृष्टान्तोंद्वारा यह बात समझायी गयी है कि परब्रह्म परमेश्वर ही इस जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्के निमित्त और उपादान कारण हैं। पहले मकड़ीके दृष्टान्तसे यह बात कही गयी है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने पेटमें स्थित जालेको बाहर निकालकर फैलाती है और फिर उसे निगल जाती है, उसी प्रकार वह परब्रह्म परमेश्वर अपने अंदर सूक्ष्मरूपसे लीन हुए जड-चेतनरूप जगत्को सृष्टिके आरम्भमें नाना प्रकारसे उत्पन्न करके फैलाते हैं और प्रलयकालमें पुनः उसे अपनेमें लीन कर लेते हैं (गीता ९। ७-८)। दूसरे उदाहरणसे यह बात समझायी है कि जिस प्रकार पृथ्वीमें जैसे-जैसे अन्न, तृण, वृक्ष, लता आदि ओषधियोंके बीज पड़ते हैं, उसी प्रकारकी भिन्न-भिन्न भेदोंवाली ओषधियाँ वहाँ उत्पन्न हो जाती हैं— उसमें पृथ्वीका कोई पक्षपात नहीं है, उसी प्रकार जीवोंके विभिन्न कर्मरूप बीजोंके अनुसार ही भगवान् उनको भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न करते हैं,

अतः उनमें किसी प्रकारकी विषमता और निर्दयताका दोष नहीं है' (ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३४)। तीसरे मनुष्य-शरीरके उदाहरणसे यह बात समझायी गयी है कि जिस प्रकार मनुष्यके जीवित शरीरसे सर्वथा विलक्षण केश, रोएँ और नख अपने-आप उत्पन्न होते और बढ़ते रहते हैं—उसके लिये उसको कोई कार्य नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार परब्रह्म परमेश्वरसे यह जगत् स्वभावसे ही समयपर उत्पन्न हो जाता है और विस्तारको प्राप्त होता है, इसके लिये भगवान्‌को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि 'मैं इस जगत्‌को बनानेवाला होनेपर भी अकर्ता ही हूँ' (गीता ४ । १३), 'उदासीनकी तरह स्थित रहनेवाले मुझ परमेश्वरको वे कर्म लिप्त नहीं करते' (गीता ९ । ९) इत्यादि ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब संक्षेपमें जगत्‌की उत्पत्तिका क्रम बतलाते हैं—

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

ब्रह्म=परब्रह्म, **तपसा**=संकल्परूप तपसे; **चीयते**=उपचय (वृद्धि) को प्राप्त होता है; **ततः**=उससे; **अन्नम्**=अन्न, **अभिजायते**=उत्पन्न होता है, **अन्नात्**=अन्नसे (क्रमशः), **प्राणः**=प्राण; **मनः**=मन, **सत्यम्**=सत्य (पाँच महाभूत); **लोकाः**=समस्त लोक (और कर्म), **च**=तथा; **कर्मसु**=कर्मोंसे, **अमृतम्**=अवश्यम्भावी सुख-दुःखरूप फल उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—जब जगत्‌की रचनाका समय आता है, उस समय परब्रह्म परमेश्वर अपने संकल्परूप तपसे वृद्धिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनमें विविध रूपोंवाली सृष्टिके निर्माणका संकल्प उठता है । जीवोंके कर्मानुसार उन परब्रह्म पुरुषोत्तममें जो सृष्टिके आदिमें स्फुरणा होती है, वही मानो उनका तप है; उस स्फुरणाके होते ही भगवान्, जो पहले अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें रहते हैं, (जिसका वर्णन छठे मन्त्रमें आ चुका है) उसकी अपेक्षा स्थूल हो जाते हैं अर्थात् वे सृष्टिकर्ता ब्रह्माका रूप धारण कर लेते हैं । ब्रह्मासे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला अन्न उत्पन्न होता है । फिर अन्नसे क्रमशः प्राण, मन, कार्यरूप आकाशादि पाँच महाभूत, समस्त प्राणी और उनके वासस्थान, उनके भिन्न-भिन्न कर्म और उन कर्मोंसे उनका अवश्यम्भावी सुख-दुःखरूप फल—इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—अब परमेश्वरकी महिमाका वर्णन करते हुए इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥ ९ ॥

यः=जो, सर्वज्ञः=सर्वज्ञ (तथा), सर्ववित्=सबको जाननेवाला (है), यस्य=जिसका, ज्ञानमयम्=ज्ञानमय, तपः=तप (है), तस्मात्=उसी परमेश्वरसे, एतत्=यह, ब्रह्म=विराट्स्वरूप जगत् च=तथा, नाम=नाम, रूपम्=रूप, (और) अन्नम्=भोजन, जायते=उत्पन्न होते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—जो सम्पूर्ण जगत्के कारणभूत परम पुरुष परमेश्वर साधारण-रूपसे तथा विशेषरूपसे भी सबको भलीभाँति जानते हैं, उन परब्रह्मका एक-मात्र ज्ञान ही तप है । उन्हें साधारण मनुष्योंकी भाँति जगत्की उत्पत्तिके लिये कष्ट-सहनरूप तप नहीं करना पड़ता । उन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरके संकल्पमात्रसे ही यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला विराट्स्वरूप जगत् (जिसे अपर ब्रह्म कहते हैं) अपने-आप प्रकट हो जाता है और समस्त प्राणियों तथा लोकोंके नाम, रूप और आहार आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं ।

शौनक ऋषिने यह पूछा था कि 'किसको जाननेसे यह सब कुछ जान लिया जाता है ?' इसके उत्तरमें समस्त जगत्के परम कारण परब्रह्म परमात्मासे जगत्की उत्पत्ति बतलाकर संक्षेपमें यह बात समझायी गयी कि उन सर्व-शक्तिमान्, सर्वज्ञ, सबके कर्ता धर्ता परमेश्वरको जान लेनेपर यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है ॥ ९ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

सम्बन्ध—पहले खण्डके चौथे मन्त्रमें परा और अपरा—इन दो विद्याओंको जाननेयोग्य बताया था, उनमेंसे अब इस खण्डमें अपरा विद्याका स्वरूप और फल बतलाकर परा विद्याकी जिज्ञासा उत्पन्न की जाती है—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा संततानि । तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ ॥

तत्=वह, एतत्=यह; सत्यम्=सत्य है कि; कवयः=बुद्धिमान् ऋषियो-ने, यानि=जिन, कर्माणि=कर्मोंको, मन्त्रेषु=वेद-मन्त्रोंमें; अपश्यन्=देखा था, तानि=वे, त्रेतायाम्=तीनों वेदोंमें; बहुधा=बहुत प्रकारसे; संततानि=

व्याप्त हैं, **सत्यकामाः**=हे सत्यको चाहनेवाले मनुष्यो ! (तुमलोग), **तानि**=उनका, **नियतम्**=नियमपूर्वक, **आचरथ**=अनुष्ठान करो, **लोके**=इस मनुष्य-शरीरमें, **वः**=तुम्हारे लिये, **एषः**=यही, **सुकृतस्य**=शुभ कर्मकी फलप्राप्तिका, **पन्थाः**=मार्ग है ॥ १ ॥

व्याख्या—यह सर्वथा सत्य है कि बुद्धिमान् महर्षियोंने जिन उन्नतिके साधनरूप यज्ञादि नाना प्रकारके कर्मोंको वेद-मन्त्रोंमें पहले देखा था, वे कर्म ऋक्, यजुः और साम—इन तीनों वेदोंमें बहुत प्रकारसे विस्तारपूर्वक वर्णित हैं (गीता ४ । ३२)* अतः जागतिक उन्नति चाहनेवाले मनुष्योंको उन्हें भलीभाँति जानकर नियमपूर्वक उन कर्मोंको करते रहना चाहिये । इस मनुष्य-शरीरमें यही उन्नतिका सुन्दर मार्ग है । आलस्य और प्रमादमें या भोगोंको भोगनेमें पशुओंकी भाँति जीवन बिता देना मनुष्यशरीरके उपयुक्त नहीं है । यही इस मन्त्रका भाव है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—वेदोक्त अनेक प्रकारके कर्मोंमेंसे उपलक्षणरूपसे प्रधान अग्निहोत्र-कर्मका वर्णन आरम्भ करते हैं—

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ २ ॥

यदा हि=जिस समय, **हव्यवाहने समिद्धे**=हविष्यको देवताओंके पास पहुँचानेवाली अग्निके प्रदीप्त हो जानेपर, **अर्चिः**=(उसमें) ज्वालाएँ, **लेलायते**=लपलपाने लगती हैं; **तदा**=उस समय, **आज्यभागौ अन्तरेण**=आज्यभागकी दोनों आहुतियोंके † स्थानको छोड़कर बीचमें, **आहुतीः**=अन्य आहुतियोंको, **प्रतिपादयेत्**=डाले ॥ २ ॥

व्याख्या—अधिकारी मनुष्योंको नित्यप्रति अग्निहोत्र करना चाहिये । जब देवताओंको हविष्य पहुँचानेवाली अग्नि अग्निहोत्रकी वेदीमें भलीभाँति प्रज्वलित हो जाय, उसमेंसे लपटें निकलने लगें, उस समय आज्यभागके स्थानको

---

* प्रधानरूपसे वेदोंकी संख्या तीन ही मानी गयी है । जहाँ-तहाँ 'वेदत्रयी' आदि नामोंसे ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—इन तीनका ही उल्लेख मिलता है । ऐसे स्थलोंमें चौथे अथर्ववेदको उक्त तीनोंके अन्तर्गत ही मानना चाहिये ।

† यजुर्वेदके अनुसार प्रजापतिके लिये मौनभावसे एक आहुति और इन्द्रके लिये 'आघार' नामकी दो घृताहुतियाँ देनेके पश्चात् जो अग्नि और सोम देवताओंके लिये पृथक्-पृथक् दो आहुतियाँ दी जाती हैं उनका नाम 'आज्यभाग' है । 'ॐ अग्नये स्वाहा' कहकर उत्तर-पूर्वार्धमें और 'ॐ सोमाय स्वाहा' कहकर दक्षिण-पूर्वार्धमें ये आहुतियाँ डाली जाती हैं, इनके बीचमें शेष आहुतियाँ डालनी चाहिये ।

छोड़कर मध्यमें आहुतियाँ डालनी चाहिये। इससे यह बात भी समझायी गयी है कि जबतक अग्नि प्रदीप्त न हो, उसमेंसे लपटें न निकलने लगें, तबतक या निकलकर शान्त हो जायँ, उस समय अग्निमें आहुति नहीं डालनी चाहिये। अग्निको अच्छी तरह प्रज्वलित करके ही अग्निहोत्र करना चाहिये ॥ २ ॥

सम्बन्ध—नित्य अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यको उसके साथ-साथ और क्या-क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमास-
मचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुत-
मासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥ ३ ॥

यस्य=जिसका, **अग्निहोत्रम्**=अग्निहोत्र, **अदर्शम्**=दर्शनामक यज्ञसे रहित है, **अपौर्णमासम्**=पौर्णमासनामक यज्ञसे रहित है, **अचातुर्मास्यम्**=चातुर्मास्यनामक यज्ञसे रहित है, **अनाग्रयणम्**=आग्रयण कर्मसे रहित है, **च**=तथा, **अतिथिवर्जितम्**=जिसमें अतिथि-सत्कार नहीं किया जाता, **अहुतम्**=जिसमें समयपर आहुति नहीं दी जाती, **अवैश्वदेवम्**=जो बलिवैश्वदेवनामक कर्मसे रहित है, (तथा) **अविधिना हुतम्**=जिसमें शास्त्र-विधिकी अवहेलना करके हवन किया गया है, ऐसा अग्निहोत्र, **तस्य**=उस अग्निहोत्रीके, **आसप्तमान्**=सातों, **लोकान्**=पुण्य लोकोंका, **हिनस्ति**=नाश कर देता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—नित्य अग्निहोत्र करनेवाला मनुष्य यदि दर्श* और पौर्णमास-यज्ञ† नहीं करता या चातुर्मास्य यज्ञ‡ नहीं करता अथवा शरद् और वसन्त ऋतुओंमें की जानेवाली नवीन अन्नकी इष्टिरूप आग्रयण यज्ञ नहीं करता, यदि उसकी यज्ञशालामें अतिथियोंका विधिपूर्वक सत्कार नहीं किया जाता, या वह नित्य अग्निहोत्रमें ठीक समयपर और शास्त्रविधिके अनुसार हवन नहीं करता एवं बलिवैश्वदेव कर्म नहीं करता, तो उस अग्निहोत्र करनेवाले मनुष्यके सातों लोकोंको वह अङ्गहीन अग्निहोत्र नष्ट कर देता है। अर्थात् उस यज्ञके द्वारा उसे मिलनेवाले जो पृथ्वीलोकसे लेकर सत्यलोकतक सातों लोकोंमें प्राप्त होने योग्य भोग हैं, उनसे वह वञ्चित रह जाता है ॥ ३ ॥

---

* प्रत्येक अमावस्याको की जानेवाली इष्टि।

† प्रत्येक पूर्णिमाको की जानेवाली इष्टि।

‡ चार महीनोंमें पूरा होनेवाला एक श्रौत यागविशेष।

सम्बन्ध—दूसरे मन्त्रमें यह बात कही गयी थी कि जब अग्निमें लपटें निकलने लगें तब आहुति देनी चाहिये, अतः अब उन लपटोंके प्रकार-भेद और नाम बतलाते हैं—

काली कराली च मनोजवा च
सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी
लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः॥ ४॥

या=जो, **काली**=काली; **कराली**=कराली, **च**=तथा, **मनोजवा**=मनोजवा; **च**=और, **सुलोहिता**=सुलोहिता, **च**=तथा; **सुधूम्रवर्णा**=सुधूम्रवर्णा, **स्फुलिङ्गिनी**=स्फुलिङ्गिनी, **च**=तथा, **विश्वरुची देवी**=विश्वरुची देवी; **इति**=ये (अग्निकी), **सप्त**=सात, **लेलायमानाः**=लपलपाती हुई, **जिह्वाः**=जिह्वाएँ हैं॥ ४॥

व्याख्या—काली-काले रंगवाली, कराली-अति उग्र (जिसमें आग लग जानेका डर रहता है), मनोजवा—मनकी भाँति अत्यन्त चञ्चल, सुलोहिता—सुन्दर लाली लिये हुए, सुधूम्रवर्णा—सुन्दर धूएँके से रंगवाली, स्फुलिङ्गिनी—चिनगारियोंवाली तथा विश्वरुची देवी—सब ओरसे प्रकाशित, देदीप्यमान—इस प्रकार ये सात तरहकी लपटें मानो अग्निदेवकी हविको ग्रहण करनेके लिये लपलपाती हुई सात जिह्वाएँ हैं। अतः जब इस प्रकार अग्निदेवता आहुतिरूप भोजन ग्रहण करनेके लिये तैयार हों, उसी समय भोजनरूप आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये; अन्यथा अप्रज्वलित अथवा बुझी हुई अग्निमें दी हुई आहुति राखमें मिलकर व्यर्थ नष्ट हो जाती है॥ ४॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे प्रदीप्त अग्निमें नियमपूर्वक नित्यप्रति हवन करनेका फल बतलाते हैं—

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु
यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो
यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥ ५॥

यः च=जो कोई भी अग्निहोत्री, **एतेषु भ्राजमानेषु**=इन देदीप्यमान ज्वालाओंमें, **यथाकालम्**=ठीक समयपर, **चरते**=अग्निहोत्र करता है, **तम्**=उस अग्निहोत्रीको, **हि**=निश्चय ही, **आददायन्**=अपने साथ लेकर, **एताः**=ये; **आहुतयः**=आहुतियाँ, **सूर्यस्य**=सूर्यकी, **रश्मयः (भूत्वा)**=किरणें बनकर, **नयन्ति**=(वहाँ) पहुँचा देती हैं, **यत्र**=जहाँ; **देवानाम्**=

देवताओंका, एकः=एकमात्र, पतिः=स्वामी (इन्द्र), अधिवासः= निवास करता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—जो कोई भी साधक पूर्वमन्त्रमें बतलायी हुई सात प्रकारकी लपटोंसे युक्त भलीभाँति प्रज्वलित अग्निमें ठीक समयपर शास्त्रविधिके अनुसार नित्यप्रति आहुति देकर अग्निहोत्र करता है, उसे मरणकालमें अपने साथ लेकर ये आहुतियाँ सूर्यकी किरणें बनकर वहाँ पहुँचा देती हैं, जहाँ देवताओंका एकमात्र स्वामी इन्द्र निवास करता है । तात्पर्य यह कि अग्निहोत्र स्वर्गके सुखोंकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—किस प्रकार ये आहुतियाँ सूर्य-किरणोंद्वारा यजमानको इन्द्रलोकमें ले जाती हैं—ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः
सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य
एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥ ६ ॥

सुवर्चसः=(वे) देदीप्यमान; **आहुतयः**=आहुतियाँ, **एहि एहि**= आओ, आओ; **एषः**=यह, **वः**=तुम्हारे, **सुकृतः**=शुभ कर्मोंसे प्राप्त; **पुण्यः**= पवित्र, **ब्रह्मलोकः**=ब्रह्मलोक (स्वर्ग) है, **इति**=इस प्रकारकी, **प्रियाम्**= प्रिय, **वाचम्**=वाणी; **अभिवदन्त्यः**=बार-बार कहती हुई (और); **अर्चयन्त्यः**= उसका आदर-सत्कार करती हुई; **तम्**=उस, **यजमानम्**=यजमानको; **सूर्यस्य**= सूर्यकी; **रश्मिभिः**=रश्मियोंद्वारा' **वहन्ति**=ले जाती हैं ॥ ६ ॥

व्याख्या—उन प्रदीप्त ज्वालाओंमें दी हुई आहुतियाँ सूर्यकी किरणोंके रूपमें परिणत होकर मरणकालमें उस साधकसे कहती हैं—'आओ, आओ, यह तुम्हारे शुभ कर्मोंका फलस्वरूप ब्रह्मलोक अर्थात् भोगरूप सुखोंको भोगनेका स्थान स्वर्गलोक है ।' इस प्रकारकी प्रिय वाणी बार-बार कहती हुई आदर-सत्कारपूर्वक उसे सूर्यकी किरणोंके मार्गसे ले जाकर स्वर्गलोकमें पहुँचा देती हैं । यहाँ स्वर्गको ब्रह्मलोक कहनेका यह भाव मालूम होता है कि स्वर्गके अधिपति इन्द्र भी भगवान्‌के ही अपर स्वरूप हैं, अतः प्रकारान्तरसे ब्रह्म ही हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब सांसारिक भोगोंमें वैराग्यकी और परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको पानेकी अभिलाषा उत्पन्न करनेके लिये उपर्युक्त स्वर्गलोकके साधनरूप यज्ञादि सकाम कर्म और उनके फलरूप लौकिक एवं पारलौकिक भोगोंकी तुच्छता बतलाते हैं—

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा
अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा
जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ ७ ॥

हि=निश्चय ही, एते=ये; यज्ञरूपाः=यज्ञरूप, अष्टादश प्लवाः=अठारह नौकाएँ, अदृढाः=अदृढ (अस्थिर) हैं; येषु=जिनमें, अवरम् कर्म=नीची श्रेणीका उपासनारहित सकाम कर्म; उक्तम्=बताया गया है, ये=जो; मूढाः=मूर्ख; एतत् [एव]=यही, श्रेयः=कल्याणका मार्ग है (यों मानकर), अभिनन्दन्ति=इसकी प्रशंसा करते हैं, ते=वे, पुनः अपि=बारंबार, एव=निःसंदेह, जरामृत्युम्=वृद्धावस्था और मृत्युको, यन्ति=प्राप्त होते रहते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यज्ञको नौकाका रूप दिया गया है और उनकी संख्या अठारह बतलायी गयी है; इससे अनुमान होता है कि नित्य, दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य आदि भेदोंसे यज्ञके अठारह प्रधान भेद होते हैं। कहना यह है कि जिनमें उपासनारहित सकाम कर्मोंका वर्णन है, ऐसी ये यज्ञरूप अठारह नौकाएँ हैं, जो कि दृढ नहीं हैं। इनके द्वारा संसार-समुद्रसे पार होना तो दूर रहा, इस लोकके वर्तमान दुःखरूप छोटी सी नदीसे पार होकर स्वर्गतक पहुँचनेमें भी संदेह है; क्योंकि तीसरे मन्त्रके वर्णनानुसार किसी भी अङ्गकी कमी रह जानेपर वे साधकको स्वर्गमें नहीं पहुँचा सकतीं, बीचमें ही छिन्न-भिन्न हो जाती हैं। इसलिये ये अदृढ अर्थात् अस्थिर हैं। इस रहस्यको न समझकर जो मूर्खलोग इन सकाम कर्मोंको ही कल्याणका उपाय समझकर—उनके ही फलको परम सुख मानकर इनकी प्रशंसा करते रहते हैं, उन्हें निःसंदेह बारंबार वृद्धावस्था और मरणके दुःख भोगने पड़ते हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—वे किस प्रकार दुःख भोगते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंधीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥ ८ ॥

अविद्यायाम् अन्तरे=अविद्याके भीतर, वर्तमानाः=स्थित होकर (भी); स्वयंधीराः=अपने-आप बुद्धिमान् बननेवाले (और), पण्डितम् मन्यमानाः=अपनेको विद्वान् माननेवाले, मूढाः=वे मूर्खलोग, जङ्घन्यमानाः=बार-बार आघात (कष्ट) सहन करते हुए; परियन्ति=(ठीक वैसे ही) भटकते रहते हैं, यथा=जैसे, अन्धेन एव=अंधेके द्वारा ही; नीयमानाः=चलाये जानेवाले;

अन्धाः=अंधे (अपने लक्ष्यतक न पहुँचकर बीचमें ही इधर-उधर भटकते और कष्ट भोगते रहते हैं) ॥ ८ ॥*

व्याख्या—जब अंधे मनुष्यको मार्ग दिखानेवाला भी अंधा ही मिल जाता है, तब जैसे वह अपने अभीष्ट स्थानपर नहीं पहुँच पाता, बीचमें ही ठोकरें खाता भटकता है और काँटे-कंकड़ोंसे बिंधकर या गहरे गड्ढे आदिमें गिरकर अथवा किसी चट्टान, दीवाल और पशु आदिसे टकराकर नाना प्रकारके कष्ट भोगता है, वैसे ही उन मूर्खोंको भी पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि विविध दुःखपूर्ण योनियोंमें एवं नरकादिमें प्रवेश करके अनन्त जन्मोंतक अनन्त यन्त्रणाओंका भोग करना पड़ता है, जो अपने-आपको ही बुद्धिमान् और विद्वान् समझते हैं, विद्या-बुद्धिके मिथ्याभिमानमें शास्त्र और महापुरुषोंके वचनोंकी कुछ भी परवा न करके उनकी अवहेलना करते हैं और प्रत्यक्ष सुखरूप प्रतीत होनेवाले भोगोंका भोग करनेमें तथा उनके उपायभूत अविद्यामय सकाम कर्मोंमें ही निरन्तर संलग्न रहकर मनुष्यजीवनका अमूल्य समय व्यर्थ नष्ट करते रहते हैं ॥८॥

सम्बन्ध—वे लोग बारंबार दुःखोंमें पड़कर भी चेतते क्यों नहीं, कल्याणके लिये चेष्टा क्यों नहीं करते, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना
वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्
तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥ ९ ॥

बालाः=वे मूर्खलोग, अविद्यायाम्=उपासनारहित सकाम कर्मोंमें, बहुधा=बहुत प्रकारसे, वर्तमानाः=बर्तते हुए, वयम्=हम, कृतार्थाः=कृतार्थ हो गये, इति अभिमन्यन्ति=ऐसा अभिमान कर लेते हैं; यत्=क्योंकि, कर्मिणः=वे सकाम कर्म करनेवाले लोग, रागात्=विषयोंकी आसक्तिके कारण, न प्रवेदयन्ति=कल्याणके मार्गको नहीं जान पाते, तेन=इस कारण, आतुराः=बारंबार दुःखसे आतुर हो, क्षीणलोकाः=पुण्योपार्जित लोकोंसे हटाये जाकर, च्यवन्ते=नीचे गिर जाते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—पूर्वमन्त्रमें कहे हुए प्रकारसे जो इस लोक और परलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये सांसारिक उन्नतिके साधनरूप नाना प्रकारके सकाम कर्मोंमें ही बहुत प्रकारसे लगे रहते हैं, वे अविद्यामें निमग्न अज्ञानी मनुष्य समझते हैं कि 'हमने अपने कर्तव्यका पालन कर लिया।' उन सांसारिक कर्मोंमें लगे हुए मनुष्योंकी भोगोंमें अत्यन्त आसक्ति होती है, इस कारण वे सांसारिक उन्नतिके

* यह मन्त्र कठोपनिषद्में भी आया है (क० उ० १ । २ । ५) ।

सिवा कल्याणकी ओर दृष्टि ही नहीं डालते। उन्हें इस बातका पता ही नहीं रहता कि परमानन्दके समुद्र कोई परमात्मा हैं और मनुष्य उन्हे पा सकता है। इसलिये वे उन परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये चेष्टा न करके बारबार दुखी होते रहते हैं और पुण्यकर्मोंका फल पूरा होनेपर वे स्वर्गादि लोकोंसे नीचे गिर जाते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—ऊपर कही हुई बातको ही और भी स्पष्ट करते हैं—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥१०॥

इष्टापूर्तम्=इष्ट और पूर्त* (सकाम) कर्मोंको ही, **वरिष्ठम्**=श्रेष्ठ; **मन्यमानाः**=माननेवाले, **प्रमूढाः**=अत्यन्त मूर्खलोग, **अन्यत्**=उससे भिन्न, **श्रेयः**=वास्तविक श्रेयको; **न वेदयन्ते**=नहीं जानते, **ते**=वे, **सुकृते**=पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप, **नाकस्य पृष्ठे**=स्वर्गके उच्चतम स्थानमें, **अनुभूत्वा**=(जाकर श्रेष्ठ कर्मोंके फलस्वरूप) वहाँके भोगोंका अनुभव करके, **इमम् लोकम्**=इस मनुष्यलोकमें, **वा**=अथवा, **हीनतरम्**=इससे भी अत्यन्त हीन योनियोंमें; **विशन्ति**=प्रवेश करते हैं ॥ १० ॥

व्याख्या—वे अतिशय मूर्ख भोगासक्त मनुष्य इष्ट और पूर्तको अर्थात् वेद और स्मृति आदि शास्त्रोंमें सांसारिक सुखोंकी प्राप्तिके जितने भी साधन बताये गये हैं, उन्हींको सर्वश्रेष्ठ कल्याण-साधन मानते हैं। इसलिये उनसे भिन्न अर्थात् परमेश्वरका भजन, ध्यान और निष्कामभावसे कर्तव्यपालन करना एवं परमपुरुष परमात्माको जाननेके लिये तीव्र जिज्ञासापूर्वक चेष्टा करना आदि जितने भी परम कल्याणके साधन हैं, उन्हें वे नहीं जानते, उन कल्याण-साधनोंकी ओर लक्ष्यतक नहीं करते। अतः वे अपने पुण्यकर्मोंके फलरूप स्वर्गलोकतकके सुखोंको भोगकर पुण्य-क्षय होनेपर पुनः इस मनुष्यलोकमें अथवा इससे भी नीची शूकर-कूकर, कीट-पतङ्ग आदि योनियोंमें या रौरवादि घोर नरकोंमें चले जाते हैं। (गीता ९। २०-२१) ॥ १० ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलाये हुई सांसारिक भोगोंसे विरक्त मनुष्योंके आचार-व्यवहार और उनके फलका वर्णन करते हैं—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये
शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति
यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

---

* यज्ञ-यागादि श्रौत कर्मोंको 'इष्ट' तथा बावली, कुआँ खुदवाना और बगीचे लगाना आदि स्मृतिविहित कर्मोंको 'पूर्त' कहते हैं।

हि=किंतु; ये=जो; अरण्ये [स्थिताः]=वनमें रहनेवाले; शान्ताः=शान्तस्वभाववाले; विद्वांसः=विद्वान्; भैक्ष्यचर्याम् चरन्तः=तथा भिक्षाके लिये विचरनेवाले; तपःश्रद्धे=संयमरूप तप तथा श्रद्धाका; उपवसन्ति=सेवन करते हैं; ते=वे; विरजाः=रजोगुणरहित; सूर्यद्वारेण=सूर्यके मार्गसे; [तत्र] प्रयान्ति=वहाँ चले जाते हैं; यत्र हि=जहाँपर; सः=वह; अमृतः=जन्म-मृत्युसे रहित; अव्ययात्मा=नित्य, अविनाशी; पुरुषः=परम पुरुष (रहता है) ॥११॥

व्याख्या—उपर्युक्त भोगासक्त मनुष्योंसे जो सर्वथा भिन्न हैं, मनुष्यशरीरका महत्त्व समझ लेनेके कारण जिनके अन्तःकरणमें परमात्माका तत्त्व जाननेकी और परमेश्वरको प्राप्त करनेकी इच्छा जग उठी है, वे चाहे वनमें निवास करनेवाले वानप्रस्थ हों, शान्त स्वभाववाले विद्वान् सदाचारी गृहस्थ हों या भिक्षासे निर्वाह करनेवाले ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी हों, वे तो निरन्तर तप और श्रद्धाका ही सेवन किया करते हैं, अर्थात् अपने-अपने वर्ण, आश्रम तथा परिस्थितिके अनुसार जिस समय जो कर्तव्य होता है, उसका शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार बिना किसी प्रकारकी कामनाके पालन करते रहते हैं और संयमपूर्वक शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न होकर परम श्रद्धाके साथ परमेश्वरको जानने और प्राप्त करनेके साधनोंमें लगे रहते हैं । इसलिये तम और रजोगुणके विकारोंसे सर्वथा शून्य निर्मल सत्त्वगुणमें स्थित वे सज्जन सूर्यलोकमें होते हुए वहाँ चले जाते हैं, जहाँ उनके परम प्राप्य अमृतस्वरूप नित्य अविनाशी परमपुरुष पुरुषोत्तम निवास करते हैं ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—उन परब्रह्म परमेश्वरको जानने और प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥१२॥

कर्मचितान्=कर्मसे प्राप्त किये जानेवाले; लोकान् परीक्ष्य=लोकोंकी परीक्षा करके; ब्राह्मणः=ब्राह्मण; निर्वेदम्=वैराग्यको; आयात्=प्राप्त हो जाय (यह समझ ले कि); कृतेन=किये जानेवाले कर्मोंसे; अकृतः=स्वतःसिद्ध नित्य परमेश्वर; न अस्ति=नहीं मिल सकता; सः=वह; तद्विज्ञानार्थम्=उस परब्रह्मका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये; समित्पाणिः=हाथमें समिधा लेकर; श्रोत्रियम्=वेदको भलीभाँति जाननेवाले (और); ब्रह्मनिष्ठम्=परब्रह्म परमात्मामें स्थित; गुरुम्=गुरुके पास; एव=ही; अभिगच्छेत्=विनयपूर्वक जाय ॥ १२ ॥

व्याख्या—अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको पहले बतलाये हुए सकाम कर्मोंके फलस्वरूप इस लोक और परलोकके समस्त सांसारिक सुखोंकी भलीभाँति परीक्षा करके अर्थात् विवेकपूर्वक उनकी अनित्यता और दुःखरूपताको समझकर सब प्रकारके भोगोंसे सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिये। यह निश्चय कर लेना चाहिये कि कर्तापनके अभिमानपूर्वक सकामभावसे किये जानेवाले कर्म अनित्य फलको देनेवाले तथा स्वयं भी अनित्य हैं। अतः जो सर्वथा अकृत है अर्थात् क्रियासाध्य नहीं है, ऐसे नित्य परमेश्वरकी प्राप्ति वे नहीं करा सकते। यह सोचकर उस जिज्ञासुको परमात्माका वास्तविक तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये हाथमें समिधा लेकर श्रद्धा और विनयभावके सहित ऐसे सद्गुरुकी शरणमें जाना चाहिये, जो वेदोंके रहस्यको भलीभाँति जानते हों और परब्रह्म परमात्मामें स्थित हों ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलाये हुए लक्षणोंवाला कोई शिष्य यदि गुरुके पास आ जाय तो गुरुको क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

सः=वह; **विद्वान्**=ज्ञानी महात्मा, **उपसन्नाय**=शरणमें आये हुए, **सम्यक्प्रशान्तचित्ताय**=पूर्णतया शान्तचित्तवाले; **शमान्विताय**=शम-दमादि साधनयुक्त, **तस्मै**=उस शिष्यको, **ताम् ब्रह्मविद्याम्**=उस ब्रह्मविद्याका, **तत्त्वतः**=तत्त्व-विवेचनपूर्वक, **प्रोवाच**=भलीभाँति उपदेश करे; **येन [सः]**= जिससे वह शिष्य, **अक्षरम्**=अविनाशी, **सत्यम्**=नित्य; **पुरुषम्**=परम पुरुषको, **वेद**=जान ले ॥ १३ ॥

व्याख्या—उन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महात्माको भी चाहिये कि अपनी शरणमें आये हुए ऐसे शिष्यको, जिसका चित्त पूर्णतया शान्त—निश्चिन्त हो चुका हो, सांसारिक भोगोंमें सर्वथा वैराग्य हो जानेके कारण जिसके चित्तमें किसी प्रकारकी चिन्ता, व्याकुलता या विकार नहीं रह गये हों; जो शम-दमादि साधनसम्पन्न हो अर्थात् जिसने अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको भलीभाँति वशमें कर लिया हो, उस ब्रह्मविद्याका तत्त्व-विवेचनपूर्वक भलीभाँति समझाकर उपदेश करे, जिससे वह शिष्य नित्य अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त कर सके ॥ १३ ॥

द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

प्रथम मुण्डक समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

सम्बन्ध—प्रथम मुण्डकके द्वितीय खण्डमें अपर विद्याका स्वरूप और फल बतलाया तथा उसकी तुच्छता दिखाते हुए उससे विरक्त होनेकी बात कहकर परविद्या प्राप्त करनेके लिये सद्गुरुकी शरणमें जानेको कहा। अब परविद्याका वर्णन करनेके लिये प्रकरण आरम्भ करते हैं—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ १ ॥

सोम्य=हे प्रिय !, **तत्**=वह, **सत्यम्**=सत्य; **एतत्**=यह है; **यथा**=जिस प्रकार; **सुदीप्तात् पावकात्**=प्रज्वलित अग्निमेंसे, **सरूपाः**=उसीके समान रूपवाली; **सहस्रशः**=हजारों, **विस्फुलिङ्गाः**=चिनगारियाँ, **प्रभवन्ते**=नाना प्रकारसे प्रकट होती हैं, **तथा**=उसी प्रकार, **अक्षरात्**=अविनाशी ब्रह्मसे, **विविधाः**=नाना प्रकारके; **भावाः**=भाव, **प्रजायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **च**=और, **तत्र एव**=उसीमें; **अपियन्ति**=विलीन हो जाते हैं*॥ १ ॥

व्याख्या—महर्षि अङ्गिरा कहते हैं—प्रिय शौनक ! मैंने तुमको पहले परब्रह्म परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए (पूर्व प्रकरणके पहले खण्डमें छठे मन्त्रसे नवेंतक) जो रहस्य बतलाया था, वह सर्वथा सत्य है, अब उसीको पुनः समझाता हूँ, तुम ध्यानपूर्वक सुनो। जिस प्रकार प्रज्वलित अग्निमेंसे उसीके जैसे रूप-रंगवाली हजारों चिनगारियाँ चारों ओर निकलती हैं, उसी प्रकार परमपुरुष अविनाशी ब्रह्मसे सृष्टिकालमें नाना प्रकारके भाव मूर्त-अमूर्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं और प्रलयकालमें पुनः उन्हींमें लीन हो जाते हैं। यहाँ भावोंके प्रकट होनेकी बात समझानेके लिये ही अग्नि और चिनगारियोंका दृष्टान्त दिया गया है। उनके विलीन होनेकी बात दृष्टान्तसे स्पष्ट नहीं होती ॥ १ ॥

सम्बन्ध—जिन परब्रह्म अविनाशी पुरुषोत्तमसे यह जगत् उत्पन्न होकर पुनः उन्हींमें विलीन हो जाता है, वे स्वयं कैसे हैं—इस जिज्ञासापर कहते हैं—

---

* प्रथम मुण्डकके प्रथम खण्डके सातवें मन्त्रमें मकड़ी, पृथ्वी और मनुष्य शरीरके दृष्टान्तसे जो बात कही थी, वही बात इस मन्त्रमें अग्निके दृष्टान्तसे समझायी गयी है।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥ २ ॥

हि=निश्चय ही, **दिव्यः**=दिव्य, **पुरुषः**=पूर्णपुरुष; **अमूर्तः**=आकाररहित, **सबाह्याभ्यन्तरः** हि=समस्त जगत्‌के बाहर और भीतर भी व्याप्त, **अजः**=जन्मादि विकारोंसे अतीत; **अप्राणः**=प्राणरहित, **अमनाः**=मनरहित; हि=होनेके कारण, **शुभ्रः**=सर्वथा विशुद्ध है (तथा); हि=इसीलिये, **अक्षरात्**=अविनाशी जीवात्मासे, **परतः परः**=अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

व्याख्या—वे दिव्य पुरुष परमात्मा निःसन्देह आकाररहित और समस्त जगत्‌के बाहर एवं भीतर भी परिपूर्ण हैं। वे जन्म आदि विकारोंसे रहित, सर्वथा विशुद्ध हैं, क्योंकि उनके न तो प्राण हैं, न इन्द्रियाँ हैं और न मन ही है। वे इन सबके बिना ही सब कुछ करनेमें समर्थ हैं; इसीलिये वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अविनाशी जीवात्मासे अत्यन्त श्रेष्ठ—सर्वथा उत्तम हैं ॥ २ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त लक्षणोंवाले निराकार परमेश्वरसे यह साकार जगत् किस प्रकार उत्पन्न हो जाता है, इस जिज्ञासापर उनकी सर्वशक्तिमत्ताका वर्णन करते हैं—

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३ ॥

एतस्मात्=इसी परमेश्वरसे; **प्राणः**=प्राण, **जायते**=उत्पन्न होता है (तथा); **मनः**=मन (अन्तःकरण); **सर्वेन्द्रियाणि**=समस्त इन्द्रियाँ; **खम्**=आकाश; **वायुः**=वायु; **ज्योतिः**=तेज; **आपः**=जल; **च**=और; **विश्वस्य धारिणी**=सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली; **पृथिवी**=पृथ्वी (ये सब उत्पन्न होते हैं) ॥ ३ ॥

व्याख्या—यद्यपि वे परब्रह्म पुरुषोत्तम निराकार और मन, इन्द्रिय आदि करण-समुदायसे सर्वथा रहित हैं, तथापि सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। इन सर्वशक्तिमान् परब्रह्म पुरुषोत्तमसे ही सृष्टिकालमें प्राण, मन (अन्तःकरण) और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ तथा आकाश, वायु, तेज, जल और सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली पृथ्वी—ये पाँचों महाभूत, सब-के-सब उत्पन्न होते हैं ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार संक्षेपमें परमेश्वरसे सूक्ष्म तत्त्वोंकी उत्पत्तिका प्रकार बतलाकर अब इस जगत्‌में भगवान्‌का विराट्‌रूप देखनेका प्रकार बतलाते हैं—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ
दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः ।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य
पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥ ४ ॥

अस्य=इस परमेश्वरका, **अग्निः**=अग्नि, **मूर्धा**=मस्तक है, **चन्द्रसूर्यौ**=चन्द्रमा और सूर्य, **चक्षुषी**=दोनों नेत्र हैं, **दिशः**=सब दिशाएँ; **श्रोत्रे**=दोनों कान हैं; **च**=और; **विवृताः वेदाः**=विस्तृत वेद, **वाक्**=वाणी हैं (तथा), **वायुः प्राणः**=वायु प्राण है, **विश्वम् हृदयम्**=जगत् हृदय है; **पद्भ्याम्**=इसके दोनों पैरोंसे, **पृथिवी**=पृथ्वी उत्पन्न हुई है, **एषः हि**=यही, **सर्वभूतान्तरात्मा**=समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा है ॥ ४ ॥

व्याख्या—दूसरे मन्त्रमें जिन परमेश्वरके निराकार स्वरूपका वर्णन किया गया है, उन्हीं परब्रह्मका यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला जगत् विराटरूप है । इन विराट्स्वरूप परमेश्वरका अग्नि अर्थात् द्युलोक ही मानो मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य दोनों नेत्र हैं, समस्त दिशाएँ कान हैं, नाना छन्द और ऋचाओंके रूपमें विस्तृत चारों वेद वाणी हैं, वायु प्राण है, सम्पूर्ण चराचर जगत् हृदय है, पृथ्वी मानो उनके पैर हैं । ये ही परब्रह्म परमेश्वर समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी परमात्मा हैं ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—उन परमात्मासे इस चराचर जगत्की उत्पत्ति किस क्रमसे होती है, इस जिज्ञासापर प्रकारान्तरसे जगत्की उत्पत्तिका क्रम बतलाते हैं—

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः
सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां
बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥ ५ ॥

तस्मात्=उससे ही, **अग्निः**=अग्निदेव प्रकट हुआ, **यस्य समिधः**=जिसकी समिधा, **सूर्यः**=सूर्य है, (उस अग्निसे सोम उत्पन्न हुआ) **सोमात्**=सोमसे, **पर्जन्यः**=मेघ उत्पन्न हुए (और मेघोंसे वर्षाद्वारा); **पृथिव्याम्**=पृथ्वीमें, **ओषधयः**=नाना प्रकारकी ओषधियाँ उत्पन्न हुईं, **रेतः**=(ओषधियोंके भक्षणसे उत्पन्न हुए) वीर्यको, **पुमान्**=पुरुष, **योषितायाम्**=स्त्रीमें, **सिञ्चति**=सिंचन करता है (जिससे संतान उत्पन्न होती है), (**एवम्**)=इस प्रकार; **पुरुषात्**=उस परम पुरुषसे ही; **बह्वीः प्रजाः**=नाना प्रकारके चराचर प्राणी; **सम्प्रसूताः**=नियमपूर्वक उत्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—जब-जब परमेश्वरसे यह जगत् उत्पन्न होता है, तब-तब सदैव एक प्रकारसे ही होता हो—ऐसा नियम नहीं है । वे जब जैसा संकल्प करते हैं,

उसी प्रकार उसी क्रमसे जगत् उत्पन्न हो जाता है। इसी भावको प्रकट करनेके लिये यहाँ प्रकारान्तरसे सृष्टिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है। मन्त्रका साराश यह है कि परब्रह्म पुरुषोत्तमसे सर्वप्रथम तो उनकी अचिन्त्य शक्तिका एक अंग अद्भुत अग्नितत्त्व उत्पन्न हुआ, जिसकी समिधा (ईंधन) सूर्य है, अर्थात् जो सूर्यबिम्बके रूपमें प्रज्वलित रहती है, अग्निसे चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, चन्द्रमासे (सूर्यकी रश्मियोंमें सूक्ष्मरूपसे स्थित जलमें कुछ शीतलता आ जानेके कारण) मेघ उत्पन्न हुए। मेघोंसे वर्षाद्वारा पृथ्वीमें नाना प्रकारकी ओषधियाँ उत्पन्न हुई। उन ओषधियोंके भक्षणसे उत्पन्न हुए वीर्यको जब पुरुष अपनी जातिकी स्त्रीमें सिंचन करता है, तब उससे संतान उत्पन्न होती है। इस प्रकार परमपुरुष परमेश्वरसे ये नाना प्रकारके चराचर प्राणी उत्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिका क्रम बतलाकर अब यह बात बतायी जाती है कि उन सबकी रक्षाके लिये किये जानेवाले यज्ञादि, उनके साधन और फल भी उन्हीं परमेश्वरसे प्रकट होते हैं—

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा
यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः
सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥ ६ ॥

तस्मात्=उस परमेश्वरसे ही; **ऋचः**=ऋग्वेदकी ऋचाएँ; **साम**=सामवेदके मन्त्र; **यजूंषि**=यजुर्वेदकी श्रुतियाँ; (और) **दीक्षा**=दीक्षा; **च**=तथा, **सर्वे**=समस्त; **यज्ञाः**=यज्ञ; **क्रतवः**=क्रतु; **च**=एवं; **दक्षिणाः**=दक्षिणाएँ; **च**=तथा; **संवत्सरः**=संवत्सररूप काल, **यजमानः**=यजमान, **च**=और; **लोकाः**=सब लोक (उत्पन्न हुए हैं), **यत्र**=जहाँ, **सोमः**=चन्द्रमा, **पवते**=प्रकाश फैलाता है (और), **यत्र**=जहाँ; **सूर्यः**=सूर्य, **(पवते)**=प्रकाश देता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—उन परमेश्वरसे ही ऋग्वेदकी ऋचाएँ, सामवेदके मन्त्र और यजुर्वेदकी श्रुतियाँ एवं यज्ञादि कर्मोंकी दीक्षा *, सब प्रकारके यज्ञ और क्रतु, † उनमें दी जानेवाली दक्षिणाएँ, जिसमें वे किये जाते हैं—वह संवत्सररूप काल, उनको करनेका अधिकारी यजमान, उनके फलस्वरूप वे सब लोक, जहाँ चन्द्रमा और सूर्य प्रकाश फैलाते हैं,—ये सब उत्पन्न हुए हैं ॥ ६ ॥

---

* शास्त्रविधिके अनुसार किसी यज्ञका आरम्भ करते समय यजमान जो संकल्पके साथ उसके अनुष्ठानसम्बन्धी नियमोंके पालनका व्रत लेता है, उसका नाम 'दीक्षा' है।

† यज्ञ और क्रतु—ये यज्ञके ही दो भेद हैं। जिन यज्ञोंमें यूप बनानेकी विधि है, उन्हें 'क्रतु' कहते हैं।

सम्बन्ध—अब देवादि समस्त प्राणियोंके भेद और सब प्रकारके सदाचार भी उन्हीं ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं, यह बतलाते हैं—

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः
साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च
श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥ ७ ॥

च=तथा; तस्मात्=उसी परमेश्वरसे, बहुधा=अनेक भेदोंवाले, देवाः=देवतालोग, सम्प्रसूताः=उत्पन्न हुए; साध्याः=साध्यगण, मनुष्याः=मनुष्य, पशवः वयांसि=पशु-पक्षी; प्राणापानौ=प्राण-अपान वायु, व्रीहियवौ=धान, जौ आदि अन्न, च=तथा; तपः=तप; श्रद्धा=श्रद्धा, सत्यम्=सत्य (और), ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मचर्य, च=एवम्, विधिः=यज्ञ आदिके अनुष्ठानकी विधि भी, [एते सम्प्रसूताः]=ये सब-के-सब उत्पन्न हुए हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—उन परब्रह्म परमेश्वरसे ही वसु, रुद्र आदि अनेक भेदोंवाले देवतालोग उत्पन्न हुए हैं। उन्हींसे साध्यगण, नाना प्रकारके मनुष्य, विभिन्न जातियोंके पशु, विविध भाँतिके पक्षी और अन्य सब प्राणी उत्पन्न हुए हैं। सबके जीवनरूप प्राण और अपान तथा सब प्राणियोंके आहाररूप धान, जौ आदि अनेक प्रकारके अन्न भी उन्हींसे उत्पन्न हुए हैं। उन्हींसे तप, श्रद्धा, सत्य और ब्रह्मचर्य प्रकट हुए हैं तथा यज्ञादि कर्म करनेकी विधि भी उन परमेश्वरसे ही प्रकट हुई है। तात्पर्य यह कि सब कुछ उन्हींसे उत्पन्न हुआ है। वे ही सबके परम कारण हैं ॥ ७ ॥

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्
सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा
गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥ ८ ॥

तस्मात्=उसी परमेश्वरसे; सप्त=सात; प्राणाः=प्राण; प्रभवन्ति=उत्पन्न होते हैं (तथा); सप्त अर्चिषः=अग्निकी (काली-कराली आदि) सात लपटें, [सप्त] समिधः=सात (विषयरूपी) समिधाएँ; सप्त=सात प्रकारके, होमाः=हवन (तथा); इमे सप्त लोकाः=ये सात लोक—इन्द्रियोंके सात द्वार (उसीसे उत्पन्न होते हैं), येषु=जिनमें; प्राणाः=प्राण, चरन्ति=विचरते हैं, गुहाशयाः=हृदयरूप गुफामें शयन करनेवाले ये, सप्त सप्त=सात-सातके समुदाय, निहिताः=(उसीके द्वारा) सब प्राणियोंमें स्थापित किये हुए हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—उन्हीं परमेश्वरसे सात प्राण अर्थात् जिनमें विषयोंको प्रकाशित करनेकी विशेष शक्ति है, ऐसी सात इन्द्रियाँ—कान, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण तथा वाणी एवं मन,* तथा मनसहित इन्द्रियोंकी सुनना, स्पर्श करना, देखना, स्वाद लेना, सूँघना, बोलना और मनन करना, इस प्रकार सात वृत्तियाँ अर्थात् विषय ग्रहण करनेवाली शक्तियाँ; उन इन्द्रियोंके विषयरूप सात समिधाएँ, सात प्रकारका हवन अर्थात् बाह्यविषयरूप समिधाओंका इन्द्रियरूप अग्नियोंमें निक्षेपरूप क्रिया और इन इन्द्रियोंके वासस्थानरूप सात लोक, जिनमें रहकर ये इन्द्रियरूप सात प्राण अपना-अपना कार्य करते हैं;—निद्राके समय मनके साथ एक होकर हृदयरूप गुफामें शयन करनेवाले ये सात-सातके समुदाय परमेश्वरके द्वारा ही समस्त प्राणियोंमें स्थापित किये हुए हैं ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार आध्यात्मिक वस्तुओंकी उत्पत्ति और स्थिति परमेश्वरसे बतलाकर अब बाह्य जगत्‌की उत्पत्ति भी उसीसे बताते हुए प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे-
ऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च
येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥ ९ ॥

अतः=इसीसे; **सर्वे**=समस्त; **समुद्राः**=समुद्र; **च**=और; **गिरयः**=पर्वत (उत्पन्न हुए हैं); **अस्मात्**=इसीसे (प्रकट होकर); **सर्वरूपाः**=अनेक रूपोंवाली; **सिन्धवः**=नदियाँ; **स्यन्दन्ते**=बहती हैं; **च**=तथा; **अतः**=इसीसे; **सर्वाः**=सम्पूर्ण; **ओषधयः**=ओषधियाँ; **च**=और; **रसः**=रस (उत्पन्न हुए हैं); **येन**=जिस रससे (पुष्ट हुए शरीरोंमें); **हि**=ही; **एषः**=यह; **अन्तरात्मा**=(सबका) अन्तरात्मा (परमेश्वर); **भूतैः**=सब प्राणियों (की आत्मा) के सहित; **तिष्ठते**=(उन-उनके हृदयमें) स्थित है ॥ ९ ॥

व्याख्या—इन्हीं परमेश्वरसे समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं, इन्हींसे निकलकर अनेक आकारवाली नदियाँ बह रही हैं, इन्हींसे समस्त ओषधियाँ और वह रस भी उत्पन्न हुआ है, जिससे पुष्ट हुए शरीरोंमें वे सबके

---

* ब्रह्मसूत्रमें इस विषयपर विचार किया गया है कि यहाँ इन्द्रियाँ सात ही क्यों बतलायी गयी हैं । वहाँ कहा गया है कि इन सातके अतिरिक्त हाथ, पैर, उपस्थ तथा गुदा भी इन्द्रियाँ हैं, अतः मनसहित कुल ग्यारह इन्द्रियाँ हैं । यहाँ प्रधानतासे सातका वर्णन है (ब्रह्मसूत्र २ । ४ । ५, ६) ।

अन्तरात्मा परमेश्वर उन सब प्राणियोंकी आत्माके सहित उन-उनके हृदयमें रहते हैं ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उन परमेश्वरसे सबकी उत्पत्ति होनेके कारण सब उन्हींका स्वरूप है, यह कहकर उनको जाननेका फल बताते हुए इस खण्डकी समाप्ति करते हैं।

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् । एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥ १० ॥

तपः=तप, कर्म=कर्म (और), परामृतम्=परम अमृतरूप; ब्रह्म=ब्रह्म; इदम्=यह, विश्वम्=सब कुछ; पुरुषः एव=परम पुरुष पुरुषोत्तम ही है, सोम्य=हे प्रिय !; एतत्=इस, गुहायाम्=हृदयरूप गुफामें; निहितम्=स्थित अन्तर्यामी परमपुरुषको; यः=जो; वेद=जानता है; सः=वह, इह [एव]=यहाँ (इस मनुष्यशरीरमें) ही, अविद्याग्रन्थिम्=अविद्याजनित गाँठको, विकिरति=खोल डालता है ॥ १० ॥

व्याख्या—तप अर्थात् संयमरूप साधन, कर्म अर्थात् बाह्य साधनोंद्वारा किये जानेवाले कृत्य तथा परम अमृत ब्रह्म—यह सब कुछ परमपुरुष पुरुषोत्तम ही है। प्रिय शौनक ! हृदयरूप गुफामें छिपे हुए इन अन्तर्यामी परमेश्वरको जो जान लेता है, वह इस मनुष्यशरीरमें ही अविद्याजनित अन्तःकरणकी गाँठका भेदन कर देता है अर्थात् सब प्रकारके संशय और भ्रमसे रहित होकर परब्रह्म पुरुषोत्तमको प्राप्त हो जाता है ॥ १० ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ ॥*

आविः=(जो) प्रकाशस्वरूप, संनिहितम्=अत्यन्त समीपस्थ; गुहाचरम् नाम=(हृदयरूप गुहामें स्थित होनेके कारण) गुहाचर नामसे प्रसिद्ध; महत् पदम्=(और) महान् पद (परम प्राप्य) है, यत्=जितने भी; एजत्=चेष्टा करनेवाले; प्राणत्=श्वास लेनेवाले; च=और, निमिषत्=आँखोंको खोलने-मूँदनेवाले प्राणी हैं, एतत्=ये (सब-के-सब); अत्र=इसीमें, समर्पितम्=समर्पित (प्रतिष्ठित) हैं, एतत्=उस परमेश्वरको; जानथ=तुमलोग जानो, यत्=जो, सत्=

* इस मन्त्रसे मिलता हुआ मन्त्र अथर्व का० (१० । ८ । ६) है।

सत्; असत्=(और) असत् है, वरेण्यम्=सबके द्वारा वरण करने योग्य (और), वरिष्ठम्=अतिशय श्रेष्ठ है (तथा); प्रजानाम्=समस्त प्राणियोंकी, विज्ञानात्=बुद्धिसे, परम्=परे अर्थात् जाननेमें न आनेवाला है ॥ १ ॥

व्याख्या—सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी परमेश्वर प्रकाशस्वरूप हैं। समस्त प्राणियोंके अत्यन्त समीप उन्हींके हृदयरूप गुहामें छिपे रहनेके कारण ही ये गुहाचर नामसे प्रसिद्ध हैं। जितने भी हिलने-चलनेवाले, श्वास लेनेवाले और आँख खोलने-मूँदनेवाले प्राणी हैं, उन सबका समुदाय इन्हीं परमेश्वरमें समर्पित अर्थात् स्थित है। सबके आश्रय ये परमात्मा ही हैं। तुम इनको जानो। ये सत् और असत् अर्थात् कार्य और कारण एवं प्रकट और अप्रकट—सब कुछ हैं। सबके द्वारा वरण करने योग्य और अत्यन्त श्रेष्ठ हैं तथा समस्त प्राणियोंकी बुद्धिसे परे अर्थात् बुद्धिद्वारा अज्ञेय हैं ॥ १ ॥

सम्बन्ध—उन्हीं परब्रह्म परमेश्वरका तत्त्व समझानेके लिये पुनः उनके स्वरूपका दूसरे शब्दोंमें वर्णन करते हैं—

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि ॥ २ ॥

यत्=जो; अर्चिमत्=दीप्तिमान् है; च=और; यत्=जो; अणुभ्यः=सूक्ष्मोंसे भी; अणु=सूक्ष्म है; यस्मिन्=जिसमें; लोकाः=समस्त लोक; च=और, लोकिनः=उन लोकोंमें रहनेवाले प्राणी; निहिताः=स्थित हैं; तत्=वही; एतत्=यह; अक्षरम्=अविनाशी; ब्रह्म=ब्रह्म है, सः=वही; प्राणः=प्राण है; तत् उ=वही, वाक्=वाणी; मनः=(और) मन है, तत्=वही; एतत्=यह; सत्यम्=सत्य है; तत्=वह; अमृतम्=अमृत है, सोम्य=हे प्यारे !; तत्=उस; वेद्धव्यम्=बेधनेयोग्य लक्ष्यको, विद्धि=तू बेध ॥ २ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमेश्वर अतिशय देदीप्यमान-प्रकाशस्वरूप हैं, जो सूक्ष्मोंसे भी अतिशय सूक्ष्म हैं, जिनमें समस्त लोक और उन लोकोंमें रहनेवाले समस्त प्राणी स्थित हैं अर्थात् ये सब जिनके आश्रित हैं, वे ही परम अक्षर ब्रह्म हैं, वे ही सबके जीवनदाता प्राण हैं, वे ही सबकी वाणी और मन अर्थात् समस्त जगत्के इन्द्रिय और अन्तःकरणरूपमें प्रकट हैं। वे ही परम सत्य और अमृत—अविनाशी तत्त्व हैं। प्रिय शौनक ! उस बेधने योग्य लक्ष्यको तू बेध अर्थात् आगे बताये जानेवाले प्रकारसे साधन करके उसमें तन्मय हो जा ॥ २ ॥

सम्बन्ध—लक्ष्यको बेधनेके लिये धनुष और बाण चाहिये; अतः इस रूपककी पूर्णताके लिये सारी सामग्रीका वर्णन करते हैं—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं
शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत ।
आयम्य तद् भावगतेन चेतसा
लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ ३ ॥

औपनिषदम्=उपनिषद्में वर्णित प्रणवरूप, **महास्त्रम्**=महान् अस्त्र, **धनुः**=धनुषको; **गृहीत्वा**=लेकर (उसपर), **हि**=निश्चय ही, **उपासानिशितम्**=उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किया हुआ, **शरम्**=बाण, **सन्धयीत**=चढ़ाये; **भावगतेन**=(फिर) भावपूर्ण, **चेतसा**=चित्तके द्वारा, **तत्**=उस बाणको, **आयम्य**=खींचकर, **सोम्य**=हे प्रिय !; **तत्**=उस; **अक्षरम्**=परम अक्षर पुरुषोत्तमको; **एव**=ही, **लक्ष्यम्**=लक्ष्य मानकर, **विद्धि**=बेधे ॥ ३ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार किसी बाणको लक्ष्यपर छोड़नेसे पहले उसकी नोकको सानपर धरकर तेज किया जाता है, उसपर चढ़े हुए मोरचे आदिको दूर करके उसे उज्ज्वल एवं चमकीला बनाया जाता है, उसी प्रकार आत्मारूपी बाणको उपासनाद्वारा निर्मल एवं शुद्ध बनाकर उसको प्रणवरूप धनुषपर भलीभाँति चढ़ाना चाहिये । अर्थात् आत्माको प्रणवके उच्चारण एवं उसके अर्थरूप परमात्माके चिन्तनमें सम्यक् प्रकारसे लगाना चाहिये । इसके अनन्तर जैसे धनुषको पूरी शक्तिसे खींचकर बाणको लक्ष्यपर छोड़ा जाता है, जिससे वह पूरी तरहसे लक्ष्यको बेध सके, उसी प्रकार यहाँ भावपूर्ण चित्तसे ओंकारका अधिक-से-अधिक लंबा उच्चारण एवं उसके अर्थका प्रगाढ़ एवं सुदीर्घ कालतक चिन्तन करनेके लिये कहा गया है, जिससे आत्मा निश्चितरूपसे अविनाशी परमात्मामें प्रवेश कर जाय, उसमें तन्मय होकर अविचल स्थिति प्राप्त कर ले । भाव यह है कि ओंकारका प्रेमपूर्वक उच्चारण एवं उसके अर्थरूप परमात्माका प्रगाढ़ चिन्तन ही उनकी प्राप्तिका सर्वोत्तम उपाय है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—पूर्वमन्त्रमें कहे हुए रूपकको यहाँ स्पष्ट करते हैं—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ ॥

प्रणवः=(यहाँ) ओंकार ही, **धनुः**=धनुष है, **आत्मा**=आत्मा, **हि**=ही; **शरः**=बाण है, (और), **ब्रह्म**=परब्रह्म परमेश्वर ही, **तल्लक्ष्यम्**=उसका लक्ष्य, **उच्यते**=कहा जाता है, **अप्रमत्तेन**=(वह) प्रमादरहित मनुष्यद्वारा ही; **वेद्धव्यम्**=बींधा जाने योग्य है (अतः); **शरवत्**=(उसे बेधकर) बाणकी तरह; **तन्मयः**=(उस लक्ष्यमें) तन्मय; **भवेत्**=हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥

व्याख्या—ऊपर बतलाये हुए रूपकमें परमेश्वरका वाचक प्रणव (ओंकार) ही मानो धनुष है, यह जीवात्मा ही बाण है और परब्रह्म परमेश्वर ही उसके लक्ष्य हैं। तत्परतासे उनकी उपासना करनेवाले प्रमादरहित साधक-द्वारा ही वह लक्ष्य बेधा जा सकता है, इसलिये हे सोम्य! तुझे पूर्वोक्त-रूपसे उस लक्ष्यको बेधकर बाणकी ही भाँति उसमें तन्मय हो जाना चाहिये ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—पुन: परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए प्रमादरहित और विरक्त होकर उसे जाननेके लिये श्रुति कहती है—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष-
मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥ ५ ॥

यस्मिन्=जिसमें; **द्यौः**=स्वर्ग; **पृथिवी**=पृथिवी; **च**=और, **अन्तरिक्षम्**=और उनके बीचका आकाश; **च**=तथा; **सर्वैः प्राणैः सह**=समस्त प्राणोंके सहित, **मनः**=मन, **ओतम्**=गुँथा हुआ है, **तम् एव**=उसी, **एकम्**=एक, **आत्मानम्**=सबके आत्मरूप परमेश्वरको; **जानथ**=जानो; **अन्याः**=दूसरी; **वाचः**=सब बातोंको; **विमुञ्चथ**=सर्वथा छोड़ दो, **एषः**=यही, **अमृतस्य**=अमृतका, **सेतुः**=सेतु है ॥ ५ ॥

व्याख्या—जिन परब्रह्म परमात्मामें स्वर्ग, पृथ्वी तथा उनके बीचका सम्पूर्ण आकाश एवं समस्त प्राण और इन्द्रियोंके सहित मन-बुद्धिरूप अन्तःकरण सब-के-सब ओत-प्रोत हैं, उन्हीं एक सर्वात्मा परमेश्वरको तुम पूर्वोक्त उपायके द्वारा जानो, दूसरी सब बातोंको—ग्राम्यचर्चाको सर्वथा छोड़ दो। वे सब तुम्हारे साधनमें विघ्न हैं; अतः उनसे सर्वथा विरक्त होकर साधनमें तत्पर हो जाओ। यही अमृतका सेतु है, अर्थात् संसार-समुद्रसे पार होकर अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त करनेके लिये पुलके सदृश है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—पुनः परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए उनकी प्राप्तिका साधन बताते हैं—

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६ ॥

रथनाभौ=रथकी नाभिमें, (जुड़े हुए), **अराः इव**=अरोंकी भाँति; **यत्र**=जिसमें; **नाड्यः**=समस्त देहव्यापिनी नाड़ियाँ, **संहताः**=एकत्र स्थित हैं, (उसी हृदयमें) **सः**=वह; **बहुधा**=बहुत प्रकारसे; **जायमानः**=उत्पन्न होनेवाला; **एषः**=यह (अन्तर्यामी परमेश्वर); **अन्तः**=मध्यभागमें, **चरते**=रहता है, [**एनम्**]=इस; **आत्मानम्**=सर्वात्मा परमात्माका, **ओम्**=ओम्, **इति एवम्**=इस नामके द्वारा ही, **ध्यायथ**=ध्यान करो, **तमसः परस्तात्**=अज्ञानमय अन्धकारसे अतीत, **पाराय**=(तथा) भवसागरके अन्तिम तटरूप पुरुषोत्तमकी प्राप्तिके लिये (साधन करनेमें), **वः**=तुमलोगोंका; **स्वस्ति**=कल्याण हो ॥ ६ ॥

व्याख्या—'जिस प्रकार रथके पहियेके केन्द्रमें अरे लगे रहते हैं, उसी प्रकार शरीरकी समस्त नाडियाँ जिस हृदयदेशमें एकत्र स्थित हैं, उसी हृदयमें नाना रूपसे प्रकट होनेवाले परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामीरूपसे रहते हैं। इन सबके आत्मा पुरुषोत्तमका 'ओम्' इस नामके उच्चारणके साथ-साथ निरन्तर ध्यान करते रहो। इस प्रकार परमात्माके 'ओम्' इस नामका जप और उसके अर्थभूत परमात्माका ध्यान करते रहनेसे तुम उन परमात्माको प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाओगे, जो अज्ञानरूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत और संसार-समुद्रके दूसरे पार हैं। तुम्हारा कल्याण हो।' इस प्रकार आचार्य उपर्युक्त विधिसे साधन करनेवाले शिष्योंको आशीर्वाद देते हैं ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पुन परमेश्वरके स्वरूपका ही वर्णन करते हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि ।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद् विभाति ॥ ७ ॥

यः सर्वज्ञः=जो सर्वदा जाननेवाला (और); **सर्ववित्**=सब ओरसे सबको जाननेवाला है, **यस्य**=जिसकी, **भुवि**=जगत्में, **एषः**=यह; **महिमा**=महिमा है; **एषः हि आत्मा**=यह प्रसिद्ध सबका आत्मा परमेश्वर, **दिव्ये**= **व्योम्नि**=दिव्य आकाशरूप; **ब्रह्मपुरे**=ब्रह्मलोकमें, **प्रतिष्ठितः**=स्वरूपसे स्थित है, **प्राणशरीरनेता**=सबके प्राण और शरीरका नेता, **मनोमयः**=(यह परमात्मा मनमें व्याप्त होनेके कारण) मनोमय है; **हृदयं संनिधाय**=

(यही) हृदयकमलका आश्रय लेकर, **अन्ने**=अन्नमय स्थूल शरीरमें, **प्रतिष्ठितः**=प्रतिष्ठित है; **यत्**=जो; **आनन्दरूपम्**=आनन्दस्वरूप, **अमृतम्**=अविनाशी परब्रह्म; **विभाति**=सर्वत्र प्रकाशित है; **धीराः**=बुद्धिमान् मनुष्य; **विज्ञानेन**=विज्ञानके द्वारा, **तत्**=उसको, **परिपश्यन्ति**=भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमेश्वर सर्वज्ञ—सर्वदा जाननेवाले और सब ओरसे सबको भलीभाँति जाननेवाले हैं, अर्थात् जिनकी ज्ञानशक्ति देश-कालसे बाधित नहीं है, जिनकी यह आश्चर्यमयी महिमा जगत्में प्रकट है, वे सबके आत्मा परमेश्वर परम व्योम नामसे प्रसिद्ध दिव्य आकाशरूप ब्रह्मलोकमें स्वरूपसे स्थित हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके प्राण और शरीरका नियमन करनेवाले ये परमेश्वर मनमें व्याप्त होनेके कारण मनोमय कहलाते हैं और सब प्राणियोंके हृदयकमलका आश्रय लेकर अन्नमय स्थूलशरीरमें प्रतिष्ठित हैं। बुद्धिमान् मनुष्य विज्ञानद्वारा उन परब्रह्मको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेते हैं जो आनन्दमय अविनाशीरूपसे सर्वत्र प्रकाशित हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब परमात्माके ज्ञानका फल बताते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ८ ॥

तस्मिन् परावरे दृष्टे=कार्यकारणस्वरूप उस परात्पर पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर, **अस्य हृदयग्रन्थिः**=इस (जीवात्मा) के हृदयकी गाँठ, **भिद्यते**=खुल जाती है, **सर्वसंशयाः**=सम्पूर्ण संशय, **छिद्यन्ते**=कट जाते हैं; **च**=और; **कर्माणि**=समस्त शुभाशुभ कर्म, **क्षीयन्ते**=नष्ट हो जाते हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—कार्य और कारणस्वरूप उन परात्पर परब्रह्म पुरुषोत्तमको तत्त्वसे जान लेनेपर इस जीवके हृदयकी अविद्यारूप वह गाँठ खुल जाती है, जिसके कारण इसने इस जड शरीरको ही अपना स्वरूप मान रक्खा है; इतना ही नहीं, इसके समस्त संशय सर्वथा कट जाते हैं और समस्त शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् यह जीव सब बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होकर परमानन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—उन परब्रह्मके स्थान, स्वरूप और उनकी महिमाका वर्णन करते हैं—

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ ९ ॥

तत्=वह; विरजम्=निर्मल, निष्कलम्=अवयवरहित; ब्रह्म=परब्रह्म; हिरण्मये परे कोशे=प्रकाशमय परम कोशमें—परमधाममें (विराजमान है); तत्=वह; शुभ्रम्=सर्वथा विशुद्ध, ज्योतिषाम्=समस्त ज्योतियोंकी भी; ज्योतिः=ज्योति है; यत्=जिसको, आत्मविदः=आत्मज्ञानी, विदुः=जानते हैं ॥ ९ ॥

व्याख्या—वे निर्मल—निर्विकार और अवयवरहित—अखण्ड परमात्मा प्रकाशमय परमधाममें विराजमान हैं, वे सर्वथा विशुद्ध और समस्त प्रकाशयुक्त पदार्थोंके भी प्रकाशक हैं तथा उन्हें आत्मज्ञानी महात्माजन ही जानते हैं ॥ ९ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥*

तत्र=वहाँ; न=न (तो), सूर्यः=सूर्य, भाति=प्रकाशित होता है, न=न; चन्द्रतारकम्=चन्द्रमा और तारागण ही; न=(तथा) न, इमाः=ये, विद्युतः=बिजलियाँ ही; भान्ति=(वहाँ) चमकती हैं, अयम् अग्निः कुतः=फिर इस अग्निके लिये तो कहना ही क्या है; तम् भान्तम् एव=(क्योंकि) उसके प्रकाशित होनेपर ही; सर्वम्=सब; अनुभाति=उसके पीछे उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं, तस्य=उसीके, भासा=प्रकाशसे, इदम् सर्वम्=यह सम्पूर्ण जगत्, विभाति=प्रकाशित होता है ॥ १० ॥

व्याख्या—उन स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरके समीप यह सूर्य नहीं प्रकाशित होता । जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश प्रकट होनेपर खद्योतका प्रकाश लुप्त हो जाता है, वैसे ही सूर्यका तेज भी उस असीम तेजके सामने लुप्त हो जाता है । चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ नहीं चमकते, फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है । क्योंकि प्राकृत जगत्में जो कुछ भी तत्त्व प्रकाशशील हैं, सब उन परब्रह्म परमेश्वरकी प्रकाश-शक्तिके अंशको पाकर ही प्रकाशित हैं । वे अपने प्रकाशकके समीप अपना प्रकाश कैसे फैला सकते हैं ? सारांश यह कि यह सम्पूर्ण जगत् उन जगदात्मा पुरुषोत्तमके प्रकाशसे अथवा उस प्रकाशके एक क्षुद्रतम अंशसे प्रकाशित हो रहा है ॥ १० ॥

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

इदम्=यह, अमृतम्=अमृतस्वरूप, ब्रह्म=परब्रह्म; एव=ही; पुरस्तात्=सामने है; ब्रह्म=ब्रह्म ही, पश्चात्=पीछे है; ब्रह्म=ब्रह्म ही, दक्षिणतः=दायीं

* यह मन्त्र कठोपनिषद् (२ । २ । १५) में और श्वेता० उ० (६ । १४) में भी है ।

ओर, **च**=तथा, **उत्तरेण**=बायीं ओर, **अधः**=नीचेकी ओर; **च**=तथा, **ऊर्ध्वम्**=ऊपरकी ओर, **च**=भी, **प्रसृतम्**=फैला हुआ है, **इदम् (यत्)**=यह जो, **विश्वम्**=सम्पूर्ण जगत् है, **इदम्**=यह, **वरिष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठ; **ब्रह्म एव**=ब्रह्म ही है ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें परमात्माकी सर्वव्यापकता और सर्वरूपताका प्रतिपादन किया गया है। साराश यह कि ये अमृतस्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही आगे-पीछे, दायें-बायें, बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे—सर्वत्र फैले हुए हैं, इस विश्व-ब्रह्माण्डके रूपमें ये सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही प्रत्यक्ष दिखायी दे रहे हैं ॥ ११ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

॥ द्वितीय मुण्डक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय मुण्डक

प्रथम खण्ड

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥ १ ॥*

सयुजा=एक साथ रहनेवाले (तथा); **सखाया**=परस्पर सखाभाव रखनेवाले; **द्वा**=दो; **सुपर्णा**=पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा); **समानम् वृक्षम् परिषस्वजाते**=एक ही वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं, **तयोः**=उन दोनोंमेंसे; **अन्यः**=एक तो, **पिप्पलम्**=उस वृक्षके सुख-दुःखरूप कर्म-फलोंका; **स्वादु**=स्वाद ले-लेकर; **अत्ति**=उपभोग करता है (किंतु); **अन्यः**=दूसरा; **अनश्नन्**=न खाता हुआ; **अभिचाकशीति**=केवल देखता रहता है ॥ १ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार गीतामें जगत्‌का अश्वत्थ (पीपल) वृक्षके रूपमें वर्णन किया गया है, उसी प्रकार इस मन्त्रमें शरीरको पीपलके वृक्षका और जीवात्मा तथा परमात्माको पक्षियोंका रूप देकर वर्णन किया गया है। इसी तरहका वर्णन कठोपनिषद्‌में भी गुहामें प्रविष्ट छाया और धूपके नामसे आया है। भाव दोनों जगह प्रायः एक ही है। मन्त्रका सारांश यह है कि यह मनुष्य-शरीर मानो एक वृक्ष है। ईश्वर और जीव—ये सदा साथ रहनेवाले दो मित्र पक्षी हैं। ये इस शरीररूप वृक्षमें एक साथ एक ही हृदयरूप घोसलेमें निवास करते हैं। इन दोनोंमें एक—जीवात्मा तो उस वृक्षके फलरूप अपने कर्म-फलोंको अर्थात् प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख-दुःखोंको आसक्ति एवं द्वेषपूर्वक भोगता है और दूसरा—ईश्वर उन कर्मफलोंसे किसी प्रकारका किञ्चित् भी सम्बन्ध न जोड़कर केवल देखता रहता है॥ १ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥†

समाने वृक्षे=पूर्वोक्त शरीररूपी समान वृक्षपर (रहनेवाला); **पुरुषः**=जीवात्मा; **निमग्नः**=(शरीरकी गहरी आसक्तिमें) डूबा हुआ है, **अनीशया**=असमर्थतारूप दीनताका अनुभव करता हुआ, **मुह्यमानः**=मोहित होकर; **शोचति**=शोक करता रहता है; **यदा**=जब कभी (भगवान्‌की अहैतुकी दयासे),

---

* ऋग्० १ । १६४ । २०, अथर्व० ९ । ९ । २० में भी यह मन्त्र इसी रूपमें आया है।

† ये दोनों मन्त्र श्वेता० उ० ४।६ । ७ में भी इसी रूपमें आये हैं।

जुष्टम्=(भक्तोंद्वारा नित्य) सेवित, अन्यम्=अपनेसे भिन्न; ईशम्=परमेश्वरको (और); अस्य महिमानम्=उनकी महिमाको, पश्यति=यह प्रत्यक्ष कर लेता है; इति=तब, वीतशोकः=सर्वथा शोकरहित हो जाता है ॥ २ ॥

व्याख्या—पहले वर्णन किये हुए शरीररूप एक ही वृक्षपर हृदयरूप घोंसलेमें रहनेवाला यह जीवात्मा जबतक अपने साथ रहनेवाले उन परम सुहृद् परमेश्वरकी ओर नहीं देखता, शरीरमें ही आसक्त होकर इसीमें निमग्न हुआ रहता है अर्थात् शरीरमे अतिशय ममता करके उसके द्वारा भोगोंके भोगनेमें ही रचा-पचा रहता है तबतक असमर्थतारूप दीनतासे मोहित होकर वह नाना प्रकारके दुःख भोगता रहता है। जब कभी भगवान्की निर्हेतुकी दयासे अपनेसे भिन्न, नित्य अपने ही समीप रहनेवाले, परम सुहृद्, परमप्रिय और भक्तोंद्वारा सेवित ईश्वरको और उनकी आश्चर्यमयी महिमाको, जो जगत्में सर्वत्र भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्रकट हो रही है, प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह तत्काल ही सर्वथा शोक-रहित हो जाता है ॥ २ ॥

सम्बन्ध—ईश्वरके स्वरूपका वर्णन करते हुए उन्हें जान लेनेका फल बताते हैं—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३ ॥

यदा=जब, पश्यः=यह द्रष्टा (जीवात्मा), ईशम्=सबके शासक, ब्रह्मयोनिम्=ब्रह्माके भी आदि कारण; कर्तारम्=सम्पूर्ण जगत्के रचयिता, रुक्मवर्णम्=दिव्य प्रकाशस्वरूप; पुरुषम्=परमपुरुषको; पश्यते=प्रत्यक्ष कर लेता है; तदा=उस समय, पुण्यपापे=पुण्य-पाप दोनोंको, विधूय=भलीभाँति हटाकर; निरञ्जनः=निर्मल हुआ; विद्वान्=वह ज्ञानी महात्मा; परमम्=सर्वोत्तम, साम्यम्=समताको; उपैति=प्राप्त कर लेता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकारसे परमेश्वरकी आश्चर्यमयी महिमाकी ओर दृष्टिपात करके उनके सम्मुख जानेवाला द्रष्टा (जीवात्मा) जब सबके नियन्ता, ब्रह्माके भी आदि कारण, सम्पूर्ण जगत्की रचना करनेवाले, दिव्य प्रकाशस्वरूप परमपुरुष परमेश्वरका साक्षात् कर लेता है, उस समय वह अपने समस्त पुण्य-पापरूप कर्मोंका समूल नाश करके उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित होकर परम निर्मल हुआ ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समताको प्राप्त हो जाता है। गीताके बारहवें अध्यायमें श्लोक १३ से १९ तक इस समताका कई प्रकारसे वर्णन किया गया है ॥ ३ ॥

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति
विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावा-
नेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

एषः=यह (परमेश्वर); **हि**=ही; **प्राणः**=प्राण है; **यः**=जो; **सर्वभूतैः**=सब प्राणियोंके द्वारा; **विभाति**=प्रकाशित हो रहा है; **विजानन्**=(इसको) जाननेवाला; **विद्वान्**=ज्ञानी; **अतिवादी**=अभिमानपूर्वक बढ-बढकर बातें करनेवाला; **न भवते**=नहीं होता (किंतु वह); **क्रियावान्**=यथायोग्य भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करता हुआ; **आत्मक्रीडः**=सबके आत्मरूप अन्तर्यामी परमेश्वरमें क्रीडा करता रहता है (और); **आत्मरतिः**=सबके आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वरमें ही रमण करता रहता है; **एषः**=यह (ज्ञानी भक्त); **ब्रह्मविदाम्**=ब्रह्मवेत्ताओंमें भी; **वरिष्ठः**=श्रेष्ठ है ॥ ४ ॥

व्याख्या—ये सर्वव्यापी परमेश्वर ही सबके प्राण हैं; जिस प्रकार शरीरकी सारी चेष्टाएँ प्राणके द्वारा होती हैं, उसी प्रकार इस विश्वमें भी जो कुछ हो रहा है, परमात्माकी शक्तिसे ही हो रहा है । समस्त प्राणियोंमें भी उन्हींका प्रकाश है, वे ही उन प्राणियोंके द्वारा प्रकाशित हो रहे हैं । इस बातको समझनेवाला ज्ञानी भक्त कभी बढ-बढकर बातें नहीं करता । क्योंकि वह जानता है कि उसके अंदर भी उन सर्वव्यापक परमात्माकी ही शक्ति अभिव्यक्त है, फिर वह किस बातपर अभिमान करे । वह तो लोकसंग्रहके लिये भगवदाज्ञानुसार अपने वर्ण, आश्रमके अनुकूल कर्म करता हुआ सबके आत्मा अन्तर्यामी भगवान्में ही क्रीडा करता है । (गीता ६ । ३१) वह सदा भगवान्में ही रमण करता है । ऐसा यह भगवान्का ज्ञानी भक्त ब्रह्मवेत्ताओंमें भी अति श्रेष्ठ है । गीतामें भी सबको वासुदेवरूप देखनेवाले ज्ञानी भक्तको महात्मा और सुदुर्लभ बताया गया है (७ । १९) ॥४॥

सम्बन्ध—उन परमात्माकी प्राप्तिके साधन बताते हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ ५ ॥

एषः=यह; **अन्तःशरीरे हि**=शरीरके भीतर ही (हृदयमें विराजमान); **ज्योतिर्मयः**=प्रकाशस्वरूप (और); **शुभ्रः**=परम विशुद्ध; **आत्मा**=परमात्मा; **हि**=निस्सन्देह; **सत्येन**=सत्य-भाषणसे; **तपसा**=तपसे (और); **ब्रह्मचर्येण**=

ब्रह्मचर्यपूर्वक; सम्यग्ज्ञानेन=यथार्थ ज्ञानसे ही; नित्यम्=सदा; लभ्यः=प्राप्त होनेवाला है; यम्=जिसे; क्षीणदोषाः=सब प्रकारके दोषोंसे रहित हुए; यतयः=यत्नशील साधक ही; पश्यन्ति=देख पाते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—सबके शरीरके भीतर हृदयमें विराजमान परम विशुद्ध प्रकाशमय ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा, जिनको सब प्रकारके दोषोंसे रहित हुए प्रयत्नशील साधक ही जान सकते हैं, वे परमात्मा सदैव सत्य-भाषण, तपश्चर्या, संयम और स्वार्थत्याग तथा ब्रह्मचर्यके पालनसे उत्पन्न यथार्थ ज्ञानद्वारा ही प्राप्त हो सकते हैं। इनसे रहित होकर जो भोगोंमें आसक्त हैं, भोगोंकी प्राप्तिके लिये नाना प्रकारके मिथ्याभाषण करते हैं और आसक्तिवश नियमपूर्वक अपने वीर्यकी रक्षा नहीं कर सकते, वे स्वार्थपरायण अविवेकी मनुष्य उन परमात्माका अनुभव नहीं कर सकते; क्योंकि वे उनको चाहते ही नहीं ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—पूर्वोक्त साधनोंमेंसे सत्यकी महिमा बताते हैं—

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

सत्यम्=सत्य; एव=ही; जयति=विजयी होता है; अनृतम्=झूठ; न=नहीं; हि=क्योंकि; देवयानः=वह देवयान नामक; पन्थाः=मार्ग; सत्येन=सत्यसे; विततः=परिपूर्ण है; येन=जिससे; आप्तकामाः=पूर्णकाम; ऋषयः=ऋषिलोग (वहाँ); आक्रमन्ति=गमन करते हैं; यत्र=जहाँ; तत्=वह; सत्यस्य=सत्यस्वरूप परब्रह्म परमात्माका; परमम्=उत्कृष्ट; निधानम्=धाम है ॥ ६ ॥

व्याख्या—सत्यकी ही विजय होती है, झूठकी नहीं। अभिप्राय यह है कि परमात्मा सत्यस्वरूप हैं; अतः उनकी प्राप्तिके लिये मनुष्यमें सत्यकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये। परमात्मप्राप्तिके लिये तो सत्य अनिवार्य साधन है ही; जगत्‌में दूसरे सब कार्योंमें भी अन्ततः सत्यकी ही विजय होती है, झूठकी नहीं। जो लोग मिथ्या-भाषण, दम्भ और कपटसे उन्नतिकी आशा रखते हैं, वे अन्तमें बुरी तरहसे निराश होते हैं। मिथ्या-भाषण और मिथ्या आचरणोंमें भी जो सत्यका आभास है, जिसके कारण दूसरे लोग उसे किसी अंशमें सत्य मान लेते हैं, उसीसे कुछ क्षणिक लाभ-सा हो जाता है। परंतु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। अन्तमें सत्य सत्य ही रहता है और झूठ झूठ ही। इसीसे बुद्धिमान् मनुष्य सत्यभाषण और सदाचारको ही अपनाते हैं, झूठको नहीं; क्योंकि जिनकी भोग-वासना नष्ट

हो गयी है, ऐसे पूर्णकाम ऋषिलोग जिस मार्गसे वहाँ पहुँचते हैं, जहाँ इस सत्यके परमाधार परब्रह्म परमात्मा स्थित हैं; वह देवयान मार्ग अर्थात् उन परमदेव परमात्माको प्राप्त करनेका साधनरूप मार्ग सत्यसे ही परिपूर्ण है; उसमें असत्य-भाषण और दम्भ, कपट आदि असत् आचरणोंके लिये स्थान नहीं है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त साधनोंसे प्राप्त होनेवाले परमात्माके स्वरूपका पुनः वर्णन करते हैं—

बृहच्च तद् दिव्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च
पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥

तत्=वह परब्रह्म; बृहत्=महान्; दिव्यम्=दिव्य; च=और; अचिन्त्यरूपम्=अचिन्त्यस्वरूप है; च=तथा; तत्=वह; सूक्ष्मात्=सूक्ष्मसे भी; सूक्ष्मतरम्=अत्यन्त सूक्ष्मरूपमें; विभाति=प्रकाशित होता है; तत्=(तथा) वह; दूरात्=दूरसे भी; सुदूरे=अत्यन्त दूर है; [च]=और; इह=इस (शरीर) में रहकर; अन्तिके च=अति समीप भी है; इह=यहाँ; पश्यत्सु=देखनेवालोंके भीतर; एव=ही; गुहायाम्=उनकी हृदयरूपी गुफामें; निहितम्=स्थित है ॥ ७ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमात्मा सबसे महान्, दिव्य—अलौकिक और अचिन्त्यस्वरूप हैं अर्थात् उनका स्वरूप मनके द्वारा चिन्तनमें आनेवाला नहीं है। अतः मनुष्यको श्रद्धापूर्वक परमात्माकी प्राप्तिके पूर्वकथित साधनोंमें लगे रहना चाहिये। वे परमात्मा अचिन्त्य एवं सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेपर भी साधन करते-करते स्वयं अपने स्वरूपको साधकके हृदयमें प्रकाशित कर देते हैं। परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण हैं, ऐसा कोई भी स्थान नहीं, जहाँ वे न हों। अतः वे दूरसे भी दूर हैं, अर्थात् जहाँतक हमलोग दूरका अनुभव करते हैं, वहाँ भी वे हैं और निकटसे भी निकट यहीं, अपने भीतर ही हैं। अधिक क्या, देखनेवालोंमें ही उनके हृदयरूप गुफामें छिपे हुए हैं। अतः उन्हें खोजनेके लिये कहीं दूसरी जगह जानेकी आवश्यकता नहीं है ॥ ७ ॥

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-
स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥

न चक्षुषा=(वह परमात्मा) न तो नेत्रोंसे; न वाचा=न वाणीसे

(और); **न अन्यैः**=न दूसरी; **देवैः**=इन्द्रियोंसे; **अपि**=ही, **गृह्यते**=ग्रहण करनेमें आता है (तथा); **तपसा**=तपसे, **वा**=अथवा; **कर्मणा**=कर्मोंसे भी (वह); [**न गृह्यते**]=ग्रहण नहीं किया जा सकता, **तम्**=उस, **निष्कलम्**=अवयवरहित (परमात्मा) को; **तु**=तो, **विशुद्धसत्त्वः**=विशुद्ध अन्तःकरणवाला (साधक), **ततः**=उस विशुद्ध अन्तःकरणसे; **ध्यायमानः**=(निरन्तर उसका) ध्यान करता हुआ ही, **ज्ञानप्रसादेन**=ज्ञानकी निर्मलतासे; **पश्यते**=देख पाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—उन परब्रह्मको मनुष्य इन आँखोंसे नहीं देख सकता, इतना ही नहीं, वाणी आदि अन्य इन्द्रियोंद्वारा भी वे पकड़में नहीं आ सकते । तथा नाना प्रकारकी तपश्चर्या और कर्मोंके द्वारा भी मनुष्य उन्हें नहीं पा सकता । उन अवयवरहित परम विशुद्ध परमात्माको तो मनुष्य सब भोगोंसे मुख मोड़कर, निःस्पृह होकर विशुद्ध अन्तःकरणके द्वारा निरन्तर एकमात्र उन्हींका ध्यान करते-करते ज्ञानकी निर्मलतासे ही देख सकता है । अतः जो उन परमात्माको पाना चाहे, उसे उचित है कि संसारके भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर उन सबकी कामनाका त्याग करके एकमात्र परब्रह्म परमात्माको ही पानेके लिये उन्हींके चिन्तनमें निमग्न हो जाय ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—जब वे परब्रह्म परमात्मा सबके हृदयमें रहते हैं, तब सभी जीव उन्हें क्यों नहीं जानते ? शुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष ही क्यों जानता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ९ ॥

यस्मिन्=जिसमें; **पञ्चधा**=पाँच भेदोंवाला; **प्राणः**=प्राण; **संविवेश**=भलीभाँति प्रविष्ट है (उसी शरीरमें रहनेवाला); **एषः**=यह; **अणुः**=सूक्ष्म; **आत्मा**=आत्मा; **चेतसा**=मनसे; **वेदितव्यः**=जाननेमें आनेवाला है, **प्रजानाम्**=प्राणियोंका (वह); **सर्वम्**=सम्पूर्ण, **चित्तम्**=चित्त; **प्राणैः**=प्राणोंसे; **ओतम्**=व्याप्त है; **यस्मिन् विशुद्धे**=जिस अन्तःकरणके विशुद्ध होनेपर; **एषः**=यह; **आत्मा**=आत्मा; **विभवति**=सब प्रकारसे समर्थ होता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—जिस शरीरमें प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान—इन पाँच भेदोंवाला प्राण प्रविष्ट होकर चेष्टायुक्त कर रहा है, उसी शरीरके भीतर हृदयके मध्यभागमें मनद्वारा ज्ञातारूपसे जाननेमें आनेवाला यह सूक्ष्म जीवात्मा भी

रहता है। परंतु समस्त प्राणियोंके समस्त अन्तःकरण प्राणोंसे ओतप्रोत हो रहे हैं, अर्थात् इस प्राण और इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये उत्पन्न हुई नाना प्रकारकी भोगवासनाओंसे मलिन और क्षुब्ध हो रहे हैं, इस कारण सब लोग परमात्माको नहीं जान पाते। अन्तःकरणके विशुद्ध होनेपर ही यह जीवात्मा सब प्रकारसे समर्थ होता है। अतः यदि भोगोंसे विरक्त होकर यह परमात्माके चिन्तनमें लग जाता है, तब तो परमात्माको प्राप्त कर लेता है; और यदि भोगोंकी कामना करता है तो इच्छित भोगोंको प्राप्त कर लेता है ॥ ९ ॥

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामां-
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥ १० ॥

विशुद्धसत्त्वः=विशुद्ध अन्तःकरणवाला (मनुष्य); यम् यम्=जिस-जिस; लोकम्=लोकको, मनसा=मनसे, संविभाति=चिन्तन करता है, च=तथा, यान् कामान् कामयते=जिन भोगोंकी कामना करता है; तम् तम्=उन-उन, लोकम्=लोकोंको; जयते=जीत लेता है, च=और, तान् कामान्=उन (इच्छित) भोगोंको भी प्राप्त कर लेता है; तस्मात् हि=इसीलिये; भूतिकामः=ऐश्वर्यकी कामनावाला मनुष्य, आत्मज्ञम्=शरीरसे भिन्न आत्माको जाननेवाले महात्माकी, अर्चयेत्=सेवा-पूजा करे ॥ १० ॥

व्याख्या—विशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य यदि भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर उस निर्मल अन्तःकरणद्वारा निरन्तर परब्रह्म परमेश्वरका ध्यान करता है—तब तो उन्हें प्राप्त कर लेता है यह बात आठवें मन्त्रमें कही जा चुकी है; परंतु यदि वह सर्वथा निष्काम नहीं होता तो जिस-जिस लोकका मनसे चिन्तन करता है तथा जिन-जिन भोगोंको चाहता है, उन-उन लोकोंको ही जीतता है—उन्हीं लोकोंमें जाता है तथा उन-उन भोगोंको ही प्राप्त करता है। इसलिये ऐश्वर्यकी कामनावाले मनुष्यको चाहिये कि शरीरसे भिन्न आत्माको जाननेवाले विशुद्ध अन्तःकरणयुक्त विवेकी पुरुषकी सेवा-पूजा (आदर-सत्कार) करे; क्योंकि वह अपने लिये और दूसरोंके लिये भी जो-जो कामना करता है, वह पूर्ण हो जाती है ॥ १० ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

सम्बन्ध—पूर्व प्रकरणमें विशुद्ध अन्तःकरणवाले साधककी सामर्थ्यका वर्णन करनेके लिये प्रसङ्गवश कामनाओंकी पूर्तिकी बात आ गयी थी, अतः निष्कामभावकी प्रशंसा और सकामभावकी निन्दा करते हुए पुनः प्रकरण आरम्भ करते हैं—

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम
यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामा-
स्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥ १ ॥

सः=वह (निष्काम भाववाला पुरुष), एतत्=इस, परमम्=परम, शुभ्रम्=विशुद्ध (प्रकाशमान), ब्रह्मधाम=ब्रह्मधामको, वेद=जान लेता है, यत्र=जिसमें, विश्वम्=सम्पूर्ण जगत्, निहितम्=स्थित हुआ, भाति=प्रतीत होता है; ये हि=जो भी कोई, अकामाः=निष्काम साधक, पुरुषम् उपासते=परम-पुरुषकी उपासना करते हैं, ते=वे, धीराः=बुद्धिमान्, शुक्रम्=रजोवीर्यमय, एतत्=इस शरीरको, अतिवर्तन्ति=अतिक्रमण कर जाते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—थोडा-सा विचार करनेपर प्रत्येक बुद्धिमान् मनुष्यकी समझमें यह बात आ जाती है कि इस प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले जगत्के रचयिता और परमाधार कोई एक परमेश्वर अवश्य हैं । इस प्रकार जिनमें यह सम्पूर्ण जगत् स्थित हुआ प्रतीत होता है, उन परम विशुद्ध प्रकाशमय धामस्वरूप परब्रह्म परमात्मा-को समस्त भोगोंकी कामना त्याग करके निरन्तर उनका ध्यान करनेवाला साधक जान लेता है । यह बात निश्चित है कि जो मनुष्य उन परम पुरुष परमात्माकी उपासना करते हैं और एकमात्र उन्हींको चाहते हैं, वे सर्वथा पूर्ण निष्काम होकर रहते हैं । किसी प्रकारके भोगोंमें उनका मन नहीं अटकता, अतः वे इस रजोवीर्य-मय शरीरको लाँघ जाते हैं । उनका पुनर्जन्म नहीं होता । इसीलिये उन्हें बुद्धिमान कहा गया है, क्योंकि जो सार वस्तुके लिये असारको त्याग दे, वही बुद्धिमान् है ॥१॥

सम्बन्ध—अब सकाम पुरुषकी निन्दा करते हुए ऊपर कही हुई बातको स्पष्ट करते है—

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्त्वि-
हैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥

यः=जो, कामान्=भोगोंको, मन्यमानः=आदर देनेवाला मानव,

कामयते=(उनकी) कामना करता है, **सः**=वह, **कामभिः**=उन कामनाओंके कारण, **तत्र तत्र**=उन-उन स्थानोंमें, **जायते**=उत्पन्न होता है (जहाँ वे उपलब्ध हो सकें), **तु**=परन्तु, **पर्याप्तकामस्य**=जो पूर्णकाम हो चुका है, उस, **कृतात्मनः**=विशुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुषकी, **सर्वे**=सम्पूर्ण, **कामाः**=कामनाएँ, **इह एव**=यहीं, **प्रविलीयन्ति**=सर्वथा विलीन हो जाती हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—जो भोगोंको आदर देनेवाला है, जिसकी दृष्टिमें इस लोक और परलोकके भोग सुखके हेतु हैं, वही भोगोंकी कामना करता है और नाना प्रकारकी कामनाओंके कारण ही जहाँ-जहाँ भोग उपलब्ध हो सकते हैं, वहाँ-वहाँ कर्मानुसार उत्पन्न होता है, परंतु जो भगवान्‌को चाहनेवाले भगवान्‌के प्रेमी भक्त पूर्णकाम हो गये हैं, इस जगत्‌के भोगोंसे ऊब गये हैं, उन विशुद्ध अन्तःकरणवाले भक्तोंकी समस्त कामनाएँ इस शरीरमें ही विलीन हो जाती हैं । स्वप्नमें भी उनकी दृष्टि भोगोंकी ओर नहीं जाती । फलतः उन्हें शरीर छोड़नेपर नवीन जन्म नहीं धारण करना पड़ता। वे भगवान्‌को पाकर जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छूट जाते हैं ॥२॥

सम्बन्ध—पहले दो मन्त्रोंमें भगवान्‌के परम दुलारे जिन प्रेमी भक्तोंका वर्णन किया गया है, उन्हींको वे सर्वात्मा परब्रह्म पुरुषोत्तम दर्शन देते हैं—यह बात अब अगले मन्त्रमें कहते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥ ३ ॥*

अयम्=यह, **आत्मा**=परब्रह्म परमात्मा, **न प्रवचनेन**=न तो प्रवचनसे; **न मेधया**=न बुद्धिसे (और), **न बहुना श्रुतेन**=न बहुत सुननेसे ही, **लभ्यः**=प्राप्त हो सकता है, **एषः**=यह, **यम्**=जिसको, **वृणुते**=स्वीकार कर लेता है, **तेन एव**=उसके द्वारा ही; **लभ्यः**=प्राप्त किया जा सकता है (क्योंकि), **एषः**=यह, **आत्मा**=परमात्मा, **तस्य**=उसके लिये, **स्वाम् तनुम्**=अपने यथार्थ स्वरूपको, **विवृणुते**=प्रकट कर देता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें यह बात समझायी गयी है कि वे परमात्मा न तो उनको मिलते हैं जो शास्त्रोंको पढ़-सुनकर लच्छेदार भाषामें परमात्म-तत्त्व-का नाना प्रकारसे वर्णन करते हैं, न उन तर्कशील बुद्धिमान् मनुष्योंको ही मिलते हैं जो बुद्धिके अभिमानमें प्रमत्त हुए तर्कके द्वारा विवेचन करके उन्हें समझनेकी चेष्टा करते हैं और न उन्हींको मिलते हैं, जो परमात्माके विषयमें बहुत कुछ सुनते रहते हैं । वे तो उसीको प्राप्त होते हैं, जिसको वे स्वयं

* यह मन्त्र कठोपनिषद्‌में भी इसी प्रकार है (क० उ० १ । २ । २३)

स्वीकार कर लेते हैं और वे स्वीकार उसीको करते हैं, जिसको उनके लिये उत्कट इच्छा होती है, जो उनके बिना रह नहीं सकता । जो अपनी बुद्धि या साधनपर भरोसा न करके केवल उनकी कृपाकी ही प्रतीक्षा करता रहता है, ऐसे कृपा-निर्भर साधकपर परमात्मा कृपा करते हैं और योगमायाका परदा हटाकर उसके सामने अपना स्वरूप प्रकट कर देते हैं ॥ ३ ॥

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वां-
स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

अयम्=यह; आत्मा=परमात्मा; बलहीनेन=बलहीन मनुष्यद्वारा, न लभ्यः=नहीं प्राप्त किया जा सकता, च=तथा, प्रमादात्=प्रमादसे, वा अथवा, अलिङ्गात्=लक्षणरहित, तपसः=तपसे; अपि=भी, न [लभ्यः]= नहीं प्राप्त किया जा सकता, तु=किंतु, यः=जो, विद्वान्=बुद्धिमान् साधक; एतैः=इन, उपायैः=उपायोंके द्वारा, यतते=प्रयत्न करता है; तस्य=उसका; एषः= यह; आत्मा=आत्मा, ब्रह्मधाम=ब्रह्मधाममें, विशते=प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस प्रकरणमें बताये हुए सबके आत्मारूप परब्रह्म परमेश्वर उपासनारूप बलसे रहित मनुष्यद्वारा नहीं प्राप्त किये जा सकते । समस्त भोगोंकी आशा छोड़कर एकमात्र परमात्माकी ही उत्कट अभिलाषा रखते हुए निरन्तर विशुद्धभावसे अपने इष्टदेवका चिन्तन करना—यही उपासनारूपी बलका सचय करना है । ऐसे बलसे रहित पुरुषको वे नहीं मिलते । इसी प्रकार कर्तव्यत्यागरूप प्रमादसे भी नहीं मिलते तथा सात्त्विक लक्षणोंसे रहित सयमरूप तपसे भी किसी साधकद्वारा नहीं प्राप्त किये जा सकते । किंतु जो बुद्धिमान् साधक इन पूर्वोक्त उपायोंसे प्रयत्न करता है, अर्थात् प्रमादरहित होकर उत्कट अभिलाषाके साथ निरन्तर उन परमेश्वरकी उपासना करता है, उसका आत्मा परब्रह्म परमात्माके स्वरूपमें प्रविष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंके महत्त्वका वर्णन करते हैं—

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥

वीतरागाः=सर्वथा आसक्तिरहित, **कृतात्मानः**=(और) विशुद्ध अन्तःकरणवाले, **ऋषयः**=ऋषिलोग, **एनम्**=इस परमात्माको, **सम्प्राप्य**=पूर्णतया प्राप्त होकर; **ज्ञानतृप्ताः**=ज्ञानसे तृप्त (एवं), **प्रशान्ताः**=परम शान्त (हो जाते हैं), **युक्तात्मानः**=अपने-आपको परमात्मामें संयुक्त कर देनेवाले; **ते**=वे; **धीराः**=ज्ञानीजन, **सर्वगम्**=सर्वव्यापी परमात्माको; **सर्वतः**=सब ओरसे; **प्राप्य**=प्राप्त करके; **सर्वम् एव**=सर्वरूप परमात्मामें ही; **आविशन्ति**=प्रविष्ट हो जाते हैं॥५॥

व्याख्या—वे विशुद्ध अन्तःकरणवाले सर्वथा आसक्तिरहित महर्षिगण उपर्युक्त प्रकारसे इन परब्रह्म परमात्माको भलीभाँति प्राप्त होकर ज्ञानसे तृप्त हो जाते हैं। उन्हें किसी प्रकारके अभावका बोध नहीं होता, वे पूर्णकाम—परम शान्त हो जाते हैं। वे अपने आपको परमात्मामें लगा देनेवाले ज्ञानीजन सर्वव्यापी परमात्माको सब ओरसे प्राप्त करके सर्वरूप परमात्मामें ही पूर्णतया प्रविष्ट हो जाते हैं॥ ५॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंकी महिमाका वर्णन करके अब ब्रह्मलोकमें जानेवाले महापुरुषोंकी मुक्तिका वर्णन करते हैं—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥ ६॥

[ये] **वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः**=जिन्होंने वेदान्त (उपनिषद्)-शास्त्रके विज्ञानद्वारा उसके अर्थभूत परमात्माको पूर्ण निश्चयपूर्वक जान लिया है (तथा), **संन्यासयोगात्**=कर्मफल और आसक्तिके त्यागरूप योगसे; **शुद्धसत्त्वाः**=जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, **ते**=वे, **सर्वे**=समस्त; **यतयः**=प्रयत्नशील साधकगण; **परान्तकाले**=मरणकालमें (शरीर त्यागकर); **ब्रह्मलोकेषु**=ब्रह्मलोकमें (जाते हैं और) वहाँ, **परामृताः**=परम अमृतस्वरूप होकर, **परिमुच्यन्ति**=सर्वथा मुक्त हो जाते हैं॥ ६॥

व्याख्या—जिन्होंने वेदान्तशास्त्रके सम्यक् ज्ञानद्वारा उसके अर्थस्वरूप परमात्माको भलीभाँति निश्चयपूर्वक जान लिया है तथा कर्मफल और कर्मासक्तिके त्यागरूप योगसे जिनका अन्तःकरण सर्वथा शुद्ध हो गया है, ऐसे सभी प्रयत्नशील साधक मरणकालमें शरीरका त्याग करके परब्रह्म परमात्माके परम धाममें जाते हैं और वहाँ परम अमृतस्वरूप होकर संसार-बन्धनसे सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाते हैं॥ ६॥

सम्बन्ध—जिनको परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति इसी शरीरमें हो जाती है, उनकी अन्तकालमें कैसी स्थिति होती है—इसी जिज्ञासापर कहते हैं—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥

पञ्चदश=पंद्रह, **कलाः**=कलाएँ, **च**=और, **सर्वे**=सम्पूर्ण, **देवाः**=देवता अर्थात् इन्द्रियाँ, **प्रतिदेवतासु**=अपने-अपने अभिमानी देवताओंमें, **गताः**=जाकर, **प्रतिष्ठाः**=स्थित हो जाते हैं, **कर्माणि**=(फिर) समस्त कर्म, **च**=और, **विज्ञानमयः**=विज्ञानमय, **आत्मा**=जीवात्मा, **सर्वे**=ये सब-के सब, **परे अव्यये**=परम अविनाशी परब्रह्ममें, **एकीभवन्ति**=एक हो जाते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—उस महापुरुषका जब देहपात होता है, उस समय पंद्रह कलाएँ* और मनसहित सब इन्द्रियोंके देवता—ये सब अपने अपने अभिमानी समष्टि देवताओंमें जाकर स्थित हो जाते हैं । उनके साथ उस जीवन्मुक्तका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । उसके बाद उसके समस्त कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा—सब-के-सब परम अविनाशी परब्रह्ममें लीन हो जाते हैं ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—किस प्रकार लीन हो जाते है इस जिज्ञासापर कहते हैं—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥

यथा=जिस प्रकार, **स्यन्दमानाः**=बहती हुई, **नद्यः**=नदियाँ, **नामरूपे**=नाम रूपको, **विहाय**=छोडकर, **समुद्रे**=समुद्रमें, **अस्तम् गच्छन्ति**=विलीन हो जाती हैं, **तथा**=वैसे ही, **विद्वान्**=ज्ञानी महात्मा, **नामरूपात्**=नाम-रूपसे; **विमुक्तः**=रहित होकर, **परात् परम्**=उत्तम-से-उत्तम, **दिव्यम्**=दिव्य, **पुरुषम्**=परमपुरुष परमात्माको, **उपैति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना-अपना नाम रूप छोडकर समुद्रमे विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महापुरुष नाम-रूपसे रहित

* पंद्रह कलाएँ ये है—श्रद्धा, आकाशादि पञ्च महाभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम । (देखिये प्रश्नोपनिषद् ६ । ४)

होकर परात्पर दिव्य पुरुष परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है—सर्वतोभावसे उन्हींमें विलीन हो जाता है ॥ ८ ॥

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति । तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥

ह=निश्चय ही, यः वै=जो कोई भी, तत्=उस, परमम् ब्रह्म= परमब्रह्म परमात्माको, वेद=जान लेता है, सः=वह महात्मा, ब्रह्म एव= ब्रह्म ही, भवति=हो जाता है, अस्य=इसके; कुले=कुलमें, अब्रह्मवित्= ब्रह्मको न जाननेवाला, न भवति=नहीं होता, शोकम् तरति=(वह) शोकसे पार हो जाता है, पाप्मानम् तरति=पाप-समुदायसे तर जाता है; गुहाग्रन्थिभ्यः=हृदयकी गाँठोंसे, विमुक्तः=सर्वथा छूटकर, अमृतः=अमर; भवति=हो जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—यह बिल्कुल सच्ची बात है कि जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है । उसके कुलमें अर्थात् उसकी सतानोंमें कोई भी मनुष्य ब्रह्मको न जाननेवाला नहीं होता । वह सब प्रकारके शोक और चिन्ताओंसे सर्वथा पार हो जाता है, सम्पूर्ण पाप समुदायसे सर्वथा तर जाता है, हृदयमें स्थित सब प्रकारके संशय, विपर्यय, देहाभिमान, विषयासक्ति आदि ग्रन्थियोंसे सर्वथा छूटकर अमर हो जाता है—जन्म-मृत्युसे रहित हो जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—उस ब्रह्मविद्याके अधिकारीका वर्णन करते हैं—

तदेतदृचाभ्युक्तम्—

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः
स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः ।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥ १० ॥

तत्=उस ब्रह्मविद्याके विषयमें, एतत्=यह बात, ऋचा अभ्युक्तम्= ऋचाद्वारा कही गयी है; क्रियावन्तः=जो निष्कामभावसे कर्म करनेवाले; श्रोत्रियाः=वेदके अर्थके ज्ञाता (तथा), ब्रह्मनिष्ठाः=ब्रह्मके उपासक हैं (और), श्रद्धयन्तः=श्रद्धा रखते हुए, स्वयम्=स्वयं, एकर्षिम्= एकर्षि' नामवाले प्रज्वलित अग्निमें, जुह्वते=नियमानुसार हवन करते हैं, तु=तथा, यैः=जिन्होंने, विधिवत्=विधिपूर्वक, शिरोव्रतम्=सर्वश्रेष्ठ व्रतका, चीर्णम्= पालन किया है, तेषाम् एव=उन्हींको, एताम्=यह, ब्रह्मविद्याम्=ब्रह्मविद्या, वदेत=बतलानी चाहिये ॥ १० ॥

व्याख्या—जिसका इस उपनिषद्में वर्णन हुआ है, उस ब्रह्मविद्याके विषयमें यह बात ऋचाद्वारा कही गयी है कि जो अपने-अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुसार निष्कामभावसे यथायोग्य कर्म करनेवाले, वेदके यथार्थ अभिप्रायको समझनेवाले, परब्रह्म परमात्माकी उपासना करनेवाले और उनके जिज्ञासु हैं, जो स्वयं 'एकर्षि' नामसे प्रसिद्ध प्रज्वलित अग्निमें शास्त्रविधिके अनुसार श्रद्धापूर्वक हवन करते हैं तथा जिन्होंने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन किया है, उन्हींको यह ब्रह्मविद्या बतलानी चाहिये ॥ १० ॥

तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते ।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ११ ॥

तत्=उसी, एतत्=इस, सत्यम्=सत्यको अर्थात् यथार्थ विद्याको, पुरा=पहले, अङ्गिराः ऋषिः=अङ्गिरा ऋषिने, उवाच=कहा था; अचीर्णव्रतः=जिसने ब्रह्मचर्यव्रतका पालन नहीं किया है, एतत्=(वह) इसे, न=नहीं, अधीते=पढ़ सकता, परमऋषिभ्यः नमः=परम ऋषियोंको नमस्कार है, परमऋषिभ्यः नमः=परम ऋषियोंको नमस्कार है ॥ ११ ॥

व्याख्या—उस ब्रह्मविद्यारूप इस सत्यका पहले महर्षि अङ्गिराने उपर्युक्त प्रकारसे शौनक ऋषिको उपदेश दिया था । जिसने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका पालन नहीं किया हो, वह इसे नहीं पढ़ पाता अर्थात् इसका गूढ़ अभिप्राय नहीं समझ सकता । परम ऋषियोंको नमस्कार है, परम ऋषियोंको नमस्कार है । इस प्रकार दो बार ऋषियोंको नमस्कार करके ग्रन्थ-समाप्तिकी सूचना दी गयी है ॥ ११ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

॥ तृतीय मुण्डक समाप्त ॥ ३ ॥

॥ अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ इसी उपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है ।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

माण्डूक्योपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

देवाः=हे देवगण !; [वयम्] यजत्राः [सन्तः]=हम भगवान्का यजन (आराधन) करते हुए, कर्णेभिः=कानोंसे, भद्रम्=कल्याणमय वचन; शृणुयाम=सुनें, अक्षभिः=नेत्रोंसे, भद्रम्=कल्याण (ही); पश्येम=देखें; स्थिरैः=सुदृढ; अङ्गैः=अङ्गों, तनूभिः=एवं शरीरोंसे, तुष्टुवांसः [वयम्]=भगवान्की स्तुति करते हुए हमलोग, यत्=जो, आयुः=आयु, देवहितम्=आराध्यदेव परमात्माके काम आ सके, [तत्]=उसका, व्यशेम=उपभोग करें, वृद्धश्रवाः=सब ओर फैले हुए सुयशवाले, इन्द्रः=इन्द्र, नः=हमारे लिये, स्वस्ति दधातु=कल्याणका पोषण करें; विश्ववेदाः=सम्पूर्ण विश्वका ज्ञान रखनेवाले; पूषा=पूषा; नः=हमारे लिये; स्वस्ति [दधातु]=कल्याणका पोषण करें; अरिष्टनेमिः=अरिष्टोंको मिटानेके लिये चक्रसदृश शक्तिशाली; तार्क्ष्यः=गरुड़देव; नः=हमारे लिये; स्वस्ति [दधातु]=कल्याणका पोषण करें, (तथा) बृहस्पतिः=(बुद्धिके स्वामी) बृहस्पति भी, नः=हमारे लिये; स्वस्ति [दधातु]=कल्याणकी पुष्टि करें; ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः=परमात्मन् ! हमारे त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

व्याख्या—गुरुके यहाँ अध्ययन करनेवाले शिष्य अपने गुरु, सहपाठी तथा मानवमात्रका कल्याण-चिन्तन करते हुए देवताओंसे प्रार्थना करते हैं कि हे देवगण ! हम अपने कानोंसे शुभ—कल्याणकारी वचन ही सुनें । निन्दा, चुगली, गाली या दूसरी-दूसरी पापकी बातें हमारे कानोंमें न पड़ें और हमारा

अपना जीवन यजन-परायण हो—हम सदा भगवान्‌की आराधनामें ही लगे रहें। न केवल कानोंसे सुनें, नेत्रोंसे भी हम सदा कल्याणका ही दर्शन करें। किसी अमङ्गलकारी अथवा पतनकी ओर ले जानेवाले दृश्योंकी ओर हमारी दृष्टिका आकर्षण कभी न हो। हमारे शरीर, हमारा एक-एक अवयव सुदृढ एवं सुपुष्ट हों—वह भी इसलिये कि हम उनके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करते रहें। हमारी आयु भोग-विलास या प्रमादमें न बीते। हमें ऐसी आयु मिले जो भगवान्‌के कार्यमें आ सके। [देवता हमारी प्रत्येक इन्द्रियमें व्याप्त रहकर उसका संरक्षण और संचालन करते हैं। उनके अनुकूल रहनेसे हमारी इन्द्रियाँ सुगमतापूर्वक सन्मार्गमें लगी रह सकती हैं, अतः उनसे प्रार्थना करना उचित ही है।] जिनका सुयश सब ओर फैला है, वे देवराज इन्द्र, सर्वज्ञ पूषा, अरिष्टनिवारक तार्क्ष्य (गरुड) और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति—ये सभी देवता भगवान्‌की दिव्य विभूतियाँ हैं। ये सदा हमारे कल्याणका पोषण करें। इनकी कृपासे हमारे साथ प्राणिमात्रका कल्याण होता रहे। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—सभी प्रकारके तापोंकी शान्ति हो।

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव॥ १॥

ॐ इति **एतत्**=ओं ऐसा यह, **अक्षरम्**=अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है, **इदम्**=यह, **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्, **तस्य**=उसका ही, **उपव्याख्यानम्**=उपव्याख्यान अर्थात् उसीकी निकटतम महिमाका लक्ष्य करानेवाला है, **भूतम्**=भूत (जो हो चुका), **भवत्**=वर्तमान (और), **भविष्यत्**=भविष्यत् (जो होनेवाला है), **इति**=यह, **सर्वम्**=सब-का-सब जगत्, **ओंकारः एव**=ओंकार ही है, **च**=तथा, **यत्**=जो, **त्रिकालातीतम्**=ऊपर कहे हुए तीनों कालोंसे अतीत; **अन्यत्**=दूसरा (कोई तत्त्व है), **तत्**=वह, **अपि**=भी, **ओंकारः**=ओंकार; **एव**=ही है॥ १॥

व्याख्या—इस उपनिषद्‌में परब्रह्म परमात्माके समग्र रूपका तत्त्व समझानेके लिये उनके चार पादोंकी कल्पना की गयी है। नाम और नामीकी एकताका प्रतिपादन करनेके लिये प्रणवकी अ, उ और म्—इन तीन मात्राओंके साथ और मात्रारहित उसके अव्यक्तरूपके साथ परब्रह्म परमात्माके एक-एक पादकी समता दिखलायी गयी है। इस प्रकार इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माका नाम जो ओंकार है, उसको समग्र पुरुषोत्तमसे अभिन्न मानकर यह कहा गया है कि 'ओम्' यह अक्षर ही पूर्णब्रह्म अविनाशी परमात्मा है। यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला जड चेतनका

समुदायरूप सम्पूर्ण जगत् उन्हींका उपव्याख्यान अर्थात् उन्हींकी निकटतम महिमाका निदर्शक है। जो स्थूल और सूक्ष्म जगत् पहले उत्पन्न होकर उनमें विलीन हो चुका है और जो इस समय वर्तमान है, तथा जो उनसे उत्पन्न होनेवाला है—वह सब-का-सब ओंकार ही है अर्थात् परब्रह्म परमात्मा ही है। तथा जो तीनों कालोंसे अतीत इससे भिन्न है, वह भी ओंकार ही है। अर्थात् कारण, सूक्ष्म और स्थूल—इन तीन भेदोंवाला जगत् और इसको धारण करनेवाले परब्रह्मके जिस अंशकी इसके आत्मारूपमें और आधाररूपमें अभिव्यक्ति होती है, उतना ही उन परमात्माका स्वरूप नहीं है, इससे अलग भी वे हैं। अतः उनका अभिव्यक्त अंश और उससे अतीत भी जो कुछ है, वह सब मिलकर ही परब्रह्म परमात्माका समग्र रूप है।

अभिप्राय यह है कि जो कोई परब्रह्मको केवल साकार मानते हैं या निराकार मानते हैं या सर्वथा निर्विशेष मानते हैं—उन्हें सर्वज्ञता, सर्वाधारता, सर्वकारणता, सर्वेश्वरता, आनन्द, विज्ञान आदि कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न नहीं मानते, वे सब उन परब्रह्मके एक एक अंशको ही परमात्मा मानते हैं। पूर्णब्रह्म परमात्मा साकार भी हैं, निराकार भी हैं तथा साकार-निराकार दोनोंसे रहित भी हैं। सम्पूर्ण जगत् उन्हींका स्वरूप है और वे इससे सर्वथा अलग भी हैं। वे सर्वगुणोंसे रहित, निर्विशेष भी हैं और सर्वगुणसम्पन्न भी हैं—यह मानना ही उन्हें सर्वाङ्गपूर्ण मानना है ॥ १ ॥

सम्बन्ध—सब कुछ ओंकार कैसे है, यह कहते हैं—

सर्वꣳ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

हि=क्योंकि, एतत्=यह, सर्वम्=सब-का सब, ब्रह्म=ब्रह्म है, अयम्=यह, आत्मा=परमात्मा (जो इस दृश्य-जगत्में परिपूर्ण है), ब्रह्म=ब्रह्म है, सः=वह, अयम्=यह, आत्मा=परमात्मा, चतुष्पात्=चार चरणोंवाला है ॥ २ ॥

व्याख्या—यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मसे भिन्न कुछ नहीं है, सब-का-सब ब्रह्म है और ओंकार उनका नाम होनेके कारण नामीसे अभिन्न है, इसलिये सब कुछ ओंकार है—यह बात पहले मन्त्रमें कही गयी है, क्योंकि यह सम्पूर्ण जगत् उन परब्रह्म परमात्माका शरीर है और वे इसके अन्तर्यामी आत्मा हैं (अन्तर्यामिब्राह्मण बृ० उ० ७ । २३), इसलिये वे सर्वात्मा ही ब्रह्म हैं। ये सर्वात्मा परब्रह्म आगे बताये हुए प्रकारसे चार पादवाले हैं। वास्तवमें उन अखण्ड निरवयव परब्रह्म परमात्माको चार पादोंवाला कहना नहीं बनता, तथापि उनके समग्र रूपकी व्याख्या करनेके लिये उनकी अभिव्यक्तिके प्रकार-भेदोंको लेकर श्रुतियोंमें जगह-

जगह उनके चार पादोंकी कल्पना की गयी है। उसी दृष्टिसे यहाँ भी श्रुति कहती है ॥ २ ॥

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

जागरितस्थानः=जाग्रत् अवस्थाकी भाँति यह सम्पूर्ण स्थूल जगत् जिसका स्थान अर्थात् शरीर है; **बहिष्प्रज्ञः**=जिसका ज्ञान इस बाह्य जगत्में फैला हुआ है; **सप्ताङ्गः**=भूः, भुवः आदि सात लोक ही जिसके सात अङ्ग हैं, **एकोनविंशतिमुखः**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—ये विषयोंको ग्रहण करनेवाले उन्नीस समष्टि 'करण' ही जिसके उन्नीस मुख हैं, **स्थूलभुक्**=जो इस स्थूल जगत्का भोक्ता—इसको अनुभव करनेवाला तथा जाननेवाला है, वह, **वैश्वानरः**=वैश्वानर (विश्वको धारण करनेवाला) परमेश्वर, **प्रथमः**=पहला, **पादः**=पाद है ॥ ३ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके वे चार पाद कैसे और किस प्रकार हैं—यह बात समझानेके लिये जीवात्मा तथा उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों शरीरोंके उदाहरण देते हुए उन परमात्माके तीन पादोंका वर्णन क्रमशः किया गया है। उनमेंसे पहले पादका इस मन्त्रमें वर्णन है। भाव यह है कि जिस प्रकार जाग्रत् अवस्थामें इस स्थूल शरीरका अभिमानी जीवात्मा सिरसे लेकर पैरतक सात अङ्गोंसे युक्त होकर स्थूल विषयोंके उपभोगके द्वाररूप दस इन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण—इस प्रकार इन उन्नीस मुखोंसे विषयोंका उपभोग करता है और उसका विज्ञान बाह्य जगत्में फैला रहता है, उसी प्रकार सात लोकरूप सात अङ्गों और समष्टि इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण—इस प्रकार उन्नीस मुखोंसे युक्त इस स्थूल जगत्रूप शरीरका आत्मा—जो सम्पूर्ण देवता, पितर, मनुष्य आदि समस्त प्राणियोंका प्रेरक और स्वामी होनेके कारण इस स्थूल जगत्का ज्ञाता और भोक्ता है (गीता ५ । २९; ९ । २४), जिसकी अभिव्यक्ति इस बाह्य स्थूल जगत्में हो रही है—वह सर्वरूप वैश्वानर उन पूर्णब्रह्म परमात्माका पहला पाद है।

जो विश्व अर्थात् बहुत भी हो और नर भी हो, उसे वैश्वानर कहते हैं—इस व्युत्पत्तिके अनुसार स्थूल जगत्रूप शरीरवाले सर्वरूप परमेश्वरको यहाँ वैश्वानर कहा गया है। ब्रह्मसूत्र अध्याय १, पाद २, सूत्र २४ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आत्मा और ब्रह्म—इन दोनोंका वाचक जहाँ 'वैश्वानर' पद आये, वहाँ वह जीवात्माका या अग्निका नाम नहीं है। वह परब्रह्म परमेश्वरका

ही वाचक है, यों समझना चाहिये। वैश्वानर-विद्यामें भी इसी प्रकार परमात्माको वैश्वानर बताया गया है (छा० ५। ११। १—६) अतः यहाँ 'जागरित-स्थानः' इस पदके बलपर जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी जीवात्माको ब्रह्मका पहला पाद या वैश्वानर मानना ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि तीन अवस्थाओंके दृष्टान्तसे ब्रह्मके तीन पादोंका वर्णन करनेके पश्चात् छठे मन्त्रमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिनको इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित बताया गया है, वे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सम्पूर्ण जगत्के कारण तथा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। ये लक्षण जीवात्मामें नहीं घट सकते। इसलिये भी यहाँ सर्वात्मा वैश्वानर परमेश्वरको ही परब्रह्मका एक पाद कहा गया है, यही मानना युक्तिसङ्गत मालूम होता है॥ ३॥

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः॥ ४॥

स्वप्नस्थानः=स्वप्नकी भाँति सूक्ष्म जगत् ही जिसका स्थान है; अन्तःप्रज्ञः=जिसका ज्ञान सकल्पमय सूक्ष्म जगत्में व्याप्त है, सप्ताङ्गः=पूर्वोक्त सात अङ्गोंवाला (और); एकोनविंशतिमुखः=उन्नीस मुखोंवाला, प्रविविक्तभुक्=सूक्ष्म जगत्का भोक्ता, तैजसः=तैजस–प्रकाशका स्वामी सूत्रात्मा हिरण्यगर्भ; द्वितीयः पादः=उस परब्रह्म परमात्माका दूसरा पाद है॥ ४॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें पूर्णब्रह्म परमात्माके दूसरे पादका वर्णन है। भाव यह है कि जिस प्रकार स्वप्न-अवस्थामें सूक्ष्मशरीरका अभिमानी जीवात्मा पहले बतलाये हुए सूक्ष्म सात अङ्गोंवाला और उन्नीस मुखोंवाला होकर सूक्ष्म विषयोंका उपभोग करता है और उसीमें उसका ज्ञान फैला रहता है, उसी प्रकार जो स्थूल अवस्थासे भिन्न सूक्ष्मरूपमें परिणत हुए सात लोकरूप सात अङ्ग तथा इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरणरूप उन्नीस मुखोंसे युक्त सूक्ष्म जगत्रूप शरीरमें स्थित, उसका आत्मा हिरण्यगर्भ है, वह समस्त जड-चेतनात्मक सूक्ष्म जगत्के समस्त तत्त्वोंका नियन्ता, ज्ञाता और सबको अपनेमें प्रविष्ट किये हुए है, इसलिये उसका भोक्ता और जाननेवाला कहा जाता है। वह तैजस अर्थात् सूक्ष्म प्रकाशमय हिरण्यगर्भ उन पूर्णब्रह्म परमात्माका दूसरा पाद है।

समस्त ज्योतियोंकी ज्योति, सबको प्रकाशित करनेवाले, परम प्रकाशमय हिरण्यगर्भरूप परमेश्वरका ही वर्णन यहाँ तैजस नामसे हुआ है, ब्रह्मसूत्रके 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' (१। १। २४) इस सूत्रमें यह बात स्पष्ट की गयी है कि पुरुषके प्रकरणमें आया हुआ 'ज्योतिः' या 'तेजः' शब्द ब्रह्मका वाचक ही समझना चाहिये। जहाँ ब्रह्मके पादोंका वर्णन हो, वहाँ तो दूसरा अर्थ—जीव या

प्रकाश आदि मानना किसी तरह भी उचित नहीं है। उपनिषदोंमें बहुत जगह परमेश्वरका वर्णन 'ज्योतिः' (अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते—छा० उ० ३।१३।७) और 'तेजस्' (येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः—तै० ब्रा० ३।१२।९।७) के नामसे हुआ है। इसलिये यहाँ केवल 'स्वप्नस्थानः' पदके बलपर स्वप्नावस्थाके अभिमानी जीवात्माको ब्रह्मका दूसरा पाद मान लेना उचित नहीं मालूम होता। इसमें तीसरे मन्त्रकी व्याख्यामें बताये हुए कारण तो हैं ही। उनके सिवा यह एक कारण और भी है कि स्वप्नावस्थामें जीवात्माका ज्ञान जाग्रत्-अवस्थाकी अपेक्षा कम हो जाता है, किंतु यहाँ जिसका वर्णन तैजसके नामसे किया गया है, उस दूसरे पादरूप हिरण्यगर्भका ज्ञान जाग्रत्की अपेक्षा अधिक विकसित होता है। इसीलिये इसको तैजस अर्थात् ज्ञानस्वरूप बतलाया है और दसवें मन्त्रमें ओंकारकी दूसरी मात्रा 'उ' के साथ इसकी एकता करते हुए इसको उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) बताया है और इसके जाननेका फल ज्ञान-परम्पराकी वृद्धि और जाननेवालेकी संतानका ज्ञानी होना कहा है। स्वप्नाभिमानी जीवात्माके ज्ञानका ऐसा फल नहीं हो सकता, इसलिये भी तैजसका वाच्यार्थ सूक्ष्म जगत्के स्वामी हिरण्यगर्भको ही मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

यत्र=जिस अवस्थामें; **सुप्तः**=सोया हुआ (मनुष्य), **कञ्चन**=किसी भी, **कामम् न कामयते**=भोगकी कामना नहीं करता, **कञ्चन**=कोई भी, **स्वप्नम्**=स्वप्न, **न**=नहीं, **पश्यति**=देखता, **तत्**=वह, **सुषुप्तम्**=सुषुप्ति-अवस्था है, **सुषुप्तस्थानः**=ऐसी सुषुप्तिकी भाँति जो जगत्की प्रलय-अवस्था, अर्थात् कारण-अवस्था है, वही जिसका शरीर है, **एकीभूतः**=जो एकरूप हो रहा है, **प्रज्ञानघनः एव**=जो एकमात्र घनीभूत विज्ञानस्वरूप है, **आनन्दमयः हि**=जो एकमात्र आनन्दमय अर्थात् आनन्दस्वरूप ही है, **चेतोमुखः**=प्रकाश ही जिसका मुख है, **आनन्दभुक्**=जो एकमात्र आनन्दका ही भोक्ता है (वह), **प्राज्ञः**=प्राज्ञ, **तृतीयः पादः**=(ब्रह्मका) तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें जाग्रत्की कारण और लय-अवस्थारूप सुषुप्तिके साथ प्रलयकालमें कारणरूपसे स्थित जगत्की समानता दिखानेके लिये पहले सुप्रसिद्ध सुषुप्ति-अवस्थाके लक्षण बतलाकर उनके बाद पूर्णब्रह्म परमात्माके तीसरे पादका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि जिस अवस्थामें सोया हुआ मनुष्य किसी प्रकारके किसी भी भोगकी न तो कामना करता है और न अनुभव ही

करता है तथा किसी प्रकारका स्वप्न भी नहीं देखता, ऐसी अवस्थाको सुषुप्ति कहते हैं। इस सुषुप्ति अवस्थाके सदृश जो प्रलयकालमें जगत्की कारण-अवस्था है, जिसमें नाना 'रूपों'का प्राकट्य नहीं हुआ है—ऐसी अव्याकृत प्रकृति ही जिसका शरीर है, तथा जो एक अद्वितीयरूपमें स्थित है, उपनिषदोंमें जिसका वर्णन कहीं सत्के नामसे ('सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' छा० उ० ६ । २ । १) और कहीं आत्माके नामसे (आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्—ऐ० उ० १ । १ । १) आया है, जिसका एकमात्र चेतना (प्रकाश) ही मुख है और आनन्द ही भोजन है, वह विज्ञानघन, आनन्दमय प्राज्ञ ही उन पूर्णब्रह्मका तीसरा पाद है।

यहाँ प्राज्ञ नामसे भी सृष्टिके कारण सर्वज्ञ परमेश्वरका ही वर्णन है। ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्यायके चौथे पादके अन्तर्गत पाँचवें सूत्रमें 'प्राज्ञ' शब्द ईश्वरके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, इसके सिवा और भी बहुत-से सूत्रोंमें ईश्वरके स्थानपर 'प्राज्ञ' शब्दका प्रयोग किया गया है। पूज्यपाद स्वामी शङ्कराचार्यने तो ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें स्थान-स्थानपर परमेश्वरके बदले 'प्राज्ञ' शब्दका ही प्रयोग किया है। उपनिषदोंमें भी अनेक स्थलोंपर 'प्राज्ञ' शब्दका परमेश्वरके स्थानमें प्रयोग किया गया है (बृ० उ० ४ । ३ । २१ और ४ । ३ । ३५)। प्रस्तुत मन्त्रमें साथ-ही-साथ ईश्वरसे भिन्न शरीराभिमानी जीवात्माका भी वर्णन है। यहाँ प्रकरण भी सुषुप्तिका है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी दृष्टिसे 'प्राज्ञ' शब्द जीवात्माका वाचक नहीं है। ब्रह्मसूत्र (१ । ३ । ४२) के भाष्यमें स्वयं शङ्कराचार्यजीने लिखा है कि 'सर्वज्ञतारूप प्रज्ञासे नित्य संयुक्त होनेके कारण 'प्राज्ञ' नाम परमेश्वरका ही है, अतः उपर्युक्त उपनिषद्-मन्त्रमें परमेश्वरका ही वर्णन है। इनके सिवा प्राज्ञके विशेषणोंमें 'प्रज्ञानघन' और 'आनन्दमय' शब्दोंका प्रयोग है जो कि जीवात्माके वाचक हो ही नहीं सकते (देखिये ब्रह्मसूत्र १ । १ । १२ और १६-१७) इसलिये यहाँ केवल 'सुषुप्तस्थानः' पदके बलपर सुषुप्ति-अभिमानी जीवात्माको ब्रह्मका तीसरा पाद मान लेना उचित नहीं मालूम होता, क्योंकि इसके बाद अगले मन्त्रमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित तीन पादोंके नामसे जिनका वर्णन हुआ है, वे सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सम्पूर्ण जगत्के कारण और समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। इसके सिवा ग्यारहवें मन्त्रमें ओंकारकी तीसरी मात्राके साथ तीसरे पादकी एकता करके उसे जाननेका फल सबको जानना और सम्पूर्ण जगत्को विलीन कर लेना बताया है, इसलिये भी 'प्राज्ञः' पदका वाच्यार्थ कारण जगत्के अधिष्ठाता परमेश्वरको ही समझना चाहिये। वह प्राज्ञ ही पूर्णब्रह्म परमात्माका तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—ऊपर बतलाये हुए ब्रह्मके पाद वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ किसके नाम हैं इस जिज्ञासापर कहते हैं—

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

एषः=यह, **सर्वेश्वरः**=सबका ईश्वर है, एषः=यह, **सर्वज्ञः**=सर्वज्ञ है; एषः=यह, अन्तर्यामी=सबका अन्तर्यामी है; एषः=यह, **सर्वस्य**=सम्पूर्ण जगत्का, **योनिः**=कारण है, **हि**=क्योंकि, **भूतानाम्**=समस्त प्राणियोंका, **प्रभवाप्ययौ**=उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका स्थान यही है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिन परमेश्वरका तीनों पादोंके रूपमें वर्णन किया गया है, ये सम्पूर्ण ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं। ये ही सर्वज्ञ और सबके अन्तर्यामी हैं। ये ही सम्पूर्ण जगत्के कारण हैं, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके स्थान ये ही हैं। प्रश्नोपनिषद्में तीनों मात्राओंसे युक्त ओंकारके द्वारा परम पुरुष परमेश्वरका ध्यान करनेकी बात कहकर उसका फल समस्त पापोंसे रहित हो अविनाशी परात्पर पुरुषोत्तमको प्राप्त कर लेना बताया गया है (५ । ५)। अतः पूर्ववर्णित वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ परमेश्वरके ही नाम हैं। अलग-अलग स्थितिमें उन्हींका वर्णन भिन्न-भिन्न नामोंसे किया गया है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—अब पूर्णब्रह्म परमात्माके चौथे पादका वर्णन करते है—

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

न **अन्तःप्रज्ञम्**=जो न भीतरकी ओर प्रज्ञावाला है, न **बहिष्प्रज्ञम्**=न बाहरकी ओर प्रज्ञावाला है, न **उभयतःप्रज्ञम्**=न दोनों ओर प्रज्ञावाला है, न **प्रज्ञानघनम्**=न प्रज्ञानघन है, न **प्रज्ञम्**=न जाननेवाला है, न **अप्रज्ञम्**=न नहीं जाननेवाला है, **अदृष्टम्**=जो देखा नहीं गया है, **अव्यवहार्यम्**=जो व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता, **अग्राह्यम्**=जो पकड़नेमें नहीं आ सकता, **अलक्षणम्**=जिसका कोई लक्षण (चिह्न) नहीं है; **अचिन्त्यम्**=जो चिन्तन करनेमें नहीं आ सकता, **अव्यपदेश्यम्**=जो बतलानेमें नहीं आ सकता, **एकात्मप्रत्ययसारम्**=एकमात्र आत्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसका सार (प्रमाण) है, **प्रपञ्चोपशमम्**=जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है, ऐसा, **शान्तम्**=सर्वथा शान्त, **शिवम्**=कल्याणमय, **अद्वैतम्**=अद्वितीय तत्त्व, **चतुर्थम्**=(परब्रह्म परमात्माका) चौथा पाद है, **मन्यन्ते**=(इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी) मानते हैं, **सः आत्मा**=वह परमात्मा (है), **सः विज्ञेयः**=वह जाननेयोग्य (है) ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें निर्गुण-निराकार निर्विशेष स्वरूपको पूर्णब्रह्म परमात्माका चौथा पाद बताया गया है। भाव यह है कि जिसका ज्ञान न तो बाहरकी ओर है, न भीतरकी ओर है और न दोनों ही ओर है; जो न ज्ञानस्वरूप है, न जाननेवाला है और न नहीं जाननेवाला ही है, जो न देखनेमें आ सकता है, न व्यवहारमें लाया जा सकता है, न ग्रहण करनेमें आ सकता है, न चिन्तन करनेमें, न बतलानेमें आ सकता है और न जिसका कोई लक्षण ही है, जिसमें समस्त प्रपञ्चका अभाव है, एकमात्र परमात्मसत्ताकी प्रतीति ही जिसमें सार (प्रमाण) है— ऐसा सर्वथा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्त्व पूर्णब्रह्मका चौथा पाद माना जाता है। इस प्रकार जिनका चार पादोंमें विभाग करके वर्णन किया गया, वे ही पूर्णब्रह्म परमात्मा हैं, उन्हींको जानना चाहिये।

इस मन्त्रमें 'चतुर्थम् मन्यन्ते' पदके प्रयोगसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ परब्रह्म परमात्माके चार पादोंकी कल्पना केवल उनका तत्त्व समझानेके लिये ही की गयी है; वास्तवमें अवयवरहित परमात्माके कोई भाग नहीं हैं जो पूर्णब्रह्म परमात्मा स्थूल जगत्में परिपूर्ण हैं, वे ही सूक्ष्म और कारण जगत्के अन्तर्यामी और अधिष्ठाता भी हैं, तथा वे ही इन सबसे अलग निर्विशेष परमात्मा हैं। वे सर्वशक्तिमान् भी हैं और सब शक्तियोंसे रहित भी हैं। वे सगुण भी हैं और निर्गुण भी। वे साकार भी हैं और निराकार भी। वास्तवमें वे हमारी बुद्धि और तर्कसे सर्वथा अतीत हैं॥ ७॥

सम्बन्ध—उक्त परब्रह्म परमात्माकी उनके वाचक प्रणवके साथ एकता करते हुए कहते हैं—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति॥ ८॥

सः=वह (जिसको चार पादवाला बताया गया है), अयम्=यह; आत्मा=परमात्मा, अध्यक्षरम्=(उसके वाचक) प्रणवके अधिकारमें (प्रकरणमें) वर्णित होनेके कारण, अधिमात्रम्=तीन मात्राओंसे युक्त, ओंकारः=ओंकार है; अकारः='अ' उकारः='उ' (और), मकारः='म', इति=ये (तीनों); मात्राः=मात्राएँ ही, पादाः=(तीन) पाद हैं, च=और, पादाः=(उस ब्रह्मके तीन) पाद ही, मात्राः=(तीन) मात्राएँ हैं॥ ८॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमात्मा, जिनके चार पादोंका वर्णन किया गया है, यहाँ अक्षरके प्रकरणमें अपने नामसे अभिन्न होनेके कारण तीन मात्राओं-

वाला ओंकार हैं। 'अ', 'उ' और 'म' ये तीनों मात्राएँ ही उनके उपर्युक्त तीन पाद हैं और उनके तीनों पाद ही ओंकारकी तीन मात्राएँ हैं। जिस प्रकार ओंकार अपनी मात्राओंसे अलग नहीं है, उसी प्रकार अपने पादोंसे परमात्मा अलग नहीं हैं। यहाँ पाद और मात्राकी एकता ओंकारके द्वारा पर-ब्रह्म परमात्माकी उपासनाके लिये की गयी है—ऐसा मालूम होता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—ओंकारकी किस मात्रासे ब्रह्मके किस पादकी एकता है और वह क्यों है, इस जिज्ञासापर तीन मात्राओंका रहस्य समझानेके लिये प्रथम पहले पाद और पहली मात्राकी एकताका प्रतिपादन करते हैं—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वा-द्वाऽऽप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

प्रथमा=(ओंकारकी) पहली, **मात्रा**=मात्रा, **अकारः**=अकार ही, **आप्तेः**=(समस्त जगत्‌के नामोंमें अर्थात् शब्दमात्रमें) व्याप्त होनेके कारण, **वा**=और, **आदिमत्त्वात्**=आदिवाला होनेके कारण, **जागरितस्थानः**=जाग्रत्‌की भाँति स्थूल जगत्‌रूप शरीरवाला, **वैश्वानरः**=वैश्वानर नामक पहला पाद है; **यः**=जो, **एवम्**=इस प्रकार, **वेद**=जानता है, [**सः**] **ह वै**=वह अवश्य ही, **सर्वान्**=सम्पूर्ण, **कामान्**=भोगोंको, **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है, **च**=और **आदिः**=सबका आदि (प्रधान), **भवति**=बन जाता है ॥ ९ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके नामात्मक ओंकारकी जो पहली मात्रा 'अ' है, वह समस्त जगत्‌के नामोंमें अर्थात् किसी भी अर्थको बतलानेवाले जितने भी शब्द हैं, उन सबमें व्याप्त है। स्वर अथवा व्यञ्जन—कोई भी वर्ण अकारसे रहित नहीं है। श्रुति भी कहती है—'अकारो वै सर्वा वाक्' (ऐतरेय आरण्यक० २ । ३ । ६)। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि अक्षरोंमें (वर्णोंमें) मैं 'अ' हूँ (१० । ३३) तथा समस्त वर्णोंमें 'अ' ही पहला वर्ण है। इसी प्रकार इस स्थूल जगत्‌रूप विराट् शरीरमें वे वैश्वानररूप अन्तर्यामी परमेश्वर व्याप्त हैं और विराट्‌रूपसे सबके पहले स्वयं प्रकट होनेके कारण इस जगत्‌के आदि भी वे ही हैं। इस प्रकार 'अ' की और जाग्रत्‌की भाँति प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले इस स्थूल जगत्‌रूप शरीरमें व्याप्त वैश्वानर नामक प्रथम पादकी एकता होनेके कारण 'अ' ही पूर्णब्रह्म परमेश्वरका पहला पाद है। जो मनुष्य इस प्रकार अकार और विराट् शरीरके आत्मा परमेश्वरकी एकताको जानता है और उनकी उपासना करता है, वह सम्पूर्ण कामनाओंको अर्थात् इच्छित पदार्थोंको पा लेता है और जगत्‌में प्रधान—सर्वमान्य हो जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—अब दूसरे पादकी और दूसरी मात्राकी एकताका प्रतिपादन करते हैं—

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

द्वितीया=(ओंकारकी) दूसरी, **मात्रा**=मात्रा, **उकारः**='उ', **उत्कर्षात्**=('अ' से) उत्कृष्ट होनेके कारण, **वा**=और, **उभयत्वात्**=दोनों भाववाला होनेके कारण, **स्वप्नस्थानः**=स्वप्नकी भाँति सूक्ष्म जगत्‌रूप शरीरवाला, **तैजसः**=तैजस नामक (दूसरा पाद) है, **यः**=जो, **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=जानता है, [**सः**] **ह वै**=वह अवश्य ही, **ज्ञानसंततिम्**=ज्ञानकी परम्पराको, =**उत्कर्षति**=उन्नत करता है, **च**=और, **समानः**=समान भाववाला; **भवति**=हो जाता है, **अस्य**=इसके, **कुले**=कुलमें; **अब्रह्मवित्**=हिरण्यगर्भरूप परमेश्वरको न जाननेवाला, **न**=नहीं, **भवति**=होता ॥ १० ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके नामात्मक ओंकारकी दूसरी मात्रा जो 'उ' है, यह 'अ' से उत्कृष्ट (ऊपर उठा हुआ) होनेके कारण श्रेष्ठ है तथा 'अ' और 'म' इन दोनोंके बीचमें होनेके कारण उन दोनोंके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः यह उभयस्वरूप है। इसी प्रकार वैश्वानरसे तैजस (हिरण्यगर्भ) उत्कृष्ट है तथा वैश्वानर और प्राज्ञके मध्यगत होनेसे यह उभयसम्बन्धी भी है। इस समानताके कारण ही 'उ' को 'तैजस' नामक द्वितीय पाद कहा गया है। भाव यह है कि इस स्थूल जगत्‌के प्राकट्यसे पहले परमेश्वरके आदि संकल्पद्वारा जो सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न होती है, जिसका वर्णन मानस-सृष्टिके नामसे आता है, जिसमें समस्त तत्त्व तन्मात्राओंके रूपमें रहते हैं, स्थूलरूपमें परिणत नहीं होते, उस सूक्ष्म-जगत्‌रूप शरीरमें चेतन प्रकाशस्वरूप हिरण्यगर्भ परमेश्वर इसके अधिष्ठाता होकर रहते हैं। तथा कारण-जगत् और स्थूल-जगत्—इन दोनोंसे ही सूक्ष्म-जगत्‌का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसलिये वे कारण और स्थूल दोनों रूपवाले हैं। इस तरह 'उ' की और मानसिक सृष्टिके अधिष्ठाता तैजसरूप दूसरे पादकी समानता होनेके कारण 'उ' ही पूर्णब्रह्म परमात्माका दूसरा पाद है। जो मनुष्य इस प्रकार 'उ' और तेजोमय हिरण्यगर्भरूपकी एकताके रहस्यको समझ लेता है, वह स्वयं इस जगत्‌के सूक्ष्म तत्त्वोंको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, इस कारण इस ज्ञानकी परम्पराको उन्नत करता है—उसे बढ़ाता है तथा सर्वत्र समभाववाला हो जाता है, क्योंकि जगत्‌के सूक्ष्म तत्त्वोंको समझ लेनेके कारण उसका वास्तविक रहस्य समझमें आ जानेसे उसकी विषमताका नाश हो जाता है। इसलिये उससे उत्पन्न हुई संतान भी कोई ऐसी नहीं होती, जिसको हिरण्यगर्भरूप परमेश्वरके उपर्युक्त रहस्यका ज्ञान न हो जाय ॥ १० ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

तृतीया=(ओंकारकी) तीसरी, **मात्रा**=मात्रा, **मकारः**='म' ही; **मितेः**=माप करनेवाला (जाननेवाला) होनेके कारण; **वा**=और, **अपीतेः**=विलीन करनेवाला होनेसे, **सुषुप्तस्थानः**=सुषुप्तिकी भाँति कारणमें विलीन जगत् ही जिसका शरीर है, **प्राज्ञः**=प्राज्ञ नामक तीसरा पाद है, **यः**=जो, **एवम्**=इस प्रकार, **वेद**=जानता है, [**सः**] **ह वै**=वह अवश्य ही, **इदम्**=इस, **सर्वम्**=सम्पूर्ण कारण-जगत्को, **मिनोति**=माप लेता है अर्थात् भलीभाँति जान लेता है, **च**=और, **अपीतिः**=सबको अपनेमें विलीन करनेवाला, **भवति**=हो जाता है ॥११॥

व्याख्या—परमात्माके नामात्मक ओंकारकी जो तीसरी मात्रा 'म' है, यह 'मा' धातुसे बना है। 'मा' धातुका अर्थ माप लेना यानी अमुक वस्तु इतनी है, यह समझ लेना है। वह 'म' ओंकारकी अन्तिम मात्रा है, 'अ' और 'उ' के पीछे उच्चरित होती है—इस कारण दोनोंका माप इसमें आ जाता है, अतः यह उनको जाननेवाला है। तथा 'म' का उच्चारण होते-होते मुख बंद हो जाता है, 'अ' और 'उ' दोनों उसमें विलीन हो जाते हैं, अतः वह उन दोनों मात्राओंको अन्तमें विलीन करनेवाला भी है। इसी प्रकार सुषुप्तस्थानीय कारण-जगत्का अधिष्ठाता प्राज्ञ भी सर्वज्ञ है। स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों अवस्थाओंमें स्थित जगत्को जाननेवाला है। कारण-जगत्से ही सूक्ष्म और स्थूल जगत्की उत्पत्ति होती है और उसीमें उनका लय भी होता है। इस प्रकार 'म' की और कारण-जगत्के अधिष्ठाता प्राज्ञ नामक तीसरे पादकी समता होनेके कारण 'म' रूप तीसरी मात्रा ही पूर्ण ब्रह्मका तीसरा पाद है। जो मनुष्य इस प्रकार 'म' और 'प्राज्ञ' स्वरूप परमेश्वरकी एकताको जानता है—इस रहस्यको समझकर ओंकारके स्मरणद्वारा परमेश्वरका चिन्तन करता है, वह इस मूलसहित सम्पूर्ण जगत्को भली प्रकार जान लेता है और सबको विलीन करनेवाला हो जाता है, अर्थात् उसकी बाह्य दृष्टि निवृत्त हो जाती है। अतः वह सर्वत्र एक परब्रह्म परमेश्वरको ही देखनेवाला बन जाता है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—मात्रारहित ओंकारकी चौथे पादके साथ एकताका प्रतिपादन करते हुए इस उपनिषद्का उपसंहार करते हैं—

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

एवम्=इसी प्रकार, **अमात्रः**=मात्रारहित, **ओंकारः**=प्रणव ही; **अव्यवहार्यः**=व्यवहारमें न आनेवाला, **प्रपञ्चोपशमः**=प्रपञ्चसे अतीत; **शिवः**=

कल्याणमय, अद्वैतः=अद्वितीय, चतुर्थः=पूर्ण ब्रह्मका चौथा पाद है, [सः] आत्मा=वह आत्मा, एव=अवश्य ही, आत्मना=आत्माके द्वारा, आत्मानम्=परात्पर ब्रह्म परमात्मामें, संविशति=पूर्णतया प्रविष्ट हो जाता है, यः=जो,एवम्=इस प्रकार, वेद=जानता है, यः एवम् वेद=जो इस प्रकार जानता है ॥ १२ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माके नामात्मक ओंकारका जो मात्रारहित, बोलनेमें न आनेवाला, निराकार स्वरूप है, वही मन-वाणीका अविषय होनेसे व्यवहारमें न लाया जा सकनेवाला, प्रपञ्चसे अतीत, कल्याणमय, अद्वितीय—निर्गुण-निराकाररूप चौथा पाद है, भाव यह है कि जिस प्रकार तीन मात्राओंकी पहले बताये हुए तीन पादोंके साथ समता है, उसी प्रकार ओंकारके निराकार स्वरूपकी परब्रह्म परमात्माके निर्गुण-निराकार निर्विशेषरूप चौथे पादके साथ समता है। जो मनुष्य इस प्रकार ओंकार और परब्रह्म परमात्माकी अर्थात् नाम और नामीकी एकताके रहस्यको समझकर परब्रह्म परमात्माको पानेके लिये उनके नाम-जपका अवलम्ब लेकर तत्परतासे साधन करता है, वह निस्सन्देह आत्मासे आत्मामें अर्थात् परात्पर परब्रह्म परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है। 'जो इस प्रकार जानता है' इस वाक्यको दो बार कहकर उपनिषद्की समाप्ति सूचित की गयी है।

परब्रह्म परमात्मा और उनके नामकी महिमा अपार है, उसका कोई पार नहीं पा सकता। इस प्रकरणमें उन असीम पूर्ण ब्रह्म परमात्माके चार पादोंकी कल्पना उनके स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीनों सगुण रूपोंकी और निर्गुण-निराकार स्वरूपकी एकता दिखानेके लिये तथा नाम और नामीकी सब प्रकारसे एकता दिखानेके लिये एवं उनकी सर्वभवन-सामर्थ्यरूप जो अचिन्त्य शक्ति है, वह उनसे सर्वथा अभिन्न है—यह भाव दिखानेके लिये की गयी है ऐसा अनुमान होता है ॥ १२ ॥

॥ अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥*
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥†

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ इस उपनिषद्के आदिमें दिया जा चुका है।

---

*—यह मन्त्र ऋग्वेद (१० । ८९ । ६) में है, तथा यजुर्वेद २५ । १९ में भी है।
†—यह मन्त्र ऋग्वेद (१० । ८९ । ८) में है तथा यजुर्वेद २५ । २१ में भी है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

ऐतरेयोपनिषद्

ऋग्वेदीय ऐतरेय आरण्यकमें दूसरे आरण्यकके चौथे, पाँचवें और छठे अध्यायोंको ऐतरेय-उपनिषद्के नामसे कहा गया है। इन तीन अध्यायोंमें ब्रह्मविद्याकी प्रधानता है। इस कारण इन्हींको 'उपनिषद्' माना है।

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता। मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्संदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

ॐ=हे सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्!, **मे**=मेरी, **वाक्**=वाक् इन्द्रिय, **मनसि**=मनमें, **प्रतिष्ठिता**=स्थित हो जाय, **मे**=मेरा, **मनः**=मन, **वाचि**=वाक् इन्द्रियमें, **प्रतिष्ठितम्**=स्थित हो जाय, **आविः**=हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर!, **मे**=मेरे लिये; **आवीः एधि**=(तू) प्रकट हो, **मे**=(हे मन और वाणी! तुम दोनों) मेरे लिये, **वेदस्य**=वेदविषयक ज्ञानको, **आणीस्थः**=लानेवाले बनो, **मे**=मेरा, **श्रुतम्**=सुना हुआ ज्ञान, **मा प्रहासीः**=(मुझे) न छोड़े; **अनेन अधीतेन**=इस अध्ययनके द्वारा, **अहोरात्रान्**=(मैं) दिन और रात्रियोंको, **संदधामि**=एक कर दूँ, **ऋतम्**=(मैं) श्रेष्ठ शब्दोंको ही, **वदिष्यामि**=बोलूँगा, **सत्यम्**=सत्य ही; **वदिष्यामि**=बोला करूँगा, **तत्**=वह (ब्रह्म), **माम् अवतु**=मेरी रक्षा करे; **तत्**=वह (ब्रह्म), **वक्तारम् अवतु**=आचार्यकी रक्षा करे, **अवतु माम्**=रक्षा करे मेरी (और); **अवतु वक्तारम्**=रक्षा करे (मेरे) आचार्यकी, **अवतु वक्तारम्**=रक्षा करे (मेरे) आचार्यकी, **ओम् शान्तिः**=भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं, **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या—इस शान्तिपाठमें सब प्रकारके विघ्नोंकी शान्तिके लिये परमात्मासे प्रार्थना की गयी है। प्रार्थनाका भाव यह है कि 'हे सच्चिदानन्दस्वरूप

परमात्मन् ! मेरी वाणी मनमें स्थित हो जाय और मन वाणीमें स्थित हो जाय; अर्थात् मेरे मन-वाणी दोनों एक हो जायँ ! ऐसा न हो कि मैं वाणीसे एक पाठ पढ़ता रहूँ और मन दूसरा ही चिन्तन करता रहे, या मनमें दूसरा ही भाव रहे और वाणीद्वारा दूसरा प्रकट करूँ । मेरे संकल्प और वचन दोनों विशुद्ध होकर एक हो जायँ । हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! आप मेरे लिये प्रकट हो जाइये—अपनी योगमायाका पर्दा मेरे सामनेसे हटा लीजिये । (इस प्रकार परमात्मासे प्रार्थना करके अब उपासक अपने मन और वाणीसे कहता है कि) हे मन और वाणी ! तुम दोनों मेरे लिये वेदविषयक ज्ञानकी प्राप्ति करानेवाले बनो—तुम्हारी सहायतासे मैं वेदविषयक ज्ञान प्राप्त कर सकूँ । मेरा गुरुमुखसे सुना हुआ और अनुभवमें आया हुआ ज्ञान मेरा त्याग न करे अर्थात् वह सर्वदा मुझे स्मरण रहे—मैं उसे कभी न भूलूँ । मेरी इच्छा है कि अपने अध्ययनद्वारा मैं दिन और रात एक कर दूँ । अर्थात् रात-दिन निरन्तर ब्रह्मविद्याका पठन और चिन्तन ही करता रहूँ । मेरे समयका एक क्षण भी व्यर्थ न बीते । मैं अपनी वाणीसे सदा ऐसे ही शब्दोंका उच्चारण करूँगा जो सर्वथा उत्तम हों, जिनमें किसी प्रकारका दोष न हो, तथा जो कुछ बोलूँगा, सर्वथा सत्य बोलूँगा—जैसा देखा सुना और समझा हुआ भाव है, ठीक वही भाव वाणीद्वारा प्रकट करूँगा । उसमें किसी प्रकारका छल नहीं करूँगा । (इस प्रकार अपने मन और वाणीको दृढ़ बनाकर अब पुनः परमात्मासे प्रार्थना करता है—) वे परब्रह्म परमात्मा मेरी रक्षा करें । वे परमेश्वर मुझे ब्रह्मविद्या सिखानेवाले आचार्यकी रक्षा करें । वे रक्षा करें मेरी और मेरे आचार्यकी, जिससे मेरे अध्ययनमें किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित न हो । आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंकी सर्वथा निवृत्तिके लिये तीन बार 'शान्ति' पदका उच्चारण किया गया है । भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, इसलिये उनके स्मरणसे शान्ति निश्चित है ।

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥ १ ॥

ॐ=ॐ इस परमात्माके नामका उच्चारण करके उपनिषद्का आरम्भ करते हैं, इदम्=यह जगत्, अग्रे=(प्रकट होनेसे) पहले; एकः=एकमात्र; आत्मा=परमात्मा; वै=ही; आसीत्=था, अन्यत्=(उसके सिवा) दूसरा; किंचन एव=कोई भी; मिषत्=चेष्टा करनेवाला, न=नहीं था, सः=उस (परम

पुरुष परमात्मा) ने, नु=(मैं) निश्चय ही, **लोकान् सृजै**=लोकोंकी रचना करूँ, इति=इस प्रकार, **ईक्षत**=विचार किया ॥ १ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें परमात्माके सृष्टि-रचना-विषयक प्रथम संकल्पका वर्णन है। भाव यह है कि देखने-सुनने और समझनेमें आनेवाले जड-चेतनमय प्रत्यक्ष जगत्के इस रूपमें प्रकट होनेसे पहले कारण-अवस्थामें एकमात्र परमात्मा ही थे। उस समय इसमें भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंकी अभिव्यक्ति नहीं थी। उस समय उन परब्रह्म परमात्माके सिवा दूसरा कोई भी चेष्टा करनेवाला नहीं था। सृष्टिके आदिमें उन परम पुरुष परमात्माने यह विचार किया कि 'मैं प्राणियोंके कर्म-फल-भोगार्थ भिन्न-भिन्न लोकोंकी रचना करूँ' ॥ २ ॥

स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥

सः=उसने, **अम्भः**=अम्भ (द्युलोक तथा उसके ऊपरके लोक), **मरीचीः**=मरीचि (अन्तरिक्ष), **मरम्**=मर (मर्त्यलोक) और, **आपः**=जल (पृथ्वीके नीचेके लोक), **इमान्**=इन सब, **लोकान् असृजत**=लोकोंकी रचना की, **दिवम् परेण**=द्युलोक—स्वर्गलोकसे ऊपरके लोक, **प्रतिष्ठा**=(तथा) उनका आधारभूत, **द्यौः**=द्युलोक भी, **अदः**=वे सब, **अम्भः**='अम्भ' के नामसे कहे गये हैं; **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष लोक (भुवर्लोक) ही, **मरीचयः**=मरीचि है (तथा); **पृथिवी**=यह पृथ्वी ही, **मरः**=मर—मृत्युलोकके नामसे कही गयी है (और), **याः**=जो, **अधस्तात्**=(पृथ्वीके) नीचे—भीतरी भागमें (स्थूल पातालादि लोक) हैं, **ताः**=वे, **आपः**=जलके नामसे कहे गये हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—यह विचार करके परब्रह्म परमेश्वरने अम्भ, मरीचि, मर और जल—इन लोकोंकी रचना की। इन शब्दोंको स्पष्ट करनेके लिये आगे श्रुतिमें ही कहा गया है कि स्वर्गलोकसे ऊपर जो महः, जनः, तपः और सत्य लोक हैं, वे और उनका आधार द्युलोक—इन पाँचों लोकोंको यहाँ 'अम्भः' नामसे कहा गया है। उसके नीचे जो अन्तरिक्षलोक (भुवर्लोक) है, जिसमें सूर्य, चन्द्र और तारागण—ये सब किरणोंवाले लोकविशेष हैं, उसका वर्णन यहाँ मरीचि नामसे किया गया है। उसके नीचे जो यह पृथ्वीलोक है—जिसको मृत्युलोक भी कहते हैं, वह यहाँ 'मर' के नामसे कहा गया है और उसके नीचे अर्थात् पृथ्वीके भीतर जो पातालादि लोक हैं, वे 'आपः' के नामसे कहे गये हैं। तात्पर्य यह कि जगत्में जितने भी लोक त्रिलोकी, चतुर्दश भुवन एवं सप्त लोकोंके नामसे प्रसिद्ध हैं, उन सब लोकोंकी परमात्माने रचना की ॥ २ ॥

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥ ३ ॥

सः=उसने, ईक्षत=फिर विचार किया, इमे=ये, नु=तो हुए, लोकाः=लोक, (अब) लोकपालान् नु सृजै=लोकपालोंकी भी रचना मुझे अवश्य करनी चाहिये; इति=यह विचार करके, सः=उसने, अद्भ्यः=जलसे, एव=ही; पुरुषम्=हिरण्यगर्भरूप पुरुषको; समुद्धृत्य=निकालकर; अमूर्छयत्=उसे मूर्तिमान् बनाया ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार इन समस्त लोकोंकी रचना करनेके अनन्तर परमेश्वरने फिर विचार किया कि 'ये सब लोक तो रचे गये । अब इन लोकोंकी रक्षा करनेवाले लोकपालोंकी रचना भी मुझे अवश्य करनी चाहिये, अन्यथा बिना रक्षकके ये सब लोक सुरक्षित नहीं रह सकेंगे ।' यह सोचकर उन्होंने जलमेंसे अर्थात् जल आदि सूक्ष्म महाभूतोंमेंसे हिरण्यमय पुरुषको निकालकर उसको समस्त अङ्ग-उपाङ्गोंसे युक्त करके मूर्तिमान् बनाया । यहाँ 'पुरुष' शब्दसे सृष्टिकालमें सबसे पहले प्रकट किये जानेवाले ब्रह्माका वर्णन किया गया है, क्योंकि ब्रह्मासे ही सब लोकपालोंकी और प्रजाको बढ़ानेवाले प्रजापतियोंकी उत्पत्ति हुई है—इस विषयका विस्तृत वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है और ब्रह्माकी उत्पत्ति जलके भीतरसे कमलनालसे हुई, ऐसा भी वर्णन आता है । अतः यहाँ 'पुरुष' शब्दका अर्थ ब्रह्मा मान लेना उचित जान पड़ता है ॥ ३ ॥

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग् वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ् निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधि-वनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निर-भिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥

(परमात्माने) तम्=उस (हिरण्यगर्भरूप पुरुष) को लक्ष्य करके, अभ्यतपत्=संकल्परूप तप किया, अभितप्तस्य=उस तपसे तपे हुए; तस्य=हिरण्यगर्भके शरीरसे; यथाण्डम्=(पहले) अण्डेकी तरह (फूटकर), मुखम्=मुख-छिद्र; निरभिद्यत=प्रकट हुआ, मुखात्=मुखसे, वाक्=वाक् इन्द्रिय (और), वाचः=वाक्-इन्द्रियसे; अग्निः=अग्निदेवता प्रकट हुआ (फिर);

नासिके=नासिकाके दोनों छिद्र, **निरभिद्येताम्**=प्रकट हुए, **नासिकाभ्याम्**=नासिका-छिद्रोंमेंसे; **प्राणः**=प्राण उत्पन्न हुआ (और), **प्राणात्**=प्राणसे, **वायुः**=वायुदेवता उत्पन्न हुआ (फिर), **अक्षिणी**=दोनों आँखोंके छिद्र, **निरभिद्येताम्**=प्रकट हुए, **अक्षिभ्याम्**=आँखोंके छिद्रोंमेंसे, **चक्षुः**=नेत्र-इन्द्रिय प्रकट हुई (और), **चक्षुषः**=नेत्र-इन्द्रियसे, **आदित्यः**=सूर्य प्रकट हुआ (फिर), **कर्णौ**=दोनों कानोंके छिद्र, **निरभिद्येताम्**=प्रकट हुए, **कर्णाभ्याम्**=कानोंसे, **श्रोत्रम्**=श्रोत्र-इन्द्रिय प्रकट हुई (और), **श्रोत्रात्**=श्रोत्र-इन्द्रियसे, **दिशः**=दिशाएँ प्रकट हुईं (फिर), **त्वक्**=त्वचा, **निरभिद्यत**=प्रकट हुई, **त्वचः**=त्वचासे, **लोमानि**=रोम उत्पन्न हुए (और), **लोमभ्यः**=रोओंसे, **ओषधिवनस्पतयः**=ओषधि और वनस्पतियाँ प्रकट हुईं (फिर), **हृदयम्**=हृदय, **निरभिद्यत**=प्रकट हुआ, **हृदयात्**=हृदयसे **मनः**=मनका आविर्भाव हुआ (और), **मनसः**=मनसे, **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा उत्पन्न हुआ (फिर), **नाभिः**=नाभि **निरभिद्यत**=प्रकट हुई, **नाभ्याः**=नाभिसे, **अपानः**=अपानवायु प्रकट हुआ (और), **अपानात्**=अपानवायुसे, **मृत्युः**=मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ (फिर), **शिश्नम्**=लिङ्ग, **निरभिद्यत**=प्रकट हुआ, **शिश्नात्**=लिङ्गसे, **रेतः**=वीर्य (और), **रेतसः**=वीर्यसे, **आपः**=जल उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस प्रकार हिरण्यगर्भ पुरुषको उत्पन्न करके उसके अङ्ग-उपाङ्गोंको व्यक्त करनेके उद्देश्यसे जब परमात्माने सङ्कल्परूप तप किया, तब उस तपके फलस्वरूप हिरण्यगर्भ पुरुषके शरीरमें सर्वप्रथम अण्डेकी भाँति फूटकर मुख-छिद्र निकला। मुखसे वाक्-इन्द्रिय उत्पन्न हुई और वाक्-इन्द्रियसे उसका अधिष्ठातृ-देवता अग्नि उत्पन्न हुआ। फिर नासिकाके दोनों छिद्र हुए, उनमेंसे प्राणवायु प्रकट हुआ और प्राणसे वायुदेवता उत्पन्न हुआ। यहाँ घ्राणेन्द्रियका अलग वर्णन नहीं है, अतः घ्राण इन्द्रिय और उसके देवता अश्विनीकुमार भी नासिकासे ही उत्पन्न हुए—यों समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार रसना-इन्द्रिय और उसके देवताका भी अलग वर्णन नहीं है; अतः मुखसे वाक् इन्द्रियके साथ-साथ रसना-इन्द्रिय और उसके देवताकी भी उत्पत्ति हुई—यह समझ लेना चाहिये। फिर आँखोंके दोनों छिद्र प्रकट हुए, उनमेंसे नेत्र-इन्द्रिय और नेत्र-इन्द्रियसे उसका देवता सूर्य उत्पन्न हुआ। फिर कानोंके दोनो छिद्र निकले, उनमेंसे श्रोत्र-इन्द्रिय प्रकट हुई और श्रोत्र-इन्द्रियसे उसके देवता दिशाएँ उत्पन्न हुईं, उसके बाद त्वचा (चर्म) प्रकट हुई, त्वचासे रोम उत्पन्न हुए, रोमोंसे ओषधियाँ और वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। फिर हृदय प्रकट हुआ, हृदयसे मन और मनसे उसका अधिष्ठाता चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। फिर नाभि प्रकट हुई, नाभिसे अपानवायु और अपानवायुसे गुदा-इन्द्रियका अधिष्ठाता मृत्युदेवता उत्पन्न हुआ।

नाभिकी उत्पत्तिके साथ ही गुदा-छिद्र और गुदा-इन्द्रियकी उत्पत्ति भी समझ लेनी चाहिये। यहाँ अपानवायु मल त्यागमें हेतु होनेके कारण और उसका स्थान नाभि होनेके कारण मुख्यतासे उसीका नाम लिया गया है। परंतु मृत्यु अपानका अधिष्ठाता नहीं है, वह गुदा-इन्द्रियका अधिष्ठाता है, अतः उपलक्षणसे गुदा-इन्द्रियका वर्णन भी इसके अन्तर्गत मान लेना उचित प्रतीत होता है। फिर लिङ्ग प्रकट हुआ, उसमेंसे वीर्य और उससे जल उत्पन्न हुआ। यहाँ लिङ्गकी उत्पत्तिसे उपस्थेन्द्रिय और उसका देवता प्रजापति उत्पन्न हुआ—यह बात भी समझ लेनी चाहिये ॥ ४ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

ताः=वे, एताः सृष्टाः=परमात्माद्वारा रचे हुए ये सब, देवताः=अग्नि आदि देवता; अस्मिन्=इस (संसाररूप), महति अर्णवे=महान् समुद्रमें प्रापतन्=आ पड़े; (तब परमात्माने) तम्=उस (समस्त देवताओंके समुदाय) को, अशनायापिपासाभ्याम्=भूख और प्याससे, अन्ववार्जत्=युक्त कर दिया, (तब) ताः=वे सब अग्नि आदि देवता, एनम् अब्रुवन्=इस परमात्मासे बोले, (भगवन्!) नः=हमारे लिये, आयतनम् प्रजानीहि=एक ऐसे स्थानकी व्यवस्था कीजिये, यस्मिन्=जिसमें; प्रतिष्ठिताः=स्थित रहकर, (हमलोग) अन्नम्=अन्न, अदाम इति=भक्षण करें ॥ १ ॥

व्याख्या—परमात्माद्वारा रचे गये वे इन्द्रियोंके अधिष्ठाता अग्नि आदि सब देवता संसाररूपी इस महान् समुद्रमें आ पड़े। अर्थात् हिरण्यगर्भ पुरुषके शरीरसे उत्पन्न होनेके बाद उनको कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं मिला, जिससे वे उस समष्टि-शरीरमें ही रहे। तब परमात्माने उस देवताओंके समुदायको भूख और पिपासासे संयुक्त कर दिया। अतः भूख और प्याससे पीड़ित होकर वे अग्नि आदि सब देवता अपनी सृष्टि करनेवाले परमात्मासे बोले—'भगवन्! हमारे लिये एक ऐसे स्थानकी व्यवस्था कीजिये, जिसमें रहकर हमलोग अन्न भक्षण कर सकें—अपना-अपना आहार ग्रहण कर सकें' ॥ १ ॥

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥

(परमात्मा) **ताभ्यः**=उन देवताओंके लिये, **गाम्**=गौका शरीर; **आनयत्**=लाये; (उसे देखकर) **ताः**=उन्होंने; **अब्रुवन्**=कहा; **नः**=हमारे लिये, **अयम्**=यह, **अलम्**=पर्याप्त, **न वै**=नहीं है, **इति**=इस प्रकार उनके कहनेपर (परमात्मा), **ताभ्यः**=उनके लिये, **अश्वम्**=घोड़ेका शरीर, **आनयत्**=लाये, (उसे देखकर भी) **ताः**=उन्होंने (फिर वैसे ही), **अब्रुवन्**=कहा कि; **अयम्**=यह भी; **नः**=हमारे लिये, **अलम्**=पर्याप्त, **न वै इति**=नहीं है ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार उसके प्रार्थना करनेपर सृष्टिकर्ता परमेश्वरने उन सबके रहनेके लिये एक गौका शरीर बनाकर उनको दिखाया। उसे देखकर उन्होंने कहा—'भगवन्! यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है, अर्थात् इस शरीरसे हमारा कार्य अच्छी तरह नहीं चलनेका। इससे श्रेष्ठ किसी दूसरे शरीरकी रचना कीजिये।' तब परमात्माने उनके लिये घोड़ेका शरीर रचकर उनको दिखाया। उसे देखकर वे फिर बोले—'भगवन्! यह भी हमारे लिये यथेष्ट नहीं है, इससे भी हमारा कार्य नहीं चल सकता। आप कोई तीसरा ही शरीर बनाकर हमें दीजिये' ॥ २ ॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति। पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

ताभ्यः=(तब परमात्मा) उनके लिये, **पुरुषम्**=मनुष्यका शरीर, **आनयत्**=लाये, (उसे देखकर) **ताः**=वे (अग्नि आदि सब देवता); **अब्रुवन्**=बोले, **बत**=बस, **सुकृतम् इति**=यह बहुत सुन्दर बन गया, **वाव**=सचमुच ही; **पुरुषः**=मनुष्य-शरीर, **सुकृतम्**=(परमात्माकी) सुन्दर रचना है, **ताः अब्रवीत्**=(फिर) उन सब देवताओंसे (परमात्माने) कहा; (तुमलोग) **यथायतनम्**=अपने-अपने योग्य आश्रयोंमें, **प्रविशत इति**=प्रविष्ट हो जाओ ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब उन्होंने गाय और घोड़ेके शरीरोंको अपने-लिये यथेष्ट नहीं समझा, तब परमात्माने उनके लिये पुरुषकी अर्थात् मनुष्य-शरीरकी रचना की और वह उनको दिखाया। उसे देखते ही सब देवता बड़े प्रसन्न हुए और बोले—'यह हमारे लिये बहुत सुन्दर निवास-स्थान बन गया। इसमें हम आरामसे रह सकेंगे और हमारी सब आवश्यकताएँ भलीभाँति पूर्ण हो सकेंगी।' सचमुच मनुष्य-शरीर परमात्माकी सुन्दर और श्रेष्ठ रचना है, इसीलिये यह देवदुर्लभ माना गया है और शास्त्रोंमें जगह-जगह इसकी महिमा गायी गयी

है, क्योंकि इसी शरीरमें जीव परमात्माके आज्ञानुसार यथायोग्य साधन करके उन्हें प्राप्त कर सकता है। जब सब देवताओंने उस शरीरको पसंद किया, तब उनसे परमेश्वरने कहा—तुमलोग अपने-अपने योग्य स्थान देखकर इस शरीरमें प्रवेश कर जाओ ॥ ३ ॥

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोपधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

(तब) **अग्निः**=अग्निदेवता, **वाक्**=वाक् इन्द्रिय, **भूत्वा**=बनकर, **मुखम् प्राविशत्**=मुखमें प्रविष्ट हो गया, **वायुः**=वायुदेवता, **प्राणः**=प्राण, **भूत्वा**=बनकर, **नासिके प्राविशत्**=नासिकाके छिद्रोंमें प्रविष्ट हो गया, **आदित्यः**=सूर्यदेवता, **चक्षुः**=नेत्र-इन्द्रियः, **भूत्वा**=बनकर, **अक्षिणी प्राविशत्**=आँखोंके गोलकोंमें प्रविष्ट हो गया, **दिशः**=दिशाओंके अभिमानी देवता, **श्रोत्रम्**=श्रोत्र-इन्द्रिय, **भूत्वा**=बनकर, **कर्णौ प्राविशन्**=कानोंमें प्रविष्ट हो गये, **ओषधि-वनस्पतयः**=ओषधि और वनस्पतियोंके अभिमानी देवता, **लोमानि**=रोएँ, **भूत्वा**=बनकर, **त्वचम् प्राविशन्**=त्वचामें प्रविष्ट हो गये; **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा, **मनः**=मन, **भूत्वा**=बनकर, **हृदयम् प्राविशत्**=हृदयमें प्रविष्ट हो गया, **मृत्युः**=मृत्युदेवता, **अपानः**=अपानवायु, **भूत्वा**=बनकर, **नाभिम् प्राविशत्**=नाभिमें प्रविष्ट हो गया, **आपः**=जलका अभिमानी देवता, **रेतः**=वीर्य, **भूत्वा**=बनकर, **शिश्नम् प्राविशन्**=लिङ्गमें प्रविष्ट हो गया ॥ ४ ॥

व्याख्या—सृष्टिकर्ता परमेश्वरकी आज्ञा पाकर अग्नि देवताने वाक्-इन्द्रियका रूप धारण किया और पुरुषके (मनुष्य-शरीरके) मुखमें प्रविष्ट होकर जिह्वाको अपना आश्रय बना लिया। यहाँ वरुणदेवता भी रसना-इन्द्रिय बनकर मुखमें प्रविष्ट हो गये, यह बात अधिक समझ लेनी चाहिये। फिर वायुदेवता प्राण होकर नासिकाके छिद्रोंमें (उसी मार्गसे समस्त शरीरमें) प्रविष्ट हो गये। अश्विनीकुमार भी घ्राण-इन्द्रियका रूप धारण करके नासिकामें प्रविष्ट हो गये—यह बात भी यहाँ उपलक्षणसे समझी जा सकती है, क्योंकि उसका पृथक् वर्णन नहीं है। उसके बाद सूर्यदेवता नेत्र-इन्द्रिय बनकर आँखोंमें प्रविष्ट हो गये। दिशाभिमानी देवता श्रोत्रेन्द्रिय बनकर दोनों कानोंमें प्रविष्ट हो गये। ओषधि और वनस्पतियोंके अभिमानी देवता रोम बनकर चमड़ेमें प्रविष्ट हो गये तथा

चन्द्रमा मनका रूप धारण करके हृदयमें प्रविष्ट हो गये। मृत्युदेवता अपान (और पायु-इन्द्रिय) का रूप धारण करके नाभिमें प्रविष्ट हो गये। जलके अधिष्ठातृ-देवता वीर्य बनकर लिङ्गमें प्रविष्ट हो गये। इस प्रकार सब-के-सब देवता इन्द्रियोंके रूपमें अपने-अपने उपयुक्त स्थानोंमें प्रविष्ट होकर स्थित हो गये ॥ ४ ॥

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

तम्=उस परमात्मासे, **अशनायापिपासे**=भूख और प्यास—ये दोनों, **अब्रूताम्**=बोलीं, **आवाभ्याम्**=हमारे लिये भी, **अभिप्रजानीहि**=(स्थानकी) व्यवस्था कीजिये, **इति**=यह (सुनकर), **ते**=उनसे, **अब्रवीत्**=(परमात्माने) कहा, **वाम्**=तुम दोनोंको (मैं), **एतासु देवतासु**=इन सब देवताओंमें, **एव**=ही, **आभजामि**=भाग दिये देता हूँ, **एतासु**=इन (देवताओं) में ही (तुम्हें), **भागिन्यौ**=भागीदार, **करोमि इति**=बनाता हूँ, **तस्मात्**=इसलिये; **यस्यै कस्यै च**=जिस किसी भी, **देवतायै**=देवताके लिये, **हविः**=हवि (भिन्न-भिन्न विषय), **गृह्यते**=(इन्द्रियोंद्वारा) ग्रहण की जाती है, **अस्याम्**=उस देवता (के भोजन) में, **अशनायापिपासे**=भूख और प्यास—दोनों; **एव**=ही, **भागिन्यौ**=भागीदार, **भवतः**=होती हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—तब भूख और प्यास—ये दोनों परमेश्वरसे कहने लगीं—'भगवन्! इन सबके लिये तो आपने रहनेके स्थान निश्चित कर दिये, अब हमारे लिये भी किसी स्थान-विशेषकी व्यवस्था करके उसमें हमें स्थापित कीजिये। उनके यों कहनेपर उनसे सृष्टिके रचयिता परमेश्वरने कहा—तुम दोनोंके लिये पृथक् स्थानकी आवश्यकता नहीं है। तुम दोनोंको मैं इन देवताओंके स्थानोंमें भाग दिये देता हूँ। इन देवताओंके आहारमें मैं तुम दोनोको भागीदार बना देता हूँ। सृष्टिके आदिमें ही परमेश्वरने ऐसा नियम बना दिया था; इसीलिये जब जिस किसी भी देवताको देनेके लिये इन्द्रियोंद्वारा विषय-भोग ग्रहण किये जाते हैं, उस देवताके भागमें ये क्षुधा और पिपासा भी हिस्सेदार होती ही हैं अर्थात् उस इन्द्रियके अभिमानी देवताकी तृप्तिके साथ क्षुधा-पिपासाको भी शान्ति मिलती है ॥ ५ ॥

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय खण्ड

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

सः=उस (परमात्मा) ने, ईक्षत=फिर विचार किया, नु=निश्चय ही, इमे=ये सब, लोकाः=लोक, च=और, लोकपालाः=लोकपाल, च=भी, (रचे गये, अब) एभ्यः=इनके लिये, अन्नम् सृजै इति=मुझे अन्नकी सृष्टि करनी चाहिये ॥ १ ॥

व्याख्या—इन सबकी रचना हो जानेपर परमेश्वरने फिर विचार किया—'ये सब लोक और लोकपाल तो रचे गये—इनकी रचनाका कार्य तो पूरा हो गया। अब इनके निर्वाहके लिये अन्न भी होना चाहिये—भोग्य पदार्थोंकी भी व्यवस्था होनी चाहिये, क्योंकि इनके साथ भूख प्यास भी लगा दी गयी है। अत उस अन्नकी भी रचना करूँ' ॥ १ ॥

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत । या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥

सः=उस (परमात्मा) ने, अपः=जलोंको (पाँचों सूक्ष्म महाभूतोंको) अभ्यतपत्=तपाया (सङ्कल्पद्वारा उनमें क्रिया उत्पन्न की), ताभ्यः अभितप्ताभ्यः=उन तपे हुए सूक्ष्म पाँच भूतोंसे, मूर्तिः=मूर्ति, अजायत=उत्पन्न हुई, वै=निश्चय ही, या=जो, सा=वह, मूर्तिः=मूर्ति, अजायत=उत्पन्न हुई, तत् वै=वही, अन्नम्=अन्न है ॥ २ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकारसे विचार करके परमेश्वरने जलको अर्थात् पाँचों सूक्ष्म महाभूतोंको तपाया—अपने सङ्कल्पद्वारा उनमें क्रिया उत्पन्न की। परमात्माके सङ्कल्पद्वारा सञ्चालित हुए उन सूक्ष्म महाभूतोंसे मूर्ति प्रकट हुई अर्थात् उनका स्थूल रूप उत्पन्न हुआ। वह जो मूर्ति अर्थात् उन पाँच महाभूतोंका स्थूल-रूप उत्पन्न हुआ, वही अन्न—देवताओंके लिये भोग्य है ॥ २ ॥

तदेनत् सृष्टं पराङ्त्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम् । यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

सृष्टम्= उत्पन्न किया हुआ, तत्=वह, एनत्=यह अन्न, पराङ्= (भोक्ता पुरुषसे) विमुख होकर, अत्यजिघांसत्=भागनेकी चेष्टा करने लगा, तत्=(तब उस पुरुषने) उसको, वाचा=वाणीद्वारा, अजिघृक्षत्=ग्रहण करनेकी इच्छा की, (परंतु वह) तत्=उसको, वाचा=वाणीद्वारा ग्रहीतुम् न अशक्नोत्=ग्रहण नहीं कर सका, यत्=यदि, [सः]=वह, एनत्=इस अन्नको, वाचा=वाणीद्वारा, ह=ही, अग्रहैष्यत्=ग्रहण कर सकता, (तो अब भी मनुष्य)

ह=अवश्य ही अन्नम् अभिव्याहृत्य=अन्नका वर्णन करके, एव=ही; अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता ॥ ३ ॥

व्याख्या—लोकों और लोकपालोंकी आहारसम्बन्धी आवश्यकताको पूर्ण करनेके लिये उत्पन्न किया हुआ वह अन्न यों समझकर कि यह मुझे खानेवाला तो मेरा विनाशक ही है, उससे छुटकारा पानेके लिये मुख फेरकर भागने लगा। तब उस मनुष्यके रूपमें उत्पन्न हुए जीवात्माने उस अन्नको वाणीद्वारा पकड़ना चाहा, परंतु वह उसे वाणीद्वारा पकड नहीं सका। यदि उस पुरुषने वाणीद्वारा अन्नको ग्रहण कर लिया होता तो अब भी मनुष्य अन्नका वाणीद्वारा उच्चारण करके ही तृप्त हो जाते—अन्नका नाम लेनेमात्रसे उनका पेट भर जाता, परतु ऐसा नहीं होता ॥ ३ ॥

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धैनत्प्राणेना-ग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

(तब उस पुरुषने) तत्=उस अन्नको, प्राणेन=घ्राण-इन्द्रियके द्वारा,* अजिघृक्षत्=पकडना चाहा, (परंतु वह) तत्=उसको, प्राणेन=घ्राणेन्द्रिय-द्वारा भी, ग्रहीतुम् न अशक्नोत्=नहीं पकड़ सका, यत्=यदि, सः=वह, एनत्=इस अन्नको, प्राणेन=घ्राण-इन्द्रियद्वारा, ह=ही, अग्रहैष्यत्=पकड़ सकता, (तो अब भी मनुष्य) ह=अवश्य, अन्नम्=अन्नको, अभिप्राण्य=सूँघकर, एव=ही, अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥

व्याख्या—तब उस पुरुषने अन्नको प्राणके द्वारा अर्थात् घ्राण इन्द्रियके द्वारा पकडना चाहा, परतु वह उसको घ्राण-इन्द्रियके द्वारा भी नहीं पकड सका। यदि वह इस अन्नको घ्राण इन्द्रियद्वारा पकड़ सकता तो अब भी लोग अन्नको नाकसे सूँघकर ही तृप्त हो जाते, परतु ऐसा नहीं देखा जाता ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद्दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

(तब उस पुरुषने) तत्=उस अन्नको, चक्षुषा=आँखोंसे, अजिघृक्षत्=पकडना चाहा, (परतु वह) तत्=उसको, चक्षुषा=आँखोंके द्वारा, ग्रहीतुम्= न अशक्नोत्=नहीं पकड सका, यत्=यदि, सः=वह; एनत्=इस अन्नको; चक्षुषा=आँखोंसे, ह=ही, अग्रहैष्यत्=पकड लेता तो, ह=अवश्य ही, (अब

*घ्राण-इन्द्रियका विषय गन्ध वायु और प्राणके सहयोगसे ही उक्त इन्द्रियद्वारा ग्रहण होता है तथा घ्राण-इन्द्रियके निवासस्थान नासिकाछिद्रोंसे ही प्राणका आवागमन होता है। इसलिये यहाँ घ्राणेन्द्रियके ही स्थानमें 'प्राण' शब्द प्रयुक्त हुआ है, यह जान पड़ता है, क्योंकि अन्तमें प्राणके ही एक भेद अपानद्वारा अन्नका ग्रहण होना बताया गया है। अतः यहाँ प्राणसे ग्रहण न किया जाना माननेसे पूर्वापरविरोध आयेगा।

भी मनुष्य) अन्नम्=अन्नको, दृष्ट्वा=देखकर; एव=ही, अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता ॥ ५ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको आँखोंसे पकड़ना चाहा, परंतु वह उसको आँखोंके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इस अन्नको आँखोंसे ग्रहण कर सकता तो अवश्य ही आजकल भी लोग अन्नको केवल देखकर ही तृप्त हो जाते; परंतु ऐसी बात नहीं देखी जाती ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

(तत्र उस पुरुषने) तत्=उस अन्नको; श्रोत्रेण=कानोंद्वारा, अजिघृक्षत्=पकड़ना चाहा, (परंतु वह) तत्=उसको, श्रोत्रेण=कानोंद्वारा, ग्रहीतुम् न अशक्नोत्=नहीं पकड़ सका, यत्=यदि, सः=वह, एनत्=इसको, श्रोत्रेण=कानोंद्वारा; ह=ही; अग्रहैष्यत्=पकड़ लेता तो, ह=निस्संदेह; (अब भी मनुष्य) अन्नम्=अन्नका नाम, श्रुत्वा=सुनकर; एव=ही, अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता ॥ ६ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको कानोंद्वारा पकड़ना चाहा, परंतु वह उसको कानोंद्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इसको कानोंसे पकड़ सकता तो अवश्य ही अब भी मनुष्य केवल अन्नका नाम सुनकर ही तृप्त हो जाते; परंतु यह देखनेमें नहीं आता ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

(तत्र उस पुरुषने) तत्=उसको; त्वचा=चमड़ीद्वारा, अजिघृक्षत्=पकड़ना चाहा, (परंतु) तत्=उसको, त्वचा=चमड़ीद्वारा, ग्रहीतुम् न अशक्नोत्=नहीं पकड़ सका, यत्=यदि, सः=वह, एनत्=इसको, त्वचा=चमड़ीद्वारा, ह=ही, अग्रहैष्यत्=पकड़ सकता तो, ह=अवश्य ही (अब भी मनुष्य) अन्नम्=अन्नको, स्पृष्ट्वा=छूकर, एव=ही, अत्रप्स्यत्=तृप्त हो जाता ॥ ७ ॥

व्याख्या—तब उस पुरुषने अन्नको चमड़ीद्वारा पकड़ना चाहा, परंतु वह उसको चमड़ीद्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इसको चमड़ीद्वारा पकड़ पाता तो अवश्य ही आजकल भी मनुष्य अन्नको छूकर ही तृप्त हो जाते, परंतु ऐसी बात नहीं है ॥ ७ ॥

तन्मनसाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुं स यद्धैनन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

(तब उस पुरुषने) **तत्**=उसको, **मनसा**=मनसे, **अजिघृक्षत्**=पकड़ना चाहा, (परंतु) **तत्**=उसको, **मनसा**=मनसे भी, **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका, **यत्**=यदि, **सः**=वह, **एनत्**=इसको, **मनसा**=मनसे, **ह**=ही, **अग्रहैष्यत्**=पकड़ लेता तो, **ह**=अवश्य ही, (मनुष्य) **अन्नम्**=अन्नको; **ध्यात्वा**=चिन्तन करके, **एव**=ही, **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ८ ॥

व्याख्या—तब उस पुरुषने अन्नको मनसे पकड़ना चाहा, परंतु वह उसको मनके द्वारा भी नहीं पकड़ सका। यदि वह इसको मनसे पकड़ पाता तो अवश्य ही आज भी मनुष्य अन्नका चिन्तन करके ही तृप्त हो जाते, परंतु ऐसी बात देखनेमें नहीं आती ॥ ८ ॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

(फिर उस पुरुषने) **तत्**=उस अन्नको, **शिश्नेन**=उपस्थके द्वारा, **अजिघृक्षत्**=ग्रहण करना चाहा, (परंतु) **तत्**=उसको, **शिश्नेन**=उपस्थके द्वारा भी, **ग्रहीतुम् न अशक्नोत्**=नहीं पकड़ सका, **यत्**=यदि, **सः**=वह, **एनत्**=इसको, **शिश्नेन**=उपस्थद्वारा, **ह**=ही, **अग्रहैष्यत्**=पकड़ पाता तो, **ह**=अवश्य ही, (मनुष्य) **अन्नम् विसृज्य**=अन्नका त्याग करके, **एव**=ही, **अत्रप्स्यत्**=तृप्त हो जाता ॥ ९ ॥

व्याख्या—फिर उस पुरुषने अन्नको उपस्थ (लिङ्ग) द्वारा पकड़ना चाहा, परंतु वह उसको उपस्थके द्वारा नहीं पकड़ सका। यदि वह उसको उपस्थद्वारा पकड़ पाता तो अवश्य ही अब भी मनुष्य अन्नका त्याग करके ही तृप्त हो जाते, परंतु यह देखनेमें नहीं आता ॥ ९ ॥

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

(अन्तमें उसने) **तत्**=उस अन्नको, **अपानेन**=अपानवायुके द्वारा, **अजिघृक्षत्**=ग्रहण करना चाहा, (इस बार उसने) **तत्**=उसको, **आवयत्**=ग्रहण कर लिया, **सः**=वह, **एषः**=यह अपानवायु ही, **अन्नस्य**=अन्नका, **ग्रहः**=ग्रह अर्थात् ग्रहण करनेवाला है, **यत्**=जो, **वायुः**=वायु, **अन्नायुः**=अन्नसे जीवनकी रक्षा करनेवालेके रूपमें, **वै**=प्रसिद्ध है, **यत्**=जो, **एषः**=यह, **वायुः**=अपानवायु है (वही वह वायु है) ॥ १० ॥

व्याख्या—अन्तमें उस पुरुषने अन्नको मुखके द्वारसे अपानवायुद्वारा ग्रहण करना चाहा, अर्थात् अपानवायुद्वारा मुखसे शरीरमें प्रवेश करानेकी चेष्टा

की; तब वह अन्नको अपने शरीरमें ले जा सका। वह अपानवायु जो बाहरसे शरीरके भीतर प्रश्वासके रूपमें जाता है, यही अन्नका ग्रह—उसको पकड़नेवाला अर्थात् भीतर ले जानेवाला है। प्राण-वायुके सम्बन्धमें जो यह प्रसिद्धि है कि यही अन्नके द्वारा मनुष्यके जीवनकी रक्षा करनेवाला होनेसे साक्षात् आयु है, वह इस अपानवायुको लेकर ही है, जो प्राण आदि पाँच भेदोंमें विभक्त मुख्य प्राणका ही एक अंग है, इससे यह सिद्ध हुआ कि प्राण ही मनुष्यका जीवन है ॥ १० ॥

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

सः=(तब) उस (सृष्टिके रचयिता परमेश्वर) ने, **ईक्षत**=सोचा कि **नु**=निश्चय ही, **इदम्**=यह, **मत् ऋते**=मेरे बिना, **कथम्**=किस प्रकार, **स्यात्**=रहेगा, **इति**=यह सोचकर, (पुनः) **सः**=उसने, **ईक्षत**=विचार किया कि, **यदि**=यदि, **वाचा**=(इस पुरुषने मेरे बिना ही केवल) वाणीद्वारा; **अभिव्याहृतम्**=बोलनेकी क्रिया कर ली, **यदि**=यदि, **प्राणेन**=प्राण-इन्द्रियद्वारा, **अभिप्राणितम्**=सूँघनेकी क्रिया कर ली, **यदि**=यदि, **चक्षुषा**=नेत्रद्वारा; **दृष्टम्**=देख लिया, **यदि**=यदि, **श्रोत्रेण**=श्रवणेन्द्रियद्वारा, **श्रुतम्**=सुन लिया, **यदि**=यदि, **त्वचा**=त्वक् इन्द्रियद्वारा, **स्पृष्टम्**=स्पर्श कर लिया, **यदि**=यदि, **मनसा**=मनद्वारा, **ध्यातम्**=मनन कर लिया, **यदि**=यदि, **अपानेन**=अपानद्वारा; **अभ्यपानितम्**=अन्नग्रहण आदि अपान-सम्बन्धी क्रिया कर ली, (तथा) **यदि**=यदि, **शिश्नेन**=उपस्थसे, **विसृष्टम्**=मूत्र और वीर्यका त्याग कर लिया, **अथ**=तो फिर, **अहम्**=मैं, **कः**=कौन हूँ, **इति**=यह सोचकर, (पुनः) **सः**=उसने, **ईक्षत**=विचार किया कि, **कतरेण**=(पैर और मस्तक—इन दोनोंमेंसे) किस मार्गसे, **प्रपद्यै इति**=मुझे इसमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ११ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जब लोक और लोकपालोंकी रचना हो गयी, उन सबके लिये आहार भी उत्पन्न हो गया तथा मनुष्य-शरीरधारी पुरुषने उस आहारको ग्रहण करना भी सीख लिया, तब उस सर्वस्रष्टा परमात्माने फिर विचार किया—'यह मनुष्यरूप पुरुष मेरे बिना कैसे रहेगा ? यदि इस जीवात्माके साथ मेरा सहयोग नहीं रहेगा तो यह अकेला किस प्रकार

टिक सकेगा !'* साथ ही यह भी विचार किया कि 'यदि मेरे सहयोगके बिना इस पुरुषने वाणीद्वारा बोलनेकी क्रिया कर ली, घ्राण-इन्द्रियसे सूँघनेका काम कर लिया, प्राणोंसे वायुको भीतर ले जाने और बाहर छोड़नेकी क्रिया कर ली, नेत्रोंद्वारा देख लिया, श्रवणेन्द्रियद्वारा सुन लिया, त्वक् इन्द्रियद्वारा स्पर्श कर लिया, मनके द्वारा मनन कर लिया, अपानद्वारा अन्न निगल लिया और यदि जननेन्द्रियद्वारा मूत्र और वीर्यका त्याग करनेकी क्रिया सम्पन्न कर ली, तो फिर मेरा क्या उपयोग रह गया ? भाव यह कि मेरे बिना इन सब इन्द्रियोंद्वारा कार्य सम्पन्न कर लेना इसके लिये असम्भव है !' यह सोचकर परमात्माने विचार किया कि मैं इस मनुष्य-शरीरमें पैर और मस्तक--इन दोमेंसे किस मार्गसे प्रविष्ट होऊँ ॥ ११ ॥

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् । तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः, अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

(यों विचारकर) **सः**=उसने, **एतम् एव**=इस (मनुष्य-शरीरकी), **सीमानम्**=सीमाको, **विदार्य**=चीरकर, **एतया द्वारा**=इसके द्वारा, **प्रापद्यत**=उस सजीव शरीरमें प्रवेश किया, **सा**=वह, **एषा**=यह, **द्वाः**=द्वार, **विदृतिः नाम**=विदृति नामसे प्रसिद्ध है, **तत्**=वही, **एतत्**=यह, **नान्दनम्**=आनन्द देनेवाला अर्थात् ब्रह्म-प्राप्तिका द्वार है, **तस्य**=उस परमेश्वरके, **त्रयः**=तीन, **आवसथाः**=आश्रय (उपलब्धि-स्थान) हैं, **त्रयः**=तीन, **स्वप्नाः**=स्वप्न हैं, **अयम्**=यह (हृदय-गुहा), **आवसथः**=एक स्थान है, **अयम्**=यह (परमधाम), **आवसथः**=दूसरा स्थान है, **अयम्**=यह (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड), **आवसथः इति**=तीसरा स्थान है ॥ १२ ॥

व्याख्या—परमात्मा इस मनुष्य-शरीरकी सीमा (मूर्धा) को अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रको चीरकर (उसमें छेद करके) इसके द्वारा उस सजीव मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट हो गये । वह यह द्वार विदृति (विदीर्ण किया हुआ द्वार) नामसे प्रसिद्ध है । वही यह विदृति नामका द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) आनन्द देने-वाला अर्थात् आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है । परमेश्वरकी उपलब्धिके तीन स्थान हैं और स्वप्न भी तीन हैं । एक तो वह हृदयाकाश उनकी उपलब्धिका स्थान है । दूसरा विशुद्ध आकाशरूप परमधाम है—जिसको

* इसीलिये तो भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि समस्त भूतोंका जो कारण है, वह मैं हूँ । ऐसा कोई भी चराचर प्राणी नहीं है, जो मुझसे रहित हो (१० । ३९) ।

सत्यलोक, गोलोक, ब्रह्मलोक, साकेतलोक, कैलास आदि अनेक नामोंसे पुकारा जाता है । तीसरा यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है तथा इस जगत्‌की जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन अवस्थाएँ हैं, वे ही इसके तीन स्वप्न हैं ॥ १२ ॥

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत् । इदमदर्शमिती३ ॥ १३ ॥

जातः सः=मनुष्यरूपमें प्रकट हुए उस पुरुषने, भूतानि=पञ्च महाभूतोंकी अर्थात् भौतिक जगत्‌की रचनाको, अभिव्यैख्यत्=चारों ओरसे देखा, (और) इह=यहाँ, अन्यम्=दूसरा, किम्=कौन है; इति=यह, वावदिषत्=कहा, सः=(तब) उसने, एतम्=इस, पुरुषम्=अन्तर्यामी परम पुरुषको, एव=ही, ततमम्=सर्वव्यापी, ब्रह्म=परब्रह्मके रूपमें, अपश्यत्=देखा, (और यह प्रकट किया) [अहो] इती३=अहो ! बडे सौभाग्यकी बात है कि, इदम्=इस परब्रह्म परमात्माको, अदर्शम्=मैंने देख लिया ॥ १३ ॥

व्याख्या—मनुष्यरूपमें उत्पन्न हुए उस पुरुषने इस भौतिक जगत्‌की विचित्र रचनाको बडे आश्चर्यपूर्वक चारों ओरसे देखा और मन-ही-मन इस प्रकार कहा—'इस विचित्र जगत्‌की रचना करनेवाला यहाँ दूसरा कौन है ? क्योंकि यह मेरी की हुई रचना तो है नहीं और कार्य होनेके कारण इसका कोई-न-कोई कर्ता अवश्य होना चाहिये ।' इस प्रकार विचार करनेपर उस साधकने अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान पुरुषको ही इस सम्पूर्ण जगत्‌में व्याप्त परब्रह्मके रूपमें प्रत्यक्ष किया । तब वह आनन्दमें भरकर मन-ही-मन कहने लगा—'अहो ! बडे ही सौभाग्यकी बात है कि मैंने परब्रह्म परमात्माको देख लिया—साक्षात् कर लिया ।'

इससे यह भाव प्रकट किया गया है कि इस जगत्‌की विचित्र रचनाको देखकर इसके कर्ता-धर्ता परमात्माकी सत्तामें विश्वास करके यदि मनुष्य उन्हें जानने और पानेको उत्सुक हो, उन्हींपर निर्भर होकर चेष्टा करे तो अवश्य ही उन्हे जान सकता है । परमात्माको जानने और पानेका काम इस मनुष्य-शरीरमें ही हो सकता है, दूसरे शरीरमें नहीं । अतः मनुष्यको अपने जीवनके अमूल्य समयका सदुपयोग करना चाहिये, उसे व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये । इस अध्यायमें मानो परमात्माकी महिमाका और मनुष्य-शरीरके महत्त्वका दिग्दर्शन करानेके लिये ही सृष्टि-रचनाका वर्णन किया गया है ॥ १३ ॥

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र

इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

तस्मात्=इसीलिये; **इदन्द्रः नाम**=वह 'इदन्द्र' नामवाला है, **ह**=वास्तवमें, **इदन्द्रः नाम वै**=वह 'इदन्द्र' नामवाला ही है, (परंतु) **इदन्द्रम्**=इदन्द्र, **सन्तम्**=होते हुए ही, **तम्**=उस परमात्माको, **परोक्षेण**=परोक्षभावसे (गुप्त नामसे), **इन्द्रः**='इन्द्र', **इति**=यों, **आचक्षते**=पुकारते हैं, **हि**=क्योंकि, **देवाः**=देवतालोग, **परोक्षप्रियाः इव**=मानो परोक्षभावसे कही हुई बातको पसंद करनेवाले होते हैं, **हि देवाः परोक्षप्रियाः इव**=देवतालोग मानो परोक्षभावसे कही हुई बातोंको ही पसंद करनेवाले होते हैं ॥१४॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माको उस मनुष्य शरीरमें उत्पन्न हुए पुरुषने पूर्वोक्त प्रकारसे प्रत्यक्ष कर लिया, इसी कारण परमात्माका नाम 'इदन्द्र' है। अर्थात् 'इदम्-द्रः=इसको मैंने देख लिया' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उनका 'इदन्द्र' नाम है। इस प्रकार यद्यपि उस परमात्माका नाम 'इदन्द्र' ही है, फिर भी लोग इन्हें परोक्षभावसे 'इन्द्र' कहकर पुकारते हैं; क्योंकि देवता लोग मानो छिपाकर ही कुछ कहना पसंद करते हैं। 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः' इस अन्तिम वाक्यको दुबारा कहकर इस खण्डकी समाप्ति सूचित की गयी है ॥ १४ ॥

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥ ३ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

सम्बन्ध—प्रथम अध्यायमें सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम और मनुष्य-शरीरका महत्त्व बताया गया और यह बात भी सङ्केतसे कही गयी कि जीवात्मा इस शरीरमें परमात्माको जानकर कृतकृत्य हो सकता है। अब इस शरीरकी अनित्यता दिखाकर वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये इस अध्यायमें मनुष्य-शरीरकी उत्पत्तिका वर्णन किया जाता है—

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेतः तदेतत् सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

अयम्=यह (संसारी जीव); ह=निश्चयपूर्वक, आदितः=पहले-पहल, पुरुषे=पुरुष-शरीरमें, वै=ही, गर्भः भवति=वीर्यरूपसे गर्भ बनता है, यत्=जो, एतत्=यह (पुरुषमें), रेतः=वीर्य है, तत्=वह; एतत्=यह, (पुरुषके) सर्वेभ्यः=सम्पूर्ण, अङ्गेभ्यः=अङ्गोंसे, सम्भूतम्=उत्पन्न हुआ, तेजः=तेज है, आत्मानम्=(यह पुरुष पहले तो) अपने ही स्वरूपभूत इस वीर्यमय तेजको, आत्मनि=अपने शरीरमें, एव=ही, बिभर्ति=धारण करता है, (फिर) यदा=जब, (यह) तत्=उसको, स्त्रियाम्=स्त्रीमें, सिञ्चति=सिंचन करता है, अथ=तब; एनत्=इसको, जनयति=गर्भरूपमें उत्पन्न करता है, तत्=वह, अस्य=इसका, प्रथमम्=पहला, जन्म=जन्म है ॥ १ ॥

व्याख्या—यह संसारी जीव पहले पहल पुरुष-शरीरमें (पिताके शरीरमें) वीर्यरूपसे गर्भ बनता है—प्रकट होता है। पुरुषके शरीरमें जो यह वीर्य है, वह सम्पूर्ण अङ्गोंमेंसे निकलकर उत्पन्न हुआ तेज (सार) है। यह पिता अपने स्वरूपभूत उस वीर्यरूप तेजको पहले तो अपने शरीरमें ही धारण-पोषण करता है—ब्रह्मचर्यके द्वारा बढ़ाता एवं पुष्ट करता है, फिर जब यह उसको स्त्रीके गर्भाशयमें सिंचन (स्थापित) करता है, तब इसे गर्भरूपमें उत्पन्न करता है। वह माताके शरीरमें प्रवेश करना ही इसका पहला जन्म है ॥ १ ॥

तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति । यथा स्वमङ्गं तथा । तस्मादेनां न हिनस्ति । सास्यैतमात्मानमत्रगतं भावयति ॥ २ ॥

तत्=वह (गर्भ), स्त्रियाः=स्त्रीके, आत्मभूतम्=आत्मभावको, गच्छति=

प्राप्त हो जाता है, **यथा**=जैसे, **स्वम्**=अपना, **अङ्गम्**=अङ्ग होता है, **तथा**=वैसे ही (हो जाता है), **तस्मात्**=इसी कारणसे, **एनाम्**=इस स्त्रीको, **न हिनस्ति**=वह पीड़ा नहीं देता, **सा**=वह स्त्री (माता), **अत्रगतम्**=यहाँ (अपने शरीरमें) आये हुए, **अस्य**=इस (अपने पति) के, **आत्मानम्**=आत्मारूप (स्वरूपभूत), **एतम् भावयति**=इस गर्भका पालन-पोषण करती है ॥२॥

व्याख्या—उस स्त्री (माता) के शरीरमें आया हुआ वह गर्भ—पिताके द्वारा स्थापित किया हुआ तेज उस स्त्रीके आत्मभावको प्राप्त हो जाता है—अर्थात् जैसे उसके दूसरे अङ्ग हैं, उसी प्रकार वह गर्भ भी उसके शरीरका एक अङ्ग-सा ही हो जाता है। यही कारण है कि वह गर्भ उस स्त्रीके उदरमें रहता हुआ भी गर्भिणी स्त्रीको पीड़ा नहीं पहुँचाता—उसे भाररूप नहीं प्रतीत होता। वह स्त्री अपने शरीरमें आये हुए अपने पतिके आत्मारूप इस गर्भको अपने अङ्गोंकी भाँति ही भोजनके रससे पुष्ट करती है और अन्य सब प्रकारके आवश्यक नियमोंका पालन करके उसकी भलीभाँति रक्षा करती है ॥ २ ॥

सा भावयित्री भावयितव्या भवति । तं स्त्री गर्भं बिभर्ति । सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति । स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां संतत्या । एवं संतता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

सा=वह; **भावयित्री**=उस गर्भका पालन-पोषण करनेवाली स्त्री; **भावयितव्या**=पालन पोषण करने योग्य, **भवति**=होती है, **तम् गर्भम्**=उस गर्भको; **अग्रे**=प्रसवके पहलेतक, **स्त्री**=स्त्री (माता), **बिभर्ति**=धारण करती है, **जन्मनः अधि**=(फिर) जन्म लेनेके बाद; **सः**=वह; (उसका पिता), **अग्रे**=पहले, **एव**=ही, **कुमारम्**=उस कुमारको, (जातकर्म आदि संस्कारोंद्वारा) **भावयति**=अभ्युदयशील बनाता तथा उसकी उन्नति करता है, **सः**=वह (पिता); **यत्**=जो, **जन्मनः अधि**=जन्म लेनेके बाद, **अग्रे** [**एव**]=पहले ही, **कुमारम्**=**भावयति**=बालककी उन्नति करता है, **तत्**=वह, (मानो) **एषाम्**=इन, **लोकानाम्**=लोकोंको (मनुष्योंको), **संतत्या**=बढ़ानेके द्वारा, **आत्मानम् एव भावयति**=अपनी ही उन्नति करता है; **हि**=क्योंकि, **एवम्**=इसी प्रकार, **इमे**=ये सब, **लोकाः**=लोक (मनुष्य), **संतताः**=विस्तारको प्राप्त हुए हैं; **तत्**=वह; **अस्य**=इसका; **द्वितीयम्**=दूसरा, **जन्म**=जन्म है ॥ ३ ॥

व्याख्या—अपने पतिके आत्मस्वरूप उस गर्भकी सब प्रकारसे रक्षा करनेवाली गर्भिणी स्त्री घरके लोगोंद्वारा और विशेषतः उसके पतिद्वारा पालन पोषण

करनेयोग्य होती है। अर्थात् घरके लोगोंका और पतिका यह परम आवश्यक कर्तव्य है कि वे सब मिलकर उसके खान-पान और रहन-सहनकी सुव्यवस्था करके सब प्रकारसे उसकी सँभाल रक्खें। उस गर्भको पहले अर्थात् प्रसव होनेतक तो स्त्री (माता) अपने शरीरमें धारण करती है, फिर जन्म लेनेके बाद—जन्म लेते ही उसका पिता जातकर्म आदि संस्कारोंसे और नाना प्रकारके उपचारोंसे उस कुमारको अभ्युदयशील बनाता है और जन्मसे लेकर जबतक वह सर्वथा योग्य नहीं बन जाता, तबतक हर प्रकारसे उसका पालन-पोषण करता है—नाना प्रकारकी विद्या और शिल्पादिका अध्ययन कराके उसे सब प्रकारसे उन्नत बनाता है। वह पिता जन्मके बाद उस बालकको उपयुक्त बना देनेके पहले पहले जो उसकी रक्षा करता है, उसे सब प्रकारसे योग्य बनाता है, वह मानो इन लोकोंको अर्थात् मनुष्योंकी परम्पराको बढ़ानेके द्वारा अपनी ही रक्षा करता है, क्योंकि इसी प्रकार एक-से-एक उत्पन्न होकर ये सब मनुष्य विस्तारको प्राप्त हुए हैं। यह जो इस जीवका गर्भसे बाहर आकर बालकरूपमें उत्पन्न होना है, वह इसका दूसरा जन्म है।

इस वर्णनसे पिता और पुत्र दोनोंको अपने-अपने कर्तव्यकी शिक्षा दी गयी है। पुत्रको तो यह समझना चाहिये कि उसपर अपने माता-पिताका बड़ा भारी उपकार है; अतः वह उनकी जितनी सेवा कर सके, थोड़ी है। और पिताको इस प्रकारका अभिमान नहीं करना चाहिये कि मैंने इसका उपकार किया है, वरं यह समझना चाहिये कि मैंने अपनी ही वृद्धि करके अपने कर्तव्यका पालन किया है॥ ३॥

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति। स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म॥ ४॥

सः=वह (पुत्ररूपमें उत्पन्न हुआ); **अयम्**=यह, **आत्मा**=(पिताका ही) आत्मा, **अस्य**=इस पिताके (द्वारा आचरणीय), **पुण्येभ्यः**=शुभकर्मोंके लिये, **प्रतिधीयते**=उसका प्रतिनिधि बना दिया जाता है, **अथ**=उसके अनन्तर, **अस्य**=इस (पुत्र) का; **अयम्**=यह (पितारूप), **इतरः**=दूसरा, **आत्मा**=आत्मा, **कृतकृत्यः**=अपना कर्तव्य पूरा करके, **वयोगतः**=आयु पूरी होनेपर, **प्रैति**=मरकर (यहाँसे) चला जाता है, **सः**=वह, **इतः**=यहाँसे, **प्रयन्**=जाकर; **एव**=ही; **पुनः**=पुनः, **जायते**=उत्पन्न हो जाता है, **तत्**=वह, **अस्य**=इसका; **तृतीयम्**=तीसरा; **जन्म**=जन्म है॥ ४॥

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकारसे इस पिताका ही आत्मस्वरूप पुत्र जब कार्य करने योग्य हो जाता है, तब वह पिता उसको अपना प्रतिनिधि बना देता है—अग्निहोत्र, देवपूजा और अतिथि-सेवा आदि वैदिक और लौकिक जितने भी शुभ कर्म हैं, उन सबका भार पुत्रको सौंप देता है। गृहस्थका पूरा दायित्व पुत्रपर छोडकर स्वयं कृतकृत्य हो जाता है अर्थात् अपनेको पितृ-ऋणसे मुक्त मानता है। उसके बाद इस शरीरकी आयु पूर्ण होनेपर जब वह (पिता) इसे छोड़कर यहाँसे विदा हो जाता है, तब यहाँसे जाकर दूसरी जगह कर्मानुसार जहाँ जिस योनिमें जन्म लेता है, वह इसका तीसरा जन्म है। इसी तरह यह जन्म-जन्मान्तरकी परम्परा चलती रहती है।

जबतक जन्म-मृत्युके महान् कष्टका विचार करके इससे छुटकारा पानेके लिये जीवात्मा मनुष्य-शरीरमें चेष्टा नहीं करता, तबतक यह परम्परा नहीं टूटती। अतः इसके लिये मनुष्यको अवश्य चेष्टा करनी चाहिये। यही इस प्रकरणका उद्देश्य प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार बार-बार जन्म लेना और मरना एक भयानक यन्त्रणा है; और जबतक यह जीव इस रहस्यको समझकर इस शरीररूप पिंजरेको काटकर इससे सर्वथा अलग न हो जायगा तबतक इसका इस जन्म-मृत्युरूप यन्त्रणासे छुटकारा नहीं होगा—यह भाव अगले दो मन्त्रोंमें वामदेव ऋषिके दृष्टान्तसे समझाया जाता है—

तदुक्तमृषिणा—
गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा ।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति ।
गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥*

तत्=वही बात (इस प्रकार), ऋषिणा=ऋषिद्वारा, उक्तम्=कही गयी है, नु=अहो, अहम्=मैंने, गर्भे=गर्भमें, सन्=रहते हुए ही, एषाम्=इन, देवानाम्=देवताओंके, विश्वा=बहुत-से, जनिमानि=जन्मोंको, अन्ववेदम्=भलीभाँति जान लिया, अधः=तत्त्वज्ञान होनेसे पूर्व, मा=मुझे, शतम्=सैकड़ों, आयसीः=लोहेके समान कठोर, पुरः=शरीरोंने, अरक्षन्=अवरुद्ध कर रक्खा था, (अब मैं) श्येनः=बाज पक्षी (की भाँति), जवसा=वेगसे, निरदीयम्=इति=उन सबको तोड़कर उनसे अलग हो गया हूँ, गर्भे एव=गर्भमें ही; शयानः=सोये हुए, वामदेवः=वामदेव ऋषिने; एवम्=उक्त प्रकारसे, एतत्=यह बात; उवाच=कही ॥ ५ ॥

व्याख्या—उपर्युक्त चार मन्त्रोंमें कही हुई बातका ही रहस्य यहाँ ऋषि-

* यह मन्त्र ऋग्वेद (४ । २७ । १) में है।

द्वारा बताया गया है। गर्भमें रहते हुए ही अर्थात् गर्भके बाहर आनेसे पहले ही वामदेव ऋषिको यथार्थ ज्ञान हो गया था, इसलिये उन्होंने माताके उदरमें ही कहा था—'अहो! कितने आश्चर्य और आनन्दकी बात है कि गर्भमें रहते-रहते ही मैंने इन अन्तःकरण और इन्द्रियरूप देवताओंके अनेक जन्मोंका रहस्य भलीभाँति जान लिया। अर्थात् मैं इस बातको जान गया कि ये जन्म आदि वास्तवमें इन अन्तःकरण और इन्द्रियोंके ही होते हैं, आत्माके नहीं। इस रहस्यको समझनेसे पहले मुझे सैकड़ों लोहेके समान कठोर शरीररूपी पिंजरोंने अवरुद्ध कर रक्खा था। उनमें मेरी ऐसी दृढ़ अहंता हो गयी थी कि उससे छूटना मेरे लिये कठिन हो रहा था। अब मैं बाज पक्षीकी भाँति ज्ञानरूप बलके वेगसे उन सबको तोड़कर उनसे अलग हो गया हूँ। उन शरीररूप पिंजरोंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा, मैं सदाके लिये उन शरीरोंकी अहंतासे मुक्त हो गया हूँ' ॥ ५ ॥

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत् समभवत् ॥ ६ ॥

एवम्=इस प्रकार, विद्वान्=(जन्म-जन्मान्तरके रहस्यको) जाननेवाला; सः=वह वामदेव ऋषि, अस्मात्=इस, शरीरभेदात्=शरीरका नाश होनेपर, ऊर्ध्वः उत्क्रम्य=संसारके ऊपर उठ गया और ऊर्ध्वगतिके द्वारा, अमुष्मिन्=उस, स्वर्गे लोके=परमधाममें (पहुँचकर), सर्वान्=समस्त, कामान्=कामनाओंको; आप्त्वा=प्राप्त करके; अमृतः=अमृत, समभवत्=हो गया, समभवत्=हो गया ॥ ६ ॥

व्याख्या—इस प्रकार जन्म-जन्मान्तरके तत्त्वको जाननेवाला अर्थात् जबतक यह जीव इन शरीरोंके साथ एक हुआ रहता है, शरीरको ही अपना स्वरूप माने रहता है, तबतक इसका जन्म-मृत्युसे छुटकारा नहीं होता, इसको बार-बार नाना योनियोंमें जन्म लेकर नाना प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं—इस रहस्यको समझनेवाला वह ज्ञानी वामदेव ऋषि गर्भसे बाहर आकर अन्तमें शरीरका नाश होनेपर संसारसे ऊपर उठ गया तथा ऊर्ध्वगतिके द्वारा भगवान्‌के परमधाममें पहुँचकर वहाँ समस्त कामनाओंको पाकर अर्थात् सर्वथा आप्तकाम होकर अमृत हो गया। अमृत हो गया। जन्म-मृत्युके चक्रसे सदाके लिये छूट गया। 'समभवत्' पदको दुहराकर यहाँ अध्यायकी समाप्तिको सूचित किया गया है ॥ ६ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे । कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

वयम्=हमलोग; **उपास्महे**=जिसकी उपासना करते हैं; [**सः**]=वह; **अयम्**=यह, **आत्मा**=आत्मा, **कः इति**=कौन है, **वा**=अथवा; **येन**=जिससे, **पश्यति**=मनुष्य देखता है, **वा**=या; **येन**=जिससे, **शृणोति**=सुनता है, **वा**=अथवा, **येन**=जिससे, **गन्धान्**=गन्धोंको, **आजिघ्रति**=सूँघता है; **वा**=अथवा, **येन**=जिससे, **वाचम्**=वाणीको, **व्याकरोति**=स्पष्ट बोलता है, **वा**=या, **येन**=जिससे; **स्वादु**=स्वादयुक्त, **च**=और, **अस्वादु**=स्वादहीन वस्तुको; **च**=भी, **विजानाति**=अलग-अलग जानता है; **सः**=वह; **आत्मा**=आत्मा, **कतरः**=(पिछले अध्यायोंमें कहे हुए दो आत्माओंमेंसे) कौन है* ॥ १ ॥

व्याख्या—इस उपनिषद्के पहले और दूसरे अध्यायोंमें दो आत्माओंका वर्णन आया है—एक तो वह आत्मा (परमात्मा), जिसने इस सृष्टिकी रचना की और सजीव पुरुषको प्रकट करके उसका सहयोग देनेके लिये स्वयं उसमें प्रविष्ट हुआ; दूसरा वह आत्मा (जीवात्मा), जिसको सजीव पुरुषरूपमें परमात्माने प्रकट किया था और जिसके जन्म-जन्मान्तरकी परम्पराका वर्णन दूसरे अध्यायमें गर्भमें आनेसे लेकर मरणपर्यन्त किया गया है। इनमेंसे उपास्य देव कौन है, वह कैसा है, उसकी क्या पहचान है—इन बातोंका निर्णय करनेके लिये यह तीसरा अध्याय कहा गया है।

मन्त्रका तात्पर्य यह है कि उस उपास्यदेव परमात्माके तत्त्वको जाननेकी इच्छावाले कुछ मनुष्य आपसमें विचार करने लगे—'जिसकी हमलोग उपासना करते हैं अर्थात् जिसकी उपासना करके हमें उसे प्राप्त करना चाहिये, वह आत्मा कौन है? दूसरे शब्दोंमें जिसके सहयोगसे मनुष्य नेत्रोंके द्वारा समस्त दृश्य देखता है, जिससे कानोंद्वारा शब्द सुनता है जिससे घ्राणेन्द्रियके द्वारा नाना प्रकारकी गन्ध सूँघता है, जिससे वाणीद्वारा वचन बोलता है, जिससे रसनाद्वारा स्वादयुक्त और स्वादहीन वस्तुको अलग-अलग पहचान लेता है, वह पहले, और दूसरे अध्यायोंमें वर्णित दो आत्माओंमेंसे कौन है? ॥ १ ॥

---

* केनोपनिषद्के आरम्भकी इसके साथ बहुत अंशोंमें समानता है।

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् । संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

यत्=जो; एतत्=यह, हृदयम्=हृदय है, एतत्=यही, मनः=मन, च=भी है, संज्ञानम्=सम्यक् ज्ञान-शक्ति; आज्ञानम्=आज्ञा देनेकी शक्ति, विज्ञानम्=विभिन्न रूपसे जाननेकी शक्ति, प्रज्ञानम्=तत्काल जाननेकी शक्ति, मेधा=धारण करनेकी शक्ति; दृष्टिः=देखनेकी शक्ति, धृतिः=धैर्य, मतिः=बुद्धि, मनीषा=मनन-शक्ति, जूतिः=वेग, स्मृतिः=स्मरण-शक्ति, संकल्पः=संकल्प-शक्ति; क्रतुः=मनोरथ-शक्ति, असुः=प्राण-शक्ति, कामः=कामना-शक्ति, वशः=स्त्री-संसर्ग आदिकी अभिलाषा, इति=इस प्रकार, एतानि=ये, सर्वाणि=सब-के-सब; प्रज्ञानस्य=स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्माके, एव=ही, नामधेयानि=नाम अर्थात् उसकी सत्ताके बोधक लक्षण, भवन्ति=हैं ॥ २ ॥

व्याख्या—इस प्रकार विचार उपस्थित करके उन्होंने सोचा कि जो यह हृदय अर्थात् अन्तःकरण है, यही पहले बताया हुआ मन है, इस मनकी जो यह सम्यक् प्रकारसे जाननेकी शक्ति देखनेमें आती है—अर्थात् जो दूसरोंपर आज्ञाद्वारा शासन करनेकी शक्ति, पदार्थोंका अलग-अलग विवेचन करके जाननेकी शक्ति, देखे-सुने हुए पदार्थोंको तत्काल समझ लेनेकी शक्ति, अनुभवको धारण करनेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति, धैर्य अर्थात् विचलित न होनेकी शक्ति, बुद्धि अर्थात् निश्चय करनेकी शक्ति, मनन करनेकी शक्ति, वेग अर्थात् क्षणभरमें कहींसे कहीं चले जानेकी शक्ति, स्मरण-शक्ति, संकल्प-शक्ति, मनोरथ शक्ति, प्राण-शक्ति कामना-शक्ति और स्त्री-सहवास आदिकी अभिलाषा—इस प्रकार जो ये शक्तियाँ हैं, वे सब की सब उस स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्माके नाम हैं अर्थात् उसकी सत्ताका बोध करानेवाले लक्षण हैं, इन सबको देखकर इन सबके रचयिता, संचालक और रक्षककी सर्वव्यापिनी सत्ताका ज्ञान होता है ॥ २ ॥

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् । प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

एषः=यह, ब्रह्मा=ब्रह्मा है, एषः=यह, इन्द्रः=इन्द्र है; एषः=यही, प्रजापतिः=प्रजापति है, एते=ये, सर्वे=समस्त, देवाः=देवता, च=तथा, इमानि=ये, पृथिवी=पृथ्वी, वायुः=वायु, आकाशः=आकाश, आपः=जल, (और) ज्योतींषि=तेज, इति=इस प्रकार, एतानि=ये, पञ्च=पाँच, महाभूतानि= महाभूत, च=तथा, इमानि=ये, क्षुद्रमिश्राणि इव=छोटे-छोटे, मिले हुए-से, बीजानि=बीजरूप समस्त प्राणी, च=और, इतराणि=इनसे भिन्न, इतराणि= दूसरे, च=भी, अण्डजानि=अंडेसे उत्पन्न होनेवाले, च=एवं, जारुजानि=जेरसे उत्पन्न होनेवाले, च=तथा; स्वेदजानि=पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले, च=और, उद्भिज्जानि=जमीन फोडकर उत्पन्न होनेवाले, च=तथा, अश्वाः=घोड़े, गावः= गायें, हस्तिनः=हाथी, पुरुषाः=मनुष्य (ये सब के-सब मिलकर), यत् किम् च=जो कुछ भी, इदम्=यह जगत् है, यत् च=जो भी कोई, पतत्रि=पाँखों- वाला, च=और, जङ्गमम्=चलने-फिरनेवाला, च=और, स्थावरम्=नहीं चलने- वाला, प्राणि=प्राणिसमुदाय है, तत् सर्वम्=वह सब, प्रज्ञानेत्रम्=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मासे शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्यमें समर्थ होनेवाले हैं (और), प्रज्ञाने=उस प्रज्ञानस्वरूप परमात्मामें ही, प्रतिष्ठितम्=स्थित हैं, लोकः=(यह समस्त) ब्रह्माण्ड, प्रज्ञानेत्रः=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मासे ही ज्ञान-शक्तियुक्त है, प्रज्ञा=प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा ही, प्रतिष्ठा=इस स्थितिका आधार है, प्रज्ञानम्= यह प्रज्ञान ही, ब्रह्म=ब्रह्म है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार विचार करके उन्होंने निश्चय किया कि सबको उत्पन्न करके सब प्रकारकी शक्ति प्रदान करनेवाले और उनकी रक्षा करनेवाले स्वच्छ ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही उपास्यदेव हैं । ये ही ब्रह्मा हैं, ये ही पहले अध्यायमें वर्णित इन्द्र हैं । ये ही सबकी उत्पत्ति और पालन करनेवाले समस्त प्रजाओंके स्वामी प्रजापति हैं । ये सब इन्द्रादि देवता, ये पाँचों महाभूत—जो पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेजके रूपमें प्रकट हैं—तथा ये छोटे-छोटे मिले हुए-से बीजरूपमें स्थित समस्त प्राणी, तथा उनसे भिन्न दूसरे भी—अर्थात् अंडेसे उत्पन्न होनेवाले, जेरसे उत्पन्न होनेवाले, पसीनेसे अर्थात् शरीरके मैलसे उत्पन्न होनेवाले और जमीन फोडकर उत्पन्न होनेवाले तथा घोड़े, गाय, हाथी, मनुष्य— ये सब मिलकर जो कुछ यह जगत् है, जो भी कोई पंखोंवाले तथा चलने- फिरनेवाले और नहीं चलनेवाले जीवोंके समुदाय हैं—वे सब-के-सब प्राणी प्रज्ञान- स्वरूप परमात्मासे शक्ति पाकर ही अपने-अपने कार्यमें समर्थ होते हैं और उन प्रज्ञानस्वरूप परमात्मामें ही स्थित हैं । यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रज्ञानस्वरूप परमात्माकी शक्तिसे ही ज्ञान-शक्तियुक्त है । इसकी स्थितिके आधार प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा ही हैं । अतः जिनको पहले इन्द्र और प्रजापतिके नामसे कहा गया है, जो सबकी

रचना और रक्षा करनेवाले तथा सबको सब प्रकारकी शक्ति देनेवाले प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा हैं, वे ही हमारे उपास्यदेव ब्रह्म हैं—यह निश्चय हुआ ॥ ३ ॥

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥ ४ ॥

सः=वह, अस्मात्=इस, लोकात्=लोकसे, उत्क्रम्य=ऊपर उठकर, अमुष्मिन्=उस, स्वर्गे लोके=परम धाममें, एतेन=इस, प्रज्ञेन आत्मना=प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्मके सहित, सर्वान्=सम्पूर्ण; कामान्=दिव्य भोगोंको, आप्त्वा=प्राप्त होकर; अमृतः=अमर, समभवत्=हो गया, समभवत्= हो गया ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिसने इस प्रकार प्रज्ञानस्वरूप परमेश्वरको जान लिया, वह इस लोकसे ऊपर उठकर अर्थात् शरीरका त्याग करके उस परमानन्दमय परम धाममें, जिसके स्वरूपका पूर्वमन्त्रमें वर्णन किया गया है, इस प्रज्ञानस्वरूप ब्रह्मके साथ सम्पूर्ण दिव्य अलौकिक भोगरूप परम आनन्दको प्राप्त होकर अमर हो गया अर्थात् सदाके लिये जन्म-मृत्युसे छूट गया। 'समभवत्' (हो गया) —इस वाक्यकी पुनरुक्ति उपनिषद्की समाप्ति सूचित करनेके लिये की गयी है ॥ ४ ॥

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥ १ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

॥ ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ इस उपनिषद्के प्रारम्भमें दिया जा चुका है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाके अन्तर्गत तैत्तिरीय आरण्यकका अङ्ग है। तैत्तिरीय आरण्यकके दस अध्याय हैं। उनमेंसे सातवें, आठवें और नवें अध्यायोंको ही तैत्तिरीय उपनिषद् कहा जाता है।

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ आगे प्रथम अनुवाकमें दिया गया है।

शिक्षा-वल्ली*

प्रथम अनुवाक

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।†

---

* इस प्रकरणमें दी हुई शिक्षाके अनुसार अपना जीवन बना लेनेवाला मनुष्य इस लोक और परलोकके सर्वोत्तम फलको पा सकता है और ब्रह्मविद्याको ग्रहण करनेमें समर्थ हो जाता है—इस भावको समझानेके लिये इस प्रकरणका नाम शिक्षावल्ली रक्खा गया है।

† यह मन्त्र ऋग्वेद १ । ९० । ९, १९ । १ । ६ और यजुर्वेद ३६ । ९ में भी आया है।

ॐ इस परमेश्वरके नामका स्मरण करके उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है। **नः**=हमारे लिये, **मित्रः**=(दिन और प्राणके अधिष्ठाता) मित्र देवता, **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों (तथा), **वरुणः**=(रात्रि और अपानके अधिष्ठाता) वरुण (भी), **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों, **अर्यमा**=(चक्षु और सूर्य-मण्डलके अधिष्ठाता) अर्यमा, **नः**=हमारे लिये, **शम् भवतु**=कल्याणकारी हों, **इन्द्रः**=(बल और भुजाओंके अधिष्ठाता) इन्द्र (तथा); **बृहस्पतिः**=(वाणी और बुद्धिके अधिष्ठाता) बृहस्पति, (दोनों) **नः**=हमारे लिये, **शम् [भवताम्]**=शान्ति प्रदान करनेवाले हों, **उरुक्रमः**=त्रिविक्रमरूपसे विशाल डगोंवाले, **विष्णुः**=विष्णु (जो पैरोंके अधिष्ठाता हैं), **नः**=हमारे लिये, **शम् [भवतु]**=कल्याणकारी हों, **ब्रह्मणे**=(उपर्युक्त सभी देवताओंके आत्मस्वरूप) ब्रह्मके लिये; **नमः**=नमस्कार है, **वायो**=हे वायुदेव, **ते**=तुम्हारे लिये, **नमः**=नमस्कार है, **त्वम् एव**=तुम ही, **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष (प्राणरूपसे प्रतीत होनेवाले), **ब्रह्म असि**=ब्रह्म हो (इसलिये मैं), **त्वाम् एव**=तुमको ही, **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष, **ब्रह्म**=ब्रह्म, **वदिष्यामि**=कहूँगा, **ऋतम्**=(तुम ऋतके अधिष्ठाता हो, इसलिये मैं तुम्हें) ऋत नामसे, **वदिष्यामि**=पुकारूँगा, **सत्यम्**=(तुम सत्यके अधिष्ठाता हो, अतः मैं तुम्हें) सत्य नामसे, **वदिष्यामि**=कहूँगा, **तत्**=वह (सर्वशक्तिमान् परमेश्वर), **माम् अवतु**=मेरी रक्षा करे, **तत्**=वह, **वक्तारम् अवतु**=वक्ताकी अर्थात् आचार्यकी रक्षा करे, **अवतु माम्**=रक्षा करे मेरी (और), **अवतु वक्तारम्**=रक्षा करे मेरे आचार्यकी, **ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः**=भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, शान्तिस्वरूप हैं, शान्तिस्वरूप हैं।

व्याख्या—इस प्रथम अनुवाकमें भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वरकी भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंमें स्तुति करते हुए उनसे प्रार्थना की गयी है। भाव यह है कि समस्त आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियोंके रूपमें तथा उनके अधिष्ठाता मित्र, वरुण आदि देवताओंके रूपमें जो सबके आत्मा—अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सब प्रकारसे हमारे लिये कल्याणमय हों। हमारी उन्नतिके मार्गमें और अपनी प्राप्तिके मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न न आने दें। सबके अन्तर्यामी उन ब्रह्मको हम नमस्कार करते हैं।

इस प्रकार परमात्मासे शान्तिकी प्रार्थना करके सूत्रात्मा प्राणके रूपमें समस्त प्राणियोंमें व्याप्त उन परमेश्वरकी वायुके नामसे स्तुति करते हैं—हे सर्वशक्तिमान् सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, अतः मैं तुम्हींको प्रत्यक्ष ब्रह्मके नामसे पुकारूँगा। मैं 'ऋत' नामसे भी तुम्हें पुकारूँगा, क्योंकि सारे प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋतके तुम्हीं अधिष्ठाता हो। तथा मैं

तुम्हें 'सत्य' नामसे पुकारा करूँगा; क्योंकि सत्य (यथार्थ भाषण) के अधिष्ठातृ-देवता तुम्हीं हो । वे सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वर मुझे सत्-आचरण एवं सत्य-भाषण करनेकी और सत्-विद्याको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रदान करके इस जन्म-मरणरूप संसारचक्रसे मेरी रक्षा करें, तथा मेरे आचार्यको इन सबका उपदेश देकर सर्वत्र उस सत्यका प्रचार करनेकी शक्ति प्रदान करके उनकी रक्षा करें । यहाँ 'मेरी रक्षा करें', 'वक्ताकी रक्षा करें'—इन वाक्योंको दुबारा कहनेका अभिप्राय शान्तिपाठकी समाप्तिको सूचित करना है ।

ओम् शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः– इस प्रकार तीन बार कहनेका भाव यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंका सर्वथा उपशमन हो जाय । भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, अतः उनके स्मरणसे सब प्रकारकी शान्ति निश्चित है ।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम संतानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ।

शीक्षाम् व्याख्यास्यामः=अब हम शिक्षाका वर्णन करेंगे; **वर्णः**=वर्ण, **स्वरः**=स्वर, **मात्राः**=मात्रा, **बलम्**=प्रयत्न, **साम**=वर्णोंका सम वृत्तिसे उच्चारण अथवा गान करनेकी रीति (और), **संतानः**=संधि, **इति**=इस प्रकार, **शीक्षाध्यायः**=वेदके उच्चारणकी शिक्षाका अध्याय, **उक्तः**=कहा गया ।

व्याख्या—इस मन्त्रमें वेदके उच्चारणके नियमोंका वर्णन करनेकी प्रतिज्ञा करके उनका संकेतमात्र किया गया है । इससे माळूम होता है कि उस समय जो शिष्य परमात्माकी रहस्यविद्याका जिज्ञासु होता था, वह इन नियमोंको पहलेसे ही पूर्णतया जाननेवाला होता था, अतः उसे सावधान करनेके लिये संकेतमात्र ही यथेष्ट था । इन संकेतोंका भाव यह प्रतीत होता है कि मनुष्यको वैसे तो प्रत्येक शब्दके उच्चारणमें सावधानीके साथ शुद्ध बोलनेका अभ्यास रखना चाहिये । पर यदि लौकिक शब्दोंमें नियमोंका पालन नहीं भी किया जा सके तो कम-से-कम वेदमन्त्रोंका उच्चारण तो अवश्य ही शिक्षाके नियमानुसार होना चाहिये । क, ख आदि व्यञ्जन-वर्णों और अ, आ आदि स्वरवर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये । दन्त्य 'स' के स्थानमें

तालव्य 'श' या मूर्धन्य 'ष' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। 'व' के स्थानमें 'ब' का उच्चारण नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अन्य वर्णोंके उच्चारणमें भी विशेष ध्यान रखना चाहिये। इसी प्रकार बोलते समय किस वर्णका किस जगह क्या भाव प्रकट करनेके लिये उच्च स्वरसे उच्चारण करना उचित है, किसका मध्य स्वरसे और किसका निम्न स्वरसे उच्चारण करना उचित है—इस बातका भी पूरा पूरा ध्यान रखकर यथोचित स्वरसे बोलना चाहिये। वेदमन्त्रोंके उच्चारणमें उदात्त आदि स्वरोंका ध्यान रखना और कहाँ कौन स्वर है—इसका यथार्थ ज्ञान होना विशेष आवश्यक है, क्योंकि मन्त्रोंमें स्वरभेद होनेसे उनका अर्थ बदल जाता है तथा अशुद्ध स्वरका उच्चारण करनेवालेको अनिष्टका भागी होना पड़ता है।* ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत—इस प्रकार मात्राओंके भेदोंको भी समझकर यथायोग्य उच्चारण करना चाहिये, क्योंकि ह्रस्वके स्थानमें दीर्घ और दीर्घके स्थानमें ह्रस्व उच्चारण करनेमें अर्थका बहुत अन्तर हो जाता है—जैसे 'सिता और सीता'। बलका अर्थ है प्रयत्न। वर्णोंके उच्चारणमें उनकी ध्वनिको व्यक्त करनेमें जो प्रयास करना पड़ता है, यही प्रयत्न कहलाता है। प्रयत्न दो प्रकारके होते हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। आभ्यन्तरके पाँच और बाह्यके ग्यारह भेद माने गये हैं। स्पृष्ट, ईषत्-स्पृष्ट, विवृत, ईषद्-विवृत, संवृत—ये आभ्यन्तर प्रयत्न हैं। विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राण, महाप्राण, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित—ये बाह्य प्रयत्न हैं। उदाहरणके लिये 'क' से लेकर 'म' तकके अक्षरोंका आभ्यन्तर प्रयत्न स्पृष्ट है, क्योंकि कण्ठ आदि स्थानोंमें प्राणवायुके स्पर्शसे इनका उच्चारण होता है। 'क' का बाह्य प्रयत्न विवार, श्वास, अघोष तथा अल्पप्राण है—इस विषयका विशद ज्ञान प्राप्त करनेके लिये व्याकरण देखना चाहिये। वर्णोंका समवृत्तिसे उच्चारण या सामगानकी रीति ही साम है। इसका भी ज्ञान और तदनुसार उच्चारण आवश्यक है। संतानका अर्थ है संहिता—संधि। स्वर, व्यञ्जन, विसर्ग अथवा अनुस्वार आदि अपने परवर्ती वर्णके संयोगसे कहीं कहीं नूतन रूप धारण कर लेते हैं, इस प्रकार वर्णोंका यह संयोगजनित विकृतिभाव—

---

* महर्षि पतञ्जलिने महाभाष्यमें कहा है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अर्थात् स्वर या वर्णकी अशुद्धिसे दूषित शब्द ठीक-ठीक प्रयोग न होनेके कारण अभीष्ट अर्थका वाचक नहीं होता। इतना ही नहीं, वह वचनरूपी वज्र यजमानको हानि भी पहुँचाता है। जैसे 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें स्वरकी अशुद्धि हो जानेके कारण 'वृत्रासुर' स्वयं ही इन्द्रके हाथसे मारा गया।

'संधि' कहलाता है । किसी विशेष स्थलमें जहाँ संधि बाधित होती है, वहाँ वर्णमें विकार नहीं आता, अतः उसे 'प्रकृतिभाव' कहते हैं । कहनेका तात्पर्य यह है कि वर्णोंके उच्चारणमें उक्त छहों नियमोंका पालन आवश्यक है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

सम्बन्ध—अब आचार्य अपने और शिष्यके अभ्युदयकी इच्छा प्रकट करते हुए संहिताविषयक उपासनाविधि आरम्भ करते हैं—

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासꣳहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः संधिः । वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् ।

नौ=हम (आचार्य और शिष्य) दोनोंका, **यशः**=यश, **सह**=एक साथ बढ़े (तथा), **सह**=एक साथ ही, **नौ**=हम दोनोंका, **ब्रह्मवर्चसम्**=ब्रह्मतेज भी बढ़े, **अथ**=इस प्रकार शुभ इच्छा प्रकट करनेके अनन्तर, **अतः**=यहाँसे (हम), **अधिलोकम्**=लोकोंके विषयमें, **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतियोंके विषयमें, **अधिविद्यम्**=विद्याके विषयमें, **अधिप्रजम्**=प्रजाके विषयमें, (और) **अध्यात्मम्**=शरीरके विषयमें, (इस तरह) **पञ्चसु**=पाँच, **अधिकरणेषु**=स्थानोंमें, **संहितायाः**=संहिताके, **उपनिषदम् व्याख्यास्यामः**=रहस्यका वर्णन करेंगे, **ताः**=इन सबको, **महासंहिताः**=महासंहिता, **इति**=इस नामसे, **आचक्षते**=कहते हैं, **अथ**=उनमेंसे (यह पहली), **अधिलोकम्**=लोकविषयक संहिता है, **पृथिवी**=पृथ्वी, **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है, **द्यौः**=स्वर्गलोक, **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है, **आकाशः**=आकाश, **संधिः**=संधि—मेलसे बना हुआ रूप (तथा), **वायुः**=वायु, **संधानम्**=दोनोंका संयोजक है, **इति**=इस प्रकार (यह), **अधिलोकम्**=लोकविषयक संहिताकी उपासनाविधि पूरी हुई ।

व्याख्या—इस अनुवाकमें पहले समदर्शी आचार्यके द्वारा अपने लिये और शिष्यके लिये भी यश और तेजकी वृद्धिके उद्देश्यसे शुभ आकाङ्क्षा की गयी है । आचार्यकी अभिलाषा यह है कि हमको तथा हमारे श्रद्धालु और

विनयी शिष्यको भी ज्ञान और उपासनासे उपलब्ध होनेवाले यश और ब्रह्म-तेजकी प्राप्ति हो। इसके पश्चात् आचार्य संहिताविषयक उपनिषद्की व्याख्या करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसका निरूपण करते हैं। वर्णोंमें जो संधि होती है, उसको 'संहिता' कहते हैं। वही संहिता-दृष्टि जब व्यापकरूप धारण करके लोक आदिको अपना विषय बनाती है, तब उसे 'महासंहिता' कहते हैं। संहिता या संधि पाँच प्रकारकी होती है, यह प्रसिद्ध है। स्वर, व्यञ्जन, स्वादि, विसर्ग और अनुस्वार—ये ही संधिके अधिष्ठान बननेपर पञ्चसंधिके नामसे प्रसिद्ध होते हैं। वस्तुतः ये संधिके पाँच आश्रय हैं। इसी प्रकार पूर्वोक्त महासंहिता या महासंधिके भी पाँच आश्रय हैं—लोक, ज्योति, विद्या, प्रजा और आत्मा (शरीर)। तात्पर्य यह कि जैसे वर्णोंमें संधिका दर्शन किया जाता है, उसी प्रकार इन लोक आदिमें भी संहिता दृष्टि करनी चाहिये। वह किस प्रकार हो, यह बात समझायी जाती है। प्रत्येक संधिके चार भाग होते हैं—पूर्ववर्ण, परवर्ण, दोनोंके मेलसे होनेवाला रूप तथा दोनोंका संयोजक नियम। इसी प्रकार यहाँ जो लोक आदिमें संहिता-दृष्टि बतायी जाती है, उसके भी चार विभाग होंगे—पूर्वरूप, उत्तररूप, संधि (दोनोंके मिलनेसे होनेवाला रूप) और संधान (संयोजक)।

इस मन्त्रमें लोकविषयक संहिता-दृष्टिका निरूपण किया गया है। पृथ्वी अर्थात् यह लोक ही पूर्वरूप है। तात्पर्य यह कि लोकविषयक महासंहितामें पूर्ववर्णके स्थानपर पृथ्वीको देखना चाहिये। इसी प्रकार स्वर्ग ही संहिताका उत्तररूप (परवर्ण) है। आकाश यानी अन्तरिक्ष ही इन दोनोंकी संधि है और वायु इनका संधान (संयोजक) है। जैसे पूर्व और उत्तर वर्ण संधिमें मिलकर एक हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणवायुके द्वारा पूर्ववर्ण-स्थानीय इस भूतलका प्राणी उत्तरवर्णस्थानीय स्वर्गलोकमें मिलाया जाता है (सम्बद्ध किया जाता है)—यह भाव हो सकता है।

यहाँ यह अनुमान होता है कि इस वर्णनमें यथेष्ट लोकोंकी प्राप्तिका उपाय बताया गया है, क्योंकि फलश्रुतिमें इस विद्याको जाननेका फल स्वर्गलोकसे सम्बद्ध हो जाना बताया है, परंतु इस विद्याकी परम्परा नष्ट हो जानेके कारण इस संकेतमात्रके वर्णनसे यह बात समझमें नहीं आती कि किस प्रकार कौनसे लोककी प्राप्ति की जा सकती है। इतना तो समझमें आता है कि लोकोंकी प्राप्तिमें प्राणोंकी प्रधानता है। प्राणोंके द्वारा ही मन और इन्द्रियोंके सहित जीवात्माका प्रत्येक लोकमें गमन होता है—यह बात उपनिषदोंमें जगह-जगह कही गयी है, किंतु यहाँ जो यह कहा गया है कि पृथ्वी पहला वर्ण है

और द्युलोक दूसरा वर्ण है एवं आकाश संधि (इनका संयुक्तरूप) है—इस कथनका क्या भाव है, यह ठीक-ठीक समझमें नहीं आता।

अथाधिज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् । आपः संधिः । वैद्युतः संधानम् । इत्यधिज्यौतिषम् ।

अथ=अब; **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतिविषयक संहिताका वर्णन करते हैं, **अग्निः**=अग्नि, **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है, **आदित्यः**=सूर्य, **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **आपः**=जल—मेघ, **संधिः**=इन दोनोंकी संधि—मेलसे बना हुआ रूप है (और), **वैद्युतः**=बिजली, (इनका) **संधानम्**=संधान (जोड़नेका हेतु) है, **इति**=इस प्रकार, **अधिज्यौतिषम्**=ज्योतिविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—अग्नि इस भूतलपर सुलभ है, अतः उसे संहिताका 'पूर्व-वर्ण' माना है, और सूर्य द्युलोकमें—ऊपरके लोकमें प्रकाशित होता है, अतः वह उत्तररूप (परवर्ण) बताया गया है। इन दोनोंसे उत्पन्न होनेके कारण मेघ ही संधि है तथा विद्युत्-शक्ति ही संधिकी हेतु (संधान) बतायी गयी है।

इस मन्त्रमें ज्योतिविषयक संहिताका वर्णन करके ज्योतियोंके संयोगसे नाना प्रकारके भौतिक पदार्थोंकी विभिन्न अभिव्यक्तियोंके विज्ञानका रहस्य समझाया गया है। उन ज्योतियोंके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले भोग्य पदार्थोंको जलका नाम दिया गया है और उन सबकी उत्पत्तिमें बिजलीको संयोजक बताया गया है, ऐसा अनुमान होता है, क्योंकि आजकलके वैज्ञानिकोंने भी बिजलीके सम्बन्धसे नाना प्रकारके भौतिक विकास करके दिखाये हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदमें यह भौतिक उन्नतिका साधन भी भलीभाँति बताया गया है, परंतु परम्परा नष्ट हो जानेके कारण उसको समझने और समझानेवाले दुर्लभ हो गये हैं।

अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् । अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधिः । प्रवचनꣳसंधानम् । इत्यधिविद्यम् ।

अथ=अब, **अधिविद्यम्**=विद्याविषयक संहिताका आरम्भ करते हैं, **आचार्यः**=गुरु, **पूर्वरूपम्**=पहला वर्ण है, **अन्तेवासी**=समीप निवास करनेवाला शिष्य; **उत्तररूपम्**=दूसरा वर्ण है, **विद्या**=(दोनोंके मिलनेसे उत्पन्न) विद्या, **संधिः**=मिला हुआ रूप है, **प्रवचनम्**=गुरुद्वारा दिया हुआ उपदेश ही, **संधानम्**=संधिका हेतु है, **इति**=इस प्रकार (यह), **अधिविद्यम्**=विद्याविषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें विद्याके विषयमें संहिता दृष्टिका उपदेश दिया गया है। इसके द्वारा विद्याप्राप्तिका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि जिस प्रकार वर्णोंकी संधिमें एक पूर्ववर्ण और एक परवर्ण होता है, उसी प्रकार यहाँ विद्यारूप संहितामें गुरु तो मानो पूर्ववर्ण है और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक गुरुकी सेवा करनेवाला विद्याभिलाषी शिष्य परवर्ण है, तथा संधिमें दो वर्णोंके मिलनेपर जैसे एक तीसरा नया वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार गुरु और शिष्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाली विद्या—ज्ञान ही यहाँ संधि है। इस विद्यारूप संधिके प्रकट होनेका कारण है—प्रवचन अर्थात् गुरुका उपदेश देना और शिष्यद्वारा उसको श्रद्धापूर्वक सुन-समझकर धारण करना, यही संधान है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझकर विद्वान् गुरुकी सेवा करता है, वह अवश्य ही विद्या प्राप्त करके विद्वान् हो जाता है।

अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा संधिः। प्रजननꣳसंधानम्। इत्यधिप्रजम्।

अथ=अब, **अधिप्रजम्**=प्रजाविषयक संहिता कहते हैं, **माता**=माता, **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है, **पिता**=पिता, **उत्तररूपम्**=उत्तररूप (परवर्ण) है; **प्रजा**=(उन दोनोंके मेलसे उत्पन्न) संतान, **संधिः**=संधि है (तथा), **प्रजननम्**=प्रजनन (संतानोत्पत्तिके अनुकूल व्यापार), **संधानम्**=संधान (संधिका कारण) है, **इति**=इस प्रकार (यह), **अधिप्रजम्**=प्रजा-विषयक संहिता कही गयी।

व्याख्या—इस मन्त्रमें संहिताके रूपमें प्रजाका वर्णन करके संतानप्राप्तिका रहस्य समझाया गया है। भाव यह है कि इस प्रजा-विषयक संहितामें माता तो मानो पूर्ववर्ण है और पिता परवर्ण है। जिस प्रकार दोनों वर्णोंकी संधिसे एक नया वर्ण बन जाता है, उसी प्रकार माता पिताके संयोगसे उत्पन्न होनेवाली संतान ही इस संहितामें दोनोंकी संधि (संयुक्तस्वरूप) है। तथा माता और पिताका जो ऋतुकालमें शास्त्रविधिके अनुसार यथोचित नियमपूर्वक संतानोत्पत्तिके उद्देश्यसे सहवास करना है, यही संधान (संतानोत्पत्तिका कारण) है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझकर संतानोत्पत्तिके उद्देश्यसे ऋतुकालमें धर्मयुक्त स्त्रीसहवास करता है, वह अवश्य ही अपनी इच्छाके अनुसार श्रेष्ठ संतान प्राप्त कर लेता है।

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् संधिः। जिह्वा संधानम्। इत्याध्यात्मम्।

अथ=अब, **अध्यात्मम्**=आत्मविषयक संहिताका वर्णन करते हैं, **अधरा हनुः**=नीचेका जबड़ा, **पूर्वरूपम्**=पूर्वरूप (पूर्ववर्ण) है, **उत्तरा हनुः**=ऊपरका

जबड़ा, **उत्तररूपम्**=दूसरा रूप (परवर्ण) है, **वाक्**=(दोनोंके मिलनेसे उत्पन्न वाणी, **संधिः**=संधि है (और), **जिह्वा**=जिह्वा, **संधानम्**=संधान (वाणीरूप संधिकी उत्पत्तिका कारण) है, **इति**=इस प्रकार (यह), **अध्यात्मम्**=आत्म-विषयक संहिता कही गयी ।

व्याख्या—इस मन्त्रमें शरीरविषयक संहिता-दृष्टिका उपदेश किया गया है । शरीरमें प्रधान अङ्ग मुख है, अतः मुखके ही अवयवोंमें संहिताका विभाग दिखाया गया है । तात्पर्य यह कि नीचेका जबड़ा-मानो संहिताका पूर्ववर्ण है, ऊपरका जबड़ा परवर्ण है, इन दोनोंके संयोगसे इनके मध्यभागमें अभिव्यक्त होनेवाली वाणी ही संधि है और जिह्वा ही संधान (वाणीरूप संधिके प्रकट होनेका कारण) है; क्योंकि जिह्वाके बिना मनुष्य कोई भी शब्द नहीं बोल सकता । वाणीमें विलक्षण शक्ति है । वाणीद्वारा प्रार्थना करके मनुष्य शरीरके पोषण और उसे उन्नत करनेकी सभी सामग्री प्राप्त कर सकता है । तथा ओंकाररूप परमेश्वरके नाम-जपसे परमात्माको भी प्राप्त कर सकता है । इस प्रकार वाणीमें शारीरिक और आत्मविषयक—दोनों तरहकी उन्नति करनेकी सामर्थ्य भरी हुई है । इस रहस्यको समझकर जो मनुष्य अपनी वाणीका यथायोग्य उपयोग करता है, वह वाक्शक्ति पाकर उसके द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है ।

इतीमा महासꣳहिता य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद । संधीयते प्रजया पशुभिः ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्गेण लोकेन ।

इति=इस प्रकार, **इमाः**=ये, **महासंहिताः**=पाँच महासंहिताएँ कही गयी हैं; **यः**=जो मनुष्य; **एवम्**=इस प्रकार, **एताः**=इन; **व्याख्याताः**=ऊपर बतायी हुई, **महासंहिताः**=महासंहिताओंको, **वेद**=जान लेता है, (वह) **प्रजया**=संतानसे, **पशुभिः**=पशुओंसे, **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे; **अन्नाद्येन**=अन्न आदि भोग्यपदार्थोंसे; (और) **सुवर्गेण लोकेन**=स्वर्गरूप लोकसे, **संधीयते**=सम्पन्न हो जाता है ।

व्याख्या—इस मन्त्रमें पाँच प्रकारसे कही हुई महासंहिताओंके यथार्थ ज्ञानका फल बताया गया है । इनको जाननेवाला अपनी इच्छाके अनुकूल संतान प्राप्त कर सकता है, विद्याके द्वारा ब्रह्मतेजसम्पन्न हो जाता है, अपनी इच्छाके अनुसार नाना प्रकारके पशुओंको और अन्न आदि आवश्यक भोग्य पदार्थोंको प्राप्त कर सकता है । इतना ही नहीं, उसे स्वर्गलोककी प्राप्ति भी हो जाती है । इनमेंसे लोकविषयक संहिताके ज्ञानसे स्वर्ग आदि उत्तम लोक, ज्योतिविषयक संहिताके ज्ञानसे नाना प्रकारकी भौतिक सामग्री, प्रजाविषयक संधिके ज्ञानसे संतान, विद्याविषयक संहिताके ज्ञानसे विद्या और ब्रह्मतेज तथा अध्यात्मसंहिताके

विज्ञानसे वाक्शक्तिकी प्राप्ति—इस प्रकार पृथक्-पृथक् फल समझना चाहिये। श्रुतिमें समस्त संहिताओंके ज्ञानका सामूहिक फल बतलाया गया है। श्रुति ईश्वरकी वाणी है, अतः इसका रहस्य समझकर श्रद्धा और विश्वासके साथ उपर्युक्त उपासना करनेमें निस्संदेह वे सभी फल प्राप्त हो सकते हैं, जिनकी चर्चा ऊपर की गयी है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा । कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय ।

यः=जो; छन्दसाम्=वेदोंमें, ऋषभः=सर्वश्रेष्ठ है, विश्वरूपः=सर्वरूप है (और); अमृतात्=अमृतस्वरूप, छन्दोभ्यः=वेदोंसे, अधि=प्रधानरूपमें; सम्बभूव=प्रकट हुआ है, सः=वह (ओंकारस्वरूप), इन्द्रः=सबका स्वामी (परमेश्वर), मा=मुझे, मेधया=धारणायुक्त बुद्धिसे, स्पृणोतु=सम्पन्न करे, देव=हे देव (मैं आपकी कृपासे), अमृतस्य धारणः=अमृतमय परमात्माको (अपने हृदयमें) धारण करनेवाला; भूयासम्=बन जाऊँ, मे=मेरा, शरीरम्=शरीर, विचर्षणम्=विशेष फुर्तीला—सब प्रकारसे रोगरहित हो (और); मे=मेरी, जिह्वा=जिह्वा, मधुमत्तमा=अतिशय मधुमती (मधुरभाषिणी), [भूयात्=] हो जाय, कर्णाभ्याम्=(मैं) दोनों कानोंद्वारा, भूरि=अधिक, विश्रुवम्=सुनता रहूँ, (हे प्रणव ! तू) मेधया=लौकिक बुद्धिसे, पिहितः=ढकी हुई, ब्रह्मणः=परमात्माकी, कोशः=निधि, असि=है (तू) मे=मेरे, श्रुतम् गोपाय=सुने हुए उपदेशकी रक्षा कर।

व्याख्या—इस चतुर्थ अनुवाकमें 'मे श्रुतम् गोपाय' इस वाक्यतक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये आवश्यक बुद्धिबल और शारीरिक बलकी प्राप्तिके उद्देश्यसे परमेश्वरसे उनके नाम ओंकारद्वारा प्रार्थना करनेका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'ओम्' यह परमेश्वरका नाम वेदोक्त जितने भी मन्त्र हैं, उन सबमें श्रेष्ठ है और सर्वरूप है, क्योंकि प्रत्येक मन्त्रके आदिमें ओंकारका उच्चारण किया जाता है और ओंकारके उच्चारणसे सम्पूर्ण वेदोंके उच्चारणका फल

प्राप्त होता है । तथा अविनाशी वेदोंसे यह ओंकार प्रधानरूपमें प्रकट हुआ है। ओंकार नाम है और परमेश्वर नामी, अतः दोनों परस्पर अभिन्न हैं। वे प्रणवरूप परमात्मा सबके परमेश्वर होनेके कारण 'इन्द्र' नामसे प्रसिद्ध हैं । वे इन्द्र मुझे मेधासे सम्पन्न करें। 'धीर्धारणावती मेधा' इस कोषवाक्यके अनुसार धारणाशक्तिसे सम्पन्न बुद्धिका नाम मेधा है। तात्पर्य यह कि परमात्मा मुझे पढ़े और समझे हुए भावोंको धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न करे। हे देव ! मैं आपकी अहैतुकी कृपासे आपके अमृतमय स्वरूपको अपने हृदयमें धारण करनेवाला बन जाऊँ । मेरा शरीर रोगरहित रहे, जिससे आपकी उपासनामें किसी प्रकारका विघ्न न पड़े। मेरी जिह्वा अतिशय मधुमती अर्थात् मधुर स्वरसे आपके अत्यन्त मधुर नाम और गुणोंका कीर्तन करके उनके मधुर रसका आस्वादन करनेवाली बन जाय । मैं अपने दोनों कानोंद्वारा कल्याणमय बहुत-से शब्दोंको सुनता रहूँ, अर्थात् मेरे कानोंमें आचार्यद्वारा वर्णन किये हुए रहस्यको पूर्णतया सुननेकी शक्ति आ जाय और मुझे आपका कल्याणमय यश सुननेको मिलता रहे। हे ओंकार ! तू परमेश्वरकी निधि है, अर्थात् वे पूर्णब्रह्म परमेश्वर तुझमें भरे हुए हैं, क्योंकि नामी नामके ही आश्रित रहता है। ऐसा होते हुए भी तू मनुष्योंकी लौकिक बुद्धिसे ढका हुआ है—लौकिक तर्कसे अनुसधान करनेवालोंकी बुद्धिमें तेरा प्रभाव व्यक्त नहीं होता। हे देव ! तू सुने हुए उपदेशकी रक्षा कर अर्थात् ऐसी कृपा कर कि मुझे जो उपदेश सुननेको मिले, उसे मैं स्मरण रखता हुआ उसके अनुसार अपना जीवन बना सकूँ।

सम्बन्ध—अब ऐश्वर्यकी कामनावालेके लिये हवन करनेके मन्त्रोंका आरम्भ करते हैं—

आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणाचीरमात्मनः । वासाᳬसि मम गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा ।

ततः=उसके बाद (अब ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी रीति बताते हैं—हे देव !), [**या श्रीः**]=जो श्री, **मम**=मेरे, **आत्मनः**=अपने लिये, **अचीरम्**=तत्काल ही, **वासांसि**=नाना प्रकारके वस्त्र, **च**=और, **गावः**=गौएँ, **च**=तथा, **अन्नपाने**=खाने-पीनेके पदार्थ, **सर्वदा**=सदैव, **आवहन्ती**=ला देनेवाली, **वितन्वाना**=उनका विस्तार करनेवाली; (तथा) **कुर्वाणा**=उन्हें बनानेवाली है; **लोमशाम्**=रोएँवाले—भेड़-बकरी आदि; **पशुभिः सह**=पशुओंके सहित [**ताम्**] **श्रियम्**=उस श्रीको; **मे**=मेरे लिये (तू), **आवह**=ले आ, **स्वाहा**=स्वाहा (इसी उद्देश्यसे तुझे यह आहुति समर्पित की जाती है)।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस उपर्युक्त अंशमें ऐश्वर्यकी कामनावाले सकाम मनुष्योंके लिये, परमेश्वरसे प्रार्थना करते हुए अग्निमें आहुति देनेकी रीति बतायी गयी है। प्रार्थनाका भाव यह है कि 'हे अग्निके अधिष्ठाता परमेश्वर! जो मेरे निजके लिये आवश्यकता होनेपर बिना विलम्ब तत्काल ही नाना प्रकारके वस्त्र, गौएँ और खाने-पीनेकी विविध सामग्री सदैव प्रस्तुत कर दे, उन्हें बढ़ाती रहे तथा उन्हें नवीनरूपमें रच दे, ऐसी श्रीको तू मेरे लिये भेड़-बकरी आदि रोएँवाले एवं अन्य प्रकारके पशुओंसहित ला दे। अर्थात् समस्त भोग-सामग्रीका साधनरूप धन मुझे प्रदान कर।' इस मन्त्रका उच्चारण करके 'स्वाहा' इस शब्दके साथ अग्निमें आहुति देनी चाहिये, यह ऐश्वर्यकी प्राप्तिका साधन है।

सम्बन्ध—आचार्यको ब्रह्मचारियोंके हितार्थ किस प्रकार हवन करना चाहिये, इसकी विधि बतायी जाती है—

आ मायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।

ब्रह्मचारिणः=ब्रह्मचारीलोग, **मा**=मेरे पास, **आयन्तु**=आयें, **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति दी जाती है), **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग, **विमायन्तु**=कपटशून्य हों, **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है), **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग, **प्रमायन्तु**=प्रामाणिक ज्ञानको ग्रहण करनेवाले हों; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है), **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग, **दमायन्तु**=इन्द्रियोंका दमन करनेवाले हों, **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **ब्रह्मचारिणः**=ब्रह्मचारीलोग, **शमायन्तु**=मनको वशमें करनेवाले हों, **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है)।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस अंशमें शिष्योंके हितार्थ आचार्यको जिन मन्त्रोंद्वारा हवन करना चाहिये, उनका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि आचार्य 'उत्तम ब्रह्मचारीलोग मेरे पास विद्या पढ़नेके लिये आयें' इस उद्देश्यसे मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्दके साथ पहली आहुति दे, 'मेरे ब्रह्मचारी कपटशून्य हों' इस उद्देश्यसे मन्त्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्दके साथ दूसरी आहुति दे, 'ब्रह्मचारीलोग उत्तम ज्ञानको ग्रहण करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ तीसरी आहुति दे, 'ब्रह्मचारीलोग इन्द्रियोंका दमन करने-वाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ चौथी आहुति दे

तथा 'ब्रह्मचारीलोग मनको वशमें करनेवाले हों' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ पाँचवीं आहुति दे।

सम्बन्ध—आचार्यको अपने लौकिक और पारलौकिक हितके लिये किस प्रकार हवन करना चाहिये, इसकी विधि बतायी जाती है—

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे नि भगाहं त्वयि मृजे स्वाहा।

जने=लोगोंमें (मैं), **यशः**=यशस्वी; **असानि**=होऊँ, **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **वस्यसः**=महान् धनवानोंकी अपेक्षा भी, **श्रेयान्**=अधिक धनवान्, **असानि**=हो जाऊँ, **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है), **भग**=हे भगवन्, **तम् त्वा**=उस आपमें; **प्रविशानि**=मैं प्रविष्ट हो जाऊँ, **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **भग**=हे भगवन्!; **सः**=वह (तू); **मा**=मुझमें; **प्रविश**=प्रविष्ट हो जा, **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); **भग**=हे भगवन्!, **तस्मिन्**=उस, **सहस्रशाखे**=हजारों शाखावाले; **त्वयि**=आपमें; (ध्यानद्वारा निमग्न होकर) **अहम्**=मैं; **निमृजे**=अपनेको विशुद्ध कर लूँ; **स्वाहा**=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है)

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस अंशमें आचार्यको अपने हितके लिये जिन मन्त्रोंद्वारा हवन करना चाहिये, उनका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि 'लोगोंमें मैं यशस्वी बनूँ, जगत्‌में मेरा यश-सौरभ सर्वत्र फैल जाय, मुझसे कोई भी ऐसा आचरण न बने, जो मेरे यशमें धब्बा लगानेवाला हो' इस उद्देश्यसे 'यशो जनेऽसानि' इस मन्त्रका उच्चारण करके 'स्वाहा' शब्दके साथ पहली आहुति डालनी चाहिये। 'महान् धनवानोंकी अपेक्षा भी मैं अधिक सम्पत्तिशाली बन जाऊँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ दूसरी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये। 'हे भगवन्! आपके उस दिव्य स्वरूपमें मैं प्रविष्ट हो जाऊँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ तीसरी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये। 'हे भगवन्! वह आपका दिव्य स्वरूप मुझमें प्रविष्ट हो जाय—मेरे मनमें बस जाय' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ चौथी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये। 'हे भगवन्! हजारों शाखावाले आपके उस दिव्यरूपमें ध्यानद्वारा निमग्न होकर मैं अपने आपको विशुद्ध बना लूँ' इस उद्देश्यसे मन्त्रोचारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ पाँचवीं आहुति अग्निमें डालनी चाहिये।

यथाऽऽपः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा भाहि प्र मा पद्यस्व ॥

यथा=जिस प्रकार, आपः=(नदी आदिके) जल, प्रवता=निम्न-स्थानसे होकर, यन्ति=समुद्रमें चले जाते हैं, यथा=जिस प्रकार, मासाः=महीने, अहर्जरम्=दिनोंका अन्त करनेवाले संवत्सररूप कालमें, [यन्ति]=चले जाते हैं, धातः=हे विधाता, एवम्=इसी प्रकार, माम्=मेरे पास, सर्वतः=सब ओरसे, ब्रह्मचारिणः=ब्रह्मचारीलोग, आयन्तु=आयें, स्वाहा=स्वाहा (इस उद्देश्यसे यह आहुति है); प्रतिवेशः=(तू) सबका विश्राम-स्थान, असि=है, मा=मेरे लिये, प्रभाहि=अपनेको प्रकाशित कर; मा=मुझे, प्रपद्यस्व=प्राप्त हो जा ।

व्याख्या—'जिस प्रकार समस्त जल-प्रवाह नीचेकी ओर बहते हुए समुद्रमें मिल जाते हैं, तथा जिस प्रकार महीने दिनोंका अन्त करनेवाले संवत्सररूप कालमें जा रहे हैं, हे विधाता ! उसी प्रकार मेरे पास सब ओरसे ब्रह्मचारीलोग आयें और मैं उनको विद्याभ्यास कराकर तथा कल्याणका उपदेश देकर अपने कर्तव्यका एवं आपकी आज्ञाका पालन करता रहूँ ।' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारण करके 'स्वाहा' शब्दके साथ छठी आहुति अग्निमें डालनी चाहिये । 'हे परमात्मन् ! आप सबके विश्राम-स्थान हैं, अब मेरे लिये अपने दिव्य स्वरूपको प्रकाशित कर दीजिये और मुझे प्राप्त हो जाइये' इस उद्देश्यसे मन्त्रोच्चारणपूर्वक 'स्वाहा' शब्दके साथ सातवीं आहुति अग्निमें डाले ।

इस प्रकार इस चौथे अनुवाकमें इस लोक और परलोककी उन्नतिका उपाय परमात्माकी प्रार्थना और उसके साथ-साथ हवनको बताया गया है । प्रकरण बड़ा ही सुन्दर और श्रेयस्कर है । अपना कल्याण चाहनेवाले मनुष्योंको इसमें बताये हुए प्रकारसे अपने लिये जिस अंशकी आवश्यकता प्रतीत हो, उस अंशके अनुसार अनुष्ठान आरम्भ कर देना चाहिये ।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव

इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः । मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते

भूः=भूः, भुवः=भुवः, सुवः=स्वः, इति=इस प्रकार, एताः=ये, वै=प्रसिद्ध, तिस्रः=तीन, व्याहृतयः=व्याहृतियाँ हैं, तासाम् उ=उन तीनोंकी अपेक्षासे, चतुर्थीम्=जो चौथी व्याहृति, महः इति='महः' इस नामसे, ह=प्रसिद्ध है, एताम्=इसको, माहाचमस्यः=महाचमसके पुत्रने, प्रवेदयते स्म=सबसे पहले जाना था, तत्=वह चौथी व्याहृति ही, ब्रह्म=ब्रह्म है, सः=वह, आत्मा=ऊपर कही हुई व्याहृतियोंका आत्मा है, अन्याः=अन्य, देवताः=सब देवता, अङ्गानि=उसके अङ्ग हैं, भूः='भूः', इति=यह व्याहृति, वै=ही, अयम् लोकः=यह पृथ्वी-लोक है, भुवः='भुवः, इति=यह,' अन्तरिक्षम्=अन्तरिक्ष-लोक है, सुवः='स्वः', इति=यह, असौ लोकः=वह प्रसिद्ध स्वर्गलोक है, महः='महः'; इति=यह, आदित्यः=आदित्य—सूर्य है, आदित्येन=(क्योंकि) आदित्यसे, वाव=ही, सर्वे=समस्त, लोकाः=लोक, महीयन्ते=महिमान्वित होते हैं।

व्याख्या—इस पञ्चम अनुवाकमें भूः, भुवः, स्वः और महः—इन चारों व्याहृतियोंकी उपासनाका रहस्य बताकर उसके फलका वर्णन किया गया है। पहले तो इसमें यह बात कही गयी है कि भूः, भुवः और स्वः—ये तीन व्याहृतियाँ तो प्रसिद्ध हैं, परंतु इनके अतिरिक्त जो चौथी व्याहृति 'महः' है, इसकी उपासनाका रहस्य सबसे पहले महाचमसके पुत्रने जाना था। भाव यह है कि इन चारों व्याहृतियोंको चार प्रकारसे प्रयोग करके उपासना करनेकी विधि, जो आगे बतायी गयी है, तभीसे प्रचलित हुई है। इसके बाद उन चार व्याहृतियोंमें किस प्रकारकी भावना करके उपासना करनी चाहिये, यह समझाया गया है। इन चारों व्याहृतियोंमें 'महः' यह चौथी व्याहृति सर्वप्रधान है। अतः उपास्य देवोंमें 'महः' व्याहृतिको ब्रह्मका स्वरूप समझना चाहिये—यह भाव समझानेके लिये कहा गया है कि वह चौथी व्याहृति 'महः' ब्रह्मका नाम होनेसे ब्रह्म ही है। क्योंकि ब्रह्म सबके आत्मा हैं, सर्वरूप हैं और अन्य सब देवता उनके अङ्ग हैं, अतः जिस किसी भी देवताकी इन व्याहृतियोंके द्वारा उपासना की जाय, उसमें इस बातको नहीं भूलना चाहिये कि यह सर्वरूप परमेश्वरकी ही उपासना है। सब देवता उन्हींके अङ्ग होनेसे अन्य देवोंकी उपासना भी उन्हींकी उपासना है। (गी० ९। २३, २४) उसके पश्चात् इन व्याहृतियोंमें लोकोंका चिन्तन करनेकी विधि इस प्रकार बतायी गयी है—'भूः' यह तो मानो पृथ्वीलोक है, 'भुवः' यह अन्तरिक्षलोक है, 'स्वः' यह सुप्रसिद्ध स्वर्गलोक है और 'महः' यह सूर्य है, क्योंकि सूर्यसे ही सब लोक

महिमान्वित हो रहे हैं। तात्पर्य यह कि भूः, भुवः, स्वः—ये तीनों व्याहृतियाँ तो उन परमेश्वरके विराट् शरीररूप इस स्थूल ब्रह्माण्डको बतानेवाली—अर्थात् परमेश्वरके अङ्गोंके नाम हैं तथा 'महः' यह चौथी व्याहृति इस विराट् शरीरको प्रकाशित करनेवाले उसके आत्मारूप परमेश्वरको बतानेवाली है। 'महः' यह सूर्यका नाम है, सूर्यके भी आत्मा हैं परमेश्वर, अतः सूर्यरूपसे सब लोकोंको वे ही प्रकाशित करते हैं। इसलिये यहाँ सूर्यके उपलक्षणसे इस विराट् शरीरको प्रकाशित करनेवाले इसके आत्मारूप परमेश्वरकी ही उपासनाका लक्ष्य कराया गया है।

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्यः। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीꣳषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूꣳषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।

भूः='भूः', इति=यह व्याहृति, वै=ही, अग्निः=अग्नि है, भुवः='भुवः', इति=यह, वायुः=वायु है, सुवः='स्वः', इति=यह, आदित्यः=आदित्य है, महः='महः', इति=यह, चन्द्रमाः=चन्द्रमा है, (क्योंकि) चन्द्रमसा=चन्द्रमासे, वाव=ही, सर्वाणि=समस्त, ज्योतींषि=ज्योतियाँ, महीयन्ते=महिमावाली होती हैं, भूः='भूः', इति=यह व्याहृति, वै=ही, ऋचः=ऋग्वेद है, भुवः='भुवः', इति=यह, सामानि=सामवेद है, सुवः='स्वः', इति=यह, यजूंषि=यजुर्वेद है, महः='महः', इति=यह, ब्रह्म=ब्रह्म है, (क्योंकि) ब्रह्मणा=ब्रह्मसे, वाव=ही, सर्वे=समस्त, वेदाः=वेद, महीयन्ते=महिमावान् होते हैं।

व्याख्या—इसी प्रकार फिर ज्योतियोंमें इन व्याहृतियोंद्वारा परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'भूः' यह व्याहृति अग्निका नाम होनेसे मानो अग्नि ही है। अग्निदेवता वाणीका अधिष्ठाता है और वाणी भी प्रत्येक विषयको व्यक्त करके प्रकाशित करनेवाली होनेसे ज्योति है, अतः वह भी ज्योतियोंकी उपासनामें मानो 'भूः' है। 'भुवः' यह वायु है। वायुदेवता त्वक्-इन्द्रियका अधिष्ठाता है और त्वक्-इन्द्रिय स्पर्शको प्रकाशित करनेवाली ज्योति है, अतः ज्योतिविषयक उपासनामें वायु और त्वचाको 'भुवः' रूप समझना चाहिये। 'स्वः' यह सूर्य है। सूर्य चक्षु-इन्द्रियका अधिष्ठातृ-देवता है, चक्षु-इन्द्रिय भी सूर्यकी सहायतासे रूपको प्रकाशित करनेवाली ज्योति है, अतः ज्योति-विषयक उपासनामें सूर्य और चक्षु-इन्द्रियको 'स्वः' व्याहृतिस्वरूप समझना चाहिये। 'महः' यह चौथी व्याहृति ही मानो चन्द्रमा है, चन्द्रमा मनका अधिष्ठातृ-देवता है। मनकी सहायतासे मनके साथ रहनेपर ही समस्त इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयको प्रकाशित कर सकती हैं,

मनके बिना नहीं कर सकतीं, अतः सब ज्योतियोंमें प्रधान चन्द्रमा और मनको ही 'महः' व्याहृतिरूप समझना चाहिये, क्योंकि चन्द्रमासे अर्थात् मनसे ही समस्त ज्योतिरूप इन्द्रियाँ महिमान्वित होती हैं। इस प्रकार मनके रूपमें परमेश्वरकी उपासना करनेकी विधि समझायी गयी। फिर इसी भाँति वेदोंके विषयमें व्याहृतियोंके प्रयोगद्वारा परमेश्वरकी उपासनाका प्रकार बताया गया है। भाव यह है कि 'भूः' यह ऋग्वेद है, 'भुवः' यह सामवेद है, 'स्वः' यह यजुर्वेद है और 'महः' यह ब्रह्म है, क्योंकि ब्रह्मसे ही समस्त वेद महिमायुक्त होते हैं। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण वेदोंमें वर्णित समस्त ज्ञान परब्रह्म परमेश्वरसे ही प्रकट और उन्हींसे व्याप्त है तथा उन परमेश्वरके तत्त्वका इन वेदोंमें वर्णन है, इसीलिये इनकी महिमा है। इस प्रकार वेदोंमें इन व्याहृतियोंका प्रयोग करके उपासना करनी चाहिये।

भूरिति वै प्राणः भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति।

भूः='भूः', **इति**=यह व्याहृति, **वै**=ही, **प्राणः**=प्राण है, **भुवः**='भुवः', **इति**=यह, **अपानः**=अपान है, **सुवः**='स्वः', **इति**=यह, **व्यानः**=व्यान है, **महः**='महः', **इति**=यह, **अन्नम्**=अन्न है, (क्योंकि) **अन्नेन**=अन्नसे, **वाव**=ही, **सर्वे**=समस्त, **प्राणाः**=प्राण, **महीयन्ते**=महिमायुक्त होते हैं, **ताः**=वे; **वै**=ही, **एताः**=ये, **चतस्रः**=चारों व्याहृतियाँ, **चतुर्धा**=चार प्रकारकी हैं, (अतएव) **चतस्रः चतस्रः**=एक-एकके चार-चार भेद होनेसे कुल सोलह, **व्याहृतयः**=व्याहृतियाँ हैं, **ताः**=उनको, **यः**=जो, **वेद**=तत्त्वसे जानता है; **सः**=वह; **ब्रह्म**=ब्रह्मको, **वेद**=जानता है, **अस्मै**=इस ब्रह्मवेत्ताके लिये, **सर्वे**=समस्त, **देवाः**=देवता, **बलिम्**=भेंट, **आवहन्ति**=समर्पण करते हैं।

व्याख्या—उसके बाद प्राणोंके विषयमें इन व्याहृतियोंका प्रयोग करके उपासनाका प्रकार समझाया गया है। भाव यह है कि 'भूः' यही मानो प्राण है, 'भुवः' यह अपान है, 'स्वः' यह व्यान है। इस प्रकार जगद्व्यापी समस्त प्राण ही मानो ये तीनों व्याहृतियाँ हैं और अन्न 'महः' रूप चतुर्थ व्याहृति है; क्योंकि जिस प्रकार व्याहृतियोंमें 'महः' प्रधान है, उसी प्रकार समस्त प्राणोंका पोषण करके उनकी महिमाको बनाये रखने और बढ़ानेके कारण उनकी अपेक्षा अन्न प्रधान है, अतः प्राणोंके अन्तर्यामी परमेश्वरकी अन्नके रूपमें उपासना करनी चाहिये।

इस तरह चारों व्याहृतियोंको चार प्रकारसे प्रयुक्त करके उपासना करने-

की रीति बताकर फिर उसे समझकर उपासना करनेका फल बताया गया है। भाव यह कि चार प्रकारसे प्रयुक्त इन चारों व्याहृतियोंकी उपासनाके भेदको जो कोई जान लेता है, अर्थात् समझकर उसके अनुसार परब्रह्म परमात्माकी उपासना करता है, वह ब्रह्मको जान लेता है और समस्त देव उसको भेंट समर्पण करते हैं—उसे परमेश्वरका प्यारा समझकर उसका आदर-सत्कार करते हैं।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः।

सः=वह (पहले बताया हुआ), यः=जो; एषः=यह, अन्तर्हृदये=हृदयके भीतर, आकाशः=आकाश है, तस्मिन्=उसमें, अयम्=यह, हिरण्मयः=विशुद्ध प्रकाशस्वरूप, अमृतः=अविनाशी, मनोमयः=मनोमय, पुरुषः=पुरुष (परमेश्वर) रहता है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें चार बातें कही गयी हैं, उनका पूर्व अनुवाकमें बतलाये हुए उपदेशसे अलग-अलग सम्बन्ध है और उस उपदेशकी पूर्तिके लिये ही यह आरम्भ किया गया है, ऐसा अनुमान होता है।

पूर्व अनुवाकमें मनके अधिष्ठातृ-देवता चन्द्रमाको इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंका प्रकाशक बताया गया है और उसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेकी युक्ति समझायी गयी है, वे मनोमय परब्रह्म—सबके अन्तर्यामी पुरुष कहाँ हैं, उनकी उपलब्धि कहाँ होती है—यह बात इस अनुवाकके पहले अंशमें समझायी गयी है। अनुवाकके इस अंशका अभिप्राय यह है कि पहले बतलाया हुआ जो यह हृदयके भीतर अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला आकाश है, उसीमें ये विशुद्ध प्रकाशस्वरूप अविनाशी मनोमय अन्तर्यामी परम पुरुष परमेश्वर विराजमान हैं, वहीं उनका साक्षात्कार हो जाता है, उन्हें पानेके लिये कहीं दूसरी जगह नहीं जाना पड़ता।

अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ। सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि।

अन्तरेण तालुके=दोनों तालुओंके बीचमें: **यः**=जो, **एषः**=यह, **स्तनः इव**=स्तनके सदृश, **अवलम्बते**=लटक रहा है, [**तम् अपि अन्तरेण**]=उसके भी भीतर, **यत्र**=जहाँ, **असौ**=वह, **केशान्तः**=केशोंका मूलस्थान (ब्रह्मरन्ध्र), **विवर्तते**=स्थित है, (वहाँ) **शीर्षकपाले**=सिरके दोनों कपालोंको, **व्यपोह्य**=भेदन करके, [**विनिःसृता या**]=निकली हुई जो सुषुम्णा नाड़ी है, **सा**=वह, **इन्द्रयोनिः**=इन्द्रयोनि (परमात्माकी प्राप्तिका द्वार) है, (अन्तकालमें साधक) **भूः इति**='भूः' इस व्याहृतिके अर्थरूप, **अग्नौ**=अग्निमें, **प्रतितिष्ठति**=प्रतिष्ठित होता है, **भुवः इति**='भुवः' इस व्याहृतिके अर्थरूप, **वायौ**=वायुदेवतामें स्थित होता है, (फिर) **सुवः इति**='स्वः' इस व्याहृतिके अर्थरूप, **आदित्ये**=सूर्यमें स्थित होता है, (उसके बाद) **महः इति**='महः' इस व्याहृतिके अर्थस्वरूप, **ब्रह्मणि**=ब्रह्ममें स्थित होता है।

व्याख्या—उन परब्रह्म परमेश्वरको अपने हृदयमें प्रत्यक्ष देखनेवाला महापुरुष इस शरीरका त्याग करके जब जाता है, तब किस प्रकार किस मार्गसे बाहर निकलकर किस क्रमसे भूः, भुवः और स्वःरूप समस्त लोकोंमें परिपूर्ण सबके आत्मरूप परमेश्वरमें स्थित होता है—यह बात इस अनुवाकके दूसरे अंशमें समझायी गयी है। भाव यह है कि मनुष्योंके मुखमें तालुओंके बीचोबीच जो एक थनके आकारका मांस-पिण्ड लटकता है, जिसे बोलचालकी भाषामें 'घाँटी' कहते हैं, उसके आगे केशोंका मूलस्थान ब्रह्मरन्ध्र है, वहाँ हृदय-देशसे निकलकर घाँटीके भीतरसे होती हुई दोनों कपालोंको भेदकर गयी हुई जो सुषुम्णा नामसे प्रसिद्ध नाडी है, वही उन इन्द्र नामसे कहे जानेवाले परमेश्वरकी प्राप्तिका द्वार है। अन्तकालमें वह महापुरुष उस मार्गसे शरीरके बाहर निकलकर 'भूः' इस नामसे अभिहित अग्निमें स्थित होता है। गीतामें भी यही बात कही गयी है कि ब्रह्मवेत्ता जब ब्रह्मलोकमें जाता है, तब वह सर्वप्रथम ज्योतिर्मय अग्निके अभिमानी देवताके अधिकारमें आता है (गीता ८। २४)। उसके बाद वायुमें स्थित होता है। अर्थात् पृथ्वीसे लेकर सूर्यलोकतक समस्त आकाशमें जिसका अधिकार है, जो सर्वत्र विचरनेवाली वायुका अभिमानी देवता है, और जो 'भुवः' नामसे पञ्चम अनुवाकमें कहा गया है, उसीके अधिकारमें वह आता है। वह देवता उसे 'स्वः' इस नामसे कहे हुए सूर्यलोकमें पहुँचा देता है, वहाँसे फिर वह 'महः' इस नामसे कहे हुए 'ब्रह्म' में स्थित हो जाता है।

आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति।

स्वाराज्यम्=(वह) स्वराज्यको, **आप्नोति**=प्राप्त कर लेता है,

मनसस्पतिम्=मनके स्वामीको, **आप्नोति**=पा लेता है, **वाक्पतिः [भवति]**=वाणीका स्वामी हो जाता है, **चक्षुष्पतिः**=नेत्रोंका स्वामी, **श्रोत्रपतिः**=कानोंका स्वामी, (और) **विज्ञानपतिः**=विज्ञानका स्वामी हो जाता है, **ततः**=उस पहले बताये हुए साधनसे, **एतत्**=यह फल, **भवति**=होता है।

व्याख्या—वह ब्रह्मलोकमें प्रतिष्ठित महापुरुष कैसा हो जाता है—यह बात इस अनुवाकके तीसरे अंशमें बतलायी गयी है। अनुवाकके इस अंशका अभिप्राय यह है कि वह स्वराट् बन जाता है। अर्थात् उसपर प्रकृतिका अधिकार नहीं रहता, अपितु वह स्वयं ही प्रकृतिका अधिष्ठाता बन जाता है, क्योंकि वह मनके अर्थात् समस्त अन्तःकरणसमुदायके स्वामी परमात्माको प्राप्त कर लेता है, इसलिये वह वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि समस्त इन्द्रियों और उनके देवताओंका तथा विज्ञानस्वरूप बुद्धिका भी स्वामी हो जाता है। अर्थात् ये सब उसके अधीन हो जाते हैं। उस पहले बताये हुए साधनसे यह उपर्युक्त फल मिलता है।

आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मनआनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व।

ब्रह्म=वह ब्रह्म, **आकाशशरीरम्**=आकाशके सदृश शरीरवाला, **सत्यात्म**=सत्तारूप, **प्राणारामम्**=इन्द्रियादि समस्त प्राणोंको विश्राम देनेवाला, **मनआनन्दम्**=मनको आनन्द देनेवाला, **शान्तिसमृद्धम्**=शान्तिसे सम्पन्न, (तथा) **अमृतम्**=अविनाशी है, **इति**=यों मानकर, **प्राचीनयोग्य**=हे प्राचीन-योग्य, **उपास्स्व**=तू उसकी उपासना कर।

व्याख्या—वे प्राप्तव्य ब्रह्म कैसे हैं, उनका किस प्रकार चिन्तन और ध्यान करना चाहिये—यह बात इस अनुवाकके चौथे अंशमें बतायी गयी है। अभिप्राय यह है कि वे ब्रह्म आकाशके सदृश निराकार, सर्वव्यापी और अतिशय सूक्ष्म शरीरवाले हैं। एकमात्र सत्तारूप हैं। समस्त इन्द्रियोंको विश्राम देनेवाले और मनके लिये परम आनन्ददायक हैं। अखण्ड शान्तिके भंडार हैं और सर्वथा अविनाशी हैं। परम विश्वासके साथ यों मानकर साधकको उनकी प्राप्तिके लिये उनके चिन्तन और ध्यानमें तत्परताके साथ लग जाना चाहिये, यह भाव दिखलानेके लिये अन्तमें श्रुतिकी वाणीमें ऋषि अपने शिष्यसे कहते हैं—'हे प्राचीनयोग्य ![*] तू उन ब्रह्मका स्वरूप इस प्रकारका मानकर उनकी उपासना कर।'

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

* पहलेसे ही जिसमें ब्रह्मप्राप्तिकी योग्यता हो, वह 'प्राचीनयोग्य' है। अथवा यह शिष्यका नाम है।

सप्तम अनुवाक

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । चर्म माꣳसꣳस्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इदꣳसर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳस्पृणोतीति ।

पृथिवी=पृथ्वीलोक, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक, **द्यौः**=स्वर्गलोक, **दिशः**=दिशाएँ, **अवान्तरदिशः**=अवान्तर दिशाएँ—दिशाओंके बीचके कोण (यह पाँच लोकोंकी पङ्क्ति है), **अग्निः**=अग्नि, **वायुः**=वायु, **आदित्यः**=सूर्य, **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा, **नक्षत्राणि**=(तथा) समस्त नक्षत्र (यह पाँच ज्योतिःसमुदायकी पङ्क्ति है), **आपः**=जल, **ओषधयः**=ओषधियाँ, **वनस्पतयः**=वनस्पतियाँ; **आकाशः**=आकाश, **आत्मा**=(तथा) इनका संघातस्वरूप अन्नमय स्थूलशरीर (ये पाँचो मिलकर स्थूल पदार्थोंकी पङ्क्ति है); **इति**=यह, **अधिभूतम्**=आधिभौतिक दृष्टिसे वर्णन हुआ, **अथ**=अब; **अध्यात्मम्**=आध्यात्मिक दृष्टिसे बतलाते हैं, **प्राणः**=प्राण, **व्यानः**=व्यान, **अपानः**=अपान, **उदानः**=उदान, (और) **समानः**=समान (यह पाँचों प्राणोंकी पङ्क्ति है), **चक्षुः**=नेत्र, **श्रोत्रम्**=कान, **मनः**=मन, **वाक्**=वाणी, (और) **त्वक्**=त्वचा, (यह पाँचों करणोंकी पङ्क्ति है), **चर्म**=चर्म, **मांसम्**=मांस, **स्नावा**=नाडी, **अस्थि**=हड्डी, (और) **मज्जा**=मज्जा (यह पाँच शरीरगत धातुओंकी पङ्क्ति है), **एतत्**=यह (इस प्रकार), **अधिविधाय**=सम्यक् कल्पना करके, **ऋषिः**=ऋषिने, **अवोचत्**=कहा, **इदम्**=यह, **सर्वम्**=सब, **वै**=निश्चय ही, **पाङ्क्तम्**=पाङ्क्त है,* **पाङ्क्तेन एव पाङ्क्तम्**=(साधक) इस आध्यात्मिक पाङ्क्तसे ही बाह्य पाङ्क्तको और बाह्यसे अध्यात्म पाङ्क्तको, **स्पृणोति इति**=पूर्ण करता है ।

व्याख्या—इस अनुवाकके दो भाग हैं । पहले भागमें मुख्य-मुख्य आधिभौतिक पदार्थोंको लोक, ज्योति और स्थूल-पदार्थ—इन तीन पङ्क्तियोंमें विभक्त करके उनका वर्णन किया है और दूसरे भागमें मुख्य-मुख्य आध्यात्मिक (शरीरस्थित) पदार्थोंको प्राण, करण और धातु—इन तीन पङ्क्तियोंमें विभक्त करके उनका वर्णन किया है । अन्तमें उनका उपयोग करनेकी युक्ति बतायी गयी है ।

---

* पङ्क्तियोंके समूहको ही 'पाङ्क्त' कहते हैं ।

भाव यह है कि पृथ्वीलोक, अन्तरिक्षलोक, स्वर्गलोक, पूर्व-पश्चिम आदि दिशाएँ और आग्नेय, नैर्ऋत्य आदि अवान्तर दिशाएँ—इस प्रकार यह लोकोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र—इस प्रकार यह ज्योतियोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। तथा जल, ओषधियाँ, वनस्पति, आकाश और पाञ्चभौतिक स्थूलशरीर—इस प्रकार यह स्थूल जड-पदार्थोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है। यह सब मिलकर आधिभौतिक पाङ्क्त अर्थात् भौतिक पङ्क्तियोंका समूह है। इसी प्रकार यह आगे बताया हुआ आध्यात्मिक—शरीरके भीतर रहनेवाला पाङ्क्त है। इसमें प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान—इस प्रकार यह प्राणोंकी पङ्क्ति है। नेत्र, कान, मन, वाणी और त्वचा—इस प्रकार यह करण-समुदायकी पङ्क्ति है। तथा चर्म, मांस, नाड़ी, हड्डी और मज्जा—इस प्रकार यह शरीरगत धातुओंकी पङ्क्ति है। इस प्रकार प्रधान-प्रधान आधिभौतिक और आध्यात्मिक पदार्थोंकी त्रिविध पङ्क्तियाँ बनाकर वर्णन करना यहाँ उपलक्षणरूपमें है, अतः शेष पदार्थोंको भी इनके अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। इस प्रकार वर्णन करनेके बाद श्रुति कहती है कि ये पङ्क्तियोंमें विभक्त करके बताये हुए पदार्थ सब-के-सब पङ्क्तियोंके समुदाय हैं। इनका आपसमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस रहस्यको समझकर अर्थात् किस आधिभौतिक पदार्थके साथ किस आध्यात्मिक पदार्थका क्या सम्बन्ध है, इस बातको भलीभाँति समझकर मनुष्य आध्यात्मिक शक्तिसे भौतिक पदार्थोंका विकास कर लेता है और भौतिक पदार्थोंसे आध्यात्मिक शक्तियोंकी उन्नति कर लेता है।

पहली आधिभौतिक लोकसम्बन्धी पङ्क्तिसे चौथी प्राण-समुदायरूप आध्यात्मिक पङ्क्तिका सम्बन्ध है, क्योंकि एक लोकसे दूसरे लोकको सम्बद्ध करनेमें प्राणोंकी ही प्रधानता है—यह बात संहिता-प्रकरणमें पहले बता आये हैं। दूसरी ज्योतिविषयक आधिभौतिक पङ्क्तिसे पाँचवीं करण-समुदायरूप आध्यात्मिक पङ्क्तिका सम्बन्ध है, क्योंकि वे आधिभौतिक ज्योतियाँ इन आध्यात्मिक ज्योतियोंकी सहायक हैं, यह बात शास्त्रोंमें जगह-जगह बतायी गयी है। इसी प्रकार तीसरी जो स्थूल पदार्थोंकी आधिभौतिक पङ्क्ति है, उसका छठी शरीरगत धातुओंकी आध्यात्मिक पङ्क्तिसे सम्बन्ध है, क्योंकि ओषधि और वनस्पतिरूप अन्नसे ही मांस-मज्जा आदिकी पुष्टि और वृद्धि होती है, यह प्रत्यक्ष है। इस प्रकार प्रत्येक स्थूल और सूक्ष्म तत्त्वको भलीभाँति समझकर उनका उपयोग करनेसे मनुष्य सब प्रकारकी सांसारिक उन्नति कर सकता है, यही इस वर्णनका भाव मालूम होता है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

ओमिति ब्रह्म । ओमितीद५सर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओ५शोमिति । शस्त्राणि श५सन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ।

ओम्='ओम्', **इति**=यह, **ब्रह्म**=ब्रह्म है, **ओम्**='ओम्', **इति**=ही, **इदम्**= यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला, **सर्वम्**=समस्त जगत् है, **ओम्**='ओम्', **इति**=इस प्रकारका, **एतत्**=यह अक्षर, **ह**=ही, **वै**=निःसंदेह, **अनुकृतिः**= अनुकृति (अनुमोदन) है; **स्म**=यह बात प्रसिद्ध है, **अपि**=इसके सिवा, **ओ**=हे आचार्य, **श्रावय**=मुझे सुनाइये, **इति**=यों कहनेपर, **आश्रावयन्ति**= ('ओम्' यों कहकर शिष्यको) उपदेश सुनाते हैं, **ओम्**='ओम्' (बहुत अच्छा),**इति**=इस प्रकार (स्वीकृति देकर), [**सामगाः**] सामगायक विद्वान्, **सामानि**=सामवेद-मन्त्रोंको, **गायन्ति**=गाते हैं, **ओम् शोम्**='ओम् शोम्',**इति**=यों कहकर ही, **शस्त्राणि**=शस्त्रोंको अर्थात् मन्त्रोंको, **शंसन्ति**=पढते हैं, **ओम्**= 'ओम्', **इति**=यों कहकर, **अध्वर्युः**=अध्वर्यु नामक ऋत्विक्, **प्रतिगरम् प्रतिगृणाति**=प्रतिगर मन्त्रका उच्चारण करता है, **ओम्**='ओम्', **इति**= यों कहकर; **ब्रह्मा**=ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्), **प्रसौति**=अनुमति देता है, **ओम्**= 'ओम्', **इति**=यह कहकर, **अग्निहोत्रम् अनुजानाति**=अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा देता है, **प्रवक्ष्यन्**=अध्ययन करनेके लिये उद्यत, **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण, **ओम्**, **इति**=पहले ओम्का उच्चारण करके, **आह**=कहता है, **ब्रह्म**=(मैं) वेदको, **उपाप्नवानि इति**=प्राप्त करूँ, **ब्रह्म**=(फिर यह) वेदको, **एव**=निश्चय ही; **उपाप्नोति**=प्राप्त करता है ।

व्याख्या—इस अनुवाकमें 'ॐ' इस परमेश्वरके नामके प्रति मनुष्यकी श्रद्धा और रुचि उत्पन्न करनेके लिये ॐकारकी महिमाका वर्णन किया गया है । भाव यह है कि 'ॐ' यह परब्रह्म परमात्माका नाम होनेसे साक्षात् ब्रह्म ही है, क्योंकि भगवान्का नाम भी भगवत्स्वरूप ही होता है । यह प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाला समस्त जगत् 'ॐ' है अर्थात् उस ब्रह्मका ही स्थूलरूप है । 'ॐ' यह अनुकृति अर्थात् अनुमोदनका सूचक है । अर्थात् जब किसीकी बातका अनुमोदन करना होता है, तब श्रेष्ठ पुरुष परमेश्वरके नामस्वरूप इस ॐकारका उच्चारण करके संकेतसे उसका अनुमोदन कर दिया करते हैं, दूसरे व्यर्थ शब्द नहीं

बोलते—यह बात प्रसिद्ध है। जब शिष्य अपने गुरुसे तथा श्रोता किसी व्याख्यानदातासे उपदेश सुनानेके लिये प्रार्थना करता है, तब गुरु और वक्ता भी 'ॐ' इस प्रकार कहकर ही उपदेश सुनाना आरम्भ करते हैं। सामवेदका गान करनेवाले भी 'ॐ' इस प्रकार पहले परमेश्वरके नामका भलीभाँति गान करके उसके बाद सामवेदका गान किया करते हैं। यज्ञकर्ममें शस्त्र-शंसनरूप कर्म करनेवाले होता नामक ऋत्विक् 'ओम् शोम्' इस प्रकार कहकर ही शस्त्रोंका अर्थात् तद्विषयक मन्त्रोंका पाठ करते हैं। यज्ञकर्म करानेवाला अध्वर्यु नामक ऋत्विक् भी 'ॐ' इस परमेश्वरके नामका उच्चारण करके ही प्रतिगर-मन्त्रका उच्चारण करता है। ब्रह्मा (चौथा ऋत्विक्) भी 'ॐ' इस प्रकार परमात्माके नामका उच्चारण करके यज्ञकर्म करनेके लिये अनुमति देता है, तथा 'ॐ' यों कहकर ही अग्निहोत्र करनेकी आज्ञा देता है। अध्ययन करनेके लिये उद्यत ब्राह्मण ब्रह्मचारी भी 'ॐ' इस प्रकार परमेश्वरके नामका पहले उच्चारण करके कहता है कि 'मैं वेदको भली प्रकार पढ़ सकूँ।' अर्थात् ॐकार जिसका नाम है, उस परमेश्वरसे ॐकारके उच्चारणपूर्वक यह प्रार्थना करता है कि 'मैं वेदको—वैदिक ज्ञानको प्राप्त कर लूँ—ऐसी बुद्धि दीजिये।' इसके फलस्वरूप वह वेदको निःसंदेह प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार इस मन्त्रमें ॐकारकी महिमाका वर्णन है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।

ऋतम्=यथायोग्य सदाचारका पालन; च=और; स्वाध्यायप्रवचने च=शास्त्रका पढ़ना-पढ़ाना भी (यह सब अवश्य करना चाहिये); सत्यम्=सत्य-

भाषण, च=और, स्वाध्यायप्रवचने च=वेदोंका पढना-पढाना भी (साथ-साथ करना चाहिये), तपः=तपश्चर्या, च=और, स्वाध्यायप्रवचने च=वेदोंका पढना-पढाना भी (साथ-साथ करना चाहिये), दमः=इन्द्रियोंका दमन, च= और, स्वाध्यायप्रवचने च=वेदोंका पढना-पढाना भी (साथ-साथ करना चाहिये), शमः=मनका निग्रह, च=और, स्वाध्यायप्रवचने च=वेदोंका पढना-पढाना भी (साथ-साथ करना चाहिये), अग्नयः=अग्नियोंका चयन, च=और, स्वाध्यायप्रवचने च=वेदोंका पढना-पढाना भी (साथ-साथ करना चाहिये), अग्निहोत्रम्=अग्निहोत्र, च=और, स्वाध्यायप्रवचने च=वेदोंका पढना-पढाना भी (साथ-साथ करना चाहिये), अतिथयः=अतिथियोंकी सेवा, च=और, स्वाध्याय-प्रवचने च=वेदोंका पढना-पढाना भी (साथ-साथ करना चाहिये), मानुषम्= मनुष्योचित लौकिक व्यवहार, च=और, स्वाध्यायप्रवचने च=वेदोंका पढना-पढाना भी (साथ-साथ करना चाहिये), प्रजा=गर्भाधानसंस्काररूप कर्म, च= और, स्वाध्यायप्रवचने च=वेदोंका पढना-पढाना भी (करना चाहिये), प्रजनः=शास्त्रविधिके अनुसार स्त्रीसहवास, च=और, स्वाध्यायप्रवचने च= वेदोंका पढना-पढाना भी (करना चाहिये), प्रजातिः=कुटुम्बवृद्धिका कर्म, च= और, स्वाध्यायप्रवचने च=शास्त्रका पढना-पढाना भी (करना चाहिये), सत्यम्=सत्य ही इनमें श्रेष्ठ है, इति=यों, राथीतरः=रथीतरका पुत्र, सत्यवचाः=सत्यवचा ऋषि कहते हैं, तपः=तप ही सर्वश्रेष्ठ है, इति=यों, पौरुशिष्टिः=पुरुशिष्टका पुत्र, तपोनित्यः=तपोनित्य नामक ऋषि कहते हैं, स्वाध्यायप्रवचने एव=वेदका पढना-पढाना ही सर्वश्रेष्ठ है, इति=यों, मौद्गल्यः= मुद्गलके पुत्र; नाकः='नाक' मुनि कहते हैं, हि=क्योंकि, तत्=वही, तपः=तप है, तत् हि=वही,तपः=तप है ।

व्याख्या—इस अनुवाकमें यह बात समझायी गयी है कि अध्ययन और अध्यापन करनेवालोंको अध्ययन-अध्यापनके साथ-साथ शास्त्रोंमें बताये हुए मार्गपर स्वयं चलना भी चाहिये । यही बात उपदेशक और उपदेश सुननेवालोंके विषयमें भी समझनी चाहिये । अभिप्राय यह है कि अध्ययन और अध्यापन दोनों बहुत ही उपयोगी हैं, शास्त्रोंके अध्ययनसे ही मनुष्यको अपने कर्तव्यका तथा उसकी विधि और फलका ज्ञान होता है, अतः इसे करते हुए ही उसके साथ-साथ यथा-योग्य सदाचारका पालन, सत्यभाषण, स्वधर्मं पालनके लिये बड़े-से-बड़ा कष्ट सहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, मनको वशमें रखना, अग्निहोत्रके लिये अग्निको प्रदीप्त करना, फिर उसमें हवन करना, अतिथिकी यथायोग्य सेवा करना, सबके साथ सुन्दर मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना, शास्त्रविधिके अनुसार गर्भाधान करना और ऋतुकालमें नियमितरूपसे स्त्री-सहवास करना तथा कुटुम्बको बढानेका

उपाय करना—इस प्रकार इन सभी श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। अध्यापक तथा उपदेशकके लिये तो इन सब कर्तव्योंका समुचित पालन और भी आवश्यक है, क्योंकि उनके आदर्शका अनुकरण उनके छात्र तथा श्रोता ग्रहण करते हैं। रथीतरके पुत्र सत्यवचा नामक ऋषिका कहना है कि 'इन सब कर्मोंमें सत्य ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि प्रत्येक कर्म सत्यभाषण और सत्यभावपूर्वक किये जानेपर ही यथार्थरूपसे सम्पन्न होता है।' पुरुशिष्टपुत्र तपोनित्य नामक ऋषिका कहना है कि 'तपश्चर्या ही सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि तपसे ही सत्यभाषण आदि समस्त धर्मोंके पालन करनेकी और उनमें दृढतापूर्वक स्थित रहनेकी शक्ति आती है। मुद्गलके पुत्र नाक नामक मुनिका कहना है कि 'वेद और धर्मशास्त्रोंका पठन-पाठन ही सर्वश्रेष्ठ है; क्योंकि वही तप है, वही तप है। अर्थात् इन्हींसे तप आदि समस्त धर्मोंका ज्ञान होता है। इन सभी ऋषियोंका कहना यथार्थ है। उनके कथनको उद्धृत करके यह भाव दिखाया गया है कि प्रत्येक कर्ममें इन तीनोंकी प्रधानता रहनी चाहिये। जो कुछ कर्म किया जाय, वह पठन-पाठनसे उपलब्ध शास्त्रज्ञानके अनुकूल होना चाहिये। कितने ही विघ्न क्यों न उपस्थित हों, अपने कर्तव्य-पालनरूप तपमें सदा दृढ रहना चाहिये और प्रत्येक क्रियामें सत्यभाव और सत्यभाषणपर विशेष ध्यान देना चाहिये।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥

दशम अनुवाक

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणꣳ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्।

अहम्=मैं, वृक्षस्य=संसारवृक्षका, रेरिवा=उच्छेद करनेवाला हूँ, [मम] कीर्तिः=मेरी कीर्ति, गिरेः=पर्वतके; पृष्ठम् इव=शिखरकी भाँति उन्नत है, वाजिनि=अन्नोत्पादक शक्तिसे युक्त सूर्यमें, स्वमृतम् इव=जैसे उत्तम अमृत है, उसी प्रकार मैं भी, ऊर्ध्वपवित्रः अस्मि=अतिशय पवित्र अमृतस्वरूप हूँ, (तथा मैं) सवर्चसम्=प्रकाशयुक्त, द्रविणम्=धनका भंडार हूँ, अमृतोक्षितः=(परमानन्दमय) अमृतसे अभिषिञ्चित (तथा), सुमेधाः=श्रेष्ठ बुद्धि-वाला हूँ, इति=इस प्रकार (यह), त्रिशङ्कोः=त्रिशङ्कु ऋषिका, वेदानुवचनम्=अनुभव किया हुआ वैदिक प्रवचन है।

व्याख्या—त्रिशङ्कु नामक ऋषिने परमात्माको प्राप्त होकर जो अपना

अनुभव व्यक्त किया था, उसे ही इस अनुवाकमें उद्धृत किया गया है। त्रिशङ्कुके वचनानुसार अपने अन्तःकरणमें भावना करना भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन है, यही बतानेके लिये इस अनुवाकका आरम्भ हुआ है। श्रुतिका भावार्थ यह है कि मैं प्रवाहरूपमें अनादिकालसे चले आते हुए इस जन्म-मृत्युरूप संसारवृक्षका उच्छेद करनेवाला हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। इसके बाद मेरा पुनः जन्म नहीं होनेका। मेरी कीर्ति पर्वत-शिखरकी भाँति उन्नत एवं विशाल है। अन्नोत्पादक शक्तिसे युक्त सूर्यमें जैसे उत्तम अमृतका निवास है, उसी प्रकार मैं भी विशुद्ध—रोग-दोष आदिसे सर्वथा मुक्त हूँ, अमृतस्वरूप हूँ। इसके सिवा मैं प्रकाशयुक्त धनका भंडार हूँ, परमानन्दरूप अमृतमें निमग्न और श्रेष्ठ धारणायुक्त बुद्धिसे सम्पन्न हूँ। इस प्रकार यह त्रिशङ्कु ऋषिका वेदानुवचन है अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिके बाद व्यक्त किया हुआ आत्माका उद्गार है।

मनुष्य जिस प्रकारकी भावना करता है, वैसा ही बन जाता है, उसके संकल्पमें यह अपूर्व—आश्चर्यजनक शक्ति है। अतः जो मनुष्य अपनेमें उपर्युक्त भावनाका अभ्यास करेगा, वह निश्चय वैसा ही बन जायगा। परंतु इस साधनमें पूर्ण सावधानीकी आवश्यकता है। यदि भावनाके अनुसार गुण न आकर अभिमान आ गया तो पतन भी हो सकता है। यदि इस वेदानुवचनके रहस्यको ठीक समझकर इसकी भावना की जाय तो अभिमानकी आशङ्का भी नहीं की जा सकती।

॥ दशम अनुवाक समाप्त ॥ १० ॥

एकादश अनुवाक

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।

वेदम् अनूच्य=वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर, **आचार्यः**=आचार्य, **अन्तेवासिनम्**=अपने आश्रममें रहनेवाले ब्रह्मचारी विद्यार्थीको, **अनुशास्ति**=शिक्षा देता है, **सत्यम् वद**=तुम सत्य बोलो, **धर्मम् चर**=धर्मका आचरण करो, **स्वाध्यायात्**=स्वाध्यायसे, **मा प्रमदः**=कभी न चूको; **आचार्याय**=

आचार्यके लिये; प्रियम् धनम्=दक्षिणाके रूपमें वाञ्छित धन, आहृत्य=लाकर (दो, फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करके), प्रजातन्तुम्=संतान-परम्पराको (चालू रक्खो, उसका), मा व्यवच्छेत्सीः=उच्छेद न करना; सत्यात्=(तुमको) सत्यसे, न प्रमदितव्यम्=कभी नहीं डिगना चाहिये, धर्मात्=धर्मसे, न=नहीं, प्रमदितव्यम्=डिगना चाहिये, कुशलात्=शुभ कर्मोंसे, न प्रमदितव्यम्=कभी नहीं चूकना चाहिये, भूत्यै=उन्नतिके साधनोंसे, न प्रमदितव्यम्=कभी नहीं चूकना चाहिये, स्वाध्यायप्रवचनाभ्याम्=वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें, न प्रमदितव्यम्=कभी भूल नहीं करनी चाहिये, देवपितृकार्याभ्याम्=देवकार्यसे और पितृकार्यसे, न प्रमदितव्यम्=कभी नहीं चूकना चाहिये।

व्याख्या—गृहस्थको अपना जीवन कैसा बनाना चाहिये, यह बात समझानेके लिये इस अनुवाकका आरम्भ किया गया है। आचार्य शिष्यको वेदका भलीभाँति अध्ययन कराकर समावर्तन संस्कारके समय गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके गृहस्थ-धर्मका पालन करनेकी शिक्षा देते हैं—'पुत्र ! तुम सदा सत्य-भाषण करना, आपत्ति पड़नेपर भी झूठका कदापि आश्रय न लेना, अपने वर्ण-आश्रमके अनुकूल शास्त्रसम्मत धर्मका अनुष्ठान करना, स्वाध्यायसे अर्थात् वेदोंके अभ्यास, संध्या-वन्दन, गायत्रीजप और भगवन्नाम-गुणकीर्तन आदि नित्यकर्ममें कभी भी प्रमाद न करना—अर्थात् न तो कभी उन्हें, अनादरपूर्वक करना और न आलस्यवश उनका त्याग ही करना। गुरुके लिये दक्षिणाके रूपमें उनकी रुचिके अनुरूप धन लाकर प्रेमपूर्वक देना, फिर उनकी आज्ञासे गृहस्थाश्रममें प्रवेश करके स्वधर्मका पालन करते हुए संतान-परम्पराको सुरक्षित रखना—उसका लोप न करना। अर्थात् शास्त्रविधिके अनुसार विवाहित धर्मपत्नीके साथ ऋतुकालमें नियमित सहवास करके संतानोत्पत्तिका कार्य अनासक्तिपूर्वक करना। तुमको कभी भी सत्यसे नहीं चूकना चाहिये अर्थात् हँसी-दिल्लगी या व्यर्थकी बातोंमें वाणीकी शक्तिको न तो नष्ट करना चाहिये और न परिहास आदिके बहाने कभी झूठ ही बोलना चाहिये। इसी प्रकार धर्मपालनमें भी भूल नहीं करना चाहिये अर्थात् कोई बहाना बनाकर या आलस्यवश कभी धर्मकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। लौकिक और शास्त्रीय—जितने भी कर्तव्यरूपसे प्राप्त शुभ कर्म हैं, उनका कभी त्याग या उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, अपितु यथायोग्य उनका अनुष्ठान करते रहना चाहिये। धन-सम्पत्तिको बढ़ानेवाले लौकिक उन्नतिके साधनोंके प्रति भी उदासीन नहीं होना चाहिये। इसके लिये भी वर्णाश्रमानुकूल चेष्टा करनी चाहिये। पढ़ने और पढ़ानेका जो मुख्य नियम है, उसकी कभी अवहेलना या आलस्यपूर्वक त्याग नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार अग्निहोत्र

और यज्ञादिके अनुष्ठानरूप देवकार्य तथा श्राद्ध-तर्पण आदि पितृकार्योंके सम्पादनमें भी आलस्य या अवहेलनापूर्वक प्रमाद नहीं करना चाहिये।

मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳसुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि। नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयादेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

मातृदेवः भव=तुम मातामें देवबुद्धि करनेवाले बनो, **पितृदेवः भव**=पिताको देवरूप समझनेवाले होओ, **आचार्यदेवः भव**=आचार्यको देवरूप समझनेवाले बनो, **अतिथिदेवः भव**=अतिथिको देवतुल्य समझनेवाले होओ, **यानि**=जो-जो, **अनवद्यानि**=निर्दोष, **कर्माणि**=कर्म हैं, **तानि**=उन्हींका, **सेवितव्यानि**=तुम्हें सेवन करना चाहिये, **इतराणि**=दूसरे (दोषयुक्त) कर्मोंका; **नो**=कभी आचरण नहीं करना चाहिये, **अस्माकम्**=हमारे (आचरणोंमेंसे भी), **यानि**=जो-जो, **सुचरितानि**=अच्छे आचरण हैं, **तानि**=उनका ही, **त्वया** तुमको; **उपास्यानि**=सेवन करना चाहिये, **इतराणि**=दूसरोंका, **नो**=कभी नहीं, **ये के च**=जो कोई भी, **अस्मत्**=हमसे, **श्रेयांसः**=श्रेष्ठ (गुरुजन एवं), **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण आयें, **तेषाम्**=उनको; **त्वया**=तुम्हें, **आसनेन**=आसन-दान आदिके द्वारा सेवा करके, **प्रश्वसितव्यम्**=विश्राम देना चाहिये, **श्रद्धया देयम्**=श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिये, **अश्रद्धया**=बिना श्रद्धाके, **अदेयम्**=नहीं देना चाहिये, **श्रिया देयम्**=आर्थिक स्थितिके अनुसार देना चाहिये, **ह्रिया देयम्**=लज्जासे देना चाहिये, **भिया देयम्**=भयसे भी देना चाहिये (और), **संविदा देयम्**=(जो कुछ भी दिया जाय, वह सब) विवेकपूर्वक देना चाहिये।

व्याख्या—'पुत्र! तुम मातामें देवबुद्धि रखना, पितामें भी देवबुद्धि रखना, आचार्यमें देवबुद्धि रखना तथा अतिथिमें भी देवबुद्धि रखना। आशय यह कि इन चारोंको ईश्वरकी प्रतिमूर्ति समझकर श्रद्धा और भक्तिपूर्वक सदा इनकी आज्ञाका पालन, नमस्कार और सेवा करते रहना, इन्हें सदा अपने विनयपूर्ण व्यवहारसे प्रसन्न रखना। जगत्में जो-जो निर्दोष कर्म हैं, उन्हींका तुम्हें सेवन करना चाहिये। उनसे भिन्न जो दोषयुक्त—निषिद्ध कर्म हैं, उनका कभी भूलकर—स्वप्नमें भी आचरण नहीं करना चाहिये। हमारे—अपने

गुरुजनोंके आचार-व्यवहारमें भी जो उत्तम—शास्त्र एवं शिष्ट पुरुषोंद्वारा अनुमोदित आचरण हैं, जिनके विषयमें किसी प्रकारकी शङ्काको स्थान नहीं है, उन्हींका तुम्हें अनुकरण करना चाहिये, उन्हींका सेवन करना चाहिये। जिनके विषयमें ज़रा-सी भी शङ्का हो, उनका अनुकरण कभी नहीं करना चाहिये। जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ—वय, विद्या, तप, आचरण आदिमें बड़े तथा ब्राह्मण आदि पूज्य पुरुष घरपर पधारें, उनको पाद्य, अर्घ्य, आसन आदि प्रदान करके सब प्रकारसे उनका सम्मान तथा यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। अपनी शक्तिके अनुसार दान करनेके लिये तुम्हें सदा उदारतापूर्वक तत्पर रहना चाहिये। जो कुछ भी दिया जाय, वह श्रद्धापूर्वक देना चाहिये। अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये, क्योंकि बिना श्रद्धाके किये हुए दान आदि कर्म असत् माने गये हैं (गीता १७। २७)। लज्जापूर्वक देना चाहिये अर्थात् सारा धन भगवान्‌का है, मैं यदि इसे अपना मानूँ तो यह अपराध है। इसे सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित भगवान्‌की सेवामें ही लगाना मेरा कर्तव्य है। मैं जो कुछ दे रहा हूँ, वह भी बहुत कम है। यों सोचकर सकोचका अनुभव करते हुए देना चाहिये। मनमें दानीपनके अभिमानको नहीं आने देना चाहिये। सर्वत्र और सबमें भगवान् हैं, अतः दान लेनेवाले भी भगवान् ही हैं। उनकी बड़ी कृपा है कि मेरा दिया हुआ स्वीकार कर रहे हैं। यों विचारकर भगवान्‌से भय मानते हुए दान देना चाहिये। 'हम किसीका उपकार कर रहे हैं' ऐसी भावना मनमें लाकर अभिमान या अविनय नहीं प्रकट करना चाहिये। परंतु जो कुछ दिया जाय—वह विवेकपूर्वक, उसके परिणामको समझकर निष्कामभावसे कर्तव्य समझकर देना चाहिये (गीता १७। २०)। इस प्रकार दिया हुआ दान ही भगवान्‌की प्रीतिका—कल्याणका साधन हो सकता है। वही अक्षय फलका देनेवाला है।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम्।

अथ=इसके बाद, यदि=यदि, ते=तुमको; कर्मविचिकित्सा=कर्तव्यके निर्णय करनेमें किसी प्रकारकी शङ्का हो, वा=या ; वृत्तविचिकित्सा=सदाचारके

विषयमें कोई शङ्का, **वा**=कदाचित्, **स्यात्**=हो जाय तो, **तत्र**=वहाँ, ये=जो; **सम्मर्शिनः**=उत्तम विचारवाले, **युक्ताः**=परामर्श देनेमें कुशल, **आयुक्ताः**=कर्म और सदाचारमें पूर्णतया लगे हुए, **अलूक्षाः**=स्निग्ध स्वभाववाले, (तथा) **धर्मकामाः**=एकमात्र धर्मके ही अभिलाषी, **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण, **स्युः**=हों, **ते**=वे; **यथा**=जिस प्रकार, **तत्र**=उस कर्म और आचरणके क्षेत्रमें; **वर्तेरन्**=बर्ताव करते हों, **तत्र**=उस कर्म और आचरणके क्षेत्रमें, **तथा**=वैसे ही, **वर्तेथाः**=तुमको भी बर्ताव करना चाहिये, **अथ**=तथा यदि, **अभ्याख्यातेषु**=किसी दोषसे लाञ्छित मनुष्यों-के साथ बर्ताव करनेमें (संदेह उत्पन्न हो जाय, तो भी), **ये**=जो, **तत्र**=वहाँ, **सम्मर्शिनः**=उत्तम विचारवाले, **युक्ताः**=परामर्श देनेमें कुशल; **आयुक्ताः**=सब प्रकारसे यथायोग्य सत्कर्म और सदाचारमें भलीभाँति लगे हुए; **अलूक्षाः**=रूखेपनसे रहित, **धर्मकामाः**=धर्मके अभिलाषी, **ब्राह्मणाः**=(विद्वान्) ब्राह्मण, **स्युः**=हों, **ते**=वे; **यथा**=जिस प्रकार, **तेषु**=उनके साथ, **वर्तेरन्**=बर्ताव करें, **तेषु**=उनके साथ, **तथा**=वैसा ही, **वर्तेथाः**=तुमको भी बर्ताव करना चाहिये, **एषः आदेशः**=यह शास्त्रकी आज्ञा है, **एषः उपदेशः**=यही (गुरुजनोंका अपने शिष्यों और पुत्रोंके लिये) उपदेश है, **एषा**=यही, **वेदोपनिषत्**=वेदोंका रहस्य है; **च**=और, **एतत्**=यही, **अनुशासनम्**=परम्परागत शिक्षा है, **एवम्**=इसी प्रकार, **उपासितव्यम्**=तुमको अनुष्ठान करना चाहिये, **एवम् उ**=इसी प्रकार, **एतत्**=यह; **उपास्यम्**=अनुष्ठान करना चाहिये ।

व्याख्या—'यह सब करते हुए भी यदि तुमको किसी अवसरपर अपना कर्तव्य निश्चित करनेमें दुविधा उत्पन्न हो जाय, अपनी बुद्धिसे किसी एक निश्चय-पर पहुँचना कठिन हो जाय—तुम किंकर्तव्यविमूढ हो जाओ, तो ऐसी स्थितिमें वहाँ जो कोई उत्तम विचार रखनेवाले, उचित परामर्श देनेमें कुशल, सत्कर्म और सदाचारमें तत्परतापूर्वक लगे हुए, सबके साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करनेवाले तथा एकमात्र धर्म-पालनकी ही इच्छा रखनेवाले विद्वान् ब्राह्मण (या अन्य कोई वैसे ही महापुरुष) हों—वे जिस प्रकार ऐसे प्रसङ्गोंपर आचरण करते हों, उसी प्रकारका आचरण तुम्हें भी करना चाहिये । ऐसे स्थलोंमें उन्हींके सत्परामर्शके अनुसार उन्हींके स्थापित आदर्शका अनुगमन करना चाहिये । इसके अतिरिक्त जो मनुष्य किसी दोषके कारण लाञ्छित हो गया हो, उसके साथ किस समय कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस विषयमें भी यदि तुमको दुविधा प्राप्त हो जाय—तुम अपनी बुद्धिसे निर्णय न कर सको तो वहाँ भी जो विचारशील, परामर्श देनेमें कुशल, सत्कर्म और सदाचारमें पूर्णतया संलग्न तथा धर्मकामी (सांसारिक धनादिकी कामनासे रहित) निःस्वार्थी विद्वान् ब्राह्मण हों, वे लोग उसके साथ जैसा व्यवहार करें, वैसा ही तुमको भी करना चाहिये । उनका व्यवहार ही इस विषयमें प्रमाण है ।

'यही शास्त्रकी आज्ञा है—शास्त्रोंका निचोड़ है। यही गुरु एवं माता-पिताका अपने शिष्यों और संतानोंके प्रति उपदेश है तथा यही सम्पूर्ण वेदोंका रहस्य है। इतना ही नहीं, अनुशासन भी यही है। ईश्वरकी आज्ञा तथा परम्परागत उपदेश-का नाम अनुशासन है। इसलिये तुमको इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचारका पालन करना चाहिये। इसी प्रकार कर्तव्य एवं सदाचारका पालन करना चाहिये।'

॥ एकादश अनुवाक समाप्त ॥ ११ ॥

द्वादश अनुवाक

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः* । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋत-मवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् ।

शान्तिः ! शान्तिः ! शान्तिः !

नः=हमारे लिये; मित्रः=(दिन और प्राणके अधिष्ठाता) मित्रदेवता; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों, (तथा) **वरुणः**=(रात्रि और अपानके अधिष्ठाता) वरुण भी; **शम् [भवतु]**=कल्याणप्रद हों, **अर्यमा**=(चक्षु और सूर्यमण्डलके अधिष्ठाता) अर्यमा, **नः**=हमारे लिये; **शम् भवतु**=कल्याणमय हो; **इन्द्रः**=(बल और भुजाओंके अधिष्ठाता) इन्द्र, (तथा) **बृहस्पतिः**=(वाणी और बुद्धिके अधिष्ठाता) बृहस्पति, **नः**=हमारे लिये, **शम् [भवतु]**= शान्ति प्रदान करनेवाले हों, **उरुक्रमः**=त्रिविक्रमरूपसे विशाल डगोंवाले, **विष्णुः**= विष्णु (जो पैरोंके अधिष्ठाता हैं), **नः**=हमारे लिये, **शम् [भवतु]**=कल्याण-मय हों, **ब्रह्मणे**=(उपर्युक्त सभी देवताओंके आत्मस्वरूप) ब्रह्मके लिये; **नमः**= नमस्कार है, **वायो**=हे वायुदेव !, **ते**=तुम्हारे लिये; **नमः**=नमस्कार है, **त्वम्**= तुम, **एव**=ही; **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष (प्राणरूपसे प्रतीत होनेवाले), **ब्रह्म असि**= ब्रह्म हो, (इसलिये मैंने) **त्वाम्**=तुमको, **एव**=ही, **प्रत्यक्षम्**=प्रत्यक्ष, **ब्रह्म**= ब्रह्म, **अवादिषम्**=कहा है, **ऋतम्**=(तुम ऋतके अधिष्ठाता हो, इसलिये मैंने तुम्हें) ऋत नामसे, **अवादिषम्**=पुकारा है, **सत्यम्**=(तुम सत्यके अधिष्ठाता हो, अतः मैंने तुम्हें) सत्य नामसे, **अवादिषम्**=कहा है, **तत्**=उस (सर्व-शक्तिमान् परमेश्वरने), **माम् आवीत्**=मेरी रक्षा की है, **तत्**=उसने;

* यह मन्त्र ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ९० का नवाँ है। तथा यजु० ३६। ९ है।

वक्तारम् आवीत्=वक्ताकी—आचार्यकी रक्षा की है, **आवीत् माम्**=रक्षा की है मेरी, (और) **आवीत् वक्तारम्**=रक्षा की है मेरे आचार्यकी, **ॐ शान्तिः**=भगवान् शान्तिस्वरूप हैं, **शान्तिः**=शान्तिस्वरूप हैं, **शान्तिः**= शान्तिस्वरूप हैं ।

व्याख्या—शीक्षावल्लीके इस अन्तिम अनुवाकमें भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न-भिन्न नाम और रूपोंमें उनकी स्तुति करते हुए प्रार्थनापूर्वक कृतज्ञता प्रकट की गयी है । भाव यह है कि समस्त आधि-दैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक शक्तियोंके रूपमें तथा उनके अधिष्ठाता मित्र, वरुण आदि देवताओंके रूपमें जो सबके आत्मा अन्तर्यामी परमेश्वर हैं, वे सब प्रकारसे हमारे लिये कल्याणमय हों—हमारी उन्नतिके मार्गमें किसी प्रकारका विघ्न न आने दें । हम सबके अन्तर्यामी ब्रह्मको नमस्कार करते हैं ।

इस प्रकार परमात्मासे शान्तिकी प्रार्थना करके सूत्रात्मा प्राणके रूपमें समस्त प्राणियोंमें व्याप्त परमेश्वरकी वायुके नामसे स्तुति करते हैं—'हे सर्वशक्तिमान्, सबके प्राणस्वरूप वायुमय परमेश्वर ! आपको नमस्कार है । आप ही समस्त प्राणियोंके प्राणस्वरूप प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं, अतः मैंने आपको ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहकर पुकारा है । मैंने ऋत नामसे भी आपको ही पुकारा है, क्योंकि सारे प्राणियोंके लिये जो कल्याणकारी नियम है, उस नियमरूप ऋतके आप ही अधिष्ठाता हैं ! यही नहीं मैंने 'सत्य' नामसे भी आपको ही पुकारा है, क्योंकि सत्य—यथार्थ भाषणके अधिष्ठातृ-देवता भी आप ही हैं । उन सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वरने मुझे सत्-आचरण एवं सत्य भाषण करनेकी और सत् विद्याको ग्रहण करनेकी शक्ति प्रदान करके इस जन्म-मरणरूप संसारचक्रसे मेरी रक्षा की है । तथा मेरे आचार्यको उन सबका उपदेश देकर सर्वत्र उस सत्यका प्रचार करनेकी शक्ति प्रदान करके उनकी रक्षा—उनका भी सब प्रकारसे कल्याण किया है । यहाँ 'मेरी रक्षा की है, मेरे वक्ताकी रक्षा की है' इन वाक्योंको दुहरानेका अभिप्राय शीक्षावल्लीकी समाप्तिकी सूचना देना है ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः—इस प्रकार तीन बार 'शान्तिः' पदका उच्चारण करनेका भाव यह है कि आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक—तीनों प्रकारके विघ्नोंका सर्वथा उपशमन हो जाय । भगवान् शान्तिस्वरूप हैं । अतः उनके स्मरणसे सब प्रकारकी शान्ति निश्चित है ।

॥ द्वादश अनुवाक समाप्त ॥ १२ ॥

॥ प्रथम वल्ली समाप्त ॥ १ ॥

ॐ

ब्रह्मानन्दवल्ली

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ॐ=पूर्णब्रह्म परमात्मन्; (आप) नौ=हम दोनों (गुरु-शिष्य) की; सह=साथ-साथ, अवतु=रक्षा करें, नौ=हम दोनोंका, सह=साथ-साथ; भुनक्तु=पालन करें, सह=(हम दोनों) साथ-साथ ही, वीर्यम्=शक्ति, करवावहै=प्राप्त करें; नौ=हम दोनोंकी; अधीतम्=पढ़ी हुई विद्या, तेजस्वि=तेजोमयी; अस्तु=हो; मा विद्विषावहै=हम दोनों परस्पर द्वेष न करें ।

व्याख्या—हे परमात्मन् ! आप हम गुरु-शिष्य दोनोंकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करें, हम दोनोंका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करें, हम दोनों साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करें, हम दोनोंकी अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो—कहीं किसीसे हम विद्यामें परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहें, हमारे अंदर परस्पर कभी द्वेष न हो । हे परमात्मन् ! तीनों तापोंकी निवृत्ति हो ।

प्रथम अनुवाक

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता ।

ब्रह्मवित्=ब्रह्मज्ञानी, परम्=परब्रह्मको, आप्नोति=प्राप्त कर लेता है; तत्=उसी भावको व्यक्त करनेवाली; एषा=यह (श्रुति), अभ्युक्ता=कही गयी है ।

व्याख्या—ब्रह्मज्ञानी महात्मा परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, इसी बातको बतानेके लिये आगे आनेवाली श्रुति कही गयी है ।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति ।

ब्रह्म=ब्रह्म, सत्यम्=सत्य, ज्ञानम्=ज्ञानस्वरूप, (और) अनन्तम्=अनन्त है; यः=जो मनुष्य, परमे व्योमन्=परम विशुद्ध आकाशमें (रहते हुए भी), गुहायाम्=प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें, निहितम्=छिपे हुए (उस ब्रह्मको); वेद=जानता है; सः=वह; विपश्चिता=(उस) विज्ञान

स्वरूप, ब्रह्मणा सह=ब्रह्मके साथ, सर्वान्=समस्त, कामान् अश्नुते=भोगोंका अनुभव करता है, इति=इस प्रकार (यह ऋचा है)।

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माके स्वरूपबोधक लक्षण बताकर उनकी प्राप्तिके स्थानका वर्णन करते हुए उनकी प्राप्तिका फल बताया गया है। भाव यह है कि वे परब्रह्म परमात्मा सत्यस्वरूप हैं। 'सत्य' शब्द यहाँ नित्य सत्ताका बोधक है। अर्थात् वे परब्रह्म नित्य सत् हैं, किसी भी कालमें उनका अभाव नहीं होता। तथा वे ज्ञानस्वरूप हैं, उनमें अज्ञानका लेश भी नहीं है। और वे अनन्त हैं अर्थात् देश और कालकी सीमासे अतीत—सीमारहित हैं। वे ब्रह्म परम विशुद्ध आकाशमें रहते हुए भी सबके हृदयकी गुफामें छिपे हुए हैं। उन परब्रह्म परमात्माको जो साधक तत्त्वसे जान लेता है, वह सबको भलीभाँति जाननेवाले उन ब्रह्मके साथ रहता हुआ सब प्रकारके भोगोंको अलौकिक ढंगसे अनुभव करता है*।

सम्बन्ध—वे परब्रह्म परमात्मा किस प्रकार कैसी गुफामें छिपे हुए हैं, उन्हें कैसे जानना चाहिये—इस जिज्ञासापर आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।

---

* इस कथनके रहस्यको समझ लेनेपर ईशावास्योपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें साधकके लिये दिये हुए उपदेशका रहस्य भी स्पष्ट हो जाता है। वहाँ कहा है कि इस ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् है, वह ईश्वरसे परिपूर्ण है, उस ईश्वरको अपने साथ रखते हुए अर्थात् निरन्तर याद रखते हुए ही त्यागपूर्वक आवश्यक विषयोंका सेवन करना चाहिये। जो उपदेश वहाँ साधकके लिये दिया गया है, वही बात यहाँ सिद्ध महात्माकी स्थिति बतानेके लिये कही गयी है। 'वह ब्रह्मके साथ सब भोगोंका अनुभव करता है' इस कथनका अभिप्राय यही है कि वह परमात्माको प्राप्त सिद्ध पुरुष इन्द्रियोंद्वारा बाह्य-विषयोंका सेवन करते हुए भी स्वयं सदा परमात्मामें ही स्थित रहता है। उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियोंके व्यवहार, उनके द्वारा होनेवाली सभी चेष्टाएँ परमात्मामें स्थित रहते हुए ही होती हैं। लोगोंके देखनेमें आवश्यकतानुसार यथायोग्य विषयोंका इन्द्रियों-द्वारा उपभोग करते समय भी वह परमात्मासे कभी एक क्षणके लिये भी अलग नहीं होता, (गीता ६। ३१) अतः सदा सभी कर्मोंसे निर्लेप रहता है। यही भाव दिखानेके लिये 'विपश्चिता ब्रह्मणा सह सर्वान् कामान् अश्नुते' कहा गया है। इस प्रकार यह श्रुति परब्रह्मके स्वरूप तथा उसके ज्ञानकी महिमाको बतानेवाली है।

तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही, **तस्मात्**=(सर्वत्र प्रसिद्ध) उस, **एतस्मात्**=इस; **आत्मनः**=परमात्मासे; (पहले-पहल) **आकाशः**=आकाश-तत्त्व, **सम्भूतः**=उत्पन्न हुआ; **आकाशात्**=आकाशसे, **वायुः**=वायु; **वायोः**=वायुसे, **अग्निः**=अग्नि, **अग्नेः**=अग्निसे, **आपः**=जल; (और) **अद्भ्यः**=जल-तत्त्वसे, **पृथिवी**=पृथ्वी-तत्त्व उत्पन्न हुआ, **पृथिव्याः**=पृथ्वीसे, **ओषधयः**=समस्त ओषधियाँ उत्पन्न हुईं, **ओषधीभ्यः**=ओषधियोंसे; **अन्नम्**=अन्न उत्पन्न हुआ, **अन्नात्**=अन्नसे ही, **पुरुषः**=(यह) मनुष्य-शरीर उत्पन्न हुआ, **सः**=वह, **एषः**=यह, **पुरुषः**=मनुष्य-शरीर; **वै**=निश्चय ही, **अन्नरसमयः**=अन्न-रसमय है; **तस्य**=उसका; **इदम्**=यह (प्रत्यक्ष दीखनेवाला सिर), **एव**=ही, **शिरः**=(पक्षीकी कल्पनामें) सिर है, **अयम्**=यह (दाहिनी भुजा) ही, **दक्षिणः पक्षः**=दाहिना पंख है, **अयम्**=यह (बायीं भुजा) ही, **उत्तरः पक्षः**=बायाँ पंख है; **अयम्**=यह (शरीरका मध्यभाग) ही, **आत्मा**=पक्षीके अङ्गोंका मध्य भाग है;* **इदम्**=यह (दोनों पैर ही), **पुच्छम् प्रतिष्ठा**=पूँछ एवं प्रतिष्ठा है, **तत् अपि**=उसीके विषयमें; **एषः**=यह (आगे कहा जानेवाला), **श्लोकः**=श्लोक; **भवति**=है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें मनुष्यके हृदयरूप गुफाका वर्णन करनेके उद्देश्यसे पहले मनुष्य-शरीरकी उत्पत्तिका प्रकार संक्षेपमें बताकर उसके अङ्गोंकी पक्षीके अङ्गोंके रूपमें कल्पना की गयी है। भाव यह है कि सबके आत्मा अन्तर्यामी परमात्मासे पहले आकाश-तत्त्व उत्पन्न हुआ। आकाशसे वायु-तत्त्व, वायुसे अग्नि-तत्त्व, अग्निसे जल-तत्त्व और जलसे पृथ्वी उत्पन्न हुई। पृथ्वीसे नाना प्रकारकी ओषधियाँ—अनाजके पौधे हुए और ओषधियोंसे मनुष्योंका आहार अन्न उत्पन्न हुआ। उस अन्नसे यह स्थूल मनुष्य-शरीररूप पुरुष उत्पन्न हुआ। अन्नके रससे बना हुआ यह जो मनुष्य-शरीरधारी पुरुष है, इसकी पक्षीके रूपमें कल्पना की गयी है। इसका जो यह प्रत्यक्ष सिर है, वही तो मानो पक्षीका सिर है, दाहिनी भुजा ही दाहिना पंख है। बायीं भुजा ही बायाँ पंख है। शरीरका मध्यभाग ही मानो उस पक्षीके शरीरका मध्यभाग है। दोनों पैर ही पूँछ एवं प्रतिष्ठा (पक्षीके पैर) हैं। अन्नकी महिमाके विषयमें यह आगे कहा जानेवाला श्लोक—मन्त्र है।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

---

* 'मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा' इस श्रुतिके अनुसार शरीरका मध्यभाग सब अङ्गोंका आत्मा है।

द्वितीय अनुवाक

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीᳪश्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्ततः । अन्नᳪहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नᳪहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति ।

पृथिवीम् श्रिताः=पृथ्वीलोकका आश्रय लेकर रहनेवाले, **याः काः च**=जो कोई भी, **प्रजाः**=प्राणी हैं (वे सब); **अन्नात्**=अन्नसे, **वै**=ही, **प्रजायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **अथो**=फिर, **अन्नेन एव**=अन्नसे ही, **जीवन्ति**=जीते हैं, **अथ**=फिर, **अन्ततः**=अन्तमें, **एनत् अपि**=इस अन्नमें ही, **यन्ति**=विलीन हो जाते हैं, **अन्नम्**=(अतः) अन्न, **हि**=ही **भूतानाम्**=सब भूतोंमें, **ज्येष्ठम्**=श्रेष्ठ है, **तस्मात्**=इसलिये (यह), **सर्वौषधम्**=सर्वौषधरूप, **उच्यते**=कहलाता है, **ये**=जो साधक, **अन्नम् ब्रह्म**=अन्नकी ब्रह्मभावसे, **उपासते**=उपासना करते हैं, **ते वै**=वे अवश्य ही, **सर्वम्**=समस्त, **अन्नम्**=अन्नको, **आप्नुवन्ति**=प्राप्त कर लेते हैं, **हि**=क्योंकि, **अन्नम्**=अन्न ही, **भूतानाम्**=भूतोंमें, **ज्येष्ठम्**=श्रेष्ठ है, **तस्मात्**=इसलिये; **सर्वौषधम्**=(यह) सर्वौषध नामसे, **उच्यते**=कहा जाता है, **अन्नात्**=अन्नसे ही, **भूतानि**=सब प्राणी, **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं, **जातानि**=उत्पन्न होकर, **अन्नेन**=अन्नसे ही, **वर्धन्ते**=बढते हैं, **तत्**=वह, **अद्यते**=(प्राणियोंद्वारा) खाया जाता है, **च**=तथा, **भूतानि**=(स्वय भी) प्राणियोंको, **अत्ति**=खाता है, **तस्मात्**=इसलिये, **अन्नम्**='अन्न', **इति**=इस नामसे, **उच्यते**=कहा जाता है ।

व्याख्या—इस मन्त्रमें अन्नकी महिमाका वर्णन किया गया है । भाव यह है कि इस पृथ्वीलोकमें निवास करनेवाले जितने भी प्राणी हैं, वे सब अन्नसे ही उत्पन्न हुए हैं—अन्नके परिणामरूप रज और वीर्यसे ही उनके शरीर बने हैं, उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे ही उनका पालन-पोषण होता है, अतः अन्नसे ही वे जीते हैं । फिर अन्तमें इस अन्नमें ही—अन्न उत्पन्न करनेवाली पृथ्वीमें ही विलीन हो जाते हैं । तात्पर्य यह कि समस्त प्राणियोंके जन्म, जीवन और मरण स्थूल शरीरके सम्बन्धसे ही होते हैं, और स्थूलशरीर अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही जीते हैं तथा अन्नके उद्गमस्थान पृथ्वीमें ही विलीन हो जाते हैं । उन शरीरोंमें रहनेवाले जो जीवात्मा हैं, वे अन्नमें विलीन नहीं होते; वे तो मृत्युकालमें प्राणोंके साथ इस शरीरसे निकलकर दूसरे शरीरोंमें चले जाते हैं ।

इस प्रकार यह अन्न समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति आदिका कारण है, इसीपर सब कुछ निर्भर करता है; इसलिये यही सबसे श्रेष्ठ है और इसीलिये यह सर्वौषधरूप कहलाता है—क्योंकि इसीसे प्राणियोंका क्षुधाजन्य संताप दूर होता है। सारे संतापोंका मूल क्षुधा है, इसलिये उसके शान्त होनेपर सारे संताप दूर हो जाते हैं। जो साधक इस अन्नकी ब्रह्मरूपमें उपासना करते हैं अर्थात् 'यह अन्न ही सर्वश्रेष्ठ है, सबसे बड़ा है' यह समझकर इसकी उपासना करते हैं, वे समस्त अन्नको प्राप्त कर लेते हैं। उन्हें यथेष्ट अन्न प्राप्त हो जाता है, अन्नका अभाव नहीं रहता। यह सर्वथा सत्य है कि यह अन्न ही सब भूतोंमें श्रेष्ठ है, इसलिये यह सर्वौषधमय कहलाता है। तथा सब प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होनेके बाद अन्नसे ही बढ़ते हैं—उनके अङ्गोंकी पुष्टि भी अन्नसे ही होती है। सब प्राणी इसको खाते हैं, तथा यह भी सब प्राणियोंको खा जाता—अपनेमें विलीन कर लेता है, इसीलिये 'अद्यते, अत्ति च इति अन्नम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार इसका नाम अन्न है।

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही, **तस्मात्**=उस, **एतस्मात्**=इस, **अन्नरसमयात्**=अन्नरसमय मनुष्यशरीरसे; **अन्यः**=भिन्न; **अन्तरः**=उसके भीतर रहनेवाला; **प्राणमयः आत्मा**=प्राणमय पुरुष है, **तेन**=उससे; **एषः**=यह, (अन्न-रसमय पुरुष), **पूर्णः**=व्याप्त है, **सः**=वह, **एषः**=यह प्राणमय आत्मा, **वै**=निश्चय ही, **पुरुषविधः एव**=पुरुषके आकारका ही है; **तस्य**=उस (अन्न-रसमय) आत्माकी, **पुरुषविधताम्**=पुरुषतुल्य आकृतिमें, **अनु**=अनुगत (व्याप्त) होनेसे ही; **अयम्**=यह, **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका है; **तस्य**=उस (प्राणमय आत्मा) का, **प्राणः**=प्राण, **एव**=ही; **शिरः**=(मानो) सिर है, **व्यानः**=व्यान; **दक्षिणः**=दाहिना, **पक्षः**=पंख है, **अपानः**=अपान; **उत्तरः**=बायाँ, **पक्षः**=पंख है; **आकाशः**=आकाश, **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है; (और) **पृथिवी**=पृथ्वी; **पुच्छम्**=पूँछ; (एवम्) **प्रतिष्ठा**=आधार है, **तत्**=उस प्राण (की महिमा) के विषयमें, **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे बताया जानेवाला, **श्लोकः भवति**=श्लोक है।

व्याख्या—द्वितीय अनुवाकके इस दूसरे अंशमें प्राणमय शरीरका वर्णन

किया गया है। भाव यह है कि पूर्वोक्त अन्नके रससे बने हुए स्थूलशरीरसे भिन्न उस स्थूलशरीरके भीतर रहनेवाला एक और शरीर है, उसका नाम 'प्राणमय' है; उस प्राणमयसे यह अन्नमय शरीर पूर्ण है । अन्नमय स्थूलशरीरकी अपेक्षा सूक्ष्म होनेके कारण प्राणमय शरीर इसके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें व्याप्त है। वह यह प्राणमय शरीर भी पुरुषके आकारका ही है । अन्नमय शरीरकी पुरुषाकारता प्रसिद्ध है, उसमें अनुगत होनेसे ही यह प्राणमय शरीर भी पुरुषाकार कहा जाता है। उसकी पक्षीके रूपमें कल्पना इस प्रकार है—प्राण ही मानो उसका सिर है, क्योंकि शरीरके अङ्गोंमें जैसे मस्तक श्रेष्ठ है, उसी प्रकार पाँचों प्राणोंमें मुख्य प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है । व्यान दाहिना पंख है । अपान बायाँ पंख है। आकाश अर्थात् आकाशमें फैले हुए वायुकी भाँति सर्वशरीरव्यापी 'समान वायु' आत्मा है, क्योंकि वही समस्त शरीरमें समानभावसे रस पहुँचाकर समस्त प्राणमय शरीरको पुष्ट करता है। इसका स्थान शरीरका मध्यभाग है तथा इसीका बाह्य आकाशसे सम्बन्ध है, यह बात प्रश्नोपनिषद्के तीसरे प्रश्नोत्तरके पाँचवें और आठवें मन्त्रोंमें कही गयी है। तथा पृथ्वी पूँछ एवं आधार है अर्थात् अपानवायुको रोककर रखनेवाली पृथ्वीकी आधिदैविक शक्ति ही इस प्राणमय पुरुषका आधार है । इसका वर्णन भी प्रश्नोपनिषद्के तीसरे प्रश्नोत्तरके आठवें मन्त्रमें ही आया है।

इस प्राणकी महिमाके विषयमें आगे कहा हुआ श्लोक—मन्त्र है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

ये=जो-जो, **देवाः**=देवता, **मनुष्याः**=मनुष्य; **च**=और, **पशवः**=पशु आदि प्राणी हैं; [**ते**]=वे, **प्राणम् अनु**=प्राणका अनुसरण करके ही, **प्राणन्ति**=चेष्टा करते अर्थात् जीवित रहते हैं; **हि**=क्योंकि, **प्राणः**=प्राण ही, **भूतानाम्**=प्राणियोंकी, **आयुः**=आयु है, **तस्मात्**=इसलिये; (यह प्राण) **सर्वायुषम्**=सबका आयु, **उच्यते**=कहलाता है, **प्राणः**=प्राण, **हि**=ही, **भूतानाम्**=प्राणियोंकी, **आयुः**=आयु—जीवन है, **तस्मात्**=इसलिये, (वह) **सर्वायुषम्**=सबका आयु; **उच्यते**=कहलाता है; **इति**=यह समझकर, **ये**=जो कोई, **प्राणम्**=प्राणस्वरूप,

ब्रह्म=ब्रह्मकी, उपासते=उपासना करते हैं, ते=वे, सर्वम् एव=निस्सन्देह समस्त, आयुः=आयुको, यन्ति=प्राप्त कर लेते हैं, तस्य=उसका, एषः एव=यही, शारीरः=शरीरमें रहनेवाला; आत्मा=अन्तरात्मा है, यः=जो, पूर्वस्य=पहलेवालेका अर्थात् अन्न रसमय शरीरका अन्तरात्मा है।

व्याख्या—तृतीय अनुवाकके इस पहले अंशमें प्राणकी महिमाका वर्णन करनेवाली श्रुतिका उल्लेख करके फिर इस प्राणमयशरीरके अन्तर्यामी परमेश्वरको लक्ष्य कराया गया है। भाव यह है कि जितने भी देवता, मनुष्य, पशु आदि शरीरधारी प्राणी हैं, वे सब प्राणके सहारे ही जी रहे हैं। प्राणके बिना किसीका भी शरीर नहीं रह सकता, क्योंकि प्राण ही सब प्राणियोंकी आयु—जीवन है, इसीलिये यह प्राण 'सर्वायुष' कहलाता है। जो साधक यह प्राणियोंकी आयु है, इसलिये यह सबका आयु—जीवन कहलाता है, यों समझकर इस प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं, वे पूर्ण आयुको प्राप्त कर लेते हैं। प्रश्नोपनिषद्में भी कहा है कि जो मनुष्य इस प्राणके तत्त्वको जान लेता है, वह स्वयं अमर हो जाता है और उसकी प्रजा नष्ट नहीं होती है (३ । ११)। जो सर्वात्मा परमेश्वर अन्नके रससे बने हुए स्थूलशरीरधारी पुरुषका अन्तरात्मा है, वही उस प्राणमय पुरुषका भी शरीरान्तर्वर्ती अन्तर्यामी आत्मा है।

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=यह निश्चय है कि, तस्मात्=उस, एतस्मात्=इस, प्राणमयात्=प्राणमय पुरुषसे, अन्यः=भिन्न, अन्तरः=उसके भीतर रहनेवाला, मनोमयः=मनोमय, आत्मा=आत्मा (पुरुष) है, तेन=उस मनोमय शरीरसे, एषः=यह प्राणमय शरीर, पूर्णः=व्याप्त है, सः=वह, एषः=यह मनोमय शरीर, वै=निश्चय ही, पुरुषविधः=पुरुषके आकारका, एव=ही है, तस्य=उसकी, पुरुषविधताम् अनु=पुरुष तुल्य आकृतिमें अनुगत (व्याप्त) होनेसे ही, अयम्=यह मनोमय शरीर, पुरुषविधः=पुरुषके आकारका है, तस्य=उस (मनोमय पुरुष) का, यजुः=यजुर्वेद, एव=ही, शिरः=(मानो) सिर है; ऋक्=ऋग्वेद, दक्षिणः=दाहिना; पक्षः=पंख है, साम=सामवेद, उत्तरः=बायाँ, पक्षः=पंख है, आदेशः=आदेश (विधिवाक्य), आत्मा=शरीरका मध्यभाग है; अथर्वाङ्गिरसः=अथर्वा

और अङ्गिरा ऋषिद्वारा देखे गये अथर्ववेदके मन्त्र ही, **पुच्छम्**=पूँछ (एव), **प्रतिष्ठा**=आधार हैं, **तत्**=उसकी महिमाके विषयमें, **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे कहा जानेवाला, **श्लोकः भवति**=श्लोक है ।

व्याख्या—इस तृतीय अनुवाकके दूसरे अंशमें मनोमय पुरुषका वर्णन किया गया है । भाव यह है कि पहले बताये हुए प्राणमय पुरुषसे भिन्न, उससे भी सूक्ष्म होनेके कारण उसके भीतर रहनेवाला दूसरा पुरुष है; उसका नाम है मनोमय । उस मनोमयसे यह प्राणमय शरीर पूर्ण है अर्थात् वह इस प्राणमय शरीरमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है । वह यह मनोमय शरीर भी पुरुषके ही आकारका है । प्राणमय पुरुषमें अनुगत होनेसे ही यह मनोमय शरीर पुरुषके समान आकारवाला है । उसकी पक्षीके रूपमें इस प्रकार कल्पना की गयी है—उस मनोमय पुरुषका मानो यजुर्वेद ही सिर है, ऋग्वेद दाहिना पंख है, सामवेद बायाँ पंख है, आदेश (विधिवाक्य) मानो शरीरका मध्यभाग है तथा अथर्वा और अङ्गिरा ऋषियोंद्वारा देखे हुए अथर्ववेदके मन्त्र ही पूँछ और आधार हैं ।

यज्ञ आदि कर्मोंमें यजुर्वेदके मन्त्रोंकी ही प्रधानता है । इसके सिवा जिनके अक्षरोंकी कोई नियत संख्या न हो तथा जिनकी पाद-पूर्तिका कोई नियत नियम न हो, ऐसे मन्त्रोंको 'यजुः' छन्दके अन्तर्गत समझा जाता है । इस नियमके अनुसार जिस किसी वैदिक वाक्य या मन्त्रके अन्तमें 'स्वाहा' पद जोड़कर अग्निमें आहुति दी जाती है, वह वाक्य या मन्त्र भी 'यजुः' ही कहलायेगा । इस प्रकार यजुर्मन्त्रोंके द्वारा ही अग्निको हविष्य अर्पित किया जाता है, इसलिये वहाँ यजुः प्रधान है । अङ्गोंमें भी सिर प्रधान है, अतः यजुर्वेदको सिर बतलाना उचित ही है । वेद मन्त्रोंके वर्ण, पद और वाक्य आदिके उच्चारणके लिये पहले मनमें ही संकल्प उठता है, अतः संकल्पात्मक वृत्तिके द्वारा मनोमय पुरुषके साथ वेद-मन्त्रोंका घनिष्ठ सम्बन्ध है । इसीलिये इन्हें मनोमय पुरुषके ही अङ्गोंमें स्थान दिया गया है । शरीरमें जो स्थान दोनों भुजाओंका है, वही स्थान मनोमय पुरुषके अङ्गोंमें ऋग्वेद और सामवेदका है । यज्ञ-यागादिमें इनके मन्त्रोंद्वारा स्तवन और गायन होता है, अतः यजुर्मन्त्रोंकी अपेक्षा ये अप्रधान हैं, फिर भी भुजाओंकी भाँति यज्ञमें विशेष सहायक हैं, अतएव इनको भुजाओंका रूप दिया गया है । आदेश (विधि) वाक्य वेदोंके भीतर हैं, अतः उन्हें ही मनोमय पुरुषके अङ्गोंका मध्यभाग बताया गया है । अथर्ववेदमें शान्तिक पौष्टिक आदि कर्मोंके साधक मन्त्र हैं, जो प्रतिष्ठाके हेतु हैं, अतः उनको पुच्छ एवं प्रतिष्ठा कहना सर्वथा युक्तिसंगत ही है । संकल्पात्मक वृत्तिके द्वारा मनोमय पुरुषका इन सबके साथ नित्य सम्बन्ध है, इसीलिये वेदमन्त्रोंको उसका अङ्ग बताया गया है—यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये ।

इस मनोमय पुरुषकी महिमाके विषयमें भी यह आगे चतुर्थ अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

यतः=जहाँसे, **मनसा सह**=मनके सहित, **वाचः**=वाणी आदि इन्द्रियाँ, **अप्राप्य**=उसे न पाकर, **निवर्तन्ते**=लौट आती हैं, [**तस्य**] **ब्रह्मणः**=उस ब्रह्मके, **आनन्दम्**=आनन्दको, **विद्वान्**=जाननेवाला पुरुष, **कदाचन**=कभी, **न बिभेति**=भय नहीं करता, **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है, **तस्य**=उस मनोमय पुरुषका भी, **एषः एव**=यही परमात्मा, **शारीरः**=शरीरान्तर्वर्ती, **आत्मा**=आत्मा है; **यः**=जो, **पूर्वस्य**=पहले बताये हुए अन्न रसमय शरीर या प्राणमय शरीरका है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाले विद्वान्‌की महिमाके साथ अर्थान्तरसे उनके मनोमय शरीरकी महिमा प्रकट की गयी है। भाव यह है कि परब्रह्म परमात्माका जो स्वरूपभूत परम आनन्द है, वहाँतक मन, वाणी आदि समस्त इन्द्रियोंके समुदायरूप मनोमय शरीरकी भी पहुँच नहीं है, परंतु ब्रह्मको पानेके लिये साधन करनेवाले मनुष्यको यह ब्रह्मके पास पहुँचानेमें विशेष सहायक है। ये मन-वाणी आदि साधनपरायण पुरुषको उन परब्रह्मके द्वारतक पहुँचाकर, उसे वहीं छोड़कर स्वयं लौट आते हैं और वह साधक उनको प्राप्त हो जाता है। ब्रह्मके आनन्दमय स्वरूपको जान लेनेवाला विद्वान् कभी भयभीत नहीं होता। इस प्रकार यह मन्त्र है।

मनोमय शरीरके भी अन्तर्यामी आत्मा वे ही परमात्मा हैं, जो पूर्वोक्त अन्न-रसमय शरीर और प्राणमय शरीरके अन्तर्यामी हैं।

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा । महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ।

वै=निश्चय ही, **तस्मात्**=उस पहले बताये हुए, **एतस्मात्**=इस

मनोमयात्=मनोमय पुरुषसे, **अन्यः**=अन्य; **अन्तरः**=इसके भीतर रहनेवाला, **आत्मा**=आत्मा, **विज्ञानमयः**=विज्ञानमय है, **तेन**=उस विज्ञानमय आत्मासे, **एषः**=यह मनोमय शरीर, **पूर्णः**=व्याप्त है, **सः**=वह, **एषः**=यह विज्ञानमय आत्मा, **वै**=निस्संदेह, **पुरुषविधः एव**=पुरुषके आकारका ही है, **तस्य**=उसकी, **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुषाकृतिमें अनुगत होनेसे ही, **अयम्**=यह विज्ञानमय आत्मा, **पुरुषविधः**=पुरुषके आकारका बताया जाता है, **तस्य**=उस विज्ञानमय आत्माका, **श्रद्धा**=श्रद्धा, **एव**=ही, **शिरः**=(मानो) सिर है, **ऋतम्**=सदाचारका निश्चय; **दक्षिणः**=दाहिना, **पक्षः**=पंख है, **सत्यम्**=सत्यभाषणका निश्चय, **उत्तरः**=बायाँ, **पक्षः**=पंख है, **योगः**=(ध्यानद्वारा परमात्मामें एकाग्रतारूप) योग ही, **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है, **महः**='महः' नामसे प्रसिद्ध परमात्मा ही; **पुच्छम्**=पुच्छ, (**एव**) **प्रतिष्ठा**=आधार है, **तत्**=उस विषयमें, **अपि**=भी; **एषः**=यह आगे कहा जानेवाला, **श्लोकः**=श्लोक, **भवति**=है ।

व्याख्या—चतुर्थ अनुवाकके इस दूसरे अंशमें विज्ञानमय पुरुषका अर्थात् विज्ञानमय शरीरके अधिष्ठाता जीवात्माका वर्णन है । भाव यह है कि पहले बताये हुए मनोमय शरीरसे भी सूक्ष्म होनेके कारण उसके भीतर रहनेवाला जो आत्मा है, वह अन्य है । वह है विज्ञानमय पुरुष अर्थात् बुद्धिरूप गुफामें निवास करनेवाला और उसमें तदाकार-सा बना हुआ जीवात्मा । उससे यह मनोमय शरीर पूर्ण है अर्थात् वह इस मनोमय शरीरमें सर्वत्र व्याप्त है । और मनोमय अपनेसे पहले-वाले प्राणमय और अन्नमयमें व्याप्त है । अतः यह विज्ञानमय जीवात्मा समस्त शरीरमें व्याप्त है । गीतामें भी यही कहा है कि जीवात्मारूप क्षेत्रज्ञ शरीररूप क्षेत्रमें सर्वत्र स्थित है (गीता १३ । ३२) । वह विज्ञानमय आत्मा भी निश्चय ही पुरुषके आकारका है । उस मनोमय पुरुषमें व्याप्त होनेसे ही वह पुरुषाकार कहा जाता है । उस विज्ञानमयके अङ्गोंकी पक्षीके रूपमें इस प्रकार कल्पना की गयी है । श्रद्धा कहते हैं बुद्धिकी निश्चित विश्वासरूप वृत्तिको, वही उस विज्ञानात्माके शरीरमें प्रधान अङ्गरूप सिर है, क्योंकि यह दृढ विश्वास ही प्रत्येक विषयमें उन्नतिका कारण है । परमात्माकी प्राप्तिमें तो सबसे पहले और सबसे अधिक इसीकी आवश्यकता है । सदाचरणका निश्चय ही इसका दाहिना पंख है, सत्य-भाषणका निश्चय ही इसका बायाँ पंख है । ध्यानद्वारा परमात्माके साथ संयुक्त रहना ही विज्ञानमय शरीरका मध्यभाग है और 'महः' नामसे प्रसिद्ध* परमात्मा पुच्छ और आधार है; क्योंकि परमात्मा ही जीवात्माका परम आश्रय है ।

---

* शिक्षावल्ली पञ्चम अनुवाकमें 'भूः', 'भुवः', 'स्वः' और 'महः'—इन चार व्याहृतियोंमें 'महः' को ब्रह्मका स्वरूप बताया गया है, अतः 'महः' व्याहृति ब्रह्मका नाम है और ब्रह्मको आत्माकी प्रतिष्ठा बतलाना सर्वथा युक्तिसंगत है ।

इस विज्ञानात्माकी महिमाके विषयमें भी यह आगे पञ्चम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति। तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य।

विज्ञानम्=विज्ञान ही, यज्ञम् तनुते=यज्ञोंका विस्तार करता है, च= और, कर्माणि अपि तनुते=कर्मोंका भी विस्तार करता है, सर्वे=सब, देवाः= इन्द्रियरूप देवता, ज्येष्ठम्=सर्वश्रेष्ठ, ब्रह्म=ब्रह्मके रूपमें, विज्ञानम् उपासते= विज्ञानकी ही सेवा करते हैं, चेत्=यदि, (कोई) विज्ञानम्=विज्ञानको, ब्रह्म=ब्रह्म-रूपमें, वेद=जानता है, (और) चेत्=यदि, तस्मात्=उससे, न प्रमाद्यति=प्रमाद नहीं करता, उस निश्चयसे कभी विचलित नहीं होता (तो), पाप्मनः= (शरीराभिमानजनित) पापसमुदायको, शरीरे=शरीरमें ही, हित्वा=छोडकर, सर्वान् कामान्=समस्त भोगोंका, समश्नुते=अनुभव करता है, इति=इस प्रकार यह श्लोक है, तस्य=उस विज्ञानमयका, एषः=यह परमात्मा, एव=ही, शारीरः=शरीरान्तर्वर्ती, आत्मा=आत्मा है, यः=जो, पूर्वस्य=पहलेवालेका है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें विज्ञानात्माकी महिमाका वर्णन और उसकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेका फल बताया गया है। भाव यह है कि यह विज्ञान अर्थात् बुद्धिके साथ तद्रूप हुआ जीवात्मा ही यज्ञोंका अर्थात् शुभ-कर्म-रूप पुण्योंका विस्तार करता है और यही अन्यान्य लौकिक कर्मोंका भी विस्तार करता है। अर्थात् जीवात्मासे ही सम्पूर्ण कर्मोंको प्रेरणा मिलती है। सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और मनरूप देवता सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मके रूपमें इस विज्ञानमय जीवात्माकी ही सेवा करते हैं, अपनी-अपनी वृत्तियोंद्वारा इसीको सुख पहुँचाते रहते हैं। यदि कोई साधक इस विज्ञानस्वरूप आत्माको ही ब्रह्म समझता है और यदि वह उस धारणासे कभी च्युत नहीं होता अर्थात् उस धारणामें भूल नहीं करता या शरीर आदिमें स्थित, एकदेशीय एवं बद्धस्वरूपमें ब्रह्मका अभिमान नहीं कर लेता तो वह अनेक जन्मोंके सञ्चित पापसमुदायको शरीरमें ही छोडकर समस्त दिव्य भोगोंका अनुभव करता है। इस प्रकार यह श्लोक है।

उस विज्ञानमयके भी अन्तर्यामी आत्मा वे ही परब्रह्म परमेश्वर हैं, जो पहलेवालोंके अर्थात् अन्न-रसमय स्थूलशरीरके, प्राणमयके और मनोमयके हैं।

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति।

वै=निश्चय ही, **तस्मात्**=उस पहले कहे हुए, **एतस्मात्**=इस, **विज्ञानमयात्**=विज्ञानमय जीवात्मासे, **अन्यः**=भिन्न, **अन्तरः**=इसके भी भीतर रहनेवाला आत्मा, **आनन्दमयः आत्मा**=आनन्दमय परमात्मा है, **तेन**=उससे, **एषः**=यह विज्ञानमय, **पूर्णः**=पूर्णतः व्याप्त है, **सः**=वह, **एषः**=यह आनन्दमय परमात्मा, **वै**=भी, **पुरुषविधः**=पुरुषके समान आकारवाला, **एव**=ही है, **तस्य**=उस विज्ञानमयकी, **पुरुषविधताम् अनु**=पुरुषाकारतामें अनुगत होनेसे ही, **अयम्**=यह (आनन्दमय परमात्मा), **पुरुषविधः**=पुरुषाकार कहा जाता है, **तस्य**=उस आनन्दमयका, **प्रियम्**=प्रिय, **एव**=ही, **शिरः**=(मानो) सिर है, **मोदः**=मोद, **दक्षिणः**=दाहिना, **पक्षः**=पंख है, **प्रमोदः**=प्रमोद, **उत्तरः**=बायाँ, **पक्षः**=पंख है, **आनन्दः**=आनन्द ही, **आत्मा**=शरीरका मध्यभाग है, **ब्रह्म**=ब्रह्म, **पुच्छम्**=पूँछ, (**एव**) **प्रतिष्ठा**=आधार है, **तत्**=उसकी महिमाके विषयमें, **अपि**=भी, **एषः**=यह, **श्लोकः भवति**=श्लोक है।

व्याख्या—पञ्चम अनुवाकके इस दूसरे अंशमें आनन्दमय परमपुरुषका वर्णन किया गया है। भाव यह है कि पहले अंशमें कहे हुए विज्ञानमय जीवात्मासे भिन्न, उसके भी भीतर रहनेवाला एक दूसरा आत्मा है, वह है आनन्दमय परमात्मा। उससे यह विज्ञानमय पुरुष व्याप्त है अर्थात् वह इसमें भी परिपूर्ण है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३। ७। २२) में भी परमात्माको जीवात्मारूप शरीरका शासन करनेवाला और उसका अन्तरात्मा बताया गया है। वे ही वास्तवमें समस्त पुरुषोंसे उत्तम होनेके कारण 'पुरुष' शब्दके अभिधेय हैं। वे विज्ञानमय पुरुषके समान आकारवाले हैं। उस विज्ञानमय पुरुषमें व्याप्त होनेके कारण ही वे पुरुषाकार कहे जाते हैं। पक्षीके रूपकमें उन आनन्दमय परमेश्वरके अङ्गोंकी कल्पना इस प्रकार की गयी है। प्रियभाव उनका सिर है। तात्पर्य यह कि आनन्दमय परमात्मा सबके प्रिय हैं। समस्त प्राणी 'आनन्द' से प्रेम करते हैं, सभी 'आनन्द' को चाहते हैं, परंतु न जाननेके कारण उन्हें पा नहीं सकते। यह 'प्रियता'

उन आनन्दमय परमात्माका एक प्रधान अंग है, अतः यही मानो उनका प्रधान अङ्ग सिर है। मोद दाहिना पख है, प्रमोद बायाँ पख है, आनन्द ही परमात्माका मध्य-अंग है तथा स्वयं ब्रह्म ही इनकी पूँछ एवं आधार हैं। परमात्मा अवयवरहित होनेके कारण उनके स्वरूप और अङ्गोंका वर्णन वास्तविकरूपसे नहीं बन सकता। फिर ऐसी कल्पना क्यों की गयी? इसका समाधान करते हुए ब्रह्मसूत्र (३ । ३ । १२ से ३ । ३ । १४ तक) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्रह्मके विषयमें ऐसी कल्पना केवल उपासनाकी सुगमताके लिये की जाती है, दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। इस प्रकरणमें विज्ञानमयका अर्थ जीवात्मा और आनन्दमयका अर्थ परमात्मा ही लेना चाहिये, यह बात ब्रह्मसूत्र (१ । १ । १२ से १९ तकके विवेचन) में युक्तियों तथा श्रुतियोंके प्रमाणोंद्वारा सिद्ध की गयी है।

इन आनन्दमय परमात्माके विषयमें भी आगे षष्ठ अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।

चेत्=यदि, (कोई) ब्रह्म=ब्रह्म, असत्=नहीं है, इति=इस प्रकार, वेद=समझता है, (तो) सः=वह, असत्=असत्, एव=ही, भवति=हो जाता है, (और) चेत्=यदि, (कोई) ब्रह्म=ब्रह्म, अस्ति=है, इति=इस प्रकार, वेद=जानता है, ततः=तो, एनम्=इसको, (ज्ञानीजन) सन्तम्=सत—सत्पुरुष, विदुः=समझते हैं, इति=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें ब्रह्मकी सत्ता माननेका और न माननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि यदि कोई मनुष्य यह समझता है या ऐसा निश्चय करता है कि 'ब्रह्म असत् है' अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर नामकी कोई चीज नहीं है, तो वह 'असत्' हो जाता है, अर्थात् स्वेच्छाचारी होकर सदाचारसे भ्रष्ट, नीच प्रकृतिका हो जाता है। और यदि कोई मनुष्य ब्रह्मके यथार्थ तत्त्वको न जानकर भी यह समझता है कि 'निस्सन्देह ब्रह्म है', अर्थात् शास्त्र और महापुरुषोंपर दृढ विश्वास होनेके कारण यदि उसके मनमें ईश्वरकी सत्तापर पूरा विश्वास हो गया है, तो ऐसे मनुष्यको ज्ञानी और महापुरुष 'सत' अर्थात् सत्पुरुष समझते हैं, क्योंकि परमात्मा-के तत्त्वज्ञानकी पहली सीढी उनकी सत्तामें विश्वास ही है। परमात्माकी सत्तामें

विश्वास बना रहे तो कभी-न-कभी किन्हीं महापुरुषकी कृपासे साधनमें लगकर मनुष्य उन्हें प्राप्त भी कर सकता है।

तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य ।

तस्य=उस (आनन्दमय) का भी, **एषः एव**=यही, **शारीरः**=शरीरान्तर्वर्ती, **आत्मा**=आत्मा है, **यः**=जो, **पूर्वस्य**=पहलेवाले (विज्ञानमय) का है।

व्याख्या—षष्ठ अनुवाकके इस दूसरे अंशमें पहलेके वर्णनानुसार आनन्दमयका अन्तरात्मा स्वयं आनन्दमयको ही बताया गया है। भाव यह है कि उन आनन्दमय ब्रह्मके वे स्वयं ही शरीरान्तर्वर्ती आत्मा हैं, क्योंकि उनमें शरीर और शरीरीका भेद नहीं है। जो पहले बताये हुए अन्न-रसमय आदि सबके अन्तर्यामी परमात्मा हैं, वे स्वयं ही अपने अन्तर्यामी हैं, उनका अन्तर्यामी कोई दूसरा नहीं है। इसीलिये इनके आगे किसी दूसरेको न बताकर उस वर्णनकी परम्पराको यहीं समाप्त कर दिया गया है।

सम्बन्ध—ऊपर कहे हुए अंशमें ब्रह्मको 'असत्' मानने और 'सत्' माननेका फल बताया गया है, उसे सुनकर प्रत्येक मनुष्यके मनमें जो प्रश्न उठ सकते हैं, उन प्रश्नोंका निर्णय करके उन ब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन करनेके लिये श्रुति स्वयं ही प्रश्न उपस्थित करती है—

अथातोऽनुप्रश्नाः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती३ । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता३ उ ।

अथ=इसके बाद, **अतः**=यहाँसे, **अनुप्रश्नाः**=अनुप्रश्न आरम्भ होते हैं, **उत**=क्या, **अविद्वान्**=ब्रह्मको न जाननेवाला, **कश्चन**=कोई पुरुष, **प्रेत्य**=मरकर, **अमुम् लोकम् गच्छति**=उस लोकमें (परलोकमें) जाता है, **आहो**=अथवा, **कश्चित्**=कोई भी, **विद्वान्**=ज्ञानी, **प्रेत्य**=मरकर, **अमुम्**=उस, **लोकम्**=लोकको, **समश्नुते**=प्राप्त होता है, **उ**=क्या ?

व्याख्या—अब यहाँसे अनुप्रश्न* आरम्भ करते हैं। पहला प्रश्न

---

* अनुप्रश्न उन प्रश्नोंको कहते हैं, जो आचार्यके उपदेशके अनन्तर किसी शिष्यके मनमें उठते हैं या जिन्हें वह उपस्थित करता है।

इस अनुवाकमें जो अनुप्रश्न पूछे गये हैं, वे दोके रूपमें तीन हैं—(१) वास्तवमें ब्रह्म है या नहीं ? (२) जब ब्रह्म आकाशकी भाँति सर्वगत तथा पक्षपातरहित—सम हैं, तब वे अविद्वान् (अपना ज्ञान न रखनेवाले) को भी प्राप्त होते हैं या नहीं ? (३)

तो यह है कि यदि ब्रह्म हैं तो उनको न जाननेवाला कोई भी मनुष्य मरनेके अनन्तर परलोकमें जाता है या नहीं ? दूसरा यह प्रश्न है कि ब्रह्मको जाननेवाला कोई भी विद्वान् मरनेके बाद परलोकको प्राप्त होता है या नहीं।

सम्बन्ध—इन प्रश्नोंके उत्तरमें श्रुति ब्रह्मके स्वरूप और शक्तिका वर्णन करती हैं तथा पहले अनुवाकमें जो संक्षेपसे सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम बताया था, उसे भी विशदरूपसे समझाया जाता है—

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदꣳसर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति।

सः=उस परमेश्वरने, अकामयत=विचार किया कि, प्रजायेय=मैं प्रकट होऊँ (और अनेक नाम-रूप धारण करके) बहु=बहुत, स्याम् इति=हो जाऊँ स=(इसके बाद) उसने, तपः अतप्यत=तप किया अर्थात् अपने सङ्कल्पका विस्तार किया, सः=उसने, तपः तप्त्वा=इस प्रकार सङ्कल्पका विस्तार करके, यत् किम् च=जो कुछ भी, इदम्=यह देखने और समझनेमें आता

यदि अविद्वान्को नहीं प्राप्त होते, तब तो सम होनेके कारण वे विद्वान्को भी नहीं प्राप्त होंगे। इसलिये यह तीसरा प्रश्न है कि विद्वान् पुरुष ब्रह्मका अनुभव करता है या नहीं ? इनके उत्तरमें ब्रह्मको सृष्टिका कारण बतलाकर अर्थतः उनकी सत्ता सिद्ध कर दी गयी। फिर 'तत् सत्यम् इत्याचक्षते ' इस वाक्यद्वारा श्रुतिने स्पष्टरूपसे भी उनकी सत्ताका प्रतिपादन कर दिया। सातवें अनुवाकमें तो और भी स्पष्ट वचन मिलता है—'को ह्येवान्यात् ? कः प्राण्यात् ? यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्।' अर्थात् यदि ये आकाशस्वरूप आनन्दमय परमात्मा न होते तो कौन जीवित रहता और कौन चेष्टा भी कर सकता ? अर्थात् प्राणियोंका जीवन और चेष्टा परमात्मापर ही निर्भर है। दूसरे प्रश्नके उत्तरमें सप्तम अनुवाकमें यह बात कही गयी है कि जबतक मनुष्य परमात्माको पूर्णतया नहीं जान लेता, उनमें थोड़ा सा भी अन्तर रख लेता है, तबतक वह जन्म-मरणके भयसे नहीं छूटता। तीसरे प्रश्नके उत्तरमें आठवें अनुवाकके उपसंहारमें श्रुति स्वयं कहती है—'स य एवंवित् ... आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति' अर्थात् 'जो इस प्रकार (परमात्माको) जानता है, वह क्रमशः अन्नमय, प्राणमय आदिको प्राप्त करता हुआ अन्तमें आनन्दमय परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है।'

है, इदम् सर्वम् असृजत=इस समस्त जगत्की रचना की, तत् सृष्ट्वा=उस जगत्की रचना करनेके अनन्तर, तत् एव=(वह स्वयं) उसीमें, अनुप्राविशत्=साथ-साथ प्रविष्ट हो गया, तत् अनुप्रविश्य=उसमें साथ-साथ प्रविष्ट होनेके बाद; (वह स्वयं ही) सत्=मूर्त, च=और, त्यत्=अमूर्त, च=भी, अभवत्=हो गया, निरुक्तम् च अनिरुक्तम्=बतानेमें आनेवाले और न आनेवाले, च=तथा, निलयनम्=आश्रय देनेवाले, च=और, अनिलयनम्=आश्रय न देनेवाले, च=तथा, विज्ञानम्=चेतनायुक्त, च=और, अविज्ञानम्=जड पदार्थ, च=तथा, सत्यम्=सत्य, च=और, अनृतम्=झूठ (इन सबके रूपमें), च=भी, सत्यम्=वह सत्यस्वरूप परमात्मा ही, अभवत्=हो गया, यत् किम् च=जो कुछ भी, इदम्=यह दिखायी देता है और अनुभवमें आता है, तत्=वह, सत्यम्=सत्य ही है, इति=इस प्रकार, आचक्षते=ज्ञानीजन कहते हैं। तत्=उस विषयमें, अपि=भी, एषः=यह, श्लोकः=श्लोक, भवति=है।

व्याख्या—सर्गके आदिमें परब्रह्म परमात्माने यह विचार किया कि मैं नानारूपमें उत्पन्न होकर बहुत हो जाऊँ। यह विचार करके उन्होंने तप किया अर्थात् जीवोंके कर्मानुसार सृष्टि उत्पन्न करनेके लिये संकल्प किया। संकल्प करके यह जो कुछ भी देखने सुनने और समझनेमें आता है, उस जड-चेतनमय समस्त जगत्की रचना की, अर्थात् इसका संकल्पमय स्वरूप बना लिया। उसके बाद स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गये। यद्यपि अपनेसे ही उत्पन्न इस जगत्में वे परमेश्वर पहलेसे ही प्रविष्ट थे,—यह जगत् जब उन्हींका स्वरूप है, तब उसमें उनका प्रविष्ट होना नहीं बनता,—तथापि जड-चेतनमय जगत्में आत्मारूपसे परिपूर्ण हुए उन परब्रह्म परमेश्वरके विशेष स्वरूप—उनके अन्तर्यामी स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये यहाँ यह बात कही गयी है कि 'इस जगत्की रचना करके वे स्वयं भी उसमें प्रविष्ट हो गये।' प्रविष्ट होनेके बाद वे मूर्त और अमूर्तरूपसे अर्थात् देखनेमें आनेवाले पृथ्वी, जल और तेज—इन भूतोंके रूपमें तथा वायु और आकाश—इन न दिखायी देनेवाले भूतोंके रूपमें प्रकट हो गये। फिर जिनका वर्णन किया जा सकता है और नहीं किया जा सकता, ऐसे विभिन्न नाना पदार्थोंके रूपमें हो गये। इसी प्रकार आश्रय देनेवाले और आश्रय न देनेवाले, चेतन और जड—इन सबके रूपमें वे एकमात्र परमेश्वर ही बहुत-से नाम और रूप धारण करके व्यक्त हो गये। वे एक सत्यस्वरूप परमात्मा ही सत्य और झूठ—इन सबके रूपमें हो गये। इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं कि 'यह जो कुछ देखने, सुनने और समझनेमें आता है, वह सब-का-सब सत्यस्वरूप परमात्मा ही है।'

इस विषयमें भी यह आगे सप्तम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति।

अग्रे=प्रकट होनेसे पहले; इदम्=यह जड-चेतनात्मक जगत्; असत्=अव्यक्तरूपमें; वै=ही; आसीत्=था; ततः=उससे, वै=ही, सत्=सत् अर्थात् नामरूपमय प्रत्यक्ष जगत्, अजायत=उत्पन्न हुआ है, तत्=उसने, आत्मानम्=अपनेको; स्वयम्=स्वयं, अकुरुत=(इस रूपमें) प्रकट किया है, तस्मात्=इसीलिये, तत्=वह; सुकृतम्='सुकृत'; उच्यते=कहा जाता है, इति=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—सूक्ष्म और स्थूलरूपमें प्रकट होनेसे पहले यह जड-चेतनमय सम्पूर्ण जगत् असत्—अर्थात् अव्यक्तरूपमें ही था, उस अव्यक्तावस्थासे ही यह सत् अर्थात् नामरूपमय प्रत्यक्ष जड-चेतनात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है। परमात्माने अपनेको स्वय ही इस जडचेतनात्मक जगत्के रूपमें बनाया है; इसीलिये उनका नाम 'सुकृत' (अपने-आप बना हुआ) है।*

यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति।

---

* गीतामें कई प्रकारसे इस जड-चेतनात्मक जगत्का अव्यक्तसे उत्पन्न होना और उसीमें लय होना बताया गया है (गीता ८। १८, ९। ७, २। २८)। परन्तु भगवान् जब स्वय अवतार लेकर लीला करनेके लिये जगत्में प्रकट होते हैं, तब उनका वह प्रकट होना अन्य जीवोंकी भाँति अव्यक्तसे व्यक्त होने अर्थात् कारणसे कार्यरूपमें परिवर्तित होनेके समान नहीं है, वह तो अलौकिक है इसलिये वहाँ भगवान्ने कहा है कि जो मुझे अव्यक्तसे व्यक्त हुआ मानते हैं, वे बुद्धिहीन हैं (७। २४), वहाँ जडतत्त्वोंका और उनके नियमोंका प्रवेश नहीं है। भगवान्के नाम, रूप, लीला, धाम—सब कुछ अप्राकृत हैं। चिन्मय हैं। उनके जन्म-कर्म दिव्य हैं। भगवान्के प्राकट्यका रहस्य बड़े-बड़े देवता और महर्षिलोग भी नहीं जानते (गीता १०। २)।

वै=निश्चय ही; **यत्**=जो, **तत्**=वह, **सुकृतम्**=सुकृत है, **सः वै**=वही, **रसः**=रस है, **हि**=क्योंकि, **अयम्**=यह (जीवात्मा), **रसम्**=इस रसको; **लब्ध्वा**=प्राप्त करके; **एव**=ही, **आनन्दी**=आनन्दयुक्त, **भवति**=होता है, **यत्**=यदि, **एषः**=यह, **आकाशः**=आकाशकी भाँति व्यापक, **आनन्दः**=आनन्दस्वरूप परमात्मा,= **न स्यात्**=न होता, **हि**=तो, **कः एव**=कौन; **अन्यात्**=जीवित रह सकता; (और) **कः**=कौन; **प्राण्यात्**=प्राणोंकी क्रिया (चेष्टा) कर सकता, **हि**=निःसंदेह, **एषः**=यह परमात्मा, **एव**=ही, **आनन्दयाति**=सबको आनन्द प्रदान करता है ।

व्याख्या—ये जो ऊपरके वर्णनमें 'सुकृत' नामसे कहे गये हैं, वे परब्रह्म परमात्मा सचमुच रसस्वरूप (आनन्दमय) हैं, ये ही वास्तविक आनन्द हैं, क्योंकि अनादिकालसे जन्म-मृत्युरूप घोर दुःखका अनुभव करनेवाला यह जीवात्मा इन रसमय परब्रह्मको पाकर ही आनन्दयुक्त होता है । जबतक इन परम प्राप्य आनन्दस्वरूप परमेश्वरसे इसका संयोग नहीं हो जाता, तबतक इसे किसी भी स्थितिमें पूर्णानन्द, नित्यानन्द, अखण्डानन्द और अनन्त आनन्द नहीं मिल सकता । इसीसे उन वास्तविक आनन्दस्वरूप परमात्माका अस्तित्व निःसंदेह सिद्ध होता है, क्योंकि यदि ये आकाशकी भाँति व्यापक आनन्दस्वरूप परमात्मा नहीं होते तो कौन जीवित रह सकता और कौन प्राणोंकी क्रिया—हिलना-डुलना आदि कर सकता ? अर्थात् समस्त प्राणी सुखस्वरूप परमात्माके ही सहारे जीते और हलन-चलन आदि चेष्टा करते हैं । इतना ही नहीं, सबके जीवन-निर्वाहकी सब प्रकारसे सुव्यवस्था करनेवाले भी ये ही हैं, अन्यथा इस जगत्‌की समस्त भौतिक क्रिया, जो नियमित और व्यवस्थितरूपसे चल रही है, कैसे हो सकती ? अतः मनुष्यको यह दृढ़ता-पूर्वक विश्वास करना चाहिये कि इस जगत्‌के कर्ता-हर्ता परब्रह्म परमेश्वर अवश्य हैं तथा निःसंदेह ये परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करते हैं । जब आनन्द-स्वरूप एकमात्र परमात्मा ही हैं, तब दूसरा कौन आनन्द दे सकता है ?

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति ।

हि=क्योंकि, **यदा एव**=जब कभी, **एषः**=यह जीवात्मा, **एतस्मिन्**=इस, **अदृश्ये**=देखनेमें न आनेवाले, **अनात्म्ये**=शरीररहित, **अनिरुक्ते**=बतलानेमें न आनेवाले, (और) **अनिलयने**=दूसरेका आश्रय न लेनेवाले परब्रह्म परमात्मा-में, **अभयम्**=निर्भयतापूर्वक, **प्रतिष्ठाम्**=स्थिति, **विन्दते**=लाभ करता है, **अथ**=तब, **सः**=वह, **अभयम्**=निर्भयपदको, **गतः**=प्राप्त, **भवति**=हो जाता है ।

व्याख्या—क्योंकि उन परब्रह्म परमेश्वरको पानेकी अभिलाषा रखनेवाला

यह जीव जब कभी देखनेमें न आनेवाले, बतलानेमें न आनेवाले और किसीके आश्रित न रहनेवाले शरीर-रहित परब्रह्म परमात्मामें निर्भय (अविचल) स्थिति-लाभ करता है, उस समय वह निर्भयपदको प्राप्त हो जाता है—सदाके लिये भय एवं शोकसे रहित हो जाता है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति।

हि=क्योंकि, **यदा एव**=जबतक, **एषः**=यह, **उदरम्**=थोड़ा-सा, [भी], **एतस्मिन् अन्तरम्**=इस परमात्मासे वियोग, **कुरुते**=किये रहता है, **अथ**=तबतक; **तस्य**=उसको, **भयम्**=जन्म-मृत्युरूप भय, **भवति**=प्राप्त होता है, **तु**=तथा; **तत् एव**=वही, **भयम्**=भय, (केवल मूर्खको ही नहीं होता, किंतु) **मन्वानस्य**=अभिमानी, **विदुषः**=शास्त्रज्ञ विद्वान्को भी अवश्य होता है; **तत्**=उसके विषयमें, **अपि**=भी, **एष**=यह (आगे कहा हुआ), **श्लोकः**=श्लोक, **भवति**=है।

व्याख्या—क्योंकि जबतक यह जीवात्मा उन परब्रह्म परमात्मासे थोड़ा-सा भी अन्तर किये रहता है—उनमें पूर्ण स्थिति लाभ नहीं कर लेता या उनका निरन्तर स्मरण नहीं करता—उन्हें थोड़ी देरके लिये भी भूल जाता है, तबतक उसके लिये भय है, अर्थात् उसका पुनर्जन्म होना सम्भव है, क्योंकि जिस समय उसकी परमात्मामें स्थिति नहीं है, वह भगवान्को भूला हुआ है, उसी समय यदि उसकी मृत्यु हो गयी तो फिर उसका अन्तिम संस्कारके अनुसार जन्म होना निश्चित है। क्योंकि भगवान्ने गीतामें कहा है—'जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ मनुष्य अन्तकालमें शरीर छोड़ता है, उसीके अनुसार उसे जन्म ग्रहण करना पड़ता है (८। ६)।' और मृत्यु प्रारब्धके अनुसार किसी क्षण भी आ सकती है। इसीलिये योगभ्रष्टका पुनर्जन्म होनेकी बात गीतामें कही गयी है (६। ४०—४२)। जबतक परमात्मामें पूर्ण स्थिति नहीं हो जाती अथवा जबतक भगवान्का निरन्तर स्मरण नहीं होता, तबतक यह पुनर्जन्मका भय—जन्म-मृत्युका भय सभीके लिये बना हुआ है—चाहे कोई बड़े-से-बड़ा शास्त्रज्ञ विद्वान् क्यों न हो और चाहे कोई अपनेको बड़े-से-बड़ा ज्ञानी अथवा पण्डित क्यों न माने। वे परमेश्वर सबपर शासन करनेवाले हैं, उन्हींकी शासन-शक्तिसे जगत्की सारी व्यवस्था नियमितरूपसे चल रही है। इसी विषयपर यह आगे अष्टम अनुवाकमें कहा जानेवाला श्लोक अर्थात् मन्त्र है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

सम्बन्ध—पिछले अनुवाकमें जिस श्लोकका लक्ष्य कराया गया था, उसका उल्लेख करते हैं—

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति।

अस्मात् भीषा=इसीके भयसे, **वातः**=पवन, **पवते**=चलता है, **भीषा**=(इसीके) भयसे, **सूर्यः**=सूर्य, **उदेति**=उदय होता है, **अस्मात् भीषा**=इसीके भयसे, **अग्निः**=अग्नि, **च**=और, **इन्द्रः**=इन्द्र, **च**=और, **पञ्चमः**=पाँचवाँ, **मृत्युः**=मृत्यु, **धावति**=(ये सब) अपना अपना कार्य करनेमें प्रवृत्त हो रहे हैं, **इति**=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इन परब्रह्म परमेश्वरके भयसे ही पवन नियमानुसार चलता है, इन्हींके भयसे सूर्य ठीक समयपर उदय होता है और ठीक समयपर अस्त होता है तथा इन्हींके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु—ये सब अपना-अपना कार्य नियमपूर्वक सुव्यवस्थितरूपसे कर रहे हैं। यदि इन सबकी सुव्यवस्था करनेवाला इन सबका प्रेरक कोई न हो तो जगत्के सारे काम कैसे चलें। इससे सिद्ध होता है कि इन सबको बनानेवाला, सबको यथायोग्य नियममें रखनेवाला कोई एक सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मा अवश्य है और वह मनुष्यको अवश्य मिल सकता है *।

सम्बन्ध—उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माका वह आनन्द कितना और कैसा है, इस जिज्ञासापर आनन्दविषयक विचार आरम्भ किया जाता है—

सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः।

सा=वह, **एषा**=यह, **आनन्दस्य**=आनन्दसम्बन्धी; **मीमांसा**=विचार, **भवति**=आरम्भ होता है, **युवा**=कोई युवक, **स्यात्**=हो; (वह भी ऐसा-वैसा नहीं) **साधुयुवा**=श्रेष्ठ आचरणोंवाला युवक हो, (तथा) **अध्यायकः**=वेदोंका अध्ययन कर चुका हो, **आशिष्ठः**=शासनमें अत्यन्त कुशल हो, **द्रढिष्ठः**=उसके सम्पूर्ण अङ्ग और इन्द्रियाँ सर्वथा दृढ हों, (तथा) **बलिष्ठः**=वह सब प्रकारसे बलवान् हो, **तस्य**=(फिर) उसे, **इयम्**=यह, **वित्तस्य पूर्णा**=धनसे

* इसी भावकी श्रुति कठोपनिषद्में भी आयी है (२।३।२)।

परिपूर्ण; सर्वा=सब-की-सब; पृथिवी=पृथ्वी, स्यात्=प्राप्त हो जाय, (तो) सः=वह, मानुषः=मनुष्यलोकका; एकः=एक, आनन्दः=आनन्द है।

व्याख्या—इस वर्णनमें उस आनन्दका विचार आरम्भ करनेकी सूचना देकर सर्वप्रथम मनुष्य-लोकके भोगोंसे मिल सकनेवाले बड़े-से-बड़े आनन्दकी कल्पना की गयी है। भाव यह है कि एक मनुष्य युवा हो, वह भी ऐसा-वैसा मामूली युवक नहीं—सदाचारी, अच्छे स्वभाववाला, अच्छे कुलमें उत्पन्न श्रेष्ठ पुरुष हो, उसे सम्पूर्ण वेदोंकी शिक्षा मिली हो तथा शासनमें—ब्रह्मचारियोंको सदाचारकी शिक्षा देनेमें अत्यन्त कुशल हो, उसके सम्पूर्ण अङ्ग और इन्द्रियाँ रोगरहित, समर्थ और सुदृढ हों और वह सब प्रकारके बलसे सम्पन्न हो। फिर धन सम्पत्तिसे भरी यह सम्पूर्ण पृथ्वी उसके अधिकारमें आ जाय, तो यह मनुष्यका एक बड़े-से बड़ा सुख है। यह मानव-लोकका एक सबसे महान् आनन्द है।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः। स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे, ये=जो, मानुषाः=मनुष्यलोक-सम्बन्धी, शतम्=एक सौ; आनन्दाः=आनन्द हैं, सः=वह, मनुष्यगन्धर्वाणाम्=मानव-गन्धर्वोंका; एकः=एक, आनन्दः=आनन्द होता है, च=और (वह), अकामहतस्य=जिसका अन्तःकरण भोगोंकी कामनाओंसे दूषित नहीं हुआ है, ऐसे, श्रोत्रियस्य=वेदवेत्ता पुरुषको स्वभावसे ही प्राप्त है।

व्याख्या—जो मनुष्य योनिमें उत्तम कर्म करके गन्धर्वभावको प्राप्त हुए हैं, उन्हींको 'मनुष्य-गन्धर्व' कहते हैं। यहाँ इनके आनन्दको उपर्युक्त मनुष्यके आनन्दसे सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्य-सम्बन्धी आनन्दका पहले वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर आनन्दकी जो एक राशि होती है, उतना मनुष्य-गन्धर्वोंका एक आनन्द है। परंतु जो पहले बताये हुए मनुष्यलोकके भोगोंकी और इस गन्धर्वलोकके भोगोंतककी कामनासे दूषित नहीं है, इन सबसे सर्वथा विरक्त है, उस श्रोत्रिय—वेदज्ञ पुरुषको तो वह आनन्द स्वभावसे ही प्राप्त है।

ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे (पूर्वोक्त), ये=जो, मनुष्यगन्धर्वाणाम्=मनुष्य-गन्धर्वोंके, शतम्=एक सौ, आनन्दाः=आनन्द हैं; सः=वह, देवगन्धर्वाणाम्=देव-

जातीय गन्धर्वोंका, **एकः**=एक, **आनन्दः**=आनन्द है, **च**=तथा, (वही) **अकामहतस्य**=कामनाओंसे अदूषित चित्तवाले, **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें पहले बताये हुए मनुष्य-गन्धर्वोंकी अपेक्षा देव-गन्धर्वोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि जिस मनुष्य-गन्धर्वके आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी राशि होती है, उतना सृष्टिके आरम्भसे देवजातीय गन्धर्वरूपमें उत्पन्न हुए जीवोंका एक आनन्द है तथा जो मनुष्य इस आनन्दकी कामनासे आहत नहीं हुआ है अर्थात् जिसको इसकी आवश्यकता नहीं है, तथा जो वेदके उपदेशको हृदयङ्गम कर चुका है, ऐसे विद्वान्‌को वह आनन्द स्वभावतः प्राप्त है ।

ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे (पूर्वोक्त), **ये**=जो, **देवगन्धर्वाणाम्**=देवजातीय गन्धर्वोंके, **शतम्**=एक सौ, **आनन्दाः**=आनन्द हैं, **सः**=वह, **चिरलोकलोकानाम्**=चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त हुए, **पितॄणाम्**=पितरोंका, **एकः**=एक, **आनन्दः**=आनन्द है, **च**=और, (वह) **अकामहतस्य**=भोगोंके प्रति निष्काम, **श्रोत्रियस्य**=वेदज्ञ पुरुषको स्वतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें देव-गन्धर्वोंके आनन्दकी अपेक्षा चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त दिव्य पितरोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि देव-गन्धर्वोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर आनन्दकी जो एक राशि होती है, उतना चिरस्थायी पितृलोकमें रहनेवाले दिव्य पितरोंका एक आनन्द है तथा जो उस लोकके भोग-सुखकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् जिसको उसकी आवश्यकता ही नहीं रही है, उस श्रोत्रियको—वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्तको वह आनन्द स्वतः ही प्राप्त है ।

ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एक आजानजानां देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे (पूर्वोक्त), **ये**=जो, **चिरलोकलोकानाम्**=चिरस्थायी पितृलोकको प्राप्त हुए, **पितॄणाम्**=पितरोंके, **शतम्**=एक सौ, **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह, **आजानजानाम्**=आजानज नामक, **देवानाम्**=देवताओंका;

एकः=एक; आनन्दः=आनन्द है, च=और; (वह आनन्द) अकामहतस्य= उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित, श्रोत्रियस्य=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें चिरस्थायी लोकोंमें रहनेवाले दिव्य-पितरोंके आनन्दकी अपेक्षा 'आजानज' नामक देवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि चिरस्थायी लोकोंमें रहनेवाले दिव्य पितरोंके जिस आनन्द-का ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंकी मात्राको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना 'आजानज' नामक देवताओंका एक आनन्द है । देवलोकके एक विशेष स्थानका नाम 'आजान' है, जो लोग स्मृतियोंमें प्रतिपादित किन्हीं पुण्य-कर्मोंके कारण वहाँ उत्पन्न हुए हैं, उन्हें 'आजानज' कहते हैं । जो उस लोकतकके भोगोंकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् जो उस आनन्दको भी तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध है ।

ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे (पूर्वोक्त), ये=जो, आजानजानाम्=आजानज नामक; देवानाम्=देवोंके, शतम्=एक सौ, आनन्दाः=आनन्द हैं, सः=वह, कर्मदेवानाम् देवानाम्=(उन) कर्मदेव नामक देवताओंका, एकः=एक, आनन्दः=आनन्द है, ये=जो, कर्मणा=वेदोक्त कर्मोंसे, देवान्=देवोंको; अपियन्ति=प्राप्त हुए हैं, च=और, (वह) अकामहतस्य=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित, श्रोत्रियस्य=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को तो स्वतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें आजानज देवोंके आनन्दकी अपेक्षा कर्म-देवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि आजानज देवोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना आनन्द जो वेदोक्त कर्मोंद्वारा मनुष्ययोनिसे देवभावको प्राप्त हुए हैं, उन कर्मदेवताओंका आनन्द है । जो उन कर्मदेवताओंतकके आनन्दकी कामनासे आहत नहीं है अर्थात् जिसको देवलोकतकके भोगोंकी इच्छा नहीं रही है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध है ।

ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे (पूर्वोक्त), ये=जो; **कर्मदेवानाम् देवानाम्**=कर्मदेव नामक देवताओंके, **शतम्**=एक सौ, **आनन्दाः**=आनन्द हैं, **सः**=वह; **देवानाम्**=देवताओंका, **एकः**=एक, **आनन्दः**=आनन्द है, **च**=और, (वह) **अकामहतस्य**=उस लोकतकके भोगोंमें कामनारहित, **श्रोत्रियस्य**=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को तो स्वभावतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें कर्मदेवोंकी अपेक्षा सृष्टिके आदिकालमें जिन स्थायी देवोंकी उत्पत्ति हुई है, उन स्वभावसिद्ध देवोंके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि कर्मदेवोंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना उन स्वभावसिद्ध देवताओंका एक आनन्द है । जो उन स्वभावसिद्ध देवताओंके भोगानन्दकी कामनासे आहत नहीं है, अर्थात् उसकी भी जिसको कामना नहीं है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले निष्काम विरक्तके लिये तो वह आनन्द स्वभावसिद्ध ही है ।

ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे, **ये**=जो, **देवानाम्**=देवताओंके, **शतम्**=एक सौ, **आनन्दाः**=आनन्द हैं; **सः**=वह, **इन्द्रस्य**=इन्द्रका, **एकः**=एक, **आनन्दः**=आनन्द है, **च**=और, (वह) **अकामहतस्य**=इन्द्रतकके भोगोंमें कामनारहित; **श्रोत्रियस्य**=वेदवेत्ताको स्वतः प्राप्त है ।

व्याख्या—इस वर्णनमें पहले बताये हुए स्वभावसिद्ध देवोंके आनन्दकी अपेक्षा इन्द्रके आनन्दको सौगुना बताया गया है । भाव यह है कि देवताओंके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना इन्द्रभावको प्राप्त देवताका एक आनन्द है । जो इन्द्रके भोगानन्दकी कामनासे आहत नहीं हुआ है, अर्थात् जिसको इन्द्रके सुखकी भी आकाङ्क्षा नहीं है—जो उसे भी तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले निष्काम पुरुषको तो वह आनन्द स्वतः प्राप्त है ।

ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ।

ते=वे, ये=जो, इन्द्रस्य=इन्द्रके, शतम्=एक सौ, आनन्दाः=आनन्द हैं; सः=वह, बृहस्पतेः=बृहस्पतिका, एकः=एक, आनन्दः=आनन्द है, च= और, (वह) अकामहतस्य=बृहस्पतितकके भोगोंमें निःस्पृह, श्रोत्रियस्य= वेदवेत्ताको स्वतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें इन्द्रके आनन्दकी अपेक्षा बृहस्पतिके आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि इन्द्रके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना बृहस्पतिके पदको प्राप्त हुए देवताका एक आनन्द है। परंतु जो मनुष्य बृहस्पतिके भोगानन्दकी कामनासे भी आहत नहीं है, उस भोगानन्दको भी अनित्य होनेके कारण जो तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो चुका है, उस वेदके रहस्यको जाननेवाले निष्काम मनुष्यको वह आनन्द स्वतः प्राप्त है।

ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे, ये=जो, बृहस्पतेः=बृहस्पतिके, शतम्=एक सौ, आनन्दाः= आनन्द हैं; सः=वह, प्रजापतेः=प्रजापतिका, एकः=एक, आनन्दः=आनन्द है; च=और, (वह) अकामहतस्य=प्रजापतितकके भोगोंमें कामनारहित; श्रोत्रियस्य=वेदवेत्ता पुरुषको स्वतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें बृहस्पतिके आनन्दकी अपेक्षा प्रजापतिके आनन्द- को सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि बृहस्पतिके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो आनन्दकी एक राशि होती है, उतना प्रजापतिके पदपर आरूढ देवताका एक आनन्द है। परंतु जो मनुष्य इस प्रजापतिके भोगानन्दकी कामनासे भी आहत नहीं है, अर्थात् उससे भी जो विरक्त हो चुका है, उस वेदके रहस्यको जाननेवाले निष्काम मनुष्यको तो वह आनन्द स्वभावसे ही प्राप्त है।

ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

ते=वे, ये=जो, प्रजापतेः=प्रजापतिके; शतम्=एक सौ, आनन्दाः= आनन्द हैं, सः=वह, ब्रह्मणः=ब्रह्माका, एकः=एक, आनन्दः=आनन्द है; च=और, (वह) अकामहतस्य=ब्रह्मलोकतकके भोगोंमें कामनारहित; श्रोत्रियस्य=श्रोत्रिय (वेदज्ञ) को स्वभावतः प्राप्त है।

व्याख्या—इस वर्णनमें प्रजापतिके आनन्दसे भी हिरण्यगर्भ ब्रह्माके

आनन्दको सौगुना बताया गया है। भाव यह है कि प्रजापतिके जिस आनन्दका ऊपर वर्णन किया गया है, वैसे सौ आनन्दोंको एकत्र करनेपर जो एक आनन्द-की राशि होती है, उतना सृष्टिके आरम्भमें सबसे पहले उत्पन्न होनेवाले हिरण्यगर्भ-ब्रह्माका एक आनन्द है तथा जो मनुष्य उस ब्रह्माके पदसे प्राप्त भोग-सुखकी कामनासे भी आहत नहीं है, अर्थात् जो उसे भी अनित्य और तुच्छ समझकर उससे विरक्त हो गया है, जिसको एकमात्र परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त करनेकी ही उत्कट अभिलाषा है, उस वेदके रहस्यको समझनेवाले विरक्त पुरुषको वह आनन्द स्वतः प्राप्त है।

इस प्रकार यहाँ एकसे दूसरे आनन्दकी अधिकताका वर्णन करते-करते सबसे बढकर हिरण्यगर्भके आनन्दको बताकर यह भाव दिखाया गया है कि इस जगत्में जितने प्रकारके जो-जो आनन्द देखने-सुनने तथा समझनेमें आ सकते हैं, वे चाहे कितने ही बड़े क्यों न हों, उस पूर्णानन्दस्वरूप परमात्माके आनन्दकी तुलनामें बहुत ही तुच्छ हैं। बृहदारण्यकमें कहा भी है कि 'समस्त प्राणी इसी परमात्मसम्बन्धी आनन्दके किसी एक अंशको लेकर ही जीते हैं (४। ३। ३२)।'

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः । स य एवंविदस्मा-ल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं प्राणमयमात्मा-नमुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं विज्ञान-मयमात्मानमुपसंक्रामति । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्लोको भवति ।

सः=वह (परमात्मा), **यः**=जो; **अयम्**=यह; **पुरुषे**=मनुष्यमें, **च**=और, **यः**=जो, **असौ**=वह; **आदित्ये च**=सूर्यमें भी है, **सः**=वह (सबका अन्तर्यामी); **एकः**=एक ही है, **यः**=जो, **एवंवित्**=इस प्रकार जाननेवाला है, **सः**=वह, **अस्मात् लोकात्**=इस लोकसे, **प्रेत्य**=विदा होकर, **एतम्**=इस, **अन्नमयम्**=अन्नमय, **आत्मानम्**=आत्माको, **उपसंक्रामति**=प्राप्त हो जाता है, **एतम्**=इस, **प्राणमयम्**=प्राणमय, **आत्मानम्**=आत्माको, **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है, **एतम्**=इस, **मनोमयम्**=मनोमय, **आत्मानम्**=आत्माको, **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **एतम्**=इस, **विज्ञानमयम्**=विज्ञानमय, **आत्मानम्**=आत्माको, **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है, **एतम्**=इस, **आनन्दमयम्**=आनन्दमय, **आत्मानम्**=आत्माको, **उपसंक्रामति**=प्राप्त होता है; **तत्**=उसके विषयमें, **अपि**=भी, **एषः**=यह (आगे कहा जानेवाला), **श्लोकः**=श्लोक, **भवति**=है।

व्याख्या—ऊपर बताये हुए समस्त आनन्दोंके एकमात्र केन्द्र परमानन्द-स्वरूप परब्रह्म परमात्मा ही सबके अन्तर्यामी हैं। जो परमात्मा मनुष्योंमें हैं, वे ही सूर्यमें भी हैं। वे सबके अन्तर्यामी एक ही हैं। जो इस प्रकार जान लेता है, वह मरनेपर इस मनुष्य-शरीरको छोड़कर उस पहले बताये हुए अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि इन पाँचोंके जो आत्मा हैं, ये पाँचों जिनके स्वरूप हैं, उन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। पहले इन पाँचोंका वर्णन करते समय सबका शरीरान्तर्वर्ती आत्मा अन्तर्यामी परमात्माको ही बतलाया था। फलरूपमें उन्हींकी प्राप्ति होती है और वे ही ब्रह्म हैं—यह बतलानेके लिये ही यहाँ पाँचोंको क्रमसे प्राप्त होनेकी बात कही गयी है। वास्तवमें इन क्रमसे प्राप्त होनेकी बात कहना अभीष्ट नहीं है, क्योंकि अन्नमय मनुष्य शरीरको तो वह पहलेसे प्राप्त था ही, उसे छोड़कर जानेके बाद प्राप्त होनेवाला फल परमात्मा है, शरीर नहीं। अतः यहाँ अन्नमय आदिके अन्तर्यामी परमात्माकी ही प्राप्ति बतायी गयी है। इसलिये इन सबमें परिपूर्ण, सर्वरूप, सबके आत्मा, परम आनन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाना ही इस फलश्रुतिका तात्पर्य है। इनके विषयमें आगे नवम अनुवाकमें कहा जानेवाला यह श्लोक भी है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

सम्बन्ध—आठवें अनुवाकमें जिस श्लोक (मन्त्र) को लक्ष्य कराया गया है, उसका उल्लेख किया जाता है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति ।

मनसा सह=मनके सहित, वाचः=वाणी आदि समस्त इन्द्रियाँ, यतः=जहाँसे, अप्राप्य=उसे न पाकर, निवर्तन्ते=लौट आती हैं, [तस्य] ब्रह्मणः=उस ब्रह्मके, आनन्दम्=आनन्दको, विद्वान्=जाननेवाला (महापुरुष), कुतश्चन=किसीसे भी, न बिभेति=भय नहीं करता, इति=इस प्रकार यह श्लोक है।

व्याख्या—इस मन्त्रमें परब्रह्म परमात्माके परमानन्दस्वरूपको जाननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि मनके सहित सभी इन्द्रियाँ उसे न पाकर वहाँसे लौट आती हैं—जिस ब्रह्मानन्दको जाननेकी इन मन और इन्द्रियोंकी शक्ति

नहीं है, परब्रह्म परमात्माके उस आनन्दको जाननेवाला ज्ञानी महापुरुष कभी किसीसे भी भय नहीं करता, वह सर्वथा निर्भय हो जाता है । इस प्रकार इस श्लोकका तात्पर्य है ।

एतꣳह वाव न तपति । किमहꣳसाधु नाकरवम् । किमहं पापमकरवमिति । स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते । उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते । य एवं वेद । इत्युपनिषत् ।

ह वाव=यह प्रसिद्ध ही है कि, **एतम्**=उस (महापुरुष) को, (यह बात) **न तपति**=चिन्तित नहीं करती कि; **अहम्**=मैंने, **किम्**=क्यों, **साधु**=श्रेष्ठ कर्म, **न**=नहीं, **अकरवम्**=किया, **किम्**=(अथवा) क्यों, **अहम्**=मैंने, **पापम्**=पापाचरण, **अकरवम् इति**=किया, **यः**=जो, **एते**=इन पुण्य पापकर्मोंको, **एवम्**=इस प्रकार (संतापका हेतु), **विद्वान्**=जाननेवाला है, **सः**=वह, **आत्मानम् स्पृणुते**=आत्माकी रक्षा करता है, **हि**=अवश्य ही, **यः**=जो, **एते**=इन पुण्य और पाप, **उभे एव**=दोनों ही कर्मोंको, **एवम्**=इस प्रकार (संतापका हेतु); **वेद**=जानता है, [**सः**] **एषः**=वह यह पुरुष, **आत्मानम् स्पृणुते**=आत्माकी रक्षा करता है, **इति**=इस प्रकार; **उपनिषत्**=उपनिषद् (की ब्रह्मानन्दवल्ली) पूरी हुई ।

व्याख्या—इस वर्णनमें यह बात कही गयी है कि ज्ञानी महापुरुषको किसी प्रकारका शोक नहीं होता । भाव यह है कि परमात्माको ऊपर बताये अनुसार जाननेवाला विद्वान् कभी इस प्रकार शोक नहीं करता कि 'क्यों मैंने श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण नहीं किया, अथवा क्यों मैंने पाप-कर्म किया ।' उसके मनमें पुण्य-कर्मोंके फलस्वरूप उत्तम लोकोंकी प्राप्तिका लोभ नहीं होता और उसे पापजनित नरकादिका भय भी नहीं सताता । लोभ और भयजनित संतापसे वह ऊँचा उठ जाता है । उक्त ज्ञानी महापुरुष आसक्तिपूर्वक किये हुए पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंको जन्म-मरणरूप संतापका हेतु समझकर उनके प्रति राग-द्वेषसे सर्वथा रहित हो जाता है और परमात्माके चिन्तनमें संलग्न रहकर आत्माकी रक्षा करता है ।

इस मन्त्रमें कुछ शब्दोंको अक्षरशः अथवा अर्थतः दुहराकर इस वल्लीके उपसंहारकी सूचना दी गयी है ।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥

॥ ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्त ॥ २ ॥

ॐ

भृगुवल्ली*

प्रथम अनुवाक

भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तꣳहोवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

वै=यह प्रसिद्ध है कि; वारुणिः=वरुणका पुत्र, भृगुः=भृगु, पितरम्=अपने पिता; वरुणम् उपससार=वरुणके पास गया (और विनयपूर्वक बोला—); भगवः=भगवन्!; (मुझे) ब्रह्म अधीहि=ब्रह्मका उपदेश कीजिये, इति=इस प्रकार प्रार्थना करनेपर, तस्मै=उससे, (वरुणने) एतत्=यह; प्रोवाच=कहा, अन्नम्=अन्न, प्राणम्=प्राण, चक्षुः=नेत्र, श्रोत्रम्=श्रोत्र; मनः=मन, (और) वाचम्=वाणी, इति=इस प्रकार (ये सब ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वार हैं), तम् ह उवाच=पुनः (वरुणने) उससे कहा, वै=निश्चय ही, इमानि=ये सब प्रत्यक्ष दीखनेवाले, भूतानि=प्राणी, यतः=जिससे; जायन्ते=उत्पन्न होते हैं, जातानि=उत्पन्न होकर, येन=जिसके सहारे, जीवन्ति=जीवित रहते हैं, (तथा) प्रयन्ति=(अन्तमें इस लोकसे) प्रयाण करते हुए, यत् अभिसंविशन्ति=जिसमें प्रवेश करते हैं, तत्=उसको, विजिज्ञासस्व=तत्त्वसे जाननेकी इच्छा कर, तत्=वही, ब्रह्म=ब्रह्म है, इति=इस प्रकार (पिताकी बात सुनकर); सः=उसने, तपः अतप्यत=तप किया, सः=उसने, तपः तप्त्वा=तप करके—

व्याख्या—भृगु नामसे प्रसिद्ध एक ऋषि थे, जो वरुणके पुत्र थे। उनके मनमें परमात्माको जानने और प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा हुई, तब वे अपने पिता वरुणके पास गये। उनके पिता वरुण वेदको जाननेवाले, ब्रह्मनिष्ठ

---

* वरुणने अपने पुत्र भृगु ऋषिको जिस ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया था, उसीका इस वल्लीमें वर्णन है, इस कारण इसका नाम भृगुवल्ली है।

महापुरुष थे; अतः भृगुको किसी दूसरे आचार्यके पास जानेकी आवश्यकता नहीं हुई। अपने पिताके पास जाकर भृगुने इस प्रकार प्रार्थना की—'भगवन्! मैं ब्रह्मको जानना चाहता हूँ; अतः आप कृपा करके मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये। तब वरुणने भृगुसे कहा—'तात! अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी—ये सभी ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वार हैं। इन सबमें ब्रह्मकी सत्ता स्फुरित हो रही है।' साथ ही यह भी कहा—'ये प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाले सब प्राणी जिनसे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिनके सहयोगसे, जिनका बल पाकर ये सब जीते हैं—जीवनोपयोगी क्रिया करनेमे समर्थ होते हैं और महाप्रलयके समय जिनमें विलीन हो जाते हैं, उनको वास्तवमें जाननेकी (पानेकी) इच्छा कर। वे ही ब्रह्म हैं।' इस प्रकार पिताका उपदेश पाकर भृगु ऋषिने ब्रह्मचर्य और शम दम आदि नियमोंका पालन करते हुए तथा समस्त भोगोंके त्यागपूर्वक संयमसे रहते हुए पिताके उपदेशपर विचार किया। यही उनका तप था। इस प्रकार तप करके उन्होंने क्या किया, यह बात अगले अनुवाकमें कही गयी है।

॥ प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

अन्नम्=अन्न, **ब्रह्म**=ब्रह्म है, **इति**=इस प्रकार, **व्यजानात्**=जाना, **हि**=क्योंकि, **खलु**=सचमुच, **अन्नात्**=अन्नसे, **एव**=ही, **इमानि**= ये सब, **भूतानि**=प्राणी, **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं, **जातानि**=उत्पन्न होकर, **अन्नेन**= अन्नसे ही, **जीवन्ति**=जीते हैं, (और) **प्रयन्ति**=(अन्तमें यहाँसे) प्रयाण करते हुए; **अन्नम् अभिसंविशन्ति**=अन्नमें ही प्रविष्ट होते हैं, **इति**=इस प्रकार; **तत्**=उसको, **विज्ञाय**=जानकर, (वह) **पुनः**=पुनः; **पितरम्**=अपने पिता, **वरुणम् एव उपससार**=वरुणके ही पास गया, (तथा अपनी समझी हुई बात उसने पिताको सुनायी, किंतु पिताने उसका समर्थन नहीं किया। तब वह बोला—) **भगवः**=भगवन्!, (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=

ब्रह्मका बोध कराइये, इति=तब, तम् ह उवाच=उससे सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने कहा, तपसा=तपसे, ब्रह्म=ब्रह्मको, विजिज्ञासस्व=तत्त्वत. जाननेकी इच्छा कर; तपः=तप ही; ब्रह्म=ब्रह्म है, इति=इस प्रकार (पिताकी आज्ञा पाकर), सः=उसने, तपः अतप्यत=(पुनः) तप किया, सः=उसने, तपः= तप्त्वा=तप करके—

व्याख्या—भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि अन्न ही ब्रह्म है, क्योंकि पिताजीने ब्रह्मके जो लक्षण बताये थे, वे सब अन्नमें पाये जाते हैं। समस्त प्राणी अन्नसे—अन्नके परिणामभूत वीर्यसे उत्पन्न होते हैं, अन्नसे ही उनका जीवन सुरक्षित रहता है और मरनेके बाद अन्नस्वरूप इस पृथ्वीमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार निश्चय करके वे पुन. अपने पिता वरुणके पास आये। आकर अपने निश्चयके अनुसार उन्होंने सब बातें कहीं। पिताने कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने सोचा—'इसने अभी ब्रह्मके स्थूल रूपको ही समझा है, वास्तविक रूपतक इसकी बुद्धि नहीं गयी, अत इसे तपस्या करके अभी और विचार करनेकी आवश्यकता है। पर जो कुछ इसने समझा है, उसमें इसकी तुच्छबुद्धि कराकर अश्रद्धा उत्पन्न कर देनेमें भी इसका हित नहीं है, अतः इसकी बातका उत्तर न देना ही ठीक है।' पितासे अपनी बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर प्रार्थना की—'भगवन्! यदि मैंने ठीक नहीं समझा हो तो आप मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने कहा—'तू तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्वको समझनेकी कोशिश कर। यह तप ब्रह्मका ही स्वरूप है, अत. यह उनका बोध करानेमें सर्वथा समर्थ है।' इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर भृगु ऋषि पुनः पहलेकी भाँति तपोमय जीवन बिताते हुए पितासे पहले सुने हुए उपदेशके अनुसार ब्रह्मका स्वरूप निश्चय करनेके लिये विचार करते रहे। इस प्रकार तप करके उन्होंने क्या किया, यह बात अगले अनुवाकमें कही गयी है।

॥ द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

प्राणः=प्राण; **ब्रह्म**=ब्रह्म है; **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=जाना; **हि**=क्योंकि, **खलु**=सचमुच, **प्राणात्**=प्राणसे, **एव**=ही; **इमानि**=ये समस्त, **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं, **जातानि**=उत्पन्न होकर, **प्राणेन**=प्राणसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं (और); **प्रयन्ति**=(अन्तमें यहाँसे) प्रयाण करते हुए, **प्राणम् अभिसंविशन्ति**=प्राणमें ही सब प्रकारसे प्रविष्ट हो जाते हैं; **इति**=इस प्रकार; **तत्**=उसे, **विज्ञाय**=जानकर; **पुनः**=फिर; **पितरम् वरुणम् एव उपससार**=(अपने) पिता वरुणके ही पास गया (और वहाँ उसने अपना निश्चय सुनाया, जब पिताने उत्तर नहीं दिया, तब वह बोला—), **भगवः**=भगवन् !, (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका उपदेश दीजिये, **इति**=इस प्रकार प्रार्थना करनेपर, **ह तम् उवाच**=सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने उससे कहा, **ब्रह्म**=ब्रह्मको, **तपसा**=तपसे, **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर, **तपः**=तप ही, **ब्रह्म**=ब्रह्म अर्थात् उनकी प्राप्तिका बडा साधन है, **इति**=इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर; **सः**=उसने (पुनः), **तपः अतप्यत**=तप किया, **सः**=उसने, **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—भृगुने पिताके उपदेशानुसार तपके द्वारा यह निश्चय किया कि प्राण ही ब्रह्म है, उन्होंने सोचा, पिताजीद्वारा बताये हुए ब्रह्मके लक्षण प्राणमें पूर्णतया पाये जाते हैं। समस्त प्राणी प्राणसे उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एक जीवित प्राणीसे उसीके सदृश दूसरा प्राणी उत्पन्न होता हुआ प्रत्यक्ष देखा जाता है, तथा सभी प्राणसे ही जीते हैं। यदि श्वासका आना-जाना बंद हो जाय, यदि प्राणद्वारा अन्न ग्रहण न किया जाय, तथा अन्नका रस समस्त शरीरमें न पहुँचाया जाय, तो कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता। और मरनेके बाद सब प्राणमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मृत शरीरमें प्राण नहीं रहते; अतः निःसंदेह प्राण ही ब्रह्म है, यह निश्चय करके वे पुनः अपने पिता वरुणके पास गये। पहलेकी भाँति अपने निश्चयके अनुसार उन्होंने पुनः पितासे अपना अनुभव निवेदन किया। पिताने फिर भी कोई उत्तर नहीं दिया। उन्होंने सोचा कि यह पहलेकी अपेक्षा तो कुछ सूक्ष्मतामें पहुँचा है, परंतु अभी बहुत कुछ समझना शेष है, अतः उत्तर न देनेसे अपने-आप इसकी जिज्ञासामें बल आयेगा, अतः उत्तर न देना ही ठीक है। पिताजीसे अपनी बातका समर्थन न पाकर भृगुने फिर उनसे प्रार्थना की—'भगवन् ! यदि अब भी मैंने ठीक न समझा हो तो आप ही कृपा करके मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने पुनः वही बात कही—'तू तपके द्वारा ब्रह्मको जाननेकी चेष्टा कर, यह तप ही ब्रह्म है, अर्थात् ब्रह्मके तत्त्वको जाननेका प्रधान साधन है।' इस प्रकार पिताजीकी आज्ञा पाकर भृगु ऋषि फिर उसी प्रकार

तपस्या करते हुए पिताके उपदेशपर विचार करते रहे। तपस्या करके उन्होंने क्या किया, यह अगले अनुवाकमें बताया गया है।

॥ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा।

मनः=मन, ब्रह्म=ब्रह्म है, इति=इस प्रकार, व्यजानात्=समझा, हि=क्योंकि; खलु=सचमुच, मनसः=मनसे, एव=ही, इमानि=ये समस्त, भूतानि=प्राणी; जायन्ते=उत्पन्न होते हैं, जातानि=उत्पन्न होकर, मनसा=मनसे ही, जीवन्ति=जीते हैं, (तथा) प्रयन्ति=(इस लोकमें) प्रयाण करते हुए; (अन्तमें) मनः अभिसंविशन्ति=मनमें ही सब प्रकारसे प्रविष्ट हो जाते हैं, इति=इस प्रकार, तत्=उस ब्रह्मको, विज्ञाय=जानकर, पुनः एव=फिर भी, पितरम्=अपने पिता; वरुणम् उपससार=वरुणके पास गया (और अपनी बातका कोई उत्तर न पाकर बोला—); भगवः=भगवन्!, (मुझे) ब्रह्म अधीहि=ब्रह्मका उपदेश दीजिये; इति=इस प्रकार (प्रार्थना करनेपर), ह तम् उवाच=सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने उससे कहा; ब्रह्म=ब्रह्मको; तपसा=तपसे, विजिज्ञासस्व=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर, तपः=तप ही, ब्रह्म=ब्रह्म है, इति=इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर; सः=उसने, तपः अतप्यत=तप किया, सः=उसने, तपः तप्त्वा=तप करके—

व्याख्या—इस बार भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि मन ही ब्रह्म है, उन्होंने सोचा, पिताजीके बताये हुए ब्रह्मके सारे लक्षण मनमें पाये जाते हैं। मनसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं—स्त्री और पुरुषके मानसिक प्रेमपूर्ण सम्बन्धसे ही प्राणी बीजरूपसे माताके गर्भमें आकर उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर मनसे ही इन्द्रियोंद्वारा समस्त जीवनोपयोगी वस्तुओंका उपभोग करके जीवित रहते हैं और मरनेके बाद मनमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं—मरनेके बाद इस शरीरमें प्राण और इन्द्रियाँ नहीं रहतीं, इसलिये मन ही ब्रह्म है। इस प्रकार निश्चय करके वे पुनः पहलेकी भाँति अपने पिता वरुणके पास गये और अपने अनुभवकी बात

पिताजीको सुनायी। इस बार भी पितासे कोई उत्तर नहीं मिला। पिताने सोचा कि यह पहलेकी अपेक्षा तो गहराईमें उतरा है, परंतु अभी इसे और भी तपस्या करनी चाहिये, अतः उत्तर न देना ही ठीक है। पितासे अपनी बातका उत्तर न पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति प्रार्थना की—'भगवन्! यदि मैंने ठीक न समझा हो तो कृपया आप ही मुझे ब्रह्मका तत्त्व समझाइये।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया—'तू तपके द्वारा ब्रह्मके तत्त्वको जाननेकी इच्छा कर। अर्थात् तपस्या करते हुए मेरे उपदेशपर पुनः विचार कर। यह तपरूप साधन ही ब्रह्म है। ब्रह्मको जाननेका इससे बढ़कर दूसरा कोई उपाय नहीं है।' इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति संयमपूर्वक रहकर पिताके उपदेशपर विचार किया। विचार करके उन्होंने क्या किया, यह बात अगले अनुवाकमें कही गयी है।

॥ चतुर्थ अनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।

विज्ञानम्=विज्ञान, **ब्रह्म**=ब्रह्म है, **इति**=इस प्रकार; **व्यजानात्**=जाना, **हि**=क्योंकि, **खलु**=सचमुच, **विज्ञानात्**=विज्ञानसे, **एव**=ही, **इमानि**=ये समस्त, **भूतानि**=प्राणी; **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं, **जातानि**=उत्पन्न होकर, **विज्ञानेन**=विज्ञानसे ही; **जीवन्ति**=जीते हैं, (और) **प्रयन्ति**=अन्तमें यहाँसे प्रयाण करते हुए, **विज्ञानम् अभिसंविशन्ति**=विज्ञानमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं, **इति**=इस प्रकार, **तत्**=उस ब्रह्मको, **विज्ञाय**=जानकर, **पुनः एव**=(वह) पुनः उसी प्रकार, **पितरम्**=अपने पिता, **वरुणम् उपससार**=वरुणके पास गया; (और अपनी बातका उत्तर न मिलनेपर बोला—) **भगवः**=भगवन्!, (मुझे) **ब्रह्म अधीहि**=ब्रह्मका उपदेश दीजिये, **इति**=इस प्रकार कहनेपर, **ह तम् उवाच**=सुप्रसिद्ध वरुण ऋषिने उससे कहा, **ब्रह्म**=ब्रह्मको, **तपसा**=(तू) तपके द्वारा, **विजिज्ञासस्व**=तत्त्वतः जाननेकी इच्छा कर, **तपः**=तप ही, **ब्रह्म**=ब्रह्म है, **इति**=इस प्रकार पिताकी आज्ञा पाकर, **सः**=उसने, **तपः अतप्यत**=पुनः तप किया, **सः**=उसने, **तपः तप्त्वा**=तप करके—

व्याख्या—इस बार भृगुने पिताके उपदेशानुसार यह निश्चय किया कि यह विज्ञानस्वरूप चेतन जीवात्मा ही ब्रह्म है; उन्होंने सोचा—पिताजीने जो ब्रह्मके लक्षण बताये थे, वे सब-के-सब पूर्णतया इसमें पाये जाते हैं। ये समस्त प्राणी जीवात्मासे ही उत्पन्न होते हैं, सजीव चेतन प्राणियोंसे ही प्राणियोंकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है। उत्पन्न होकर इस विज्ञानस्वरूप जीवात्मासे ही जीते हैं; यदि जीवात्मा न रहे तो ये मन, इन्द्रियाँ, प्राण आदि कोई भी नहीं रह सकते और कोई भी अपना काम नहीं कर सकते। तथा मरनेके बाद ये मन आदि सब जीवात्मामें ही प्रविष्ट हो जाते हैं—जीवके निकल जानेपर मृत शरीरमें ये सब देखनेमें नहीं आते। अतः विज्ञानस्वरूप जीवात्मा ही ब्रह्म है। यह निश्चय करके वे पहलेकी भाँति अपने पिता वरुणके पास आये। आकर अपने निश्चित अनुभवकी बात पिताजीको सुनायी। इस बार भी पिताजीने कोई उत्तर नहीं दिया। पिताने सोचा—'इस बार यह बहुत कुछ ब्रह्मके निकट आ गया है, इसका विचार स्थूल और सूक्ष्म—दोनों प्रकारके जडतत्त्वोंसे ऊपर उठकर चेतन जीवात्मातक तो पहुँच गया है। परंतु ब्रह्मका स्वरूप तो इससे भी विलक्षण है, वे तो नित्य आनन्दस्वरूप एक अद्वितीय परमात्मा हैं, इसे अभी और तपस्या करनेकी आवश्यकता है, अतः उत्तर न देना ही ठीक है।' इस प्रकार बार-बार पिताजीसे कोई उत्तर न मिलनेपर भी भृगु हतोत्साह या निराश नहीं हुए। उन्होंने पहलेकी भाँति पुनः पिताजीसे वही प्रार्थना की—'भगवन्! यदि मैंने ठीक न समझा हो तो आप मुझे ब्रह्मका रहस्य बतलाइये।' तब वरुणने पुनः वही उत्तर दिया—'तू तपके द्वारा ही ब्रह्मके तत्त्वको जाननेकी इच्छा कर। अर्थात् तपस्यापूर्वक उसका पूर्वकथनानुसार विचार कर। तप ही ब्रह्म है।' इस प्रकार पिताजीकी आज्ञा पाकर भृगुने पुनः पहलेकी भाँति संयमपूर्वक रहते हुए पिताके उपदेशपर विचार किया। विचार करके उन्होंने क्या किया, यह आगे बताया गया है।

॥ पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। स य एवं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

आनन्दः=आनन्द ही, **ब्रह्म**=ब्रह्म है, **इति**=इस प्रकार, **व्यजानात्**=निश्चयपूर्वक जाना, **हि**=क्योंकि, **खलु**=सचमुच; **आनन्दात्**=आनन्दसे, **एव**=ही, **इमानि**=ये समस्त; **भूतानि**=प्राणी, **जायन्ते**=उत्पन्न होते हैं; **जातानि**=उत्पन्न होकर, **आनन्देन**=आनन्दसे ही, **जीवन्ति**=जीते हैं; (तथा) **प्रयन्ति**=इस लोकसे प्रयाण करते हुए, (अन्तमें) **आनन्दम् अभिसंविशन्ति**=आनन्दमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं, **इति**=इस प्रकार (जाननेपर उसे परब्रह्मका पूरा ज्ञान हो गया); **सा**=वह; **एषा**=यह, **भार्गवी**=भृगुकी जानी हुई; **वारुणी**=और वरुणद्वारा उपदेश की हुई, **विद्या**=विद्या, **परमे व्योमन्**=विशुद्ध आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें, **प्रतिष्ठिता**=प्रतिष्ठित है अर्थात् पूर्णतः स्थित है, **यः**=जो कोई (दूसरा साधक) भी; **एवम्**=इस प्रकार (आनन्दस्वरूप ब्रह्मको), **वेद**=जानता है, **सः**=वह; (उस विशुद्ध आकाशस्वरूप परमानन्दमें) **प्रतितिष्ठति**=स्थित हो जाता है, (इतना ही नहीं, इस लोकमें लोगोंके देखनेमें भी वह) **अन्नवान्**=बहुत अन्नवाला, **अन्नादः**=और अन्नको भलीभाँति पचानेकी शक्तिवाला, **भवति**=हो जाता है; (तथा) **प्रजया**=संतानसे, **पशुभिः**=पशुओंसे, (तथा) **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर, **महान्**=महान्, **भवति**=हो जाता है; **कीर्त्या [अपि]**=उत्तम कीर्तिके द्वारा भी; **महान्**=महान्, **[भवति]**=हो जाता है।

व्याख्या—इस बार भृगुने पिताके उपदेशपर गहरा विचार करके यह निश्चय किया कि आनन्द ही ब्रह्म है। ये आनन्दमय परमात्मा ही अन्नमय आदि सबके अन्तरात्मा हैं। वे सब भी इन्हीके स्थूलरूप हैं। इसी कारण उनमें ब्रह्म-बुद्धि होती है और ब्रह्मके आंशिक लक्षण पाये जाते हैं। परंतु सर्वांशसे ब्रह्मके लक्षण आनन्दमें ही घटते हैं, क्योंकि ये समस्त प्राणी उन आनन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्मासे ही सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होते हैं—इन सबके आदि कारण तो वे ही हैं। तथा इन आनन्दमयके आनन्दका लेश पाकर ही ये सब प्राणी जी रहे हैं—कोई भी दुःखके साथ जीवित रहना नहीं चाहता। इतना ही नहीं, उन आनन्दमय सर्वान्तर्यामी परमात्माकी अचिन्त्यशक्तिकी प्रेरणासे ही इस जगत्के समस्त प्राणियोंकी सारी चेष्टाएँ हो रही हैं। उनके शासनमें रहनेवाले सूर्य आदि यदि अपना-अपना काम न करें तो एक क्षण भी कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकता। सबके जीवनाधार सचमुच वे आनन्दस्वरूप परमात्मा ही हैं तथा प्रलयकालमें समस्त प्राणियोंसे भरा हुआ यह ब्रह्माण्ड उन्हींमें प्रविष्ट होता है—उन्हींमें विलीन होता है, वे ही सब प्रकारसे सदा-सर्वदा सबके आधार हैं। इस प्रकार अनुभव होते ही भृगुको परब्रह्मका यथार्थ ज्ञान हो गया। फिर उन्हें किसी प्रकारकी जिज्ञासा नहीं रही। श्रुति स्वयं उस विद्याकी महिमा बतलानेके लिये कहती है—वही यह वरुण-द्वारा बतायी हुई और भृगुको प्राप्त हुई ब्रह्मविद्या (ब्रह्मका रहस्य बतानेवाली

विद्या) है। यह विद्या विशुद्ध आकाशस्वरूप परब्रह्म परमात्मामें स्थित है। वे ही इस विद्याके भी आधार हैं। जो कोई मनुष्य भृगुकी भाँति तपस्यापूर्वक इसपर विचार करके परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमात्माको जान लेता है, वह भी उन विशुद्ध परमानन्दस्वरूप परमात्मामें स्थित हो जाता है। इस प्रकार इस विद्याका वास्तविक फल बताकर मनुष्योंको उस साधनकी ओर लगानेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे अन्न, प्राण आदि समस्त तत्त्वोंके रहस्य-विज्ञानपूर्वक ब्रह्मको जाननेवाले ज्ञानीके शरीर और अन्तःकरणमें जो स्वाभाविक विलक्षण शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, उनको भी श्रुति बतलाती है। वह अन्नवान् अर्थात् नाना प्रकारके जीवन-यात्रोपयोगी भोगोंसे सम्पन्न हो जाता है और उन सबको सेवन करनेकी सामर्थ्य भी उसमें आ जाती है। अर्थात् उसके मन, इन्द्रियाँ और शरीर सर्वथा निर्विकार और नीरोग हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वह सतानसे, पशुओंसे, ब्रह्मतेजसे और बड़ी भारी कीर्तिसे समृद्ध होकर जगत्में सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है।

॥ षष्ठ अनुवाक समाप्त ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

सम्बन्ध—छठे अनुवाकमें ब्रह्मज्ञानीके अन्न और प्रजा आदिसे सम्पन्न होनेकी बात कही गयी, इसपर यह जिज्ञासा होती है कि ये सब सिद्धियाँ भी क्या ब्रह्मसाक्षात्कार होनेपर ही मिलती हैं, या इन्हें प्राप्त करनेका दूसरा उपाय भी है। इसपर इन सबकी प्राप्तिके दूसरे उपाय भी बताये जाते हैं—

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अन्नम् न निन्द्यात्=अन्नकी निन्दा न करे, तत्=वह, व्रतम्=व्रत है, प्राणः=प्राण, वै=ही, अन्नम्=अन्न है; (और) शरीरम्=शरीर, (उस प्राणरूप अन्नसे जीनेके कारण) अन्नादम्=अन्नका भोक्ता है, शरीरम्=शरीर; प्राणे=प्राणके आधारपर, प्रतिष्ठितम्=स्थित हो रहा है, (और) शरीरे=शरीरके आधारपर, प्राणः=प्राण, प्रतिष्ठितः=स्थित हो रहे हैं; तत्=इस तरह, एतत्=यह; अन्ने=अन्नमें ही, अन्नम्=अन्न, प्रतिष्ठितम्=स्थित हो रहा है, यः=जो मनुष्य, अन्ने=अन्नमें ही, अन्नम्=अन्न, प्रतिष्ठितम्=

प्रतिष्ठित हो रहा है; **एतत्**=इस रहस्यको; **वेद**=जानता है; **सः**=वह; **प्रतितिष्ठति**=उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है, (अतः) **अन्नवान्**=अन्नवाला, (और) **अन्नादः**=अन्नको खानेवाला, **भवति**=हो जाता है; **प्रजया**=प्रजासे; **पशुभिः**=पशुओंसे, **ब्रह्मवर्चसेन**=(और) ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर, **महान्**=महान्, **भवति**=बन जाता है, (तथा) **कीर्त्या**=कीर्तिसे (सम्पन्न होकर भी), **महान्**=महान्, [**भवति**]=हो जाता है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें अन्नका महत्त्व बतलाकर उसे जाननेका फल बताया गया है। भाव यह है कि जो मनुष्य अन्नादिसे सम्पन्न होना चाहे, उसे सबसे पहले तो यह व्रत लेना चाहिये कि 'मैं कभी अन्नकी निन्दा नहीं करूँगा।' यह एक साधारण नियम है कि जिस किसी वस्तुको मनुष्य पाना चाहता है; उसके प्रति उसकी महत्त्वबुद्धि होनी चाहिये, तभी वह उसके लिये प्रयत्न करेगा। जिसकी जिसमें हेयबुद्धि है, वह उसकी ओर आँख उठाकर देखेगा भी नहीं। अन्नकी निन्दा न करनेका व्रत लेकर अन्नके इस महत्त्वको समझना चाहिये कि अन्न ही प्राण है और प्राण ही अन्न है; क्योंकि अन्नसे ही प्राणोंमें बल आता है और प्राणशक्तिसे ही अन्नमय शरीरमें जीवनी-शक्ति आती है। यहाँ प्राणको अन्न इसलिये भी कहा है कि यही शरीरमें अन्नके रसको सर्वत्र फैलाता है। शरीर प्राणके ही आधार टिका हुआ है, इसीलिये वह प्राणरूप अन्नका भोक्ता है। शरीर प्राणमें स्थित है अर्थात् शरीरकी स्थिति प्राणके अधीन है और प्राण शरीरमें स्थित है—प्राणोंका आधार शरीर है, यह बात प्रत्यक्ष है ही। इस प्रकार वह अन्नमय शरीर भी अन्न है। यह अनुभवसिद्ध विषय है कि प्राणोंको आहार न मिलनेपर वे शरीरकी धातुओंको ही सोख लेते हैं। और शरीरकी स्थिति प्राणके अधीन होनेसे प्राण भी अन्न ही हैं। अतः शरीर और प्राणका अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध होनेसे यह कहा गया है कि अन्नमें ही अन्न स्थित हो रहा है। यही इसका तत्त्व है। जो मनुष्य इस रहस्यको समझ लेता है, वही शरीर और प्राण—इन दोनोंका ठीक-ठीक उपयोग कर सकता है। इसीलिये यह कहा गया है कि वह शरीर और प्राणोंके विज्ञानमें पारङ्गत हो जाता है। और इसी विज्ञानके फलस्वरूप वह सब प्रकारकी भोगसामग्रीसे युक्त और उसे उपभोगमें लानेकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। इसीलिये यह संतानसे, नाना प्रकारके पशुओंसे और ब्रह्मतेजसे भी सम्पन्न होकर महान् बन जाता है। उसकी कीर्ति, उसका यश जगत्में फैल जाता है और उसके द्वारा भी वह जगत्में महान् हो जाता है।

॥ सप्तम अनुवाक समाप्त ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

अन्नं न परिचक्षीत । तद् व्रतम् । आपो वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ।

अन्नम् न परिचक्षीत=अन्नकी अवहेलना न करे, **तत्**=वह, **व्रतम्**=एक व्रत है; **आपः**=जल, **वै**=ही; **अन्नम्**=अन्न है; (और) **ज्योतिः**=तेज, **अन्नादम्**=(रसस्वरूप) अन्नका भोक्ता है, **अप्सु**=जलमें; **ज्योतिः**=तेज; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है, **ज्योतिषि**=तेजमें, **आपः**=जल, **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित है, **तत्**=वही; **एतत्**=यह; **अन्ने**=अन्नमें; **अन्नम्**=अन्न; **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है; **यः**=जो मनुष्य, (इस प्रकार) **अन्ने**=अन्नमें; **अन्नम्**=अन्न, **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है, **एतत्**=इस रहस्यको; **वेद**=भलीभाँति समझता है; **सः**=वह; (अन्तमें) **प्रतितिष्ठति**=(उस रहस्यमें) परिनिष्ठित हो जाता है, (तथा) **अन्नवान्**=अन्नवाला, (और) **अन्नादः**=अन्नको खानेवाला, **भवति**=हो जाता है, **प्रजया**=(वह) संतानसे, **पशुभिः**=पशुओंसे, (और) **ब्रह्मवर्चसेन**=ब्रह्मतेजसे, **महान्**=महान्; **भवति**=बन जाता है, (तथा) **कीर्त्या**=कीर्तिसे (समृद्ध होकर भी), **महान्**=महान्; [**भवति**]=हो जाता है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें जल और ज्योति दोनोंको अन्नरूप बताकर उन्हें जाननेका फल बतलाया है। भाव यह है कि जिस मनुष्यकी अन्नादिसे सम्पन्न होनेकी इच्छा हो, उसे यह निश्चय ले लेना चाहिये कि 'मैं कभी अन्नकी अवहेलना नहीं करूँगा अर्थात् अन्नका उल्लङ्घन, दुरुपयोग और परित्याग नहीं करूँगा एवं उसे जूठा नहीं छोड़ूँगा।' यह साधारण नियम है कि जो जिस वस्तुका अनादर करता है, उसके प्रति उपेक्षाबुद्धि रखता है, वह वस्तु उसका कभी वरण नहीं करती । किसी भी वस्तुको प्राप्त करनेके लिये उसके प्रति आदरबुद्धि रखना परमावश्यक है। जिसकी जिसमें आदरबुद्धि नहीं है, वह उसे पानेकी इच्छा अथवा चेष्टा क्यों करेगा । इस प्रकार अन्नकी अवहेलना न करनेका व्रत लेकर फिर अन्नके इस तत्त्वको समझना चाहिये कि जल ही अन्न है, क्योंकि सब प्रकारके अन्न अर्थात् खाद्य वस्तुएँ जलसे ही उत्पन्न होती हैं। और ज्योति अर्थात् तेज ही इस जलरूप अन्नको भक्षण करनेवाला है । जिस

प्रकार अग्नि एवं सूर्यरश्मियाँ आदि बाहरके जलका शोषण करती हैं, उसी प्रकार शरीरमें रहनेवाली जठराग्नि शरीरमें जानेवाले जलीय तत्त्वोंका शोषण करती है। जलमें ज्योति प्रतिष्ठित है। यद्यपि जल स्वभावतः ठंडा है, अतएव उसमें उष्ण ज्योति कैसे स्थित है—यह बात समझमें नहीं आती, तथापि शास्त्रोंमें यह माना गया है कि समुद्रमें बड़वानल रहता है तथा आजकलके वैज्ञानिक भी जलमेंसे बिजली-तत्त्वको निकालते हैं। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जलमें तेज स्थित है। इसी प्रकार तेजमें जल स्थित है, यह तो प्रत्यक्ष देखनेमें आता ही है, क्योंकि सूर्यकी प्रखर किरणोंमें स्थित जल ही हमलोगोंके सामने वृष्टिके रूपमें प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार ये जल और तेज अन्योन्याश्रित होनेके कारण समस्त अन्नरूप खाद्य पदार्थोंके कारण हैं, अतः ये ही उनके रूपमें परिणत होते हैं, इसलिये दोनों अन्न ही हैं। इस प्रकार अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित है। जो मनुष्य इस तत्त्वको समझ लेता है वह इन दोनोंके विज्ञानमें प्रतिष्ठित अर्थात् सिद्ध हो जाता है; क्योंकि वही इन दोनोका ठीक उपयोग कर सकता है। इसीके फल-स्वरूप वह अन्नसे अर्थात् सब प्रकारकी भोग-सामग्रीसे सम्पन्न और उन सबको यथायोग्य उपभोगमें लानेकी सामर्थ्यसे युक्त हो जाता है। और इसीलिये वह संतानसे, नाना प्रकारके पशुओंसे और ब्रह्मतेजसे सम्पन्न हो महान् हो जाता है। इतना ही नहीं, इस समृद्धिके कारण उसका यश सर्वत्र फैल जाता है, वह बड़ा भारी यशस्वी हो जाता है। और उस यशके कारण भी वह महान् हो जाता है।

॥ अष्टम अनुवाक समाप्त ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

अन्नं बहु कुर्वीत। तद् व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या।

अन्नम्=अन्नको; बहु कुर्वीत=बढ़ाये, तत्=वह; व्रतम्=एक व्रत है; पृथिवी=पृथ्वी, वै=ही; अन्नम्=अन्न है; आकाशः=आकाश; अन्नादः=पृथ्वीरूप अन्नका आधार होनेसे (मानो) अन्नाद है; पृथिव्याम्=पृथ्वीमें; आकाशः=आकाश; प्रतिष्ठितः=प्रतिष्ठित है; आकाशे=आकाशमें, पृथिवी=पृथ्वी; प्रतिष्ठिता=प्रतिष्ठित है; तत्=वही; एतत्=यह, अन्ने=अन्नमें;

अन्नम्=अन्न, प्रतिष्ठितम्=प्रतिष्ठित है, यः=जो मनुष्य,(इस प्रकार) अन्ने=अन्नमें, अन्नम्=अन्न, प्रतिष्ठितम्=प्रतिष्ठित है, एतत्=इस रहस्यको, वेद=भलीभाँति जान लेता है, सः=वह, (उस विषयमें) प्रतितिष्ठति=प्रतिष्ठित हो जाता है, अन्नवान्=अन्नवाला, (और) अन्नादः=अन्नको खानेवाला अर्थात् उसे पचानेकी शक्तिवाला, भवति=हो जाता है, प्रजया=(वह) प्रजासे, पशुभिः= पशुओंसे (और) ब्रह्मवर्चसेन=ब्रह्मतेजसे, महान्=महान्, भवति=बन जाता है, कीर्त्या=कीर्तिसे, [च=] भी; महान्=महान्; [भवति=] हो जाता है।

व्याख्या—इस अनुवाकमें पृथ्वी और आकाश दोनोंको अन्नरूप बताकर उनके तत्त्वको जाननेका यह फल बताया गया है। भाव यह है कि जिस मनुष्यको अन्नादिसे समृद्ध होनेकी इच्छा हो, उसे पहले तो यह व्रत लेना चाहिये—यह दृढ संकल्प करना चाहिये कि 'मैं अन्नको खूब बढाऊँगा।' किसी वस्तुका अभ्युदय—उसका विस्तार चाहना ही उसे आकर्षित करनेका सबसे श्रेष्ठ उपाय है। जो जिस वस्तुको क्षीण करनेपर तुला हुआ है, वह वस्तु उसे कदापि नहीं मिल सकती और मिलनेपर टिकेगी नहीं। इसके बाद अन्नके इस तत्त्वको समझना चाहिये कि पृथ्वी ही अन्न है—जितने भी अन्न हैं वे सब पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं। और पृथ्वीको अपनेमें विलीन कर लेनेवाला इसका आधारभूत आकाश ही अन्नाद अर्थात् इस अन्नका भोक्ता है। पृथ्वीमें आकाश स्थित है, क्योंकि वह सर्वव्यापी है; और आकाशमें पृथ्वी स्थित है—यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। ये दोनों ही एक दूसरेके आधार होनेके कारण अन्नस्वरूप हैं। पाँच भूतोंमें आकाश पहला तत्त्व है और पृथ्वी अन्तिम तत्त्व है, बीचके तीनों तत्त्व इन्हींके अन्तर्गत हैं। समस्त भोग्यपदार्थरूप अन्न इन पाँच महाभूतोंके ही कार्य हैं, अतः ये ही अन्नके रूपमें स्थित हैं। इसलिये अन्नमें ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो मनुष्य इस बातको तत्त्वसे जानता है कि पृथ्वीरूप अन्नमें आकाशरूप अन्न और आकाशरूप अन्नमें पृथ्वीरूप अन्न प्रतिष्ठित है, वही आकाश आदि पाँचों भूतोंका यथायोग्य उपयोग कर सकता है और इसीलिये वह इस विषयमें सिद्ध हो जाता है। इसी विज्ञानके फलस्वरूप वह अन्नसे अर्थात् सब प्रकारके भोग्य पदार्थोंसे और उनको उपभोगमें लानेकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है। इसीलिये वह संतानसे, नाना प्रकारके पशुओंसे और विद्याके तेजसे समृद्ध हो महान् बन जाता है। उसका यश समस्त जगत्में फैल जाता है, अतः वह यशके द्वारा भी महान् हो जाता है।

॥ नवम अनुवाक समाप्त ॥ ९ ॥

दशम अनुवाक

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत । तद् व्रतम् । तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात् । आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते । एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम् । मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम् । मध्यतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम् । अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते । य एवं वेद ।

वसतौ=अपने घरपर (ठहरनेके लिये आये हुए), **कंचन**=किसी (भी अतिथि) को, **न प्रत्याचक्षीत**=प्रतिकूल उत्तर न दे; **तत्**=यह; **व्रतम्**=एक व्रत है; **तस्मात्**=इसलिये; (अतिथि-सत्कारके लिये) **यया कया च विधया**= जिस किसी भी प्रकारसे, **बहु**=बहुत-सा, **अन्नम्**=अन्न, **प्राप्नुयात्**=प्राप्त करना चाहिये (क्योंकि सद्‌गृहस्थ) **अस्मै**=इस (घरपर आये हुए अतिथि) से; **अन्नम्**=भोजन, **आराधि**=तैयार है; **इति**=यों **आचक्षते**=कहते हैं; यदि (यह अतिथिको) **मुखतः**=मुख्यवृत्तिसे अर्थात् अधिक श्रद्धा, प्रेम और सत्कारपूर्वक, **एतत्**=यह, **राद्धम्**=तैयार किया हुआ, **अन्नम्**=भोजन (देता है तो), **वै**= निश्चय ही; **अस्मै**=इस (दाता) को, **मुखतः**=अधिक आदर-सत्कारके साथ ही, **अन्नम्**=अन्न; **राध्यते**=प्राप्त होता है; (यदि यह अतिथिको) **मध्यतः**=मध्यम श्रेणीकी श्रद्धा और प्रेमसे, **एतत्**=यह; **राद्धम्**=तैयार किया हुआ, **अन्नम्**= भोजन (देता है तो); **वै**=निःसन्देह, **अस्मै**=इस (दाता) को, **मध्यतः**= मध्यम श्रद्धा और प्रेमसे ही, **अन्नम् राध्यते**=अन्न प्राप्त होता है; (और यदि यह अतिथिको) **अन्ततः**=निकृष्ट श्रद्धा-सत्कारसे, **एतत्**=यह, **राद्धम्**=तैयार किया हुआ, **अन्नम्**=भोजन (देता है तो); **वै**=अवश्य ही; **अस्मै**=इस (दाता) को; **अन्ततः**=निकृष्ट श्रद्धा आदिसे; **अन्नम्**=अन्न; **राध्यते**=मिलता है, **यः**=जो, **एवम्**=इस प्रकार; **वेद**=इस रहस्यको जानता है (वह अतिथिके साथ बहुत उत्तम बर्ताव करता है)।

व्याख्या—दसवें अनुवाकके इस अंशमें अतिथि-सेवाका महत्त्व और फल बताया गया है। भाव यह है कि जो मनुष्य अतिथि-सेवाका पूरा लाभ उठाना चाहे, उसको सबसे पहले तो यह नियम लेना चाहिये कि 'मेरे घरपर जो कोई अतिथि आश्रयकी आशासे पधारेगा, मैं कभी उसको सूखा जवाब देकर निराश नहीं लौटाऊँगा।' 'अतिथिदेवो भव'—अतिथिको देवताबुद्धिसे सेवा करो—यह उपदेश गुरुके द्वारा स्नातक शिष्यको पहले ही दिया जा चुका है। इस प्रकारका नियम लेनेपर ही अतिथि-सेवा सम्भव है। यह व्रत लेकर इसका पालन करनेके

लिये—केवल अपना तथा कुटुम्बका पोषण करनेके लिये ही नहीं—जिस किसी भी न्यायोचित उपायसे बहुत-से अन्नका उपार्जन करे। धन-सम्पत्ति और अन्नादि, जो शरीरके पालन-पोषणके लिये उपयोगी सामग्री हैं, उन्हें प्राप्त करनेके लिये जितने भी न्यायोचित उपाय बताये गये हैं तथा पूर्वके तीन अनुवाकोंमें भी जो-जो उपाय बताये गये हैं, उनमेंसे किसीके भी द्वारा बहुत-सा अन्न प्राप्त करना चाहिये। अर्थात् अतिथि-सेवाके लिये आवश्यक वस्तुओंका अधिक मात्रामें संग्रह करना चाहिये, क्योंकि अतिथि-सेवा गृहस्थोचित सदाचारका एक अत्यावश्यक अङ्ग है। अच्छे प्रतिष्ठित मनुष्य घरपर आये हुए अतिथिसे यही कहते हैं—'आइये, बैठिये, भोजन तैयार है, भोजन कीजिये' इत्यादि। वे यह कदापि नहीं कहते कि हमारे यहाँ आपकी सेवाके लिये उपयुक्त वस्तुएँ अथवा रहनेका स्थान नहीं है। जो मनुष्य अपने घरपर आये हुए अतिथिकी अधिक आदर-सत्कारपूर्वक उत्तमभावसे विशुद्ध सामग्रियोंद्वारा सेवा करता है—उसे शुद्धतापूर्वक तैयार किया हुआ भोजन देता है, उसको भी उत्तम भावसे ही अन्न प्राप्त होता है अर्थात् उसे भोग्य-पदार्थोंके संग्रह करनेमें कठिनाईका सामना नहीं करना पड़ता। अतिथि-सेवाके प्रभावसे उसे किसी बातकी कमी नहीं रहती। अनायास उसकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण होती रहती हैं। यदि वह आये हुए अतिथिकी मध्यमभावसे सेवा करता है, साधारण रीतिसे भोजनादि तैयार करके विशेष आदर-सत्कारके बिना ही अतिथिको भोजन आदि कराके उसे सुख पहुँचाता है, तो उसे भी साधारण रीतिसे ही अन्न प्राप्त होता है। अर्थात् अन्न-वस्त्र आदि पदार्थोंका संग्रह करनेमें उसे साधारणतया आवश्यक परिश्रम करना पड़ता है। जिस भावसे यह अतिथिको देता है, उसी भावसे उतने ही आदर-सत्कारके साथ उसे वे वस्तुएँ मिलती हैं। इसी प्रकार यदि कोई अन्तिम वृत्तिसे अर्थात् बिना किसी प्रकारका आदर-सत्कार किये तुच्छ भावसे भाररूप समझकर अतिथिकी सेवा करता है—उसे निकृष्ट भावसे अश्रद्धापूर्वक तैयार किया हुआ भोजन आदि पदार्थ देता है, तो उसे वे पदार्थ वैसे ही भावसे प्राप्त होते हैं। अर्थात् उनकी प्राप्तिके लिये उसे अधिक-से-अधिक परिश्रम करना पड़ता है, लोगोंकी खुशामद करनी पड़ती है। जो मनुष्य इस प्रकार इस रहस्यको जानता है, वह उत्तम रीतिसे और विशुद्धभावसे अतिथि-सेवा करता है; अतः उसे सर्वोत्तम फल, जो पहले तीन अनुवाकोंमें बताया गया है, मिलता है।

सम्बन्ध—अब परमात्माका विभूतिरूपसे सर्वत्र चिन्तन करनेका प्रकार बताया जाता है—

क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः

समाज्ञाः । अथ दैवीः । तृप्तिरिति वृष्टौ । बलमिति विद्युति । यश इति पशुषु । ज्योतिरिति नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे । सर्वमित्याकाशे ।

[**सः परमात्मा=**] वह परमात्मा; **वाचि**=वाणीमें; **क्षेमः इति**=रक्षा-शक्तिके रूपसे है, **प्राणापानयोः**=प्राण और अपानमें; **योगक्षेमः इति**=प्राप्ति और रक्षा—दोनों शक्तियोंके रूपमें है, **हस्तयोः**=हाथोंमें **कर्म इति**=कर्म करनेकी शक्तिके रूपमें है, **पाद्योः**=पैरोंमें; **गतिः इति**=चलनेकी शक्तिके रूपमें स्थित है, **पायौ**=गुदामें, **विमुक्तिः इति**=मलत्यागकी शक्ति बनकर है, **इति**=इस प्रकार(ये); **मानुषीः समाज्ञाः**=मानुषी समाज्ञा अर्थात् आध्यात्मिक उपासनाएँ हैं, **अथ**=अब; **दैवीः**=दैवी उपासनाओंका वर्णन करते हैं; (वह परमात्मा) **वृष्टौ**=वृष्टिमें; **तृप्तिः इति**=तृप्ति-शक्तिके रूपमें है; **विद्युति**=बिजलीमें; **बलम् इति**=बल (पावर) बनकर स्थित है, **पशुषु**=पशुओंमें; **यशः इति**=यशके रूपमें स्थित है; **नक्षत्रेषु**=ग्रहों और नक्षत्रोंमें; **ज्योतिः इति**=ज्योतिरूपसे स्थित है; **उपस्थे**=उपस्थमें; **प्रजातिः**=प्रजा उत्पन्न करनेकी शक्ति, **अमृतम्**=वीर्यरूप अमृत (और); **आनन्दः इति**=आनन्द देनेकी शक्तिके रूपमें स्थित है; **आकाशे**=(तथा) आकाशमें, **सर्वम् इति**=सबका आधार बनकर स्थित है ।

व्याख्या—दसवें अनुवाकके इस अंशमें परमेश्वरकी विभूतियोंका संक्षेपमें वर्णन किया गया है । भाव यह है कि सत्यरूप वाणीमें आशीर्वादादिके द्वारा जो रक्षा करनेकी शक्ति प्रतीत होती है, उसके रूपमें वहाँ परमात्माकी ही स्थिति है । प्राण और अपानमें जो जीवनोपयोगी वस्तुओंको आकर्षण करनेकी और जीवन-रक्षाकी शक्ति है, वह भी परमात्माका ही अंश है । इसी प्रकार हाथोंमें काम करनेकी शक्ति, पैरोंमें चलनेकी शक्ति और गुदामें मलत्याग करनेकी शक्ति भी परमात्माकी ही है । ये सब शक्तियाँ उन परमेश्वरकी शक्तिका ही एक अंश हैं । यह देखकर मनुष्यको परमेश्वरकी सत्तापर विश्वास करना चाहिये । यह मानुषी समाज्ञा बतायी गयी है, अर्थात् मनुष्यके शरीरमें प्रतीत होनेवाली परमात्माकी शक्तियोंका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराया गया है । इसीको आध्यात्मिक (शरीर-सम्बन्धी) उपासना भी कह सकते हैं । इसी प्रकार दैवी पदार्थोंमें अभिव्यक्त होनेवाली शक्तिका वर्णन करते हैं । यह दैवी अथवा आधिदैविक उपासना है । वृष्टिमें जो अन्नादिको उत्पन्न करने तथा जल-प्रदानके द्वारा सबको तृप्त करनेकी शक्ति है, बिजलीमें जो बल (पावर) है, पशुओंमें जो स्वामीका यश बढ़ानेकी शक्ति है, नक्षत्रोंमें अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा और तारागणोंमें जो प्रकाश है, उपस्थमें जो

संतानोत्पादनकी शक्ति, वीर्यरूप अमृत* और आनन्द देनेकी शक्ति है तथा आकाशमें जो सबको धारण करनेकी और सर्वव्यापकताकी एवं अन्य सब प्रकारकी शक्ति है—ये सब उन परमेश्वरकी अचिन्त्य एवं अपार शक्तिके ही किसी एक अंशकी अभिव्यक्तियाँ हैं। गीतामें भी कहा है कि इस जगत्‌में जो कुछ भी विभूति, शक्ति और शोभासे युक्त है, वह मेरे ही तेजका एक अंश है (गीता १० । ४१)। इन सबको देखकर मनुष्यको सर्वत्र एक परमात्माकी व्यापकताका रहस्य समझना चाहिये।

सम्बन्ध—अब विविध भावनासे की जानेवाली उपासनाका फलसहित वर्णन करते हैं—

तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत । प्रतिष्ठावान् भवति । तन्मह इत्युपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मानवान् भवति । तन्नम इत्युपासीत । नम्यन्तेऽस्मै कामाः । तद् ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्मवान् भवति । तद् ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः ।

तत्=वह (उपास्यदेव), प्रतिष्ठा=‘प्रतिष्ठा’ (सबका आधार) है, इति=इस प्रकार; उपासीत=(उसकी) उपासना करे तो, प्रतिष्ठावान् भवति=साधक प्रतिष्ठावाला हो जाता है, तत्=वह (उपास्यदेव) महः=सबसे महान् है, इति=इस प्रकार समझकर; उपासीत=उपासना करे तो, महान्=महान्, भवति=हो जाता है, तत्=वह (उपास्यदेव), मनः=‘मन’ है, इति=इस प्रकार समझकर, उपासीत=उसकी उपासना करे तो, (ऐसा उपासक) मानवान्=मननशक्तिसे सम्पन्न, भवति=हो जाता है, तत्=वह (उपास्यदेव), नमः=‘नमः’ (नमस्कारके योग्य) है, इति=इस प्रकार समझकर, उपासीत=उसकी उपासना करे तो, अस्मै=ऐसे उपासकके लिये,कामाः=समस्त काम—भोग-पदार्थ, नम्यन्ते=विनीत हो जाते हैं, तत्=वह (उपास्यदेव), ब्रह्म=ब्रह्म है, इति=इस प्रकार समझकर, उपासीत=उसकी उपासना करे तो, (ऐसा उपासक) ब्रह्मवान्=ब्रह्मसे युक्त, भवति=हो जाता है, तत्=वह (उपास्यदेव), ब्रह्मणः=परमात्माका, परिमरः=सबको मारनेके लिये नियत किया हुआ अधिकारी है, इति=इस प्रकार समझकर, उपासीत=उसकी उपासना करे तो, एनम् परि=ऐसे उपासकके प्रति, द्विषन्तः=द्वेष रखनेवाले, सपत्नाः=शत्रु, म्रियन्ते=मर जाते

* शरीरका रक्षक एवं पोषक तथा जीवनका आधार होनेसे वीर्यको अमृत कहा गया है। इसकी सावधानीके साथ रक्षा करनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति भी सम्भव है।

हैं, ये=जो, परि=(उसका) सब प्रकारसे, अप्रियाः भ्रातृव्याः=अनिष्ट चाहनेवाले अप्रिय बन्धुजन हैं, [ते अपि म्रियन्ते]=वे भी मर जाते हैं।

व्याख्या—इस मन्त्रमें सकाम उपासनाका भिन्न-भिन्न फल बताया गया है। भाव यह है कि प्रतिष्ठा चाहनेवाला पुरुष अपने उपास्यदेवकी प्रतिष्ठाके रूपमें उपासना करे, अर्थात् 'वे उपास्यदेव ही सबकी प्रतिष्ठा—सबके आधार हैं, इस भावसे उनका चिन्तन करे। ऐसे उपासककी संसारमें प्रतिष्ठा होती है। महत्त्वकी प्राप्तिके लिये यदि अपने उपास्यदेवको 'महान्' समझकर उनकी उपासना करे तो वह महान् हो जाता है—महत्त्वको प्राप्त कर लेता है। यदि अपने उपास्यदेवको महान् मनस्वी समझकर मनन करनेकी शक्ति प्राप्त करनेके लिये उनकी उपासना करे तो वह साधक मनन करनेकी विशेष शक्ति प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार जो अपने उपास्यदेवको नमस्कार करनेयोग्य शक्तिशाली समझकर वैसी शक्ति प्राप्त करनेके लिये उनकी उपासना करे, वह स्वयं नमस्कार करनेयोग्य बन जाता है, समस्त कामनाएँ उसके सामने हाथ जोड़कर खड़ी रहती हैं। समस्त भोग अपने आप उसके चरणोंमें लोटने लगते हैं। अनायास ही उसे समस्त भोग-सामग्री प्राप्त हो जाती है। तथा जो अपने उपास्यदेवको सबसे बड़ा—सर्वाधार ब्रह्म समझकर उन्हींकी प्राप्तिके लिये उनकी उपासना करे, वह ब्रह्मवान् बन जाता है, अर्थात् सर्वशक्तिमान् परमेश्वर उसके अपने बन जाते हैं—उसके वशमें हो जाते हैं। जो अपने उपास्यदेवको ब्रह्मके द्वारा सबका संहार करनेके लिये नियत किया हुआ अधिकारी देवता समझकर उनकी उपासना करता है, उससे द्वेष करनेवाले शत्रु स्वतः नष्ट हो जाते हैं तथा जो उसके अपकारी एवं अप्रिय बन्धुजन होते हैं, वे भी मारे जाते हैं। वास्तवमें किसी भी रूपमें किसी भी उपास्यदेवकी उपासना की जाय, वह प्रकारान्तरसे उन परब्रह्म परमेश्वरकी ही उपासना है, परंतु सकाम मनुष्य अज्ञानवश इस रहस्यको न जाननेके कारण भिन्न-भिन्न शक्तियोंसे युक्त भिन्न-भिन्न देवताओंकी भिन्न-भिन्न कामनाओंकी सिद्धिके लिये उपासना करते हैं, इसलिये वे वास्तविक लाभसे वञ्चित रह जाते हैं (गीता ७। २१, २२, २३, २४, ९। २२, २३)। अतः मनुष्यको चाहिये कि इस रहस्यको समझकर सब देवोंके देव सर्वशक्तिमान् परमात्माकी उपासना उन्हींकी प्राप्तिके लिये करे, उनसे और कुछ न चाहे।

सम्बन्ध—सर्वत्र एक ही परमात्मा परिपूर्ण हैं, इस बातको समझकर उन्हें प्राप्त कर लेनेका फल और प्राप्त करनेवालेकी स्थितिका वर्णन करते हैं—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः। स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमय-

मात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञान-मयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमाँ-ल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते ।

सः=वह (परमात्मा), यः=जो, अयम्=यह, पुरुषे=इस मनुष्यमें है, च=तथा, यः=जो, असौ=वह, आदित्ये च=सूर्यमें भी है; सः=वह (दोनोंका अन्तर्यामी); एकः=एक ही है, यः=जो (मनुष्य); एवंवित्=इस प्रकार तत्त्वको जाननेवाला है, सः=वह, अस्मात्=इस, लोकात्=लोक (शरीर) से, प्रेत्य=उत्क्रमण करके; एतम्=इस, अन्नमयम्=अन्नमय, आत्मानम्=आत्माको, उपसंक्रम्य=प्राप्त होकर, एतम्=इस, प्राणमयम्=प्राणमय, आत्मानम्=आत्माको, उपसंक्रम्य=प्राप्त होकर, एतम्=इस, मनोमयम्=मनोमय; आत्मानम्=आत्माको, उपसंक्रम्य=प्राप्त होकर; एतम्=इस; विज्ञानमयम्=विज्ञानमय, आत्मानम्=आत्माको; उपसंक्रम्य=प्राप्त होकर, एतम्=इस आनन्दमयम्=आनन्दमय, आत्मानम्=आत्माको, उपसंक्रम्य=प्राप्त होकर, कामान्नी=इच्छानुसार भोगवाला, (और) कामरूपी=इच्छानुसार रूपवाला हो जाता है; (तथा) इमान्=इन, लोकान् अनुसंचरन्=सब लोकोंमें विचरता हुआ, एतत्=इस (आगे बताये हुए), साम गायन्=साम (समतायुक्त उद्गारों) का गायन करता, आस्ते=रहता है ।

व्याख्या—ये परमात्मा, जिनका वर्णन पहले सबकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण कहकर किया जा चुका है और जो परमानन्दस्वरूप हैं, वे इस पुरुषमें अर्थात् मनुष्यमें और सूर्यमें एक ही हैं । अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान एक ही परमात्मा हैं । नाना रूपोंमें उन्हींकी अभिव्यक्ति हो रही है । जो मनुष्य इस तत्त्वको जान लेता है, वह वर्तमान शरीरसे अलग होनेपर उन परमानन्दस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है, जिनका वर्णन अन्नमय आत्मा, प्राणमय आत्मा, मनोमय आत्मा, विज्ञानमय आत्मा और आनन्दमय आत्माके नामसे पहले किया गया है । इन सबको पाकर अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म भेदसे जो एककी अपेक्षा एकके अन्तरात्मा होकर नाना रूपोंमें स्थित हैं और सबके अन्तर्यामी परमानन्दस्वरूप हैं, उनको प्राप्त करके मनुष्य पर्याप्त भोग सामग्रीसे युक्त और इच्छानुसार रूप धारण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न हो जाता है । साथ ही वह इन लोकोंमें विचरता हुआ आगे बताये जानेवाले साम (समतायुक्त भावों) का गान करता रहता है ।

सम्बन्ध—उसके आनन्दमग्न मनमें जो समता और सर्वरूपताके भाव उठा करते हैं, उनका वर्णन करते हैं—

हा३वु हा३वु हा३वु । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो-३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः । अह१ँश्लोककृदह१ँश्लोककृदह१ँश्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि । यो मा ददाति स इदेव मा ३ वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्ण ज्योतीः । य एवं वेद । इत्युपनिषत् ।

हावु हावु हावु=आश्चर्य ! आश्चर्य !! आश्चर्य !!!, अहम्=मैं, अन्नम्=अन्न हूँ, अहम्=मैं, अन्नम्=अन्न हूँ, अहम्=मैं, अन्नम्=अन्न हूँ, अहम्=मैं ही, अन्नादः=अन्नका भोक्ता हूँ, अहम्=मैं ही, अन्नादः=अन्नका भोक्ता हूँ, अहम्=मैं ही; अन्नादः=अन्नका भोक्ता हूँ, अहम्=मैं; श्लोककृत्=इनका संयोग करानेवाला हूँ, अहम्=मैं, श्लोककृत्=इनका संयोग करानेवाला हूँ, अहम्=मैं, श्लोककृत्=इनका संयोग करानेवाला हूँ, अहम्=मैं, ऋतस्य=सत्यका अर्थात् प्रत्यक्ष दीखनेवाले जगत्की अपेक्षासे, प्रथमजाः=सबमें प्रधान होकर उत्पन्न होनेवाला (हिरण्यगर्भ), [च]=और; देवेभ्यः=देवताओंसे भी पूर्वम्=पहले विद्यमान; अमृतस्य=अमृतका, नाभायि (नाभि)=केन्द्र, अस्मि=हूँ, यः=जो कोई, मा=मुझे, ददाति=देता है; सः=वह, इत्=इस कार्यसे, एव=ही, मा आवाः=मेरी रक्षा करता है, अहम्=मैं, अन्नम्=अन्नस्वरूप होकर, अन्नम्=अन्न, अदन्तम्=खानेवालेको; अद्मि=निगल जाता हूँ, अहम्=मैं, विश्वम्=समस्त, भुवनम् अभ्यभवाम्=ब्रह्माण्डका तिरस्कार करता हूँ; सुवः न ज्योतिः=मेरे प्रकाशकी एक झलक सूर्यके समान है; यः=जो, एवम्=इस प्रकार, वेद=जानता है (उसे भी यही स्थिति प्राप्त होती है), इति=इस प्रकार, उपनिषत्=यह उपनिषद्—ब्रह्मविद्या समाप्त हुई ।

व्याख्या—उस महापुरुषकी स्थिति शरीरमें नहीं रहती । वह शरीरसे सर्वथा ऊपर उठकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है । यह बात पहले कहकर उसके बाद इस साम-गानका वर्णन किया गया है । इससे यह प्रकट होता है कि परमात्माके साथ एकताकी प्राप्ति कर लेनेवाले महापुरुषके ये पावन उद्गार उसके विशुद्ध अन्तःकरणसे निकले हैं और उसकी अलौकिक महिमा सूचित करते हैं । 'हावु' पद आश्चर्यबोधक अव्यय है । वह महापुरुष कहता है—बड़े आश्चर्यकी बात है ! ये सम्पूर्ण भोग-वस्तुएँ, इनको भोगनेवाला जीवात्मा और इन दोनोंका संयोग करानेवाला परमेश्वर एक मैं ही हूँ । मैं ही इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले जगत्में समस्त देवताओंसे पहले सबमें प्रधान होकर प्रकट होनेवाला ब्रह्मा हूँ; और परमानन्दरूप

अमृतके केन्द्र परब्रह्म परमेश्वर भी मुझसे अभिन्न हैं, अतः वे भी मैं ही हूँ। जो कोई मनुष्य किसी भी वस्तुके रूपमें मुझे किसीको प्रदान करता है, वह मानो मुझे देकर मेरी रक्षा करता है। अर्थात् योग्य पात्रमें भोग्य पदार्थोंका दान ही उनकी रक्षाका सर्वोत्तम उपाय है। इसके विपरीत जो अपने ही लिये अन्नरूप समस्त भोगोंका उपभोग करता है, उस खानेवालेको मैं अन्नरूप होकर निगल जाता हूँ। अर्थात् उसका विनाश हो जाता है—उसकी भोग-सामग्री टिकती नहीं। मैं समस्त ब्रह्माण्डका तिरस्कार करनेवाला हूँ। मेरी महिमाकी तुलनामें यह सब तुच्छ है। मेरे प्रकाशकी एक झलक भी सूर्यके समान है। अर्थात् जगत्में जितने भी प्रकाशयुक्त पदार्थ हैं, वे सब मेरे ही तेजके अंश हैं। जो कोई इस प्रकार परमात्माके तत्त्वको जानता है, वह भी इसी स्थितिको प्राप्त कर लेता है। उपर्युक्त कथन परमात्मामें एकीभावसे स्थित होकर परमात्माकी दृष्टिसे है, यह समझना चाहिये।

॥ दशम अनुवाक समाप्त ॥ १० ॥

॥ भृगुवल्ली समाप्त ॥ ३ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः।* नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

इसका अर्थ शिक्षावल्लीके द्वादश अनुवाकमें दिया गया है।

* यह मन्त्र ऋग्वेद १। ९०। ९, यजुर्वेद ३६। ९ में आया है।

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

श्वेताश्वतरोपनिषद्

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ॐ=पूर्णब्रह्म परमात्मन्, (आप) **नौ**=हम दोनो (गुरु-शिष्य) की, **सह**=साथ-साथ; **अवतु**=रक्षा करें, **नौ**=हम दोनोका, **सह**=साथ-साथ, **भुनक्तु**=पालन करें; **सह**=(हम दोनो) साथ-साथ ही, **वीर्यम्**=शक्ति, **करवावहै**=प्राप्त करें; **नौ**=हम दोनोंकी; **अधीतम्**=पढ़ी हुई विद्या, **तेजस्वि**=तेजोमयी, **अस्तु**=हो, **मा विद्विषावहै**=हम दोनों परस्पर द्वेष न करें ।

व्याख्या—हे परमात्मन् ! आप हम गुरु-शिष्य दोनोकी साथ-साथ सब प्रकारसे रक्षा करें, हम दोनोका आप साथ-साथ समुचितरूपसे पालन-पोषण करें, हम दोनो साथ-ही-साथ सब प्रकारसे बल प्राप्त करें, हम दोनोकी अध्ययन की हुई विद्या तेजपूर्ण हो—कहीं किसीसे हम विद्यामें परास्त न हों और हम दोनों जीवनभर परस्पर स्नेह-सूत्रसे बँधे रहें, हमारे अंदर परस्पर या अन्य किसीसे कभी द्वेष न हो । हे परमात्मन् ! तीनो तापोकी निवृत्ति हो ।

प्रथम अध्याय

हरिः ॐ ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥ १ ॥

'**हरिः ओम्**' इस प्रकार परमात्माके नामका उच्चारण करके उस परब्रह्म परमेश्वरका स्मरण करते हुए यह उपनिषद् आरम्भ की जाती है—

ब्रह्मवादिनः=ब्रह्मविषयक चर्चा करनेवाले कुछ जिज्ञासु, **वदन्ति**=आपसमें कहते हैं, **ब्रह्मविदः**=हे वेदज्ञ महर्षियो !, **कारणम्**=इस जगत्का मुख्य कारण; **ब्रह्म**=ब्रह्म; **किम्**=कौन है; **कुतः**=(हमलोग) किससे;

जाताः स्म=उत्पन्न हुए हैं, केन=किससे, जीवाम=जी रहे हैं, च=और, क्व=किसमें, सम्प्रतिष्ठाः=हमारी सम्यक् प्रकारसे स्थिति है; (तथा) केन अधिष्ठिताः=किसके अधीन रहकर, [वयम्]=हमलोग, सुखेतरेषु=सुख और दुःखोंमें, व्यवस्थाम्=निश्चित व्यवस्थाके अनुसार, वर्तामहे=वर्त रहे हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमात्माको जानने और प्राप्त करनेके लिये उनकी चर्चा करनेवाले कुछ जिज्ञासु पुरुष आपसमें कहने लगे—'हे वेदज्ञ महर्षि-गण ! हमने वेदोंमें पढ़ा है कि इस समस्त जगत्के कारण ब्रह्म हैं, सो वे ब्रह्म कौन हैं ? हम सब लोग किससे उत्पन्न हुए हैं—हमारा मूल क्या है ? किसके प्रभावसे हम जी रहे हैं—हमारे जीवनका आधार कौन है ? और हमारी पूर्णतया स्थिति किसमें है ? अर्थात् हम उत्पन्न होनेसे पहले—भूतकालमें उत्पन्न होनेके बाद—वर्तमानकालमें और इसके पश्चात्—प्रलयकालमें किसमें स्थित रहते हैं ? हमारा परम आश्रय कौन है ? तथा हमारा अधिष्ठाता—हमलोगोंकी व्यवस्था करनेवाला कौन है ? जिसकी रची हुई व्यवस्थाके अनुसार हमलोग सुख-दुःख दोनों भोग रहे हैं, वह इस सम्पूर्ण जगत्की सुव्यवस्था करनेवाला इसका संचालक स्वामी कौन है ?'* ॥ १ ॥

> कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा
> भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
> संयोग एषां न त्वात्मभावा-
> दात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥ २ ॥

(क्या) कालः=काल, स्वभावः=स्वभाव; नियतिः=निश्चित फल देनेवाला कर्म, यदृच्छा=आकस्मिक घटना, भूतानि=पाँचों महाभूत, (या) पुरुषः=जीवात्मा; योनिः=कारण है, इति चिन्त्या=इसपर विचार करना चाहिये, एषाम्=इन काल आदिका, संयोगः=समुदाय; तु=भी, न=इस जगत्का कारण नहीं हो सकता, आत्मभावात्=क्योंकि वे चेतन आत्माके अधीन हैं (जड होनेके कारण स्वतन्त्र नहीं हैं), आत्मा=जीवात्मा, अपि=भी, [न]=इस जगत्का कारण नहीं हो सकता, सुखदुःखहेतोः=(क्योंकि वह) सुख-दुःखोंके हेतुभूत प्रारब्धके, अनीशः=अधीन है, स्वतन्त्र नहीं है ॥ २ ॥

---

* इस प्रकार परब्रह्म परमात्माकी खोज करना, उन्हें जानने और पानेके लिये उत्कट अभिलाषाके साथ उत्साहपूर्वक आपसमें विचार करना, परमात्माके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंसे उनके विषयमें विनयभाव और श्रद्धापूर्वक पूछना, उनकी बतायी हुई बातोंको ध्यानपूर्वक सुनकर काममें लाना—इसीका नाम 'सत्सङ्ग' है । इस उपनिषद्के प्रथम मन्त्रमें सत्सङ्गका ही वर्णन है । इससे सत्सङ्गकी अनादिता और अलौकिक महत्ता सूचित होती है ।

व्याख्या—वे कहने लगे कि वेद-शास्त्रोंमें अनेक कारणोंका वर्णन आता है। कहीं तो कालको कारण बताया है, क्योंकि किसी-न-किसी समयपर ही वस्तुओंकी उत्पत्ति देखी जाती है, जगत्की रचना और प्रलय भी कालके ही अधीन सुने जाते हैं। कहीं स्वभावको कारण बताया जाता है, क्योंकि बीजके अनुरूप ही वृक्षकी उत्पत्ति होती है—जिस वस्तुमें जो स्वाभाविक शक्ति है, उसीसे उसका कार्य उत्पन्न होता देखा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुगत शक्तिरूप जो स्वभाव है, वह कारण है। कहीं कर्मको कारण बताया है, क्योंकि कर्मानुसार ही जीव भिन्न-भिन्न योनियोंमें भिन्न-भिन्न स्वभाव आदिसे युक्त होकर उत्पन्न होते हैं। कहीं आकस्मिक घटनाको अर्थात् होनहार (भवितव्यता) को कारण बताया है। कहीं पाँचो महाभूतोंको और कहीं जीवात्माको जगत्का कारण बताया गया है। अतः हमलोगोंको विचार करना चाहिये कि वास्तवमें कारण कौन है। विचार करनेसे समझमें आता है कि कालसे लेकर पञ्चमहाभूतोंतक बताये हुए जड पदार्थोंमेंसे कोई भी जगत्का कारण नहीं है। वे अलग-अलग तो क्या, सब मिलकर भी जगत्के कारण नहीं हो सकते, क्योंकि ये सब जड होनेके कारण चेतनके अधीन हैं, इनमें स्वतन्त्र कार्य करनेकी शक्ति नहीं है। जिन जड वस्तुओंके मेलसे कोई नयी चीज उत्पन्न होती है, वह उसके संचालक चेतन आत्माके ही अधीन और उसीके भोगार्थ होती है। इनके सिवा पुरुष अर्थात् जीवात्मा भी जगत्का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि वह सुख-दुःखके हेतुभूत प्रारब्धके अधीन है, वह भी स्वतन्त्ररूपसे कुछ नहीं कर सकता। अतः कारण-तत्त्व कुछ और ही है॥ २॥

सम्बन्ध—इस प्रकार विचार करके उन्होंने क्या निर्णय किया, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः॥ ३॥

ते=उन्होंने, ध्यानयोगानुगताः=ध्यानयोगमें स्थित होकर; स्वगुणैः=अपने गुणोंसे; निगूढाम्=ढकी हुई, देवात्मशक्तिम् अपश्यन्=(उन) परमात्मदेवकी स्वरूपभूत अचिन्त्यशक्तिका साक्षात्कार किया; यः=जो (परमात्मदेव), एकः=अकेला ही, तानि=उन; कालात्मयुक्तानि=कालसे लेकर

आत्मातक (पहले बताये हुए); निखिलानि=सम्पूर्ण, कारणानि अधितिष्ठति=कारणोंपर शासन करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—इस प्रकार आपसमें विचार करनेपर जब युक्तियोंद्वारा और अनुमानसे वे किसी निर्णयपर नहीं पहुँच सके, तब वे सब ध्यानयोगमें स्थित हो गये अर्थात् अपने मन और इन्द्रियोंको बाहरके विषयोंसे हटाकर परब्रह्मको जाननेके लिये उन्हींका चिन्तन करनेमें तत्पर हो गये। ध्यान करते-करते उन्हें परमात्माकी महिमाका अनुभव हुआ। उन्होंने उन परमदेव परब्रह्म पुरुषोत्तमकी स्वरूपभूत अचिन्त्य दिव्य शक्तिका साक्षात्कार किया, जो अपने ही गुणोंसे—सत्त्व, रज, तमसे ढकी है, अर्थात् जो देखनेमें त्रिगुणमयी प्रतीत होती है, परन्तु वास्तवमें तीनों गुणोंसे परे है। तब वे इस निर्णयपर पहुँचे कि कालसे लेकर आत्मातक जितने कारण पहले बताये गये हैं, उन समस्त कारणोंके जो अधिष्ठाता—स्वामी हैं, अर्थात् वे सब जिनकी आज्ञा और प्रेरणा पाकर, जिनकी उस शक्तिके किसी एक अंशको लेकर अपने-अपने कार्योंके करनेमें समर्थ होते हैं, वे एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही इस जगत्के वास्तविक कारण हैं, दूसरा कोई नहीं है ॥ ३ ॥

तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं
शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं
त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥ ४ ॥

तम्=उस, एकनेमिम्=एक नेमिवाले, त्रिवृतम्=तीन घेरोंवाले, षोडशान्तम्=सोलह सिरोंवाले, शतार्धारम्=पचास अरोंवाले, विंशतिप्रत्यराभिः=बीस सहायक अरोंसे, (तथा) षड्भिः अष्टकैः=छः अष्टकोंसे, [युक्तम्]=युक्त, विश्वरूपैकपाशम्=अनेक रूपोंवाले एक ही पाशसे युक्त, त्रिमार्गभेदम्=मार्गके तीन भेदोंवाले, (तथा) द्विनिमित्तैकमोहम्=दो निमित्त और मोहरूपी एक नाभिवाले (चक्रको), [अपश्यन्]=उन्होंने देखा ॥ ४ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें विश्वका चक्रके रूपमें वर्णन किया गया है। भाव यह कि परमदेव परमेश्वरकी स्वरूपभूता अचिन्त्यशक्तिका दर्शन करनेवाले वे ऋषिलोग कहते हैं—हमने एक ऐसे चक्रको देखा है, जिसमें एक नेमि है। नेमि उस गोल घेरेको कहते हैं, जो चक्रके अरों और नाभि आदि सब अवयवोंको वेष्टित किये रहती है तथा यथास्थान बनाये रखती है। यहाँ अव्याकृत प्रकृतिको ही 'नेमि' कहा गया है, क्योंकि वही इस व्यक्त जगत्का मूल अथवा आधार है। जिस प्रकार चक्रकेकी रक्षाके लिये उस नेमिके ऊपर लोहेका घेरा (हाल) चढ़ा रहता है, उसी प्रकार इस संसार-चक्रकी अव्याकृत प्रकृतिरूप नेमिके ऊपर सत्त्व, रज और तम—

ये तीन गुण ही तीन घेरे हैं। यह पहले ही कह आये हैं कि भगवान्की वह अचिन्त्यशक्ति तीन गुणोंसे ढकी है। जिस प्रकार चक्केकी नेमि अलग-अलग सिरोंके जोड़से बनती है, उसी प्रकार संसाररूप चक्रकी प्रकृतिरूप नेमिके मन, बुद्धि और अहंकार तथा आकाश, वायु, तेज जल और पृथ्वी—ये आठ सूक्ष्म तत्त्व और इनके ही आठ स्थूल रूप—इस प्रकार सोलह सिरे हैं। जिस प्रकार चक्रमें अरे लगे रहते हैं, जो एक ओरसे नेमिके टुकड़ोंमें जुड़े रहते हैं और दूसरी ओरसे चक्केकी नाभिमें जुड़े होते हैं, उसी प्रकार इस संसार-चक्रमें अन्तःकरणकी वृत्तियोंके पचास भेद तो पचास अरोंकी जगह हैं और पाँच महाभूतोंके कार्य—दस इन्द्रियाँ, पाँच विषय और पाँच प्राण—ये बीस सहायक अरोंकी जगह हैं। इस चक्केमें आठ-आठ चीजों* के छः समूह अङ्गरूपमें विद्यमान हैं। इन्हींको छः अष्टकोंके नामसे कहा गया है। जीवोंको इस चक्रमें बाँधकर रखनेवाली अनेक रूपोंमें प्रकट आसक्तिरूप एक फाँसी है। देवयान, पितृयान और इसी लोकमें एक योनिसे दूसरी योनिमें जानेका मार्ग—इस प्रकार ये तीन मार्ग हैं। पुण्यकर्म और पापकर्म—ये दो इस जीवको इस चक्रके साथ-साथ घुमानेमें निमित्त हैं और जिसमें अरे टँगे रहते हैं, उस

---

* यहाँ 'अष्टक' शब्दसे क्या अभिप्राय है, ठीक-ठीक पता नहीं चलता। चक्कोंमें भी 'अष्टक' नामका कोई अङ्ग होता है या नहीं, और यदि होता है तो उसका क्या स्वरूप होता है तथा उसे अष्टक क्यों कहते है—इसका भी कोई पता नहीं चलता। शाङ्करभाष्यमें भी 'अष्टक' किसे कहते हैं—यह खोलकर नहीं बताया गया। इसीलिये छः अष्टकोंकी व्याख्या नहीं की जा सकी। शाङ्करभाष्यके अनुसार छ अष्टक इस प्रकार हैं—

(१) गीता (७। ४) में उल्लिखित आठ प्रकारकी प्रकृति अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार,

(२) शरीरगत आठ धातुएं अर्थात् त्वचा, चमड़ी, मांस, रक्त, मेद, हड्डी, मज्जा, और वीर्य,

(३) अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व—ये आठ प्रकारके ऐश्वर्य,

(४) धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य (राग) और अनैश्वर्य—ये आठ भाव,

(५) ब्रह्मा, प्रजापति, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर और पिशाच—ये आठ प्रकारकी देवयोनियाँ,

(६) समस्त प्राणियोंके प्रति दया, क्षमा, अनसूया (निन्दा न करना), शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), अनायास, मङ्गल, अकृपणता (उदारता) और अस्पृहा—ये आत्माके आठ गुण।

नाभिके स्थानमें अज्ञान है। जिस प्रकार नाभि ही चक्रका केन्द्र है, उसी प्रकार अज्ञान इस जगत्‌का केन्द्र है ॥ ४ ॥

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां
पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां
पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥ ५ ॥

पञ्चस्रोतोऽम्बुम्=पाँच स्रोतोंसे आनेवाले विषयरूप जलसे युक्त; **पञ्चयोन्युग्रवक्राम्**=पाँच स्थानोंसे उत्पन्न होकर भयानक और टेढ़ी-मेढ़ी चालसे चलनेवाली, **पञ्चप्राणोर्मिम्**=पाँच प्राणरूप तरङ्गोंवाली, **पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्**=पाँच प्रकारके ज्ञानका आदि कारण मन ही है मूल जिसका, **पञ्चावर्ताम्**=पाँच भँवरोंवाली, **पञ्चदुःखौघवेगाम्**=पाँच दुःखरूप प्रवाहके वेगसे युक्त; **पञ्चपर्वाम्**=पाँच पर्वोंवाली, (और) **पञ्चाशद्भेदाम्**=पचास भेदोंवाली (नदीको), **अधीमः**=हमलोग जानते हैं ॥ ५ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें संसारका नदीके रूपमें वर्णन किया गया है। वे ब्रह्मज्ञ ऋषि कहते हैं—हम एक ऐसी नदीको देख रहे हैं, जिसमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ही पाँच स्रोत हैं। संसारका ज्ञान हमें पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा ही होता है, इन्हींमेंसे होकर संसारका प्रवाह बहता है। इसीलिये इन्द्रियोंको यहाँ स्रोत कहा गया है। ये इन्द्रियाँ पञ्च सूक्ष्मभूतों (तन्मात्रों) से उत्पन्न हुई हैं, इसीलिये इस नदीके पाँच उद्गम स्थान माने गये हैं। इस नदीका प्रवाह बड़ा ही भयंकर है। इसमें गिर जानेसे बार-बार जन्म-मृत्युका क्लेश उठाना पड़ता है। संसारकी चाल बड़ी टेढ़ी है, कपटसे भरी है। इसमेंसे निकलना कठिन है। इसीलिये इस संसाररूप नदीको वक्र कहा गया है। जगत्‌के जीवोंमें जो कुछ भी चेष्टा—हलचल होती है, वह प्राणोंके द्वारा ही होती है। इसीलिये प्राणोंको इस भव-सरिताकी तरङ्गमाला कहा गया है। नदीमें हलचल तरङ्गोंसे ही होती है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले चाक्षुष आदि पाँच प्रकारके ज्ञानोंका आदि कारण मन है, जितने भी ज्ञान हैं, सब मनकी ही तो वृत्तियाँ हैं। मन न हो तो इन्द्रियोंके सचेष्ट रहनेपर भी किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता। यह मन ही संसाररूप नदीका मूल है। मनसे ही संसारकी सृष्टि होती है। सारा जगत् मनकी ही कल्पना है। मनके अमन हो जानेपर—नाश हो जानेपर जगत्‌का अस्तित्व इस रूपमें नहीं रहता। जबतक मन है, तभीतक संसारचक्र है। इन्द्रियोंके शब्द, स्पर्श आदि पाँच विषय ही इस संसाररूप नदीमें आवर्त अर्थात् भँवर हैं। इन्हींमें फँसकर जीव जन्म-मृत्युके

चक्रमें पड जाता है। गर्भका दुःख, जन्मका दुःख, बुढापेका दुःख, रोगका दुःख और मृत्युका दुःख—ये पाँच प्रकारके दुःख ही इस नदीके प्रवाहमें वेगरूप हैं। इन्हींके थपेड़ोंसे जीव व्याकुल रहता है और इस योनिसे उस योनिमें भटकता रहता है। अविद्या (अज्ञान), अस्मिता (अहंकार), राग (प्रिय-बुद्धि), द्वेष (अप्रियबुद्धि) और अभिनिवेश (मृत्युभय)—ये पञ्चविध क्लेश ही इस संसाररूप नदीके पाँच पर्व अर्थात् विभाग हैं। इन्हीं पाँच विभागोंमें यह जगत् बँटा हुआ है। इन पाँचोंका समुदाय ही संसारका स्वरूप है और अन्तःकरणकी पचास वृत्तियाँ ही इस नदीके पचास भेद अर्थात् भिन्न-भिन्न रूप हैं। अन्तःकरणकी वृत्तियोंको लेकर ही संसारमें भेदकी प्रतीति होती है ॥ ५ ॥

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते
अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा
जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥ ६ ॥

अस्मिन्=इस, सर्वाजीवे=सबके जीविकारूप, सर्वसंस्थे=सबके आश्रयभूत; बृहन्ते=विस्तृत, ब्रह्मचक्रे=ब्रह्मचक्रमें, हंसः=जीवात्मा; भ्राम्यते=घुमाया जाता है; [सः]=वह; आत्मानम्=अपने आपको; च=और; प्रेरितारम्=सबके प्रेरक परमात्माको; पृथक्=अलग अलग; मत्वा=जानकर; ततः=उसके बाद; तेन=उस परमात्मासे, जुष्टः=स्वीकृत होकर, अमृतत्वम्=अमृतभावको, एति=प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है, जो सबके जीवन-निर्वाहका हेतु है और जो समस्त प्राणियोंका आश्रय है, ऐसे इस जगत्‌रूप ब्रह्मचक्रमें अर्थात् परब्रह्म परमात्माद्वारा संचालित तथा परमात्माके ही विराट् शरीररूप संसारचक्रमें यह जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार उन परमात्माद्वारा घुमाया जाता है। जबतक यह इसके संचालकको जानकर उनका कृपापात्र नहीं बन जाता, अपनेको उनका प्रिय नहीं बना लेता, तबतक इसका इस चक्रसे छुटकारा नहीं हो सकता। जब यह अपनेको और सबके प्रेरक परमात्माको भली-भाँति पृथक्-पृथक् समझ लेता है कि उन्हींके घुमानेसे मैं इस संसारचक्रमें घूम रहा हूँ और उन्हींकी कृपासे छूट सकता हूँ, तब वह उन परमेश्वरका प्रिय बनकर उनके द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है (कठ० १।२।२३; मुण्डक० ३।२।३)। फिर तो वह अमृतभावको प्राप्त हो जाता है, जन्म-मरणरूप संसार-चक्रसे सदाके लिये छूट जाता है। परम शान्ति एवं सनातन दिव्य परमधामको प्राप्त हो जाता है (गीता १८।६१-६२) ॥ ६ ॥

उद्गीतमेतत् परमं तु ब्रह्म
तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा
लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥ ७ ॥

एतत्=यह, उद्गीतम्=वेदवर्णित, परमम् ब्रह्म=परब्रह्म, तु=ही, सुप्रतिष्ठा=सर्वश्रेष्ठ आश्रय; च=और, अक्षरम्=अविनाशी है, तस्मिन्=उसमें, त्रयम्=तीनों लोक स्थित हैं, ब्रह्मविदः=वेदके तत्त्वको जाननेवाले महापुरुष, अत्र=यहाँ (हृदयमें), अन्तरम्=अन्तर्यामीरूपसे स्थित उस ब्रह्मको, विदित्वा=जानकर, तत्पराः=उसीके परायण हो, ब्रह्मणि=उस परब्रह्ममें, लीनाः=लीन होकर, योनिमुक्ताः=सदाके लिये जन्म-मृत्युसे मुक्त हो गये ॥ ७ ॥

व्याख्या—जिनकी महिमाका वेदोंमें गान किया गया है, जो परब्रह्म परमात्मा सबके सर्वोत्तम आश्रय हैं, उन्हींमें तीनों लोकोंका समुदायरूप समस्त विश्व स्थित है। वे ही ऊपर बताये हुए सबके प्रेरक, कभी नाश न होनेवाले परम अक्षर, परम देव हैं । जिन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमात्माकी दिव्यशक्तिका दर्शन किया था, वे वेदके रहस्यको समझनेवाले ऋषिलोग उन सबके प्रेरक परमात्माको यहाँ—अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे विराजमान समझकर, उन्हींके परायण होकर अर्थात् सर्वतोभावसे उनकी शरणमें जाकर, उन्हींमें लीन हो गये और सदाके लिये जन्म-मरणरूप योनिसे मुक्त हो गये । उनके मार्गका अनुसरण करके हम सब लोग भी उन्हींकी भाँति जन्म मरणसे छूटकर परमात्मामें लीन हो सकते हैं ॥७॥

सम्बन्ध—अब उन परमात्माके स्वरूपका वर्णन करके उन्हें जाननेका फल बताया जाता है—

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा-
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ८ ॥

क्षरम्=विनाशशील जडवर्ग, च=एवं, अक्षरम्=अविनाशी जीवात्मा; संयुक्तम्=(इन दोनोंके) संयोगसे बने हुए, व्यक्ताव्यक्तम्=व्यक्त और अव्यक्तस्वरूप, एतत् विश्वम्=इस विश्वको; ईशः=परमेश्वर ही, भरते=धारण और पोषण करता है, च=तथा, आत्मा=जीवात्मा, भोक्तृभावात्=इस जगत्के विषयोंका भोक्ता बना रहनेके कारण, अनीशः=प्रकृतिके अधीन असमर्थ हो,

बध्यते=इसमें बँध जाता है, (और) देवम्=उस परमदेव परमेश्वरको, ज्ञात्वा=जानकर, सर्वपाशैः=सब प्रकारके बन्धनोंसे, मुच्यते=मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

व्याख्या—विनाशशील जडवर्ग जिसे भगवान्‌की अपरा प्रकृति तथा क्षर-तत्त्व कहा गया है और भगवान्‌की परा प्रकृतिरूप जीवसमुदाय, जो अक्षर-तत्त्वके नामसे पुकारा जाता है—इन दोनोंके संयोगसे बने हुए, प्रकट (स्थूल) और अप्रकट (सूक्ष्म) रूपमें स्थित इस समस्त जगत्‌का वे परमपुरुष पुरुषोत्तम ही धारण-पोषण करते हैं, जो सबके स्वामी, सबके प्रेरक तथा सबका यथायोग्य संचालन और नियमन करनेवाले परमेश्वर हैं। जीवात्मा इस जगत्‌के विषयोंका भोक्ता बना रहनेके कारण प्रकृतिके अधीन हो इसके मोहजालमें फँसा रहता है, उन परमदेव परमात्माकी ओर दृष्टिपात नहीं करता। जब कभी यह उन सर्व-सुहृद् परमात्माकी अहैतुकी दयासे महापुरुषोंका सङ्ग पाकर उनको जाननेका अभिलाषी होकर पूर्ण चेष्टा करता है, तब उन परमदेव परमेश्वरको जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—पुनः जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति—इन तीनोंके स्वरूपका पृथक्-पृथक् वर्णन करके, इस तत्त्वको जानकर उपासना करनेका फल दो मन्त्रोंद्वारा बताया जाता है—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशा-
वजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता
त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥ ९ ॥

ज्ञाज्ञौ=सर्वज्ञ और अज्ञानी; ईशानीशौ=सर्वसमर्थ और असमर्थ, द्वौ=ये दो, अजौ=अजन्मा आत्मा हैं, हि=तथा इनके सिवा, भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता=भोगनेवाले जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग्य-सामग्रीसे युक्त, अजा=अनादि प्रकृति, एका=एक तीसरी शक्ति है, (इन तीनोंमें जो ईश्वरतत्त्व है, वह शेष दोसे विलक्षण है) हि=क्योंकि, आत्मा=वह परमात्मा, अनन्तः=अनन्त; विश्वरूपः=सम्पूर्ण रूपोंवाला, च=और, अकर्ता=कर्तापनके अभिमानसे रहित है, यदा=जब; (मनुष्य इस प्रकार) एतत् त्रयम्=ईश्वर, जीव और प्रकृति—इन तीनोंको, ब्रह्मम्=ब्रह्मरूपमें, विन्दते=प्राप्त कर लेता है (तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है) ॥ ९ ॥

व्याख्या—ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला है, ये दोनों ही अजन्मा हैं। इनके सिवा एक तीसरी शक्ति भी अजन्मा

है जिसे प्रकृति कहते हैं, यह भोक्ता जीवात्माके लिये उपयुक्त भोग-सामग्री प्रस्तुत करती है। यद्यपि ये तीनों ही अजन्मा हैं—अनादि हैं, फिर भी ईश्वर शेष दो तत्त्वोंसे विलक्षण हैं, क्योंकि वे परमात्मा अनन्त हैं। (गीता १५। १६-१७) सम्पूर्ण विश्व उन्हींका स्वरूप—विराट् शरीर है। वे सब कुछ करते हुए—सम्पूर्ण विश्वकी उत्पत्ति, पालन और संहार करते हुए भी वास्तवमें कुछ नहीं करते, क्योंकि वे कर्तापनके अभिमानसे रहित हैं। (गीता ४। १३) मनुष्य जब इस प्रकार इन तीनोंकी विलक्षणता और विभिन्नताको समझते हुए ही इन्हें ब्रह्मरूपमें उपलब्ध कर लेता है अर्थात् प्रकृति और जीव तो उन परमेश्वरकी प्रकृतियाँ हैं और परमेश्वर इनके स्वामी हैं—इस प्रकार प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—पहले आठवें और नवें मन्त्रमें कहे हुए तीनों तत्त्वोंका स्पष्टीकरण अगले मन्त्रमें किया जाता है—

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः
क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद्
भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥ १० ॥

प्रधानम्=प्रकृति तो, **क्षरम्**=विनाशशील है; **हरः**=इसको भोगनेवाला जीवात्मा, **अमृताक्षरम्**=अमृतस्वरूप अविनाशी है; **क्षरात्मानौ**=इन विनाशशील जड-तत्त्व और चेतन आत्मा—दोनोंको, **एकः**=एक, **देवः**=ईश्वर, **ईशते**=अपने शासनमें रखता है, (इस प्रकार जानकर) **तस्य**=उसका, **अभिध्यानात्**=निरन्तर ध्यान करनेसे, **योजनात्**=मनको उसमें लगाये रहनेसे, **च**=तथा, **तत्त्वभावात्**=तन्मय हो जानेसे, **अन्ते**=अन्तमें (उसीको प्राप्त हो जाता है), **भूयः**=फिर, **विश्वमायानिवृत्तिः**=समस्त मायाकी निवृत्ति हो जाती है ॥ १० ॥

व्याख्या—प्रकृति तो क्षर अर्थात् परिवर्तन होनेवाली, विनाशशील है और इसको भोगनेवाला जीवसमुदाय अविनाशी अक्षरतत्त्व है। (गीता ७। ४-५, १५। १६) इन क्षर और अक्षर (जडप्रकृति और चेतन जीवसमुदाय)—दोनों तत्त्वोंपर एक परमदेव परमेश्वर शासन करते हैं, (गीता १५। १७) वे ही प्राप्त करनेके और जाननेके योग्य हैं, उन्हें तत्त्वसे जानना चाहिये—इस प्रकार दृढ निश्चय करके उन परमदेव परमात्माका निरन्तर ध्यान करनेसे, उन्हींमें रात-दिन संलग्न रहनेसे और उन्हींमें तन्मय हो जानेसे अन्तमें यह उन्हींको पा लेता है। फिर इसके सम्पूर्ण मायाकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है, अर्थात् मायामय जगत्से इसका सम्बन्ध सर्वथा छूट जाता है ॥ १० ॥

सम्बन्ध—उन परमदेवको जाननेका फल पुनः बताया जाता है—

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे
विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥ ११ ॥

तस्य=उस परमदेवका; **अभिध्यानात्**=निरन्तर ध्यान करनेसे, **देवम्**=उस प्रकाशमय परमात्माको; **ज्ञात्वा**=जान लेनेपर, **सर्वपाशापहानिः**=समस्त बन्धनोंका नाश हो जाता है, (क्योंकि) **क्लेशैः क्षीणैः**=क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण, **जन्ममृत्युप्रहाणिः**=जन्म-मृत्युका सर्वथा अभाव हो जाता है, (अतः वह) **देहभेदे**=शरीरका नाश होनेपर; **तृतीयम्**=तीसरे लोक (स्वर्ग) तकके, **विश्वैश्वर्यम्** [**त्यक्त्वा**]=समस्त ऐश्वर्यका त्याग करके; **केवलः**=सर्वथा विशुद्ध, **आप्तकामः**=पूर्णकाम हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परमपुरुष परमात्माका निरन्तर ध्यान करते-करते जब साधक उन परमदेवको जान लेता है, तब इसके समस्त बन्धनोंका सदाके लिये सर्वथा नाश हो जाता है; क्योंकि अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष और मरणभय—इन पाँचों क्लेशोंका नाश हो जानेके कारण उसके जन्म-मरणका सदाके लिये अभाव हो जाता है । अतः वह फिर कभी बन्धनमें नहीं पड़ सकता । वह इस शरीरका नाश होनेपर तृतीय लोक अर्थात् स्वर्गके सबसे ऊँचे स्तर—ब्रह्मलोकतकके बड़े-से-बड़े समस्त ऐश्वर्योंका त्याग करके प्रकृतिसे वियुक्त, सर्वथा विशुद्ध कैवल्यपदको प्राप्त हो पूर्णकाम हो जाता है—उसे किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती, क्योंकि वह सम्पूर्ण कामनाओंका फल पा लेता है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—जानने योग्य तत्त्वका पुनः वर्णन किया जाता है—

एतज् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं
नातः परं वेदितव्यं हि किंचित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥ १२ ॥

आत्मसंस्थम्=अपने ही भीतर स्थित; **एतत्**=इस ब्रह्मको; **एव**=ही; **नित्यम्**=सर्वदा, **ज्ञेयम्**=जानना चाहिये, **हि**=क्योंकि, **अतः परम्**=इससे बढ़कर, **वेदितव्यम्**=जाननेयोग्य तत्त्व; **किंचित्**=दूसरा कुछ भी; **न**=नहीं है, **भोक्ता**=भोक्ता (जीवात्मा); **भोग्यम्**=भोग्य (जडवर्ग); **च**=और; **प्रेरितारम्**=उनके प्रेरक परमेश्वर; **मत्वा**=(इन तीनोंको) जानकर; (मनुष्य) **सर्वम्**=सब कुछ

(जान लेता है); एतत्=(इस प्रकार) यह, त्रिविधम्=तीन भेदोंमें, प्रोक्तम्=बताया हुआ ही ब्रह्मम्=ब्रह्म है ॥ १२ ॥

व्याख्या—ये परमदेव परब्रह्म पुरुषोत्तम अपने ही भीतर—हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। इनको जाननेके लिये कहीं बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं है। इन्हींको सदा जाननेकी चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि इनसे बढ़कर जानने योग्य दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इन एकको जाननेसे ही सबका ज्ञान हो जाता है, ये ही सबके कारण और परमाधार हैं। मनुष्य भोक्ता (जीवात्मा), भोग्य (जड़वर्ग) और इन दोनोंके प्रेरक ईश्वरको जानकर सब कुछ जान लेता है। फिर कुछ भी जानना शेष नहीं रहता। जिनके ये तीन भेद बताये गये हैं, वे ही समग्र ब्रह्म हैं। अर्थात् जड प्रकृति, चेतन आत्मा और उन दोनोंके आधार तथा नियामक परमात्मा—ये तीनों ब्रह्मके ही रूप हैं ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—उक्त ज्ञेयतत्त्वको जाननेका उपाय बताया जाता है—

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्ति-
र्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्य-
स्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥१३॥

यथा=जिस प्रकार; योनिगतस्य=योनि अर्थात् आश्रयभूत काष्ठमें स्थित, वह्नेः=अग्निका; मूर्तिः=रूप; न दृश्यते=नहीं दीखता; च=और, लिङ्गनाशः=उसके चिह्नका (सत्ताका) नाश, एव=भी; न=नहीं होता, (क्योंकि) सः=वह, भूयः एव=चेष्टा करनेपर फिर भी अवश्य, इन्धनयोनिगृह्यः=ईंधनरूप अपनी योनिमें ग्रहण किया जा सकता है, वा=उसी प्रकार; तत् उभयम्=वे दोनों (जीवात्मा और परमात्मा), देहे=शरीरमें; वै=ही; प्रणवेन=ॐकारके द्वारा (साधन करनेपर), [गृह्यते=] ग्रहण किये जा सकते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार अपनी योनि अर्थात् प्रकट होनेके स्थानविशेष काष्ठ आदिमें स्थित अग्निका रूप दिखलायी नहीं देता। परंतु इस कारण यह नहीं समझा जाता कि अग्नि नहीं है—उसका होना अवश्य माना जाता है, क्योंकि उसकी सत्ता मानकर अरणियोंका मन्थन करनेपर ईंधनरूप अपने स्थानमेंसे वह फिर भी ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार उपर्युक्त जीवात्मा और परमात्मा हृदयरूप अपने स्थानमें छिपे रहकर प्रत्यक्ष नहीं होते, परंतु ॐके जपद्वारा साधन करनेपर इस शरीरमें ही इनका साक्षात्कार किया जा सकता है—इसमें कुछ भी संदेह नहीं है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—ॐकारके द्वारा साधक किस प्रकार उन परमात्माका साक्षात् करे, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥१४॥

स्वदेहम्=अपने शरीरको; **अरणिम्**=नीचेकी अरणि, **च**=और, **प्रणवम्**=प्रणवको, **उत्तरारणिम्**=ऊपरकी अरणि; **कृत्वा**=बनाकर; **ध्याननिर्मथनाभ्यासात्**=ध्यानके द्वारा निरन्तर मन्थन करते रहनेसे, (साधक) **निगूढवत्**=छिपी हुई अग्निकी भाँति, (हृदयमें स्थित) **देवम्**=परमदेव परमेश्वरको, **पश्येत्**=देखे ॥ १४ ॥

व्याख्या—अग्निको प्रकट करनेके लिये जैसे दो अरणियोंका मन्थन किया जाता है, उसी प्रकार अपने शरीरमें परम पुरुष परमात्माको प्राप्त करनेके लिये शरीरको तो नीचेकी अरणि बनाना चाहिये और ॐकारको ऊपरकी अरणि । अर्थात् शरीरको नीचेकी अरणिकी भाँति समभावसे निश्चल स्थित करके ऊपरकी अरणिकी भाँति ॐकारका वाणीद्वारा जप और मनसे उसके अर्थस्वरूप परमात्माका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये । इस प्रकार इस ध्यानरूप मन्थनके अभ्याससे साधकको काष्ठमें छिपी हुई अग्निकी भाँति अपने हृदयमें छिपे हुए परमदेव परमेश्वरको देख लेना—प्रत्यक्ष कर लेना चाहिये ॥ १४ ॥

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पि-
रापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ
सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥१५॥

तिलेषु=तिलोंमें, **तैलम्**=तेल, **दधनि**=दहीमें, **सर्पिः**=घी; **स्रोतःसु**=सोतोंमें, **आपः**=जल; **च**=और; **अरणीषु**=अरणियोंमें; **अग्निः**=अग्नि, **इव**=जिस प्रकार छिपे रहते हैं; **एवम्**=उसी प्रकार, **असौ**=वह; **आत्मा**=परमात्मा, **आत्मनि**=अपने हृदयमें छिपा हुआ है, **यः**=जो कोई साधक; **एनम्**=इसको, **सत्येन**=सत्यके द्वारा, (और) **तपसा**=संयमरूप तपसे; **अनुपश्यति**=देखता रहता है—चिन्तन करता रहता है; [**तेन**=] उसके द्वारा; **गृह्यते**=वह ग्रहण किया जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार तिलोंमें तेल, दहीमें घी, ऊपरसे सूखी हुई नदीके भीतरी स्रोतोंमें जल तथा अरणियोंमें अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार परमात्मा हमारे हृदयरूप गुफामें छिपे हैं । जिस प्रकार अपने-अपने स्थानमें छिपे हुए तेल

आदि उनके लिये बताये हुए उपायोंसे उपलब्ध किये जा सकते हैं, उसी प्रकार जो कोई साधक विषयोंसे विरक्त होकर सदाचार, सत्यभाषण तथा संयमरूप तपस्याके द्वारा साधन करता हुआ पूर्वोक्त प्रकारसे उनका निरन्तर ध्यान करता रहता है, उनके द्वारा वे परब्रह्म परमात्मा भी प्राप्त किये जा सकते हैं ॥ १५ ॥

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥
तद् ब्रह्मोपनिषत् परम् ॥ १६ ॥

क्षीरे=दूधमें, **अर्पितम्**=स्थित, **सर्पिः इव**=घीकी भाँति, **सर्वव्यापिनम्**=सर्वत्र परिपूर्ण, **आत्मविद्यातपोमूलम्**=आत्मविद्या तथा तपसे प्राप्त होनेवाले, **आत्मानम्**=परमात्माको (यह पूर्वोक्त साधक जान लेता है), **तत्**=वह, **उपनिषत्**=उपनिषदोंमें बताया हुआ, **परम्**=परमतत्त्व, **ब्रह्म**=ब्रह्म है, **तत्**=वह, **उपनिषत्**=उपनिषदोंमें बताया हुआ, **परम्**=परमतत्त्व, **ब्रह्म**=ब्रह्म है ॥१६॥

व्याख्या—आत्मविद्या और तप जिनकी प्राप्तिके मूलभूत साधन हैं तथा जो दूधमें स्थित घीकी भाँति सर्वत्र परिपूर्ण हैं, उन सर्वान्तर्यामी परमात्माको वह पूर्वोक्त साधक जान लेता है। वे ही उपनिषदोंमें वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म हैं। वे ही उपनिषदोंमें वर्णित परम तत्त्व ब्रह्म हैं। अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ १६ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥

द्वितीय अध्याय

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें परमदेव परमात्माके साक्षात्कारका प्रधान उपाय ध्यानको बताया गया। उस ध्यानकी प्रक्रिया बतानेके लिये दूसरा अध्याय आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले ध्यानकी सिद्धिके लिये पाँच मन्त्रोंमें परमेश्वरसे प्रार्थना करनेका प्रकार बताया जाता है—

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ॥ १ ॥*

सविता=सबको उत्पन्न करनेवाला परमात्मा, **प्रथमम्**=पहले, **मनः**=हमारे मन, (और) **धियः**=बुद्धियोंको**तत्त्वाय**=तत्त्वकी प्राप्तिके लिये, **युञ्जानः**=अपने स्वरूपमें लगाते हुए, **अग्नेः**=अग्नि (आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओं) की, **ज्योतिः**=ज्योति (प्रकाशन-सामर्थ्य) को, **निचाय्य**=अवलोकन

* यजुर्वेद अध्याय ११ मन्त्र १ इसी प्रकार है।

करके, पृथिव्याः=पार्थिव पदार्थोंसे; अधि=ऊपर उठाकर, आभरत=हमारी इन्द्रियोंमें स्थापित करे ॥ १ ॥

व्याख्या—सबको उत्पन्न करनेवाले परमात्मा पहले हमारे मन और बुद्धिकी वृत्तियोंको तत्त्वकी प्राप्तिके लिये अपने दिव्य स्वरूपमें लगाये और अग्नि आदि इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी जो विषयोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य है, उसे दृष्टिमें रखते हुए बाह्य विषयोंसे लौटाकर हमारी इन्द्रियोंमें स्थिरतापूर्वक स्थापित कर दें, जिससे हमारी इन्द्रियोंका प्रकाश बाहर न जाकर बुद्धि और मनकी स्थिरतामें सहायक हो ॥ १ ॥

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे । सुवर्गेयाय शक्त्या ॥२॥*

वयम्=हमलोग; सवितुः=सबको उत्पन्न करनेवाले; देवस्य=परमदेव परमेश्वरकी; सवे=आराधनारूप यज्ञमें; युक्तेन मनसा=लगे हुए मनके द्वारा, सुवर्गेयाय=स्वर्गीय सुख (भगवत्-प्राप्ति-जनित आनन्द) की प्राप्तिके लिये, शक्त्या=पूरी शक्तिसे; [प्रयतामहै=] प्रयत्न करें ॥ २ ॥

व्याख्या—हमलोग सबको उत्पन्न करनेवाले; परमदेव परमेश्वरकी आराधनारूप यज्ञमें लगे हुए मनके द्वारा परमानन्दप्राप्तिके लिये पूर्णशक्तिसे प्रयत्न करें । अर्थात् हमारा मन निरन्तर भगवान्‌की आराधनामें लगा रहे और हम भगवत्-प्राप्ति-जनित परमानन्दकी अनुभूतिके लिये पूर्ण शक्तिसे प्रयत्नशील रहें ॥२॥

युक्त्वाय मनसा देवान् सुवर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥ ३ ॥*

सविता=सबको उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर; सुवः=स्वर्गादि लोकोंमें; (और) दिवम्=आकाशमें; यतः=गमन करनेवाले; (तथा) बृहत्=बड़ा भारी; ज्योतिः=प्रकाश, करिष्यतः=फैलानेवाले; तान्=उन; (मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता) देवान्=देवताओंको; मनसा=हमारे मन, (और) धिया=बुद्धिसे; युक्त्वाय=संयुक्त करके, (प्रकाशदान करनेके लिये) प्रसुवाति=प्रेरणा करता है अर्थात् करे ॥ ३ ॥

व्याख्या—वे सबको उत्पन्न करनेवाले परमेश्वर मन और इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देवताओंको, जो स्वर्ग आदि लोकोंमें और आकाशमें विचरनेवाले तथा बड़ा भारी प्रकाश फैलानेवाले हैं, हमारे मन और बुद्धिसे संयुक्त करके हमें प्रकाश प्रदान करनेके लिये प्रेरणा करें, ताकि हम उन परमेश्वरका साक्षात् करनेके लिये ध्यान करनेमें समर्थ हों । हमारे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंमें प्रकाश फैला रहे । निद्रा, आलस्य और अकर्मण्यता आदि दोष हमारे ध्यानमें विघ्न न कर सकें ॥ ३ ॥

* ये दोनों मन्त्र यजुर्वेद अध्याय ११ के २ और ३ हैं ।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
　　विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक
　　इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥ ४ ॥*

(जिसमें) विप्राः=ब्राह्मण आदि, मनः=मनको, युञ्जते=लगाते हैं, उत=और, धियः=बुद्धिकी वृत्तियोंको भी, युञ्जते=लगाते हैं, (जिसने समस्त) होत्राः विदधे=अग्निहोत्र आदि शुभकर्मोंका विधान किया है, (तथा जो) वयुनावित्=समस्त जगत्के विचारोंको जाननेवाला, (और) एकः=एक है, (उस) बृहतः=सबसे महान्, विप्रस्य=सर्वत्र व्यापक, विपश्चितः=सर्वज्ञ, (एवं) सवितुः=सबके उत्पादक, देवस्य=परम देव परमेश्वरकी, इत्=निश्चय ही (हमें) मही=महती, परिष्टुतिः=स्तुति (करनी चाहिये) ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिन परब्रह्म परमात्मामें श्रेष्ठ बुद्धिवाले ब्राह्मणादि अधिकारी मनुष्य अपने मनको लगाते हैं तथा अपनी सब प्रकारकी बुद्धि-वृत्तियोंको भी नियुक्त करते हैं, जिन्होंने अग्निहोत्र आदि समस्त शुभ कर्मोंका विधान किया है, जो समस्त जगत्के विचारोंको जाननेवाले और एक—अद्वितीय हैं, उन सबसे महान्, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सबके उत्पादक परमदेव परमेश्वरकी अवश्य ही हमें भूरि-भूरि स्तुति करनी चाहिये ॥ ४ ॥

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभि-
　　र्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा
　　आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥ ५ ॥†

(हे मन और बुद्धि ! मैं) वाम्=तुम दोनोंके (स्वामी), पूर्व्यम्=सबके आदि, ब्रह्म=पूर्णब्रह्म परमात्मासे, नमोभिः=बार-बार नमस्कारके द्वारा, युजे=संयुक्त होता हूँ, श्लोकः=मेरा वह स्तुति-पाठ, सूरेः=श्रेष्ठ विद्वान्की, पथ्या इव=कीर्तिकी भाँति, व्येतु (वि+एतु)=सर्वत्र फैल जाय, (जिससे) अमृतस्य=अविनाशी परमात्माके, विश्वे=समस्त, पुत्राः=पुत्र, ये=जो, दिव्यानि=दिव्य; धामानि=लोकोंमें, आतस्थुः=निवास करते हैं, शृण्वन्तु=सुनें ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे मन और बुद्धि ! मैं तुम दोनोंके स्वामी और समस्त जगत्के

* यह यजुर्वेद अध्याय ११ का चौथा और अध्याय ५ का १४ वाँ मन्त्र है। तथा ऋग्वेद (५ । ८१ । १) में भी है। † यह मन्त्र यजुर्वेद अध्याय ११ का पाँचवा है और ऋग्वेद (१० । १३ । १) में भी है।

आदि कारण परब्रह्म परमात्माको बार-बार नमस्कार करके विनयपूर्वक उनकी शरणमें जाकर उनमें सलग्न होता हूँ। मेरे द्वारा जो उन परमेश्वरकी महिमाका वर्णन किया गया है, वह विद्वान् पुरुषकी कीर्तिके समान समस्त जगत्में व्याप्त हो जाय। उसे अविनाशी परमात्माके वे सभी पुत्र, जो दिव्य लोकोंमें निवास करते हैं, भलीभाँति सुनें ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—ध्यानके लिये परमात्मासे स्तुति करनेका प्रकार बतलानेके अनन्तर अब छठे मन्त्रमें उस ध्यानकी स्थितिका वर्णन करके सातवेंमें मनुष्यको उस ध्यानमें लग जानेके लिये आदेश दिया जाता है—

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥ ६ ॥

यत्र=जिस स्थितिमें, **अग्निः**=परमात्मारूप अग्निको, (प्राप्त करनेके उद्देश्यसे) **अभिमथ्यते**=(ॐकारके जप और ध्यानद्वारा) मन्थन किया जाता है; **यत्र**=जहाँ, **वायुः अधिरुध्यते**=प्राणवायुका भलीभाँति विधिपूर्वक निरोध किया जाता है; (तथा) **यत्र**=जहाँ, **सोमः**=आनन्दरूप सोमरस; **अतिरिच्यते**=अधिकतासे प्रकट होता है, **तत्र**=वहाँ (उस स्थितिमें), **मनः**=मन, **संजायते**=सर्वथा विशुद्ध हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस स्थितिमें अग्नि प्रकट करनेके लिये अरणियोंद्वारा मन्थन करनेकी भाँति अग्निस्थानीय परमात्माको प्राप्त करनेके लिये पहले अध्याय (११, १४ मन्त्र) में कहे हुए प्रकारसे शरीरको नीचेकी अरणि और ॐकारको ऊपरकी अरणि बनाकर उसका जप और उसके अर्थरूप परमात्माका निरन्तर चिन्तनरूप मन्थन किया जाता है, जहाँ प्राणवायुका विधिपूर्वक भलीभाँति निरोध किया जाता है, जहाँ आनन्दरूप सोमरस अधिकतासे प्रकट होता है, उस ध्यानावस्थामें मनुष्यका मन सर्वथा विशुद्ध हो जाता है ॥ ६ ॥

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥ ७ ॥

सवित्रा=सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करनेवाले परमात्माके द्वारा, **प्रसवेन**=प्राप्त हुई प्रेरणासे; **पूर्व्यम्**=सबके आदिकारण, **ब्रह्म जुषेत**=उस परब्रह्म परमेश्वरकी ही सेवा (आराधना) करनी चाहिये; (तू) **तत्र**=उस परमात्मामें ही; **योनिम्**=आश्रय, **कृणवसे**=प्राप्त कर, **हि**=क्योंकि; (यों करनेसे) **ते**=तेरे; **पूर्वम्**=पूर्वसंचित कर्म, **न अक्षिपत्**=विघ्नकारक नहीं होंगे ॥ ७ ॥

व्याख्या—हे साधक ! सम्पूर्ण जगत्के उत्पादक सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी

प्रेरणासे अर्थात् ऊपर बताये हुए प्रकारसे परमात्माकी स्तुति करके उनसे अनुमति प्राप्तकर तुम्हें उन सबके आदि परब्रह्म परमात्माकी ही सेवा (समाराधना) करनी चाहिये, उन परमेश्वरमें ही आश्रय प्राप्त करना चाहिये—उन्हींकी शरण ग्रहण करके उन्हींमें अपने आपको विलीन कर देना चाहिये। यों करनेसे तुम्हारे पहले किये हुए समस्त संचित कर्म विघ्नकारक नहीं होंगे—बन्धनरूप नहीं होंगे ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—ध्यानयोगका साधन करनेवालेको किस प्रकार बैठकर कैसे ध्यान करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं
हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ ८ ॥

विद्वान्=बुद्धिमान् मनुष्य (को चाहिये कि), **त्रिरुन्नतम्**=सिर, गला और छाती—ये तीनों अङ्ग ऊँचे उठाये हुए, **शरीरम्**=शरीरको, **समम्**=सीधा, (और) **स्थाप्य**=स्थिर करके, (तथा) **इन्द्रियाणि**=समस्त इन्द्रियोंको, **मनसा**=मनके द्वारा, **हृदि**=हृदयमें, **संनिवेश्य**=निरुद्ध करके, **ब्रह्मोडुपेन**=ॐकाररूप नौकाद्वारा, **सर्वाणि**=सम्पूर्ण, **भयावहानि**=भयंकर, **स्रोतांसि**=स्रोतों (प्रवाहों) को, **प्रतरेत**=पार कर जाय ॥ ८ ॥

व्याख्या—जो ध्यानयोगका साधन करे, उस बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि सिर, गले और छातीको ऊँचा उठाये रक्खे, इधर-उधर न झुकने दे; तथा शरीरको सीधा और स्थिर रक्खे। क्योंकि शरीरको सीधा और स्थिर रक्खे बिना तथा सिर, गला और वक्षःस्थल ऊँचा किये बिना आलस्य, निद्रा और विक्षेपरूप विघ्न आ जाते हैं। अतः इन विघ्नोंसे बचनेके लिये उपर्युक्त प्रकारसे ही बैठना चाहिये। इसके बाद समस्त इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे हटाकर उनका मनके द्वारा हृदयमें निरोध कर लेना चाहिये। फिर ॐकाररूप नौकाका आश्रय लेकर अर्थात् ॐकारका जप और उसके वाच्य परब्रह्म परमात्माका ध्यान करके समस्त भयानक प्रवाहोंको पार कर लेना चाहिये (गीता ६ । १२, १३, १४)। भाव यह है कि नाना योनियोंमें ले जानेवाली जितनी वासनाएँ हैं, वे सब जन्म-मृत्युरूप भय देनेवाले स्रोत (प्रवाह) हैं। इन सबका त्याग करके सदाके लिये अमरपदको प्राप्त कर लेना चाहिये ॥ ८ ॥

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

विद्वान्=बुद्धिमान् साधक (को चाहिये कि), **इह**=उपर्युक्त योग साधनामें, **संयुक्तचेष्टः**=आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओंको यथायोग्य करते हुए, **प्राणान् प्रपीड्य**=विधिवत् प्राणायाम करके, **प्राणे क्षीणे**=प्राणके सूक्ष्म हो जानेपर, **नासिकया**=नासिकाद्वारा, **उच्छ्वसीत**=उनको बाहर निकाल दे, **दुष्टाश्वयुक्तम्**=(इसके बाद) दुष्ट घोड़ोंसे युक्त, **वाहम् इव**=रथको जिस प्रकार सारथि सावधानतापूर्वक गन्तव्य मार्गमें ले जाता है, उसी प्रकार, **एनम्**=इस, **मनः**=मनको, **अप्रमत्तः**=सावधान होकर, **धारयेत**=वशमें किये रहे ॥ ९ ॥

व्याख्या—बुद्धिमान् साधकको चाहिये कि वह इस योग साधनाके लिये आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओंको यथायोग्य करता रहे, उन्हें ध्यान-योगके लिये उपयोगी बना ले (गीता ६ । १७) । तथा योगशास्त्रकी विधिके अनुसार प्राणायाम करते-करते जब प्राण अत्यन्त सूक्ष्म हो जाय, तब नासिकाद्वारा उसे बाहर निकाल दे* । इसके बाद जैसे दुष्ट घोड़ोंसे जुते हुए रथको अच्छा सारथि बड़ी सावधानीसे चलाकर अपने गन्तव्य स्थानपर ले जाता है, उसी प्रकार साधकको चाहिये कि बड़ी सावधानीके साथ अपने मनको वशमें रक्खे, जिससे योगसाधनमें किसी प्रकारका विघ्न न आये और वह परमात्माकी प्राप्तिरूप लक्ष्यपर पहुँच जाय† ॥ ९ ॥

सम्बन्ध—परब्रह्म परमात्मामें मन लगानेके लिये कैसे स्थानमें कैसी भूमिपर बैठकर साधन करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

---

* आठवें और नवें मन्त्रोंमें जो ध्यानके लिये बैठनेकी और साधन करनेकी विधि बतायी गयी है, उसका बड़े सुन्दर ढंगसे सुस्पष्ट वर्णन भगवान्‌ने गीता अध्याय ६ श्लोक ११ से १७ तक किया है ।

† कठोपनिषद्‌में (१ । ३ । ३से ८ तक) रथके रूपकका विस्तृत वर्णन है ।

समे=समतल, **शुचौ**=सब प्रकारसे शुद्ध, **शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते**=कङ्कड़, अग्नि और बालूसे रहित, (तथा) **शब्दजलाश्रयादिभिः**=शब्द, जल और आश्रय आदिकी दृष्टिसे, **अनुकूले**=सर्वथा अनुकूल, **तु**=और, **न चक्षुपीडने**=नेत्रोंको पीडा न देनेवाले, **गुहानिवाताश्रयणे**=गुहा आदि वायुशून्य स्थानमें, **मनः**=मनको, **प्रयोजयेत्**=ध्यानमें लगानेका अभ्यास करना चाहिये ॥ १० ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें ध्यानयोगके उपयुक्त स्थानका वर्णन है। भाव यह है कि ध्यानयोगका साधन करनेवाले साधकको ऐसे स्थानमें अपना आसन लगाना चाहिये, जहाँकी भूमि समतल हो—ऊँची-नीची, टेढ़ी-मेढ़ी न हो, जो सब प्रकारसे शुद्ध हो—जहाँपर कूड़ा-कर्कट, मैला आदि न हो, झाड़-बुहारकर साफ किया हुआ हो और स्वभावसे भी पवित्र हो—जैसे कोई देवालय, तीर्थस्थान आदि, जहाँ कङ्कड़, बालू न हो और अग्नि या धूपकी गर्मी भी न हो, जहाँ कोई मनमें विक्षेप करनेवाला शब्द न होता हो—कोलाहलका सर्वथा अभाव हो, यथावश्यक जल प्राप्त हो सके, किंतु ऐसा जलाशय न हो जहाँ बहुत लोग आते-जाते हों, एवं जहाँ शरीर-रक्षाके लिये उपयुक्त आश्रय हो परंतु ऐसा न हो, जहाँ धर्मशाला आदिकी भाँति बहुत लोग ठहरते हों, तात्पर्य यह कि इन सब विचारोंके अनुसार जो सर्वथा अनुकूल हो और जहाँका दृश्य नेत्रोंको पीडा पहुँचानेवाला—भयानक न हो, ऐसे गुफा आदि वायुशून्य एकान्त स्थानमें पहले बताये हुए प्रकारसे आसन लगाकर अपने मनको परमात्मामें लगानेका अभ्यास करना चाहिये (गीता ६ । ११) ॥ १० ॥

सम्बन्ध—योगाभ्यास करनेवाले साधकका साधन ठीक हो रहा है या नहीं इसकी पहचान बतायी जाती है—

नीहारधूमार्कानिलानलानां
खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि
ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥ ११ ॥

ब्रह्मणि योगे=परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले योगमें, (पहले) **नीहारधूमार्कानिलानलानाम्**=कुहरा, धूआँ, सूर्य, वायु और अग्निके सदृश, (तथा) **खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्**=जुगनू, बिजली, स्फटिक मणि और चन्द्रमाके सदृश, **रूपाणि**=बहुत-से दृश्य, **पुरःसराणि** [**भवन्ति**]=योगीके सामने प्रकट होते हैं, **एतानि**=ये सब, **अभिव्यक्तिकराणि**=योगकी सफलताको स्पष्टरूपसे सूचित करनेवाले हैं ॥ ११ ॥

व्याख्या—जब साधक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये ध्यानयोगका साधन आरम्भ करता है, तब उसको अपने सामने कभी कुहरेके सदृश रूप दीखता है, कभी धूआँ-सा दिखायी देता है, कभी सूर्यके समान प्रकाश सर्वत्र परिपूर्ण दीखता है, कभी निश्चल वायुकी भाँति निराकार रूप अनुभवमें आता है, कभी अग्निके सदृश तेज दीख पड़ता है, कभी जुगनूके सदृश टिमटिमाहट-सी प्रतीत होती है, कभी बिजलीकी-सी चकाचौंध पैदा करनेवाली दीप्ति दृष्टिगोचर होती है, कभी स्फटिक-मणिके सदृश उज्ज्वल रूप देखनेमें आता है और कभी चन्द्रमाकी भाँति शीतल प्रकाश सर्वत्र फैला हुआ दिखायी देता है। ये सब तथा और भी अनेक दृश्य योग-साधनकी उन्नतिके द्योतक हैं। इनसे यह बात समझमें आती है कि साधकका ध्यान ठीक हो रहा है ॥ ११ ॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते
पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥१२॥

पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते=पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों महाभूतोंका सम्यक् प्रकारसे उत्थान होनेपर; (तथा) **पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते**=इनसे सम्बन्ध रखनेवाले पाँच प्रकारके योगसम्बन्धी गुणोंकी सिद्धि हो जानेपर, **योगाग्निमयम्**=योगाग्निमय, **शरीरम्**=शरीरको, **प्राप्तस्य**=प्राप्त कर लेनेवाले, **तस्य**=उस साधकको, **न**=न तो, **रोगः**=रोग होता है, **न**=न, **जरा**=बुढ़ापा आता है, **न**=और न, **मृत्युः**=उसकी मृत्यु ही होती है ॥ १२ ॥

व्याख्या—ध्यानयोगका साधन करते-करते जब पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच महाभूतोंका उत्थान हो जाता है, अर्थात् जब साधकका इन पाँचों महाभूतोंपर अधिकार हो जाता है, और इन पाँचों महाभूतोंसे सम्बन्ध रखनेवाली योगविषयक पाँचों सिद्धियाँ प्रकट हो जाती हैं, उस समय योगाग्निमय शरीरको प्राप्त कर लेनेवाले उस योगीके शरीरमें न तो रोग होता है, न बुढ़ापा आता है और न उसकी मृत्यु ही होती है। अभिप्राय यह कि उसकी इच्छाके बिना उसका शरीर नष्ट नहीं हो सकता (योगद० ३ । ४६, ४७) ॥ १२ ॥

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं
वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।

गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥१३॥

लघुत्वम्=शरीरका हल्कापन, **आरोग्यम्**=किसी प्रकारके रोगका न होना, **अलोलुपत्वम्**=विषयासक्तिकी निवृत्ति, **वर्णप्रसादम्**=शारीरिक वर्णकी उज्ज्वलता, **स्वरसौष्ठवम्**=स्वरकी मधुरता, **शुभः गन्धः**=(शरीरमें) अच्छी गन्ध, **च**=और, **मूत्रपुरीषम्**=मल मूत्र, **अल्पम्**=कम हो जाना, (इन सबको) **प्रथमाम् योगप्रवृत्तिम्**=योगकी पहली सिद्धि, **वदन्ति**=कहते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—भूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेवाले ध्यानयोगीमें पूर्वोक्त शक्तियोंके सिवा और भी शक्तियाँ आ जाती हैं। उदाहरणतः उसका शरीर हल्का हो जाता है, शरीरमें भारीपन या आलस्यका भाव नहीं रहता। वह सदा ही नीरोग रहता है, उसे कभी कोई रोग नहीं होता। भौतिक पदार्थोंमें उसकी आसक्ति नष्ट हो जाती है। कोई भी भौतिक पदार्थ सामने आनेपर उसके मन और इन्द्रियोंका उसकी ओर आकर्षण नहीं होता। उसके शरीरका वर्ण उज्ज्वल हो जाता है। स्वर अत्यन्त मधुर और स्पष्ट हो जाता है। शरीरमेंसे बहुत अच्छी गन्ध निकलकर सब ओर फैल जाती है। मल और मूत्र बहुत ही स्वल्प मात्रामें होने लगते हैं। ये सब योगमार्गकी प्रारम्भिक सिद्धियाँ हैं—ऐसा योगीलोग कहते हैं ॥ १३ ॥

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं
तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही
एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

यथा=जिस प्रकार, **मृदया**=मिट्टीसे, **उपलिप्तम्**=लिप्त होकर मलिन हुआ, **[यत्]**=जो, **तेजोमयम्**=प्रकाशयुक्त, **बिम्बम्**=रत्न है, **तत् एव**=वही, **सुधान्तम्**=भलीभाँति धुल जानेपर, **भ्राजते**=चमकने लगता है, **तत् वा**=उसी प्रकार, **देही**=शरीरधारी (जीवात्मा), **आत्मतत्त्वम्**=(मल आदिसे रहित) आत्मतत्त्वको, **प्रसमीक्ष्य**=(योगके द्वारा) भलीभाँति प्रत्यक्ष करके, **एकः**=अकेला, कैवल्य अवस्थाको प्राप्त, **वीतशोकः**=सब प्रकारके दुःखोंसे रहित, (तथा) **कृतार्थः**=कृतकृत्य, **भवते**=हो जाता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टीसे लिप्त रहनेके कारण छिपा रहता है, अपने असली रूपमें प्रकट नहीं होता, परंतु वही जब मिट्टी आदिको हटाकर धो-पोंछकर साफ कर लिया जाता है, तब अपने असली रूपमें

चमकने लगता है, उसी प्रकार इस जीवात्माका वास्तविक स्वरूप अत्यन्त स्वच्छ होनेपर भी अनन्त जन्मोंमें किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे मलिन हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रकट नहीं होता; परंतु जब मनुष्य ध्यानयोगके साधनद्वारा समस्त मलोंको धोकर आत्माके यथार्थ स्वरूपको भलीभाँति प्रत्यक्ष कर लेता है, तब वह असङ्ग हो जाता है। अर्थात् उसका जो जड पदार्थोंके साथ संयोग हो रहा था, उसका नाश होकर वह कैवल्य-अवस्थाको प्राप्त हो जाता है तथा उसके सब प्रकारके दुःखोंका अन्त होकर वह सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है। उसका मनुष्य-जन्म सार्थक हो जाता है (योग० ४ । ३४) ॥ १४ ॥

यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

तु=उसके बाद; यदा=जब; युक्तः=वह योगी; इह=यहाँ; दीपोपमेन=दीपकके सदृश (प्रकाशमय); आत्मतत्त्वेन=आत्मतत्त्वके द्वारा; ब्रह्मतत्त्वम्=ब्रह्मतत्त्वको; प्रपश्येत्=भलीभाँति प्रत्यक्ष देख लेता है; [तदा सः]=उस समय वह; अजम्=(उस) अजन्मा; ध्रुवम्=निश्चल; सर्वतत्त्वैः=समस्त तत्त्वोंसे; विशुद्धम्=विशुद्ध; देवम्=परमदेव परमात्माको; ज्ञात्वा=जानकर; सर्वपाशैः=सब बन्धनोंसे; मुच्यते=सदाके लिये छूट जाता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—फिर जब वह योगी इसी स्थितिमें दीपकके सदृश निर्मल प्रकाशमय पूर्वोक्त आत्मतत्त्वके द्वारा ब्रह्मतत्त्वको भलीभाँति देख लेता है—अर्थात् उन परब्रह्म परमात्माको प्रत्यक्ष कर लेता है, तब उन जन्मादि समस्त विकारोंसे रहित, अचल और निश्चित तथा समस्त तत्त्वोंसे असङ्ग—सर्वथा विशुद्ध परमदेव परमात्माको तत्त्वसे जानकर सब प्रकारके बन्धनोंसे सदाके लिये छूट जाता है।

इस मन्त्रमें आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको जाननेकी बात कहकर यह भाव दिखाया गया है कि परमात्माका साक्षात्कार मन, बुद्धि और इन्द्रियोंद्वारा नहीं हो सकता। इन सबकी वहाँ पहुँच नहीं है, वे एकमात्र आत्मतत्त्वके द्वारा ही प्रत्यक्ष होते हैं ॥ १५ ॥

एष ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः
पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥१६॥*

* यह मन्त्र यजुर्वेद अध्याय ३२ का चौथा है।

ह=निश्चय ही, एषः=यह (ऊपर बताया हुआ), देवः=परमदेव परमात्मा, सर्वाः=समस्त, प्रदिशः अनु=दिशाओं और अवान्तर दिशाओंमें अनुगत (व्याप्त) है, [सः] ह=वही प्रसिद्ध परमात्मा, पूर्वः=सबसे पहले, जातः=हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुआ था; (और) सः उ=वही, गर्भे=समस्त ब्रह्माण्डरूप गर्भमें, अन्तः=अन्तर्यामीरूपसे स्थित है, सः एव=वही, जातः=इस समय जगत्के रूपमें प्रकट है, सः=और वही, जनिष्यमाणः=भविष्यमें भी प्रकट होनेवाला है, [सः]=वह, जनान् प्रत्यङ्=सब जीवोंके भीतर, (अन्तर्यामी-रूपसे) तिष्ठति=स्थित है, (और) सर्वतोमुखः=सब ओर मुखवाला है ॥ १६ ॥

व्याख्या—निश्चय ही ये ऊपर बताये हुए परमदेव ब्रह्म समस्त दिशा और अवान्तर दिशाओंमें व्याप्त हैं अर्थात् सर्वत्र परिपूर्ण हैं। जगत्में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ वे न हों। वे ही प्रसिद्ध परब्रह्म परमात्मा सबसे पहले हिरण्यगर्भरूपमें प्रकट हुए थे। वे ही इस ब्रह्माण्डरूप गर्भमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। वे ही इस समय जगत्के रूपमें प्रकट हैं और भविष्यमें अर्थात् प्रलयके बाद सृष्टिकालमें पुनः प्रकट होनेवाले हैं। ये समस्त जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं, तथा सब ओर मुखवाले अर्थात् सबको सब ओरसे देखनेवाले हैं ॥ १६ ॥

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥१७॥

यः=जो, देवः=परमदेव परमात्मा; अग्नौ=अग्निमें है, यः=जो, अप्सु=जलमें है, यः=जो, विश्वम् भुवनम् आविवेश=समस्त लोकोंमें प्रविष्ट हो रहा है, यः=जो, ओषधीषु=ओषधियोंमें है; (तथा) यः=जो, वनस्पतिषु=वनस्पतियोंमें है, तस्मै देवाय=उन परमदेव परमात्माके लिये, नमः=नमस्कार है, नमः=नमस्कार है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान् पूर्णब्रह्म परमदेव अग्निमें हैं, जो जलमें हैं, जो समस्त लोकोंमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हो रहे हैं, जो ओषधियोंमें हैं और जो वनस्पतियोंमें हैं—अर्थात् जो सर्वत्र परिपूर्ण हैं जिनका अनेक प्रकारसे पहले वर्णन कर आये हैं, उन परमदेव परमात्माको नमस्कार है। नमस्कार है। 'नमः' शब्दको दुहरानेका अभिप्राय अध्यायकी समाप्तिको सूचित करना है ॥ १७ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥

तृतीय अध्याय

य एको जालवानीशत ईशनीभिः
सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १ ॥

यः=जो, एकः=एक, जालवान्=जगत्‌रूप जालका अधिपति, ईशनीभिः=अपनी स्वरूपभूत शासनशक्तियोंद्वारा, ईशते=शासन करता है, ईशनीभिः=उन विविध शासन-शक्तियोंद्वारा, सर्वान्=सम्पूर्ण, लोकान् ईशते=लोकोंपर शासन करता है, यः=(तथा) जो, एकः=अकेला, एव=ही, सम्भवे च उद्भवे=सृष्टि और उसके विस्तारमें (सर्वथा समर्थ है); एतत्=इस ब्रह्मको, ये=जो महापुरुष, विदुः=जान लेते हैं; ते=वे, अमृताः=अमर, भवन्ति=हो जाते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या—जो एक—अद्वितीय परमात्मा जगत्‌रूप जालकी रचना करके अपनी स्वरूपभूत शासन-शक्तियोंद्वारा उसपर शासन कर रहे हैं, तथा उन विविध शासन-शक्तियोंद्वारा समस्त लोकों और लोकपालोंका यथायोग्य संचालन कर रहे हैं—जिनके शासनमें ये सब अपने-अपने कर्तव्योंका नियमपूर्वक पालन कर रहे हैं, तथा जो अकेले ही बिना किसी दूसरेकी सहायता लिये समस्त जगत्‌की उत्पत्ति और उसका विस्तार करनेमें सर्वथा समर्थ हैं, उन परब्रह्म परमेश्वरको जो महापुरुष तत्त्वसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं—जन्म-मृत्युके जालसे सदाके लिये छूट जाते हैं ॥ १ ॥

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥ २ ॥

यः=जो, ईशनीभिः=अपनी स्वरूपभूत विविध शासन-शक्तियोंद्वारा; इमान्=इन सब, लोकान् ईशते=लोकोंपर शासन करता है; [सः] रुद्रः=वह रुद्र, एकः हि=एक ही है, (इसीलिये विद्वान् पुरुषोंने जगत्‌के कारणका निश्चय करते समय) द्वितीयाय न तस्थुः=दूसरेका आश्रय नहीं लिया, [सः]=वह परमात्मा, जनान् प्रत्यङ्=समस्त जीवोंके भीतर; तिष्ठति=स्थित हो रहा है, विश्वा=सम्पूर्ण; भुवनानि संसृज्य=लोकोंकी रचना करके; गोपाः=उनकी रक्षा

करनेवाला परमेश्वर, अन्तकाले=प्रलयकालमें, संचुकोच=इन सबको समेट लेता है ॥ २ ॥

व्याख्या—जो अपनी स्वरूपभूत विविध शासन शक्तियोंद्वारा इन सब लोकोंपर शासन करते हैं—उनका नियमानुसार संचालन करते हैं, वे रुद्ररूप परमेश्वर एक ही हैं। अर्थात् इस विश्वका नियमन करनेवाली शक्तियाँ अनेक होनेपर भी वे सब एक ही परमेश्वरकी हैं और उनसे अभिन्न हैं। इसी कारण, ज्ञानीजनोंने जगत्के कारणका निश्चय करते समय किसी भी दूसरे तत्त्वका आश्रय नहीं लिया। सबने एक स्वरसे यही निश्चय किया कि एक परब्रह्म ही इस जगत्के कारण हैं। वे परमात्मा सब जीवोंके भीतर अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं। इन समस्त लोकोंकी रचना करके उनकी रक्षा करनेवाले परमेश्वर प्रलयकालमें स्वयं ही इन सबको समेट लेते हैं, अर्थात् अपनेमें विलीन कर लेते हैं। उस समय इनकी भिन्न-भिन्न रूपोंमें अभिव्यक्ति नहीं रहती ॥ २ ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रै-
र्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ ३ ॥*

विश्वतश्चक्षुः=सब जगह आँखवाला, उत=तथा, विश्वतोमुखः=सब जगह मुखवाला, विश्वतोबाहुः=सब जगह हाथवाला, उत=और, विश्वतस्पात्=सब जगह पैरवाला, द्यावाभूमी जनयन्=आकाश और पृथ्वीकी सृष्टि करनेवाला, [सः]=वह, एकः=एकमात्र, देवः=देव (परमात्मा), बाहुभ्याम्=मनुष्य आदि जीवोंको दो-दो हाथोंसे, संधमति=युक्त करता है, (तथा) पतत्रैः=(पक्षी-पतंग आदिको) पाँखोंसे, सं [धमति]=युक्त करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—वे परमदेव परमेश्वर एक हैं, फिर भी उनकी सब जगह आँखें हैं, सब जगह मुख हैं, सब जगह हाथ हैं और सब जगह पैर हैं। भाव यह कि वे सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित समस्त जीवोंके कर्म और विचारोंको तथा समस्त घटनाओंको अपनी दिव्य शक्तिद्वारा निरन्तर देखते रहते हैं, कोई भी बात उनसे छिपी नहीं रहती। उनका भक्त उनको जहाँ कहीं भोजनके योग्य वस्तु समर्पित करता है, उसे वे वहीं भोग लगा सकते हैं। वे सब जगह प्रत्येक वस्तुको एक साथ ग्रहण करनेमें और अपने आश्रित जनोंके संकटका नाश करके उनकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, तथा जहाँ कहीं उनके भक्त उन्हें बुलाना चाहें, वहीं वे एक साथ पहुँच सकते हैं। संसारमें ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ उनकी ये शक्तियाँ विद्यमान

* यजुर्वेद अध्याय १७ का उन्नीसवाँ और (अथ० १३ । २ । २६) मन्त्र इसी प्रकार है तथा ऋ० १० । ८१ । ३ भी इसी प्रकार है।

न हों । आकाशसे लेकर पृथ्वीतक समस्त लोकोंकी रचना करनेवाले एक ही परमदेव परमेश्वर मनुष्य आदि प्राणियोंको दो-दो भुजाओंसे और पक्षियोंको पाँखोंसे युक्त करते हैं । भाव यह कि वे समस्त प्राणियोंको आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न शक्तियाँ एवं साधनोंसे सम्पन्न करते हैं । यहाँ भुजा और पाँखोंका कथन उपलक्षणमात्र है । इससे यह समझ लेना चाहिये कि समस्त प्राणियोंमें जो कुछ भी शक्ति है, वह सब परमात्माकी ही दी हुई है ॥ ३ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ ४ ॥

यः=जो, **रुद्रः**=रुद्र, **देवानाम्**=इन्द्रादि देवताओंकी, **प्रभवः**=उत्पत्तिका हेतु, **च**=और, **उद्भवः**=वृद्धिका हेतु है, **च**=तथा, (जो) **विश्वाधिपः**=सबका अधिपति, (और) **महर्षिः**=महान् ज्ञानी (सर्वज्ञ) है, **पूर्वम्**=(जिसने) पहले, **हिरण्यगर्भम्**=हिरण्यगर्भको, **जनयामास**=उत्पन्न किया था, **सः**=वह परमदेव परमेश्वर, **नः**=हमलोगोंको, **शुभया बुद्ध्या**=शुभ बुद्धिसे, **संयुनक्तु**=संयुक्त करे ॥ ४ ॥

व्याख्या—सबको अपने शासनमें रखनेवाले जो रुद्ररूप परमेश्वर इन्द्रादि समस्त देवताओंको उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं तथा जो सबके अधिपति और महान् ज्ञानी—सर्वज्ञ हैं, जिन्होंने सृष्टिके आदिमें हिरण्यगर्भको उत्पन्न किया था, वे परमदेव परमात्मा हमलोगोंको शुभ बुद्धिसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ ५ ॥*

रुद्र=हे रुद्रदेव !; **ते**=तेरी, **या**=जो; **अघोरा**=भयानकतासे शून्य (सौम्य), **अपापकाशिनी**=पुण्यसे प्रकाशित होनेवाली; (तथा) **शिवा**=कल्याणमयी; **तनूः**=मूर्ति है, **गिरिशन्त**=हे पर्वतपर रहकर सुखका विस्तार करनेवाले शिव !, **तया**=उस, **शन्तमया तनुवा**=परम शान्त मूर्तिसे, (तू कृपा करके) **नः अभिचाकशीहि**=हमलोगोंको देख ॥ ५ ॥

व्याख्या—हे रुद्रदेव ! आपकी जो भयानकतासे शून्य तथा पुण्यकर्मोंसे प्रकाशित होनेवाली कल्याणमयी सौम्यमूर्ति है—जिसका दर्शन करके मनुष्य परम आनन्दमें मग्न हो जाता है,—हे गिरिशन्त अर्थात् पर्वतपर निवास करते हुए समस्त लोकोंको सुख पहुँचानेवाले परमेश्वर ! उस परम शान्त मूर्तिसे ही कृपा करके

* यह यजुर्वेद अध्याय १६ का दूसरा मन्त्र है ।

आप हमलोगोंकी ओर देखिये। आपकी कृपादृष्टि पड़ते ही हम सर्वथा पवित्र होकर आपकी प्राप्तिके योग्य बन जायँगे ॥ ५ ॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिꣳसीः पुरुषं जगत् ॥ ६ ॥*

गिरिशन्त=हे गिरिशन्त! याम्=जिस, इषुम्=बाणको, अस्तवे=फेंकनेके लिये, (तू) हस्ते=हाथमें, बिभर्षि=धारण किये हुए है, गिरित्र=हे गिरिराज हिमालयकी रक्षा करनेवाले देव!, ताम्=उस बाणको, शिवाम्=कल्याणमय, कुरु=बना ले, पुरुषम्=जीवसमुदायरूप, जगत्=जगत्को; मा हिंसीः=नष्ट न कर (कष्ट न दे) ॥ ६ ॥

व्याख्या—हे गिरिशन्त—हे कैलासवासी सुखदायक परमेश्वर! जिस बाणको फेंकनेके लिये आपने हाथमें ले रक्खा है, हे गिरिराज हिमालयकी रक्षा करनेवाले! आप उस बाणको कल्याणमय बना लें—उसकी क्रूरताको नष्ट करके उसे शान्तिमय बना लें। इस जीवसमुदायरूप जगत्का विनाश न करें—इसको कष्ट न दें ॥ ६ ॥

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं
यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितार-
मीशं तं ज्ञात्वामृता भवन्ति ॥ ७ ॥

ततः=पूर्वोक्त जीव-समुदायरूप जगत्के, परम्=परे, (और) ब्रह्मपरम्=हिरण्यगर्भरूप ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ, सर्वभूतेषु=समस्त प्राणियोंमें, यथानिकायम्=उनके शरीरोंके अनुरूप होकर, गूढम्=छिपे हुए; (और) विश्वस्य परिवेष्टितारम्=सम्पूर्ण विश्वको सब ओरसे घेरे हुए, तम्=उस; बृहन्तम्=महान्, सर्वत्र व्यापक, एकम्=एकमात्र देव, ईशम्=परमेश्वरको, ज्ञात्वा=जानकर, अमृताः भवन्ति=(ज्ञानीजन) अमर हो जाते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—जो पहले कहे हुए जीव-समुदायरूप जगत्से और हिरण्यगर्भ नामक ब्रह्मासे भी सर्वथा श्रेष्ठ हैं, समस्त प्राणियोंमें उनके शरीरोंके अनुरूप होकर छिपे हुए हैं, समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे हुए हैं, तथा सर्वत्र व्याप्त और महान् हैं, उन एकमात्र परमेश्वरको जानकर ज्ञानीजन सदाके लिये अमर हो जाते हैं, फिर कभी उनका जन्म-मरण नहीं होता ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—अब इस मन्त्रमें ज्ञानी महापुरुषके अनुभवकी बात कहकर परमात्मज्ञानके फलकी दृढ़ता दिखलाते हैं—

* यह यजुर्वेद अध्याय १६ का तीसरा मन्त्र है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ८ ॥*

तमसः परस्तात्=अविद्यारूप अन्धकारसे अतीत; (तथा) **आदित्य-वर्णम्**=सूर्यकी भाँति स्वयंप्रकाशस्वरूप; **एतम्**=इस, **महान्तम् पुरुषम्**=महान् पुरुष (परमेश्वर) को, **अहम् वेद**=मैं जानता हूँ, **तम्**=उसको, **विदित्वा**=जानकर, **एव**=ही; (मनुष्य) **मृत्युम्**=मृत्युको, **अत्येति (अति+एति)**=उल्लङ्घन कर जाता है; **अयनाय**=(परमपदकी) प्राप्तिके लिये; **अन्यः**=दूसरा, **पन्थाः**=मार्ग; **न**=नहीं; **विद्यते**=है ॥ ८ ॥

व्याख्या—कोई ज्ञानी महापुरुष कहता है—'इन महान्से भी महान् परम पुरुषोत्तमको मैं जानता हूँ । वे अविद्यारूप अन्धकारसे सर्वथा अतीत हैं तथा सूर्यकी भाँति स्वयंप्रकाशस्वरूप हैं । उनको जानकर ही मनुष्य मृत्युका उल्लङ्घन करनेमें—इस जन्म-मृत्युके बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा पानेमें समर्थ होता है । परमपदकी प्राप्तिके लिये इसके सिवा दूसरा कोई मार्ग अर्थात् उपाय नहीं है ॥ ८ ॥

यस्मात् परं नापरमस्ति किंचिद्
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥ ९ ॥

यस्मात् परम्=जिससे श्रेष्ठ; **अपरम्**=दूसरा; **किंचित्**=कुछ भी; **न**=नहीं; **अस्ति**=है; **यस्मात्**=जिससे (बढ़कर), **कश्चित्**=कोई भी; **न**=न तो; **अणीयः**=अधिक सूक्ष्म; **न**=और न; **ज्यायः**=महान् ही; **अस्ति**=है; **एकः**=(जो) अकेला ही; **वृक्षः इव**=वृक्षकी भाँति; **स्तब्धः**=निश्चलभावसे; **दिवि**=प्रकाशमय आकाशमें; **तिष्ठति**=स्थित है; **तेन पुरुषेण**=उस परमपुरुष पुरुषोत्तम-से, **इदम्**=यह; **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **पूर्णम्**=परिपूर्ण है ॥ ९ ॥

व्याख्या—उन परमदेव परमेश्वरसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नही है, वे सर्वश्रेष्ठ हैं । जितने भी सूक्ष्म तत्त्व हैं, उन सबसे अधिक सूक्ष्म वे ही हैं । उनसे अधिक सूक्ष्म कोई भी नहीं है । इसीसे वे छोटे-से-छोटे जीवके शरीरमें प्रविष्ट होकर स्थित हैं । इसी प्रकार जितने भी महान् व्यापक तत्त्व हैं, उन सबसे महान—अधिक व्यापक वे परब्रह्म हैं; उनसे बड़ा—उनसे अधिक व्यापक कोई भी नहीं है । इसीसे वे प्रलयकालमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपने अंदर लीन

* यह यजुर्वेद अध्याय ३१ का अठारहवाँ मन्त्र है ।

कर लेते हैं। जो अकेले ही वृक्षकी भाँति निश्चलभावसे परमधामरूप प्रकाशमय दिव्य आकाशमें स्थित हैं, उन परब्रह्म परमात्मासे यह समस्त जगत् व्याप्त है— वे परम पुरुष परमेश्वर ही निराकाररूपसे सारे जगत्‌मे परिपूर्ण हैं॥ ९॥

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्। य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति॥ १०॥

ततः=उस पहले बताये हुए हिरण्यगर्भसे, **यत्**=जो, **उत्तरतरम्**=अत्यन्त उत्कृष्ट है, **तत्**=वह परब्रह्म परमात्मा, **अरूपम्**=आकाररहित, (और) **अनामयम्**=सब प्रकारके दोषोंसे शून्य है, **ये**=जो, **एतत्**=इस परब्रह्म परमात्माको, **विदुः**=जानते हैं, **ते**=वे, **अमृताः**=अमर, **भवन्ति**=हो जाते हैं, **अथ**=परंतु, **इतरे**=इस रहस्यको न जाननेवाले दूसरे लोग, (बार-बार) **दुःखम्**=दुःखको, **एव**=ही, **अपियन्ति**=प्राप्त होते हैं॥ १०॥

व्याख्या—उस पहले बताये हुए हिरण्यगर्भसे जो सब प्रकारसे अत्यन्त उत्कृष्ट हैं, वे परब्रह्म परमात्मा आकाररहित और सब प्रकारके विकारोंसे सर्वथा शून्य हैं, जो कोई महापुरुष इन परब्रह्म परमात्माको जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं—सदाके लिये जन्म-मृत्युके दुःखोंसे छूट जाते हैं। परंतु जो इन्हें नहीं जानते, वे सब लोग निश्चयपूर्वक बार-बार दुःखोंको प्राप्त होते हैं। अतः मनुष्यको सदाके लिये दुःखोंसे छूटने और परमानन्दस्वरूप परमात्माको पानेके लिये उन्हें जानना चाहिये॥ १०॥

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात् सर्वगतः शिवः॥ ११॥

सः=वह, **भगवान्**=भगवान्, **सर्वाननशिरोग्रीवः**=सब ओर मुख, सिर और ग्रीवावाला है, **सर्वभूतगुहाशयः**=समस्त प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें निवास करता है, (और) **सर्वव्यापी**=सर्वव्यापी है, **तस्मात्**=इसलिये, **सः**=वह, **शिवः**=कल्याणस्वरूप परमेश्वर, **सर्वगतः**=सब जगह पहुँचा हुआ है॥ ११॥

व्याख्या—उन सर्वेश्वर भगवान्‌के सभी जगह मुख हैं, सभी जगह सिर और सभी जगह गला है। भाव यह कि वे प्रत्येक स्थानपर प्रत्येक अङ्गद्वारा किया जानेवाला कार्य करनेमें समर्थ हैं। वे समस्त प्राणियोंके हृदयरूप गुफामें निवास करते हैं और सर्वव्यापी हैं, इसलिये वे कल्याणस्वरूप परमेश्वर सभी जगह पहुँचे हुए हैं। अभिप्राय यह कि साधक उनको जिस समय, जहाँ और जिस रूपमें प्रत्यक्ष करना चाहे, उसी समय, उसी जगह और उसी रूपमें वे प्रत्यक्ष हो सकते हैं॥ ११॥

महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥ १२ ॥

वै=निश्चय ही; **एषः**=यह, **महान्**=महान्, **प्रभुः**=समर्थ, **ईशानः**=सबपर शासन करनेवाला, **अव्ययः**=अविनाशी; (एव) **ज्योतिः**=प्रकाशस्वरूप; **पुरुषः**=परमपुरुष पुरुषोत्तम, **इमाम् सुनिर्मलाम् प्राप्तिम्** (प्रति)=अपनी प्राप्तिरूप इस अत्यन्त निर्मल लाभकी ओर, **सत्त्वस्य प्रवर्तकः**=अन्तःकरणको प्रेरित करनेवाला है ॥ १२ ॥

व्याख्या—निश्चय ही ये सबपर शासन करनेवाले, महान् प्रभु तथा अविनाशी और प्रकाशस्वरूप परम पुरुष पुरुषोत्तम पहले बताये हुए इस परम निर्मल लाभके प्रति अर्थात् अपने आनन्दमय विशुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर मनुष्यके अन्तःकरणको प्रेरित करते हैं, हरेक मनुष्यको ये अपनी ओर आकर्षित करते हैं; तथापि यह मूर्ख जीव सब प्रकारका सुयोग पाकर भी उनकी प्रेरणाके अनुसार उनकी प्राप्तिके लिये तत्परतासे चेष्टा नहीं करता, इसी कारण मारा-मारा फिरता है ॥ १२ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १३ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः=(यह) अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला; **अन्तरात्मा**=अन्तर्यामी, **पुरुषः**=परम पुरुष (पुरुषोत्तम), **सदा**=सदा ही, **जनानाम्**=मनुष्योंके, **हृदये**=हृदयमें; **संनिविष्टः**=सम्यक् प्रकारसे स्थित है; **मन्वीशः**=मनका स्वामी है; (तथा) **हृदा**=निर्मल हृदय; (और) **मनसा**=विशुद्ध मनसे; **अभिक्लृप्तः**=ध्यानमें लाया हुआ (प्रत्यक्ष होता है), **ये**=जो, **एतत्**=इस परब्रह्म परमेश्वरको, **विदुः**=जान लेते हैं, **ते**=वे, **अमृताः**=अमर, **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ १३ ॥

व्याख्या—अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाले अन्तर्यामी परमपुरुष परमेश्वर सदा ही मनुष्योंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं और मनके स्वामी हैं, तथा निर्मल हृदय और विशुद्ध मनके द्वारा ध्यानमें लाये जाकर प्रत्यक्ष होते हैं, जो साधक इन परब्रह्म परमेश्वरको जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं, अर्थात् सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाते हैं—अमृतस्वरूप बन जाते हैं। यहाँ परमात्माको अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला इसलिये बताया गया है कि मनुष्यका हृदय अँगूठेके नापका

होता है और वही परमात्माकी उपलब्धिका स्थान है। ब्रह्मसूत्रमें भी इस विषय-पर विचार करके यही निश्चय किया गया है (ब्र० सू० १ । ३ । २४-२५) ॥१३॥

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥१४॥*

पुरुषः=वह परम पुरुष, **सहस्रशीर्षा**=हजारों सिरवाला, **सहस्राक्षः**=हजारों आँखवाला, **सहस्रपात्**=(और) हजारों पैरवाला, **सः**=वह, **भूमिम्**=समस्त जगत्को, **विश्वतः**=सब ओरसे, **वृत्वा**=घेरकर, **दशाङ्गुलम् अति**=नाभिसे दस अङ्गुल ऊपर (हृदयमें), **अतिष्ठत्**=स्थित है ॥ १४ ॥

व्याख्या—उन परमपुरुष परमेश्वरके हजारों सिर, हजारों आँखें और हजारों पैर हैं। अर्थात् सब अवयवोंसे रहित होनेपर भी उनके सिर, आँख और पैर आदि सभी अङ्ग अनन्त और असंख्य हैं। वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर समस्त जगत्को सब ओरसे घेरकर सर्वत्र व्याप्त हुए ही नाभिसे दस अंगुल ऊपर हृदयाकाशमें स्थित हैं। वे सर्वव्यापी और महान् होते हुए ही हृदयरूप एकदेशमें स्थित हैं। भाव यह कि वे अनेक विरुद्ध धर्मोंके आश्रय हैं ॥ १४ ॥

पुरुष एवेद९ सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥१५॥†

यत्=जो, **भूतम्**=अबसे पहले हो चुका है; **यत्**=जो; **भव्यम्**=भविष्यमें होनेवाला है, **च**=और, **यत्**=जो; **अन्नेन**=खाद्य पदार्थोंसे, **अतिरोहति**=इस समय बढ़ रहा है, **इदम्**=यह, **सर्वम्**=समस्त जगत्; **पुरुषः एव**=परम पुरुष परमात्मा ही है, **उत**=और; (वही) **अमृतत्वस्य**=अमृतस्वरूप मोक्षका; **ईशानः**=स्वामी है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जो अबसे पहले हो चुका है, जो भविष्यमें होनेवाला है और जो वर्तमानकालमें अन्नके द्वारा अर्थात् खाद्य पदार्थोंके द्वारा बढ़ रहा है, वह समस्त जगत् परम पुरुष परमात्माका ही स्वरूप है। वे स्वयं ही अपनी स्वरूपभूत अचिन्त्यशक्तिसे इस रूपमें प्रकट होते हैं, तथा वे ही अमृतस्वरूप मोक्षके स्वामी हैं अर्थात् जीवोंको संसार-बन्धनसे छुडाकर अपनी प्राप्ति करा देते हैं। अतएव उनकी प्राप्तिके अभिलाषी साधकोंको उन्हींकी शरणमें जाना चाहिये ॥ १५ ॥

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१६॥

तत्=वह परम पुरुष परमात्मा, **सर्वतःपाणिपादम्**=सब जगह हाथ-पैरवाला, **सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्**=सब जगह आँख, सिर और मुखवाला,

*-† ये दोनों यजुर्वेदके ३१ । १, २, ऋग्वेदके १० । ९० । १, २ तथा अथर्ववेदके १९ । ६ । १, ४ मन्त्र हैं।

(तथा) **सर्वतःश्रुतिमत्**=सब जगह कानोंवाला है, (वही) **लोके**=ब्रह्माण्डमें, **सर्वम्**=सबको, **आवृत्य**=सब ओरसे घेरकर, **तिष्ठति**=स्थित है ॥ १६ ॥

व्याख्या—उन परमात्माके हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुख और कान सब जगह हैं। वे सब जगह सब शक्तियोंसे सब कार्य करनेमें समर्थ हैं। उन्होंने सभी जगह अपने भक्तोंकी रक्षा करने तथा उन्हें अपनी ओर खींचनेके लिये हाथ बढ़ा रक्खा है। उनका भक्त उन्हें जहाँ चाहता है, वहीं उन्हें पहुँचा हुआ पाता है। वे सब जगह सब जीवोंद्वारा किये जानेवाले कर्मोंको देख रहे हैं। उनका भक्त जहाँ उन्हें प्रणाम करता है, सर्वत्र व्याप्त होनेके कारण उनके चरण और शिर आदि अङ्ग वहीं मौजूद रहते हैं। अपने भक्तकी प्रार्थना सुननेके लिये उनके कान सर्वत्र हैं और अपने भक्तद्वारा अर्पण की हुई वस्तुका भोग लगानेके लिये उनका मुख भी सर्वत्र विद्यमान है। वे परमेश्वर इस ब्रह्माण्डमें सबको सब ओरसे घेरकर स्थित हैं—इस बातपर विश्वास करके मनुष्यको उनकी सेवामें लग जाना चाहिये। यह मन्त्र गीतामें भी इसी रूपमें आया है (१३ । १३) ॥ १६ ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥१७॥

(जो परम पुरुष परमात्मा) **सर्वेन्द्रियविवर्जितम्**=समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी, **सर्वेन्द्रियगुणाभासम्**=समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला है; (तथा) **सर्वस्य**=सबका; **प्रभुम्**=स्वामी; **सर्वस्य**=सबका; **ईशानम्**=शासक; (और) **बृहत्**=सबसे बड़ा, **शरणम्**=आश्रय है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान् परम पुरुष परमात्मा समस्त इन्द्रियोंसे रहित—देहेन्द्रियादि भेदसे शून्य होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जानते हैं तथा सबके स्वामी, परम समर्थ, सबका शासन करनेवाले और जीवके लिये सबसे बड़े आश्रय हैं, मनुष्यको सर्वतोभावसे उन्हींकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। यही मनुष्य-शरीरका अच्छे-से-अच्छा उपयोग है। इस मन्त्रका पूर्वार्द्ध गीतामें ज्यों-का-त्यों आया है (१३ । १४) ॥ १७ ॥

नवद्वारे पुरे देही हꣳसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥१८॥

सर्वस्य=सम्पूर्ण; **स्थावरस्य**=स्थावर, **च**=और, **चरस्य**=जङ्गम; **लोकस्य वशी**=जगत्‌को वशमें रखनेवाला, **हंसः**=वह प्रकाशमय परमेश्वर; **नवद्वारे**=नौ द्वारवाले; **पुरे**=शरीररूपी नगरमें; **देही**=अन्तर्यामीरूपसे हृदयमें

स्थित देही है, (तथा वही) बहिः=बाह्य जगत्में भी, लेलायते=लीला कर रहा है ॥ १८ ॥

व्याख्या—सम्पूर्ण स्थावर और जङ्गम जीवोंके समुदायरूप इस जगत्को अपने वशमें रखनेवाले वे प्रकाशमय परमेश्वर दो आँख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा और एक उपस्थ—इस प्रकार नौ दरवाजोंवाले मनुष्य-शरीररूप नगरमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित हैं और वे ही इस बाह्य जगत्में भी लीला कर रहे हैं यों समझकर मन जहाँ सुगमतासे स्थिर हो सके, वहीं उनका ध्यान करना चाहिये ॥ १८ ॥

सम्बन्ध—पहले जो यह बात कही थी कि वे समस्त इन्द्रियोंसे रहित होकर भी सब इन्द्रियोंके विषयोंको जानते हैं, उसीका स्पष्टीकरण किया जाता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥१९॥

सः=वह परमात्मा, अपाणिपादः=हाथ-पैरोंसे रहित होकर भी, ग्रहीता=समस्त वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला, (तथा) जवनः=वेगपूर्वक सर्वत्र गमन करनेवाला है, अचक्षुः=आँखोंके बिना ही, पश्यति=वह सब कुछ देखता है, (और) अकर्णः=कानोंके बिना ही, शृणोति=सब कुछ सुनता है, सः=वह; वेद्यम्=जो कुछ भी जाननेमें आनेवाली वस्तुएँ हैं, उन सबको, वेत्ति=जानता है, च=परंतु तस्य वेत्ता=उसको जाननेवाला, (कोई) न अस्ति=नहीं है, तम्=(ज्ञानी पुरुष) उसे, महान्तम्=महान्, अग्र्यम्=आदि, पुरुषम्=पुरुष, आहुः=कहते हैं ॥ १९ ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, वे परब्रह्म परमात्मा हाथोंसे रहित होनेपर भी सब जगह समस्त वस्तुओंको ग्रहण कर लेते हैं तथा पैरोंसे रहित होकर भी बड़े वेगसे इच्छानुसार सर्वत्र गमनागमन करते हैं । आँखोंसे रहित होकर भी सब जगह सब कुछ देखते हैं, कानोंसे रहित होकर भी सब जगह सब कुछ सुनते हैं । वे समस्त जाननेयोग्य और जाननेमें आनेवाले जड-चेतन पदार्थोंको भलीभाँति जानते हैं, परंतु उनको जाननेवाला कोई नहीं है । जो सबको जाननेवाले हैं, उन्हें भला कौन जान सकता है । उनके विषयमें ज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि वे सबके आदि, पुरातन, महान् पुरुष हैं ॥ १९ ॥

अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥२०॥*

अणोः अणीयान्=(वह) सूक्ष्मसे भी अति सूक्ष्म, (तथा) **महतः महीयान्**=बड़ेसे भी बहुत बड़ा, **आत्मा**=परमात्मा, **अस्य जन्तोः**=इस जीवकी, **गुहायाम्**=हृदयरूप गुफामें, **निहितः**=छिपा हुआ है, **धातुः**=सबकी रचना करनेवाले परमेश्वरकी; **प्रसादात्**=कृपासे, (जो मनुष्य) **तम्**=उस, **अक्रतुम्**=संकल्परहित; **ईशम्**=परमेश्वरको; (और) **महिमानम्**=उसकी महिमाको, **पश्यति**=देख लेता है, (वह) **वीतशोकः**=सब प्रकारके दुःखोंसे रहित (हो जाता है) ॥ २० ॥

व्याख्या—वे सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म और बड़ेसे भी बहुत बड़े परब्रह्म परमात्मा इस जीवकी हृदयरूप गुफामें छिपे हुए हैं । सबकी रचना करनेवाले उन परमेश्वरकी कृपासे ही मनुष्य उन स्वार्थके संकल्पसे सर्वथा रहित, अकारण कृपा करनेवाले परम सुहृद् परमेश्वरको और उनकी महिमाको जान सकता है । जब उन परम दयालु परम सुहृद् परमेश्वरका यह साक्षात् कर लेता है, तब सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे रहित होकर उन परम आनन्दस्वरूप परमेश्वरको प्राप्त कर लेता है ॥ २० ॥

वेदाहमेतमजरं पुराणं
सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात् ।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य
ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥२१॥

ब्रह्मवादिनः=वेदके रहस्यका वर्णन करनेवाले महापुरुष, **यस्य**=जिसके, **जन्मनिरोधम्**=जन्मका अभाव, **प्रवदन्ति**=बतलाते हैं, **हि** [**यम्**]=तथा जिसको, **नित्यम्**=नित्य, **प्रवदन्ति**=बतलाते हैं, **एतम्**=इस, **विभुत्वात्**=व्यापक होनेके कारण, **सर्वगतम्**=सर्वत्र विद्यमान, **सर्वात्मानम्**=सबके आत्मा, **अजरम्**=जरा, मृत्यु आदि विकारोंसे रहित, **पुराणम्**=पुराणपुरुष परमेश्वरको, **अहम्**=मैं; **वेद**=जानता हूँ ॥ २१ ॥

व्याख्या—परमात्माको प्राप्त हुए महात्माका कहना है कि 'वेदके रहस्यका वर्णन करनेवाले महापुरुष जिन्हें जन्मरहित तथा नित्य बताते हैं, व्यापक होनेके

* यह मन्त्र कठ उ० १ । २ । २० में भी है ।

कारण जो सर्वत्र विद्यमान हैं—जिनसे कोई भी स्थान खाली नहीं है, जो जरा-मृत्यु आदि समस्त विकारोंसे सर्वथा रहित हैं और सबके आदि—पुराणपुरुष हैं, उन सबके आत्मा—अन्तर्यामी परब्रह्म परमेश्वरको मैं जानता हूँ' ॥ २१ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

चतुर्थ अध्याय

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ १ ॥

यः=जो, **अवर्णः**=रंग, रूप आदिसे रहित होकर भी, **निहितार्थः**=छिपे हुए प्रयोजनवाला होनेके कारण, **बहुधा शक्तियोगात्**=विविध शक्तियोंके सम्बन्धसे, **आदौ**=सृष्टिके आदिमें, **अनेकान्**=अनेक, **वर्णान्**=रूप-रंग, **दधाति**=धारण कर लेता है; **च**=तथा, **अन्ते**=अन्तमें, **विश्वम्**=यह सम्पूर्ण विश्व, (जिसमें) **व्येति** (**वि+एति**) **च**=विलीन भी हो जाता है, **सः**=वह, **देवः**=परमदेव (परमात्मा), **एकः**=एक (अद्वितीय) है, **सः**=वह, **नः**=हमलोगोंको, **शुभया बुद्ध्या**=शुभ बुद्धिसे, **संयुनक्तु**=संयुक्त करे ॥ १ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमात्मा अपने निराकार स्वरूपमें रूप-रंग आदिसे रहित होकर भी सृष्टिके आदिमें किसी रहस्यपूर्ण प्रयोजनके कारण अपनी स्वरूपभूत नाना प्रकारकी शक्तियोंके सम्बन्धसे अनेक रूप-रंग आदि धारण करते हैं तथा अन्तमें यह सम्पूर्ण जगत् जिनमें विलीन भी हो जाता है—अर्थात् जो बिना किसी अपने प्रयोजनके जीवोंका कल्याण करनेके लिये ही उनके कर्मानुसार इस नाना रंग-रूपवाले जगत्की रचना, पालन और संहार करते हैं, और समय-समयपर आवश्यकतानुसार अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं वे परमदेव परमेश्वर वास्तवमें एक—अद्वितीय हैं। उनके अतिरिक्त कुछ नहीं है। वे हमें शुभ बुद्धिसे युक्त करें ॥ १ ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रार्थना करनेका प्रकार बताया गया। अब तीन मन्त्रोंद्वारा परमेश्वरका जगत्के रूपमें चिन्तन करते हुए उनकी स्तुति करनेका प्रकार बतलाया जाता है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥ २ ॥*

* यह मन्त्र यजुर्वेद ३२ । १ में भी आया है।

तत् एव=वही, अग्निः=अग्नि है, तत्=वह, आदित्यः=सूर्य है, तत्=वह, वायुः=वायु है, उ=तथा, तत्=वही, चन्द्रमाः=चन्द्रमा है, तत्=वह, शुक्रम्=अन्यान्य प्रकाशयुक्त नक्षत्र आदि है, तत्=वह, आपः=जल है, तत्=वह, प्रजापतिः=प्रजापति है, (और) तत् एव=वही, ब्रह्म=ब्रह्मा है ॥ २ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म ही अग्नि, जल, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, अन्यान्य प्रकाशमय नक्षत्र आदि प्रजापति और ब्रह्मा हैं । ये सब उन एक अद्वितीय परब्रह्म परमेश्वरकी ही विभूतियाँ हैं । इन सबके अन्तर्यामी आत्मा वे ही हैं, अतः ये सब उन्हींके स्वरूप हैं । इस प्रकार इस सम्पूर्ण जगत्के रूपमें उन परमात्माका चिन्तन करना चाहिये ॥ २ ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी ।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥ ३ ॥*

त्वम्=तू, स्त्री=स्त्री है, त्वम्=तू; पुमान्=पुरुष है, त्वम्=तू ही; कुमारः=कुमार, उत वा=अथवा, कुमारी=कुमारी, असि=है, त्वम्=तू; जीर्णः=बूढा होकर, दण्डेन=लाठीके सहारे, वञ्चसि=चलता है, उ=तथा; त्वम्=तू ही, जातः=विराट् रूपमें प्रकट होकर, विश्वतोमुखः=सब ओर मुख-वाला; भवसि=हो जाता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—हे सर्वेश्वर ! आप स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी आदि अनेक रूपोंवाले हैं—अर्थात् इन सबके रूपमें आप ही प्रकट हो रहे हैं । आप ही बूढे होकर लाठीके सहारे चलते हैं अर्थात् आप ही वृद्धोंके रूपमें अभिव्यक्त हैं । हे परमात्मन् ! आप ही विराट्रूपमें प्रकट होकर सब ओर मुख किये हुए हैं, अर्थात् सम्पूर्ण जगत् आपका ही स्वरूप है । जगत्में जितने भी मुख दिखायी देते हैं, सब आपके ही हैं ॥ ३ ॥

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्ष-
स्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः ।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे
यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥ ४ ॥

[त्वम् एव]=तू ही; नीलः=नीलवर्ण, पतङ्गः=पतङ्ग है; हरितः=हरे रंगका, (और) लोहिताक्षः=लाल आँखोंवाला (पक्षी है एव), तडिद्गर्भः=मेघ, ऋतवः=वसन्त आदि ऋतुएँ, (तथा) समुद्राः=सप्त समुद्ररूप है, यतः=क्योंकि, [त्वत्तः एव]=तुझसे ही; विश्वा=सम्पूर्ण, भुवनानि=लोक,

* यह अथर्ववेद काण्ड १० सूक्त ८ का २७ वाँ मन्त्र है ।

जातानि=उत्पन्न हुए हैं, त्वम्=तू ही, अनादिमत्=अनादि (प्रकृतियों) का स्वामी; (और) विभुत्वेन=व्यापकरूपसे, वर्तसे=सबमें विद्यमान है ॥ ४ ॥

व्याख्या—हे सर्वान्तर्यामिन्! आप ही नीले रंगके पतङ्ग (भौंरे) तथा हरे रंग और लाल आँखोंवाले पक्षी—तोते हैं, आप ही बिजलीसे युक्त मेघ हैं, वसन्तादि सब ऋतुएँ और सातों समुद्र भी आपके ही रूप हैं। अर्थात् इन नाना प्रकारके रंग-रूपवाले समस्त जड-चेतन पदार्थोंके रूपमें मैं आपको ही देख रहा हूँ, क्योंकि आपसे ही ये समस्त लोक और उनमें निवास करनेवाले सम्पूर्ण जीव-समुदाय प्रकट हुए हैं। व्यापकरूपसे आप ही सबमें विद्यमान हैं तथा अव्यक्त एवं जीवरूप अपनी दो अनादि प्रकृतियोंके (जिन्हें गीतामें अपरा और परा नामोंसे कहा गया है) स्वामी भी आप ही हैं। अतः एकमात्र आपको ही मैं सबके रूपमें देखता हूँ ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—पूर्व मन्त्रमें परब्रह्म परमेश्वरको जिन दो प्रकृतियोंका स्वामी बताया गया है, वे दोनों अनादि प्रकृतियाँ कौन-सी हैं—इसका स्पष्टीकरण किया जाता है—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां
बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते
जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥ ५ ॥

सरूपाः=अपने ही सदृश अर्थात् त्रिगुणमय, बह्वीः=बहुत-से, प्रजाः=भूत-समुदायोंको, सृजमानाम्=रचनेवाली, (तथा) लोहितशुक्लकृष्णाम्=लाल, सफेद और काले रंगकी अर्थात् त्रिगुणमयी, एकाम्=एक, अजाम्=अजा (अजन्मा—अनादि प्रकृति) को, हि=निश्चय ही, एकः अजः=एक अजन्मा (अज्ञानी जीव), जुषमाणः=आसक्त हुआ, अनुशेते=भोगता है, (और) अन्यः=दूसरा, अजः=अज (ज्ञानी महापुरुष), एनाम्=इस, भुक्तभोगाम्=भोगी हुई प्रकृतिको, जहाति=त्याग देता है ॥ ५ ॥

व्याख्या—पिछले मन्त्रमें जिनका संकेत किया गया है, उन दो प्रकृतियोंमेंसे एक तो वह है, जिसका गीतामें अपरा नामसे उल्लेख हुआ है तथा जिसके आठ भेद किये गये हैं (गीता ७ । ४)। यह अपने अधिष्ठाता परमदेव परमेश्वरकी अध्यक्षतामें अपने ही सदृश अर्थात् त्रिगुणमय असंख्य जीवदेहोंको उत्पन्न करती है। त्रिगुणमयी अथवा त्रिगुणात्मिका होनेसे इसे तीन रंगवाली कहा गया है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण ही इसके तीन रंग हैं। सत्त्वगुण निर्मल एवं प्रकाशक होनेसे उसे श्वेत माना गया है। रजोगुण रागात्मक है, अतएव

उसका रंग लाल माना गया है तथा तमोगुण अज्ञानरूप एवं आवरक होनेसे उसे कृष्णवर्ण कहा गया है। इन तीन गुणोंको लेकर ही प्रकृतिको सफेद, लाल एवं काले रंगकी कहा गया। दूसरी जिसका गीतामें जीवरूप परा अथवा चेतन प्रकृतिके नामसे (७। ५), क्षेत्रज्ञके नामसे (१३। १) तथा अक्षर पुरुषके नामसे (१५। १६) वर्णन किया गया है, उसके दो भेद हैं। एक तो वे जीव, जो उस अपरा प्रकृतिमें आसक्त होकर—उसके साथ एकरूप होकर उसके विचित्र भोगोंको अपने कर्मानुसार भोगते हैं। दूसरा समुदाय उन ज्ञानी महापुरुषोंका है, जिन्होंने इसके भोगोंको भोगकर इसे निःसार और क्षणभङ्गुर समझकर इसका सर्वथा परित्याग कर दिया है। ये दोनों प्रकारके जीव स्वरूपतः अजन्मा तथा अनादि हैं। इसीलिये इन्हें 'अज' कहा गया है ॥ ५ ॥*

सम्बन्ध—वह परा प्रकृतिरूप जीवसमुदाय, जो इस प्रकृतिके भोगोंको भोगता है, कब और कैसे मुक्त हो सकता है—इस जिज्ञासापर दो मन्त्रोंमें कहते हैं—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥६॥†

सयुजा=सदा साथ रहनेवाले, (तथा) **सखाया**=परस्पर सख्यभाव रखनेवाले; **द्वा**=दो, **सुपर्णा**=पक्षी (जीवात्मा एवं परमात्मा), **समानम्**=एक ही; **वृक्षम् परिषस्वजाते**=वृक्ष (शरीर) का आश्रय लेकर रहते हैं, **तयोः**=उन दोनोंमेंसे, **अन्यः**=एक (जीवात्मा) तो; **पिप्पलम्**=उस वृक्षके फलों (कर्मफलों) को, **स्वादु**=स्वाद ले-लेकर; **अत्ति**=खाता है, **अन्यः**=

---

* साङ्ख्यमतावलम्बियोंने इस मन्त्रको साङ्ख्यशास्त्रका बीज माना है और इसीके आधारपर उक्त दर्शनको श्रुतिसम्मत सिद्ध किया है। साङ्ख्यकारिकाके प्रसिद्ध टीकाकार तथा अन्य दर्शनोंके व्याख्याता सर्वतन्त्रस्वतन्त्र स्वनामधन्य श्रीवाचस्पति मिश्रने अपनी साङ्ख्यतत्त्वकौमुदीनामक टीकाके आरम्भमें इसी मन्त्रको कुछ परिवर्तनके साथ मङ्गलाचरणके रूपमें उद्धृत करते हुए इसमें वर्णित प्रकृतिकी वन्दना की है। यहाँ काव्यमयी भाषामें प्रकृतिको एक तिरंगी बकरीके रूपमें चित्रित किया गया है, जो बद्धजीवरूप बकरेके संयोगसे अपनी ही जैसी तिरंगी—त्रिगुणमयी संतान उत्पन्न करती है। संस्कृतमें 'अजा' बकरीको भी कहते हैं। इसी श्लेषका उपयोग करके प्रकृतिका आलङ्कारिक रूपमें वर्णन किया गया है।

† यह मन्त्र अथर्ववेद काण्ड ९ सूक्त १४ का २० वाँ है। तथा ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ का २० वाँ है।

(किंतु) दूसरा (ईश्वर), अनश्नन्=उनका उपभोग न करता हुआ, अभिचाकशीति=केवल देखता रहता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार गीता आदिमें जगत्का अश्वत्थ-वृक्षके रूपमें वर्णन किया गया है, उसी प्रकार इस मन्त्रमें शरीरको अश्वत्थ-वृक्षका और जीवात्मा तथा परमात्माको पक्षियोंका रूप देकर वर्णन किया गया है। इसी प्रकार कठोपनिषद्में जीवात्मा और परमात्माको गुहामें प्रविष्ट छाया और धूपके रूपमें बताकर वर्णन किया गया है। (कठ० १ । ३ । १) दोनों जगहका भाव प्रायः एक ही है। यहाँ मन्त्रका सारांश यह है कि यह मनुष्य शरीर मानो एक पीपलका वृक्ष है। ईश्वर और जीव—ये दोनों सदा साथ रहनेवाले दो मित्र मानो दो पक्षी हैं। ये दोनों इस शरीररूप-वृक्षमें एक साथ एक ही हृदयरूप घोंसलेमें निवास करते हैं। शरीरमें रहते हुए प्रारब्धानुसार जो सुख-दुःखरूप कर्मफल प्राप्त होते हैं, वे ही मानो इस पीपलके फल हैं। इन फलोंको जीवात्मारूप एक पक्षी तो स्वादपूर्वक खाता है अर्थात् हर्ष-शोकका अनुभव करते हुए कर्मफलको भोगता है। दूसरा ईश्वररूप पक्षी इन फलोंको खाता नहीं, केवल देखता रहता है अर्थात् इस शरीरमें प्राप्त हुए सुख-दुःखोंको वह भोगता नहीं, केवल उनका साक्षी बना रहता है। परमात्माकी भाँति यदि जीवात्मा भी इनका द्रष्टा बन जाय तो फिर उसका इनसे कोई सम्बन्ध न रह जाय। ऐसे ही जीवात्माके सम्बन्धमें पिछले मन्त्रमें यह कहा गया है कि वह प्रकृतिका उपभोग कर चुकनेके बाद उसे निःसार समझकर उसका परित्याग कर देता है, उससे मुँह मोड़ लेता है। उसके लिये फिर प्रकृति अर्थात् जगत्की सत्ता ही नहीं रह जाती। फिर तो वह और उसका मित्र—दो ही रह जाते हैं और परस्पर मित्रताका आनन्द लूटते हैं। यही इस मन्त्रका तात्पर्य माल्म होता है। मुण्डक० ३ । १ । १ में भी यह मन्त्र इसी रूपमें आया है ॥ ६ ॥

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो-
ऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ ७ ॥

समाने वृक्षे=पूर्वोक्त शरीररूप एक ही वृक्षपर रहनेवाला, पुरुषः=जीवात्मा, निमग्नः=गहरी आसक्तिमें डूबा हुआ है, (अतः) अनीशया=असमर्थ होनेके कारण (दीनतापूर्वक), मुह्यमानः=मोहित हुआ, शोचति=शोक करता रहता है, यदा=जब (वह भगवान्की अहैतुकी दयासे), जुष्टम्=भक्तोंद्वारा नित्य सेवित, अन्यम्=अपनेसे भिन्न; ईशम्=परमेश्वरको; (और) अस्य=उसकी,

महिमानम्=आश्चर्यमयी महिमाको, **पश्यति**=प्रत्यक्ष देख लेता है, इति=तब, **वीतशोकः**=सर्वथा शोकरहित; [**भवति**]=हो जाता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—पहले बतलाये हुए इस शरीररूप एक ही वृक्षपर हृदयरूप घोसलेमें परमात्माके साथ रहनेवाला यह जीवात्मा जबतक अपने साथ रहनेवाले परम सुहृद् परमेश्वरकी ओर नहीं देखता, इस शरीरमें ही आसक्त होकर मोहमें निमग्न रहता है, अर्थात् शरीरमे अत्यन्त ममता करके उसके द्वारा भोगोंका उपभोग करनेमें ही रचा-पचा रहता है, तबतक असमर्थता और दीनतासे मोहित हुआ नाना प्रकारके दुःखोंको भोगता रहता है। जब कभी इसपर भगवान्‌की अहैतुकी दया होती है, तब यह अपनेसे भिन्न, अपने ही साथ रहनेवाले, परम सुहृद्, परम प्रिय भगवान्‌को पहचान पाता है। जो भक्तजनोंद्वारा निरन्तर सेवित हैं, उन परमेश्वरको तथा उनकी आश्चर्यमयी महिमाको, जो जगत्‌में सर्वत्र भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्रकट हो रही है, जब यह देख लेता है, उस समय तत्काल ही सर्वथा शोकरहित हो जाता है। मुण्डक० ३ । १ । २ में भी यह मन्त्र इसी रूपमें आया है ॥ ७ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति
य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥ ८ ॥*

यस्मिन्=जिसमें, **विश्वे**=समस्त, **देवाः**=देवगण, **अधि**=भलीभाँति, **निषेदुः**=स्थित हैं, [**तस्मिन्**]=उस; **अक्षरे**=अविनाशी, **परमे व्योमन्**=परम व्योम (परम धाम) में, **ऋचः**=सम्पूर्ण वेद स्थित हैं, **यः**=जो मनुष्य, **तम्**=उसको, **न**=नहीं **वेद**=जानता, [**सः**]=वह, **ऋचा**=वेदोंके द्वारा, **किम्**=क्या, **करिष्यति**=सिद्ध करेगा; **इत्**=परंतु, **ये**=जो, **तत्**=उसको, **विदुः**=जानते हैं, **ते**=वे तो, **इमे**=ये, **समासते**=सम्यक् प्रकारसे उसीमें स्थित हैं ॥ ८ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरके जिस अविनाशी दिव्य चेतन परम आकाश-स्वरूप परम धामसे समस्त देवगण अर्थात् उन परमात्माके पार्षदगण उन परमेश्वरकी सेवा करते हुए निवास करते हैं, वहीं समस्त वेद भी पार्षदोंके रूपमें मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की सेवा करते हैं। जो मनुष्य उस परम धाममें रहनेवाले परब्रह्म पुरुषोत्तमको नहीं जानता और इस रहस्यको भी नहीं जानता कि समस्त वेद उन परमात्माकी सेवा करनेवाले उन्हींके अङ्गभूत पार्षद हैं, वह वेदोंके द्वारा

* यह मन्त्र ऋग्वेद मण्डल १ सू० १६४ का उनचालीसवाँ है। तथा अथर्ववेद (९ । १५ । १८) में भी है।

उसका क्या प्रयोजन सिद्ध करेगा? अर्थात् कुछ सिद्ध नहीं कर सकेगा। परन्तु जो उन परमात्माको तत्त्वसे जान लेते हैं, वे तो उस परमधाममें ही सम्यक् प्रकारसे स्थित रहते हैं, अर्थात् वहाँसे कभी नहीं लौटते ॥ ८ ॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि
　भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्
　तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ ९ ॥

छन्दांसि=छन्द; यज्ञाः=यज्ञ, क्रतवः=क्रतु (ज्योतिष्टोम आदि विशेष यज्ञ), व्रतानि=नाना प्रकारके व्रत, च=तथा, यत्=और भी जो कुछ, भूतम्=भूत; भव्यम्=भविष्य एवं वर्तमानरूपसे वेदाः=वेद, वदन्ति=वर्णन करते हैं, एतद् विश्वम्=इस सम्पूर्ण जगत्को, मायी=प्रकृतिका अधिपति परमेश्वर, अस्मात्=इस (पहले बताये हुए महाभूतादि तत्त्वोंके समुदाय) से, सृजते=रचता है; च=तथा, अन्यः=दूसरा (जीवात्मा), तस्मिन्=उस प्रपञ्चमें, मायया=मायाके द्वारा, संनिरुद्धः=भलीभाँति बँधा हुआ है ॥ ९ ॥

व्याख्या—जो समस्त वेदमन्त्ररूप छन्द, यज्ञ, क्रतु अर्थात् ज्योतिष्टोमादि विशेष यज्ञ, नाना प्रकारके व्रत अर्थात् शुभ कर्म, सदाचार और उनके नियम हैं तथा और भी जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान पदार्थ हैं, जिनका वर्णन वेदोंमें पाया जाता है—इन सबको वे प्रकृतिके अधिष्ठाता परमेश्वर ही अपने अंशभूत इस पहले बताये हुए पञ्चभूत आदि तत्त्वसमुदायसे रचते हैं, इस प्रकार रचे हुए उस जगत्में अन्य अर्थात् पहले बताये हुए ज्ञानी महापुरुषोंसे भिन्न जीवसमुदाय मायाके द्वारा बँधा हुआ है। जबतक वह अपने स्वामी परम देव परमेश्वरको साक्षात् नहीं कर लेता, तबतक उसका इस प्रकृतिसे छुटकारा नहीं हो सकता, अतः मनुष्यको उन परमात्माको जानने और पानेकी उत्कट अभिलाषा रखनी चाहिये॥ ९ ॥

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥१०॥

मायाम्=माया, तु=तो, प्रकृतिम्=प्रकृतिको, विद्यात्=समझना चाहिये; तु=और, मायिनम्=मायापति, महेश्वरम्=महेश्वरको समझना चाहिये, तस्य तु=उसीके, अवयवभूतैः=अङ्गभूत कारण-कार्य-समुदायसे, इदम्=यह, सर्वम्=सम्पूर्ण; जगत्=जगत्, व्याप्तम्=व्याप्त हो रहा है ॥ १० ॥

व्याख्या—इस प्रकरणमें जिसका मायाके नामसे वर्णन हुआ है, वह तो भगवान्‌की शक्तिरूपा प्रकृति है और उस माया नामसे कही जानेवाली शक्तिरूपा प्रकृतिका अधिपति परब्रह्म परमात्मा महेश्वर है, इस प्रकार इन दोनोंको अलग-अलग समझना चाहिये। उस परमेश्वरकी शक्तिरूपा प्रकृतिके ही अङ्गभूत कारण-कार्यसमुदायसे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त हो रहा है ॥ १० ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
यस्मिन्निदं स च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं
निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ११ ॥

यः=जो, **एकः**=अकेला ही, **योनिम् योनिम् अधितिष्ठति**=प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता हो रहा है; **यस्मिन्**=जिसमें; **इदम्**=यह; **सर्वम्**=समस्त जगत्; **समेति**=प्रलयकालमें विलीन हो जाता है; **च**=और, **व्येति च**=सृष्टिकालमें विविध रूपोंमें प्रकट भी हो जाता है; **तम्**=उस, **ईशानम्**=सर्वनियन्ता, **वरदम्**=वरदायक; **ईड्यम्**=स्तुति करनेयोग्य; **देवम्**=परम देव परमेश्वरको, **निचाय्य**=तत्त्वसे जानकर, (मनुष्य) **अत्यन्तम्**=निरन्तर बनी रहनेवाली, **इमाम्**=इस (मुक्तिरूप), **शान्तिम्**=परम शान्तिको; **एति**=प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वर प्रत्येक योनिके एकमात्र अध्यक्ष हैं—जगत्‌में जितने प्रकारके कारण माने जाते हैं, उन सबके अधिष्ठाता हैं। उनमें किसी कार्यको उत्पन्न करनेकी शक्ति उन्हीं सर्वकारण परमात्माकी है और उन्हींकी अध्यक्षतामें वे उन-उन कार्योंको उत्पन्न करते हैं। वे परमेश्वर ही उन सबपर शासन करते हैं—उनकी यथायोग्य व्यवस्था करते हैं। यह समस्त जगत् प्रलयके समय उनमें विलीन हो जाता है तथा पुनः सृष्टि-कालमें उन्हींसे विविध रूपोंमें उत्पन्न हो जाता है। उन सर्वनियन्ता, वरदायक, एकमात्र स्तुति करनेयोग्य परम-देव, सर्वसुहृद्, सर्वेश्वर परमात्माको जानकर यह जीव निरन्तर बनी रहनेवाली परमनिर्वाणरूप शान्तिको प्राप्त हो जाता है। गीतामें इसका शाश्वती शान्ति (गीता ९ । ३१), परा शान्ति (गीता १८ । ६२) आदि नामोंसे भी वर्णन आता है ॥ ११ ॥

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।

हिरण्यगर्भं पश्यत जायमानं
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥१२॥

यः=जो, रुद्रः=रुद्र, देवानाम्=इन्द्रादि देवताओंको, प्रभवः=उत्पन्न करनेवाला; च=और, उद्भवः=बढ़ानेवाला है, च=तथा, (जो) विश्वाधिपः=सबका अधिपति; महर्षिः=(और) महान् ज्ञानी (सर्वज्ञ) है, (जिसने सबसे पहले) जायमानम्=उत्पन्न हुए, हिरण्यगर्भम्=हिरण्यगर्भको, पश्यत=देखा था, सः=वह परमदेव परमेश्वर; नः=हमलोगोंको, शुभया बुद्ध्या=शुभ बुद्धिसे संयुनक्तु=संयुक्त करे ॥ १२ ॥

व्याख्या—सबको अपने शासनमें रखनेवाले जो रुद्ररूप परमेश्वर इन्द्रादि समस्त देवताओंको उत्पन्न करते और बढ़ाते हैं तथा जो सबके अधिपति और महान् ज्ञानसम्पन्न (सर्वज्ञ) हैं, जिन्होंने सृष्टिके आदिमें सबसे पहले उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको देखा था, अर्थात् जो ब्रह्माके भी पूर्ववर्ती हैं, वे परमदेव परमात्मा हमलोगोंको शुभ बुद्धिसे संयुक्त करें, जिससे हम उनकी ओर बढ़कर उन्हें प्राप्त कर सकें। शुभ बुद्धि वही है, जो जीवको परम कल्याणरूप परमात्माकी ओर लगाये। गायत्री-मन्त्रमें भी इसी बुद्धिके लिये प्रार्थना की गयी है। पहले इसी उपनिषद् (३ । ४) में यह मन्त्र आ चुका है ॥ १२ ॥

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः । य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १३ ॥

यः=जो, देवानाम्=समस्त देवोंका, अधिपः=अधिपति है, यस्मिन्=जिसमें; लोकाः=समस्त लोक; अधिश्रिताः=सब प्रकारसे आश्रित हैं, यः=जो, अस्य=इस; द्विपदः=दो पैरवाले, (और) चतुष्पदः=चार पैरवाले समस्त जीवसमुदायका; ईशे=शासन करता है; (उस) कस्मै देवाय=आनन्दस्वरूप परमदेव परमेश्वरकी, (हम) हविषा=हविष्य अर्थात् श्रद्धा-भक्तिपूर्वक भेंट समर्पण करके; विधेम=पूजा करें ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो सर्वनियन्ता परमेश्वर समस्त देवोंके अधिपति हैं, जिनमें समस्त लोक सब प्रकारसे आश्रित हैं अर्थात् जो स्थूल, सूक्ष्म और अव्यक्त अवस्थाओंमें सदा ही सब प्रकारसे सबके आश्रय हैं, जो दो पैरवाले और चार पैरवाले अर्थात् सम्पूर्ण जीव-समुदायका अपनी अचिन्त्य शक्तियोंके द्वारा शासन करते हैं, उन आनन्दस्वरूप परमदेव सर्वाधार सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी हम श्रद्धा-भक्तिपूर्वक हविःस्वरूप भेंट समर्पण करके पूजा करें। अर्थात् सब कुछ उन्हें समर्पण करके उन्हींके हो जायँ। यही उनकी प्राप्तिका सहज उपाय है ॥ १३ ॥

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये
विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१४॥*

सूक्ष्मातिसूक्ष्मम्=(जो) सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म; **कलिलस्य मध्ये**=हृदय-गुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित, **विश्वस्य**=अखिल विश्वकी, **स्रष्टारम्**=रचना करनेवाला, **अनेकरूपम्**=अनेक रूप धारण करनेवाला, (तथा) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रखनेवाला है; (उस) **एकम्**=एक (अद्वितीय), **शिवम्**=कल्याणस्वरूप महेश्वरको; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **अत्यन्तम्**=सदा रहनेवाली, **शान्तिम्**=शान्तिको **एति**=प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—जो परब्रह्म परमात्मा सूक्ष्मसे भी अत्यन्त सूक्ष्म हैं—अर्थात् जो बिना उनकी कृपाके जाने नहीं जाते, जो सबकी हृदय-गुहारूप गुह्यस्थानके भीतर स्थित हैं अर्थात् जो हमारे अत्यन्त समीप हैं, जो अखिल विश्वकी रचना करते हैं तथा स्वयं विश्वरूप होकर अनेक रूप धारण किये हुए हैं—यही नहीं, जो निराकाररूपसे समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे रहते हैं, उन सर्वोपरि एक—अद्वितीय कल्याणस्वरूप महेश्वरको जानकर मनुष्य सदा रहनेवाली असीम अविनाशी और अतिशय शान्तिको प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वह महापुरुष इस अशान्त जगत्-प्रपञ्चसे सर्वथा सम्बन्धरहित एवं उपरत हो जाता है ॥ १४ ॥

स एव काले भुवनस्य गोप्ता
विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च
तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥ १५ ॥

सः एव=वही; **काले**=समयपर, **भुवनस्य गोप्ता**=समस्त ब्रह्माण्डोंकी रक्षा करनेवाला, **विश्वाधिपः**=समस्त जगत्का अधिपति; (और) **सर्वभूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें, **गूढः**=छिपा हुआ है, **यस्मिन्**=जिसमें, **ब्रह्मर्षयः**=वेदज्ञ महर्षिगण; **च**=और; **देवताः**=देवतालोग भी; **युक्ताः**=ध्यानद्वारा संलग्न हैं, **तम्**=उस (परमदेव परमेश्वर) को; **एवम्**=इस प्रकार; **ज्ञात्वा**=जानकर; (मनुष्य) **मृत्युपाशान्**=मृत्युके बन्धनोंको; **छिनत्ति**=काट डालता है ॥ १५ ॥

व्याख्या—जिनका बार-बार वर्णन किया गया है, वे परमदेव परमेश्वर ही समयपर अर्थात् स्थितिकालमें समस्त ब्रह्माण्डोंकी रक्षा करते हैं, तथा वे ही

* यह मन्त्र इसी उपनिषद् (५ । १३) में आया है, यहाँ थोड़ा भेद है ।

सम्पूर्ण जगत्के अधिपति और समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे छिपे हुए हैं । उन्हींमें वेदके रहस्यको समझनेवाले महर्षिगण और समस्त देवतालोग भी ध्यानके द्वारा संलग्न रहते हैं। सब उन्हींका स्मरण और चिन्तन करके उन्हींमें जुड़े रहते हैं। इस प्रकार उन परमदेव परमेश्वरको जानकर मनुष्य यमराजके समस्त पाशोंको अर्थात् जन्म-मृत्युके कारणभूत समस्त बन्धनोंको काट डालता है। फिर वह कभी प्रकृतिके बन्धनमें नहीं आता, सदाके लिये सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ १५ ॥

घृतात् परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं
　　ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं
　　ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १६ ॥

शिवम्=कल्याणस्वरूप, **एकम् देवम्**=एक (अद्वितीय) परमदेवको, **घृतात् परम्**=मक्खनके ऊपर रहनेवाले, **मण्डम् इव**=सारभागकी भाँति; **अतिसूक्ष्मम्**=अत्यन्त सूक्ष्म, (और) **सर्वभूतेषु**=समस्त प्राणियोंमें, **गूढम्**=छिपा हुआ, **ज्ञात्वा**=जानकर, (तथा) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=समस्त जगत्को सब ओरसे घेरकर स्थित हुआ, **ज्ञात्वा**=जानकर, (मनुष्य) **सर्वपाशैः**=समस्त बन्धनोंसे, **मुच्यते**=छूट जाता है ॥ १६ ॥

व्याख्या—जो मक्खनके ऊपर रहनेवाले सारभागकी भाँति सबके सार एवं अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उन कल्याणस्वरूप एकमात्र परमदेव परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें छिपा हुआ तथा समस्त जगत्को सब ओरसे घेरकर उसे व्याप्त करनेवाला जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे सदाके लिये सर्वथा छूट जाता है ॥ १६ ॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा
　　सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
　　य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ १७ ॥

एषः=यह, **विश्वकर्मा**=जगत्कर्ता; **महात्मा**=महात्मा, **देवः**=परमदेव परमेश्वर, **सदा**=सर्वदा, **जनानाम्**=सब मनुष्योंके, **हृदये**=हृदयमें, **संनिविष्टः**=सम्यक् प्रकारसे स्थित है, (तथा) **हृदा**=हृदयसे, **मनीषा**=बुद्धिसे, (और) **मनसा**=मनसे; **अभिक्लृप्तः**=ध्यानमें लाया हुआ; [आविर्भवति=]

प्रत्यक्ष होता है, ये=जो साधक; एतत्=इस रहस्यको, विदुः=जान लेते हैं; ते=वे, अमृताः=अमृतस्वरूप; भवन्ति=हो जाते हैं ॥ १७ ॥

व्याख्या—ये जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले महात्मा अर्थात् सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परमदेव परमेश्वर सदा ही सभी मनुष्योंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं। उनके गुण-प्रभावको सुनकर द्रवित और विशुद्ध हुए निर्मल हृदयसे, निश्चययुक्त बुद्धिसे तथा एकाग्र मनके द्वारा निरन्तर ध्यान करनेपर वे परमात्मा प्रत्यक्ष होते हैं। जो साधक इस रहस्यको जान लेते हैं, वे उन्हें प्राप्त करके अमृतस्वरूप हो जाते हैं, सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाते हैं ॥ १७ ॥

यदातमस्तन्न दिवा न रात्रि-
र्न सन्न चासञ्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ १८ ॥

यदा=जब, अतमः [स्यात्]=अज्ञानमय अन्धकारका सर्वथा अभाव हो जाता है; तत्[1]=उस समय (अनुभवमें आनेवाला तत्त्व), न=न, दिवा=दिन है; न=न; रात्रिः=रात है; न=न; सन्=सत् है; च=और; न=न, असन्=असत् है, केवलः=एकमात्र, विशुद्ध; शिवः एव=कल्याणमय शिव ही है, तत्=वह, अक्षरम्=सर्वथा अविनाशी है, तत्=वह, सवितुः=सूर्याभिमानी देवताका भी, वरेण्यम्=उपास्य है; च=तथा, तस्मात्=उसीसे; पुराणी=(यह) पुराना; प्रज्ञा=ज्ञान, प्रसृता=फैला है ॥ १८ ॥

व्याख्या—जिस समय अज्ञानरूप अन्धकारका सर्वथा अभाव हो जाता है, उस समय प्रत्यक्ष होनेवाला तत्त्व न दिन है, न रात है। अर्थात् उसे न तो दिनकी भाँति प्रकाशमय कहा जा सकता है और न रातकी भाँति अन्धकारमय ही; क्योंकि वह इन दोनोंसे सर्वथा विलक्षण है, वहाँ ज्ञान-अज्ञानके भेदकी कल्पनाके लिये स्थान नहीं है। वह न सत् है और न असत् है—उसे न तो 'सत्' कहना बनता है न 'असत्' ही; क्योंकि वह 'सत्' और 'असत्' नामसे समझे जानेवाले पदार्थोंसे सर्वथा विलक्षण है। वे एकमात्र कल्याणस्वरूप शिव ही वह तत्त्व हैं। वे सर्वथा अविनाशी हैं। सूर्य आदि समस्त देवताओंके उपास्यदेव हैं। उन्हींसे यह सदासे चला आता हुआ अनादि ज्ञान विस्तारित हुआ है अर्थात् परमात्माको

१. 'तत्' अव्यय पद है, यहाँ 'तदा' के अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है।

जानने और पानेका साधन अधिकारियोंको परम्परासे प्राप्त होता चला आ रहा है ॥ १८ ॥

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥१९॥

एनम्=इस परमात्माको, (कोई भी) न=न तो, ऊर्ध्वम्=ऊपरसे, न=न, तिर्यञ्चम्=इधर-उधरसे, (और) न=न; मध्ये=बीचमेंसे ही, परिजग्रभत्=भलीभाँति पकड़ सकता है, यस्य=जिसका, महद्यशः=महान् यश, नाम=नाम है, तस्य=उसकी, प्रतिमा=कोई उपमा, न=नहीं, अस्ति=है ॥ १९ ॥

व्याख्या—जिनका पहले कई मन्त्रोंमें वर्णन किया गया है, उन परम प्राप्य परब्रह्मको कोई भी मनुष्य न तो ऊपरसे पकड सकता है, न नीचेसे पकड़ सकता है, और न बीचमें इधर उधरसे ही पकड सकता है, क्योंकि ये सर्वथा अग्राह्य हैं—ग्रहण करनेमें नहीं आते । इन्हें जानने और ग्रहण करनेकी बात जो शास्त्रोंमें पायी जाती है, उसका रहस्य वही समझ सकता है, जो उन्हें पा लेता है । वह भी वाणीद्वारा व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि मन और वाणीकी वहाँ पहुँच नहीं है । वे समझने और समझानेमें आनेवाले समस्त पदार्थोंसे सर्वथा विलक्षण हैं । जिनका नाम 'महान् यश' है, जिनका महान् यश सर्वत्र प्रसिद्ध है, उन परात्पर ब्रह्मकी कोई भी उपमा नहीं है, जिसके द्वारा उनको समझा अथवा समझाया जा सके । उनके अतिरिक्त कोई दूसरा उनके समान हो तो उसकी उपमा दी जाय । अतः मनुष्यको उस परम प्राप्य तत्त्वको जानने और पानेका अभिलाषी बनना चाहिये, क्योंकि जब वह मनुष्यको प्राप्त होता है, तब हमें क्यों नहीं होगा ॥ १९ ॥

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
　　न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
　　मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०॥

अस्य=इस परब्रह्म परमात्माका; रूपम्=स्वरूप; संदृशे=दृष्टिके सामने; न=नहीं, तिष्ठति=ठहरता; एनम्=इस परमात्माको; कश्चन=कोई भी, चक्षुषा=आँखोंसे, न=नहीं, पश्यति=देख सकता, ये=जो साधकजन, एनम्=इस हृदिस्थम्=हृदयमें स्थित अन्तर्यामी परमेश्वरको; हृदा=भक्तियुक्त हृदयसे,

(तथा) **मनसा**=निर्मल मनके द्वारा, **एवम्**=इस प्रकार, **विदुः**=जान लेते हैं, **ते**=वे, **अमृताः**=अमृतस्वरूप (अमर), **भवन्ति**=हो जाते हैं ॥ २० ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, उन परम प्राप्य परमात्माका स्वरूप दृष्टिके सामने नहीं ठहरता । जब साधक मनके द्वारा उनका चिन्तन करता है, तब विशुद्ध अन्तःकरणमें किसी-किसी समय उन आनन्दमय परमेश्वरके स्वरूपकी झलक-सी आती है, परंतु वह निश्चल नहीं होती । इन परब्रह्म परमात्माको कोई भी प्राकृत नेत्रोंद्वारा नहीं देख सकता । जिसको वे परमात्मा स्वयं कृपा करके दिव्यदृष्टि प्रदान करते हैं, वही उन्हें दिव्य नेत्रोंसे देख सकता है । जो साधक इस प्रकार इस रहस्यको समझकर अपने हृदयमें स्थित इन अन्तर्यामी परमात्माको उनके गुण, प्रभावका श्रवण करके भक्तिभावसे द्रवित हृदयके द्वारा तथा निर्मल मनके द्वारा निरन्तर उनका चिन्तन करके उन्हें जान लेते हैं, वे अमृत हो जाते हैं—सदाके लिये जन्म-मरणसे छूट जाते हैं ॥ २० ॥

सम्बन्ध—इस प्रकार परमेश्वरके स्वरूपका और उनकी प्राप्तिके फलका वर्णन करके अब दो मन्त्रोंमें पहले मुक्तिके लिये और पीछे सांसारिक भयसे रक्षाके लिये उन परमात्मासे प्रार्थना करनेका प्रकार बताया जाता है—

अजात इत्येवं कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥२१॥

रुद्र=हे रुद्र (संहार करनेवाले देव) !; **अजातः**=तू अजन्मा है, **इति एवम्**=यों समझकर, **कश्चित्**=कोई, **भीरुः**=जन्म-मरणके भयसे डरा हुआ मनुष्य, **प्रपद्यते**=तेरी शरण लेता है, (मैं भी वैसा ही हूँ, अतः) **ते**=तेरा; **यत्**=जो **दक्षिणम्**=दाहिना (कल्याणमय), **मुखम्**=मुख है, **तेन**=उसके द्वारा, (तू) **नित्यम्**=सर्वदा, **माम् पाहि**=मेरी जन्म-मृत्युरूप भयसे रक्षा कर ॥ २१ ॥

व्याख्या—हे रुद्र ! अर्थात् सबका संहार करनेवाले परमेश्वर ! आप स्वयं अजन्मा हैं, अतः दूसरोंको भी जन्म-मृत्युसे मुक्त कर देना आपका स्वभाव है । यह समझकर कोई जन्म-मरणके भयसे डरा हुआ साधक इस संसारचक्रसे छुटकारा पानेके लिये आपकी शरण लेता है । मैं भी इस संसार-चक्रसे छुटकारा पानेके लिये ही आपकी शरणमें आया हूँ, अतः जो आपका दाहिना मुख है, अर्थात् जो आपका परम शान्त कल्याणमय स्वरूप है, उसके द्वारा आप मेरी इस जन्म-मरणरूप महान् भयसे सदाके लिये रक्षा करें । मुझे सदाके लिये इस भयसे मुक्त कर दें ॥ २१ ॥

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः। वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥२२॥*

रुद्र=हे सबका संहार करनेवाले रुद्रदेव!, [वयम्]=हमलोग हविष्मन्तः= नाना प्रकारकी भेंट लेकर, सदम्=सदा, इत्=ही; त्वा=तुझे, (रक्षाके लिये) हवामहे=बुलाते रहते हैं, (अतः तू) भामितः=कुपित होकर, मा=न तो, नः=हमारे, तोके=पुत्रोंमें, (और) तनये=पौत्रोंमें, मा=न, नः=हमारी, आयुषि=आयुमें; मा=न, नः=हमारी, गोषु=गौओंमें, (और) मा=न; नः= हमारे, अश्वेषु=घोड़ोंमें ही, रीरिषः=किसी प्रकारकी कमी कर, (तथा) नः= हमारे, वीरान् मा वधीः=वीर पुरुषोंका भी नाश न करे ॥ २२ ॥

व्याख्या—हे सबका संहार करनेवाले रुद्रदेव ! हमलोग नाना प्रकारकी भेंट समर्पण करते हुए सदा ही आपको बुलाते रहते हैं। आप ही हमारी रक्षा करनेमें सर्वथा समर्थ हैं, अतः हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप हमपर कभी कुपित न हों तथा कुपित होकर हमारे पुत्र और पौत्रोंको, हमारी आयुको—जीवन- को तथा हमारे गौ, घोड़े आदि पशुओंको कभी किसी प्रकारकी क्षति न पहुँचायें। तथा हमारे जो वीर—साहसी पुरुष हैं, उनका भी नाश न करें, अर्थात् सब प्रकारसे हमारी और हमारे धन-जनकी रक्षा करें ॥ २२ ॥

॥ चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥

पञ्चम अध्याय

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥ १ ॥

यत्र=जिस, ब्रह्मपरे=ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ, गूढे=छिपे हुए; अनन्ते=असीम, तु=और, अक्षरे=परम अक्षर परमात्मामें, विद्याविद्ये=विद्या और अविद्या, द्वे= दोनों, निहिते=स्थित हैं (वही ब्रह्म है), क्षरम्=(यहाँ) विनाशशील जडवर्ग, तु=तो; अविद्या=अविद्या नामसे कहा गया है, तु=और; अमृतम्=अविनाशी वर्ग (जीवसमुदाय); हि=ही; विद्या=विद्या नामसे कहा गया है; तु=तथा, यः= जो; विद्याविद्ये ईशते=उपर्युक्त विद्या और अविद्यापर शासन करता है; सः= वह, अन्यः=इन दोनोंसे भिन्न—सर्वथा विलक्षण है ॥ १ ॥

* यह यजुर्वेद अध्याय १६ का सोलहवाँ मन्त्र है। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८२४ का आठवाँ मन्त्र है।

व्याख्या—जो परमेश्वर ब्रह्मासे भी अत्यन्त श्रेष्ठ हैं, अपनी मायाके पर्देमें छिपे हुए हैं, सीमारहित और अविनाशी हैं अर्थात् जो देश-कालसे सर्वथा अतीत हैं तथा जिनका कभी किसी प्रकारसे भी विनाश नहीं हो सकता, तथा जिन परमात्मामें अविद्या और विद्या—दोनों विद्यमान हैं, अर्थात् दोनो ही जिनके आधारपर टिकी हुई हैं, वे पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम हैं। इस मन्त्रमें परिवर्तनशील, घटने-बढ़नेवाले और उत्पत्ति-विनाशशील क्षरतत्त्वको तो अविद्या नामसे कहा गया है, क्योंकि वह जड है, उनमें विद्याका—ज्ञानका सर्वथा अभाव है। उससे भिन्न जो जन्म मृत्युसे रहित है, जो घटता-बढ़ता नहीं, वह अविनाशी कूटस्थ तत्त्व (जीव समुदाय) विद्याके नामसे कहा गया है; क्योंकि वह चेतन है, विज्ञानमय है। उपनिषदोंमें जगह-जगह उसका विज्ञानात्माके नामसे वर्णन आया है। यहाँ श्रुतिने स्वयं ही विद्या और अविद्याकी परिभाषा कर दी है, अतः अर्थान्तरकी कल्पना अनावश्यक है। जो इन विद्या और अविद्या नामसे कहे जानेवाले क्षर और अक्षर दोनोंपर शासन करते हैं, दोनोंके स्वामी हैं, दोनो जिनकी शक्तियाँ अथवा प्रकृतियाँ हैं, वे परमेश्वर इन दोनोंसे अन्य—सर्वथा विलक्षण हैं। श्रीगीताजीमें भी कहा है—'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' इत्यादि (१५ । १७) ॥ १ ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको
विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे
ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥ २ ॥

यः=जो; **एकः**=अकेला ही, **योनिम् योनिम्**=प्रत्येक योनिपर, **विश्वानि रूपाणि**=समस्त रूपोंपर, **च**=और, **सर्वाः योनीः**=समस्त कारणोंपर; **अधितिष्ठति**=आधिपत्य रखता है, **यः**=जो, **अग्रे**=पहले, **प्रसूतम्**=उत्पन्न हुए, **कपिलम् ऋषिम्**=कपिल ऋषिको (हिरण्यगर्भको), **ज्ञानैः**=सब प्रकारके ज्ञानोंसे, **बिभर्ति**=पुष्ट करता है; **च**=तथा, (जिसने) **तम्**=उस कपिल (ब्रह्माको), **जायमानम्**=(सबसे पहले) उत्पन्न होते, **पश्येत्**=देखा था (वे ही परमात्मा हैं) ॥ २ ॥

व्याख्या—इस जगत्‌में देव, पितर, मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि जितनी भी योनियाँ हैं, तथा प्रत्येक योनिमें जो भिन्न-भिन्न रूप—आकृतियाँ हैं, उन सबके और उनके कारणरूप पञ्च सूक्ष्म महाभूत आदि समस्त तत्त्वोंके जो एक मात्र अधिपति हैं, अर्थात् वे सब-के-सब जिनके अधीन हैं, जो सबसे पहले उत्पन्न हुए

कपिल ऋषिको* अर्थात् हिरण्यगर्भ ब्रह्माको प्रत्येक सर्गके आदिमें सब प्रकारके ज्ञानोंसे पुष्ट करते हैं—सब प्रकारके ज्ञानोंसे सम्पन्न करके उन्नत करते हैं तथा जिन्होंने सबसे पहले उत्पन्न होते हुए उन हिरण्यगर्भको देखा था, वे ही सर्वशक्तिमान् सर्वाधार सबके स्वामी परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं ॥ २ ॥

एकैकं जालं बहुधा विकुर्व-
न्नस्मिन् क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः
सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥ ३ ॥

एषः=यह, देवः=परमदेव, (परमेश्वर), अस्मिन् क्षेत्रे=इस जगत्-क्षेत्रमें, (सृष्टिके समय) एकैकम्=एक-एक, जालम्=जालको (बुद्धि आदि और आकाशादि तत्त्वोंको), बहुधा=बहुत प्रकारसे, विकुर्वन्=विभक्त करके, (उसका) संहरति=(प्रलयकालमें) संहार कर देता है, महात्मा=(वह) महामना; ईशः=ईश्वर, भूयः=पुनः (सृष्टिकालमें), तथा=पहलेकी भाँति, पतयः सृष्ट्वा=समस्त लोकपालोंकी रचना करके, सर्वाधिपत्यम् कुरुते=(स्वयं) सबपर आधिपत्य करता है ॥ ३ ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, वे परमदेव परमेश्वर इस जगत्-रूप क्षेत्रमें सृष्टिके समय एक-एक जालको अर्थात् बुद्धि आदि और आकाश आदि अपनी प्रकृतियोंको बहुत प्रकारसे विभक्त करके—प्रत्येक प्रकृतिको भिन्न भिन्न रूप, नाम और शक्तियोंसे युक्त करके उनका विस्तार करते हैं और स्वयं ही प्रलयकालमें उन सबका संहार कर लेते हैं । वे महामना परमेश्वर पुनः सृष्टि-कालमें पहलेकी भाँति ही समस्त लोकोंकी और उनके अधिपतियोंकी रचना करके स्वयं उन सबके अधिष्ठाता बनकर उन सबपर शासन करते हैं । उनकी लीला अतर्क्य है, तर्कसे उसका रहस्य समझमें नहीं आ सकता । उनके सेवक ही उनकी लीलाके रहस्यको कुछ समझते हैं ॥ ३ ॥

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्
प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो
योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ ४ ॥

* कुछ विद्वानोंने 'कपिल' शब्दको सांख्यशास्त्रके आदिवक्ता एवं प्रवर्तक भगवान् कपिलमुनिका वाचक माना है और इस प्रकार उनके द्वारा उपदिष्ट मतकी प्राचीनता एवं प्रामाणिकता सिद्ध की है ।

यत् उ=जिस प्रकार, **अनड्वान्**=सूर्य, (अकेला ही) **सर्वाः**=समस्त, **दिशः**=दिशाओंको, **ऊर्ध्वम् अधः**=ऊपर-नीचे, **च**=और, **तिर्यक्**=इधर-उधर—सब ओरसे, **प्रकाशयन्**=प्रकाशित करता हुआ, **भ्राजते**=देदीप्यमान होता है, **एवम्**=उसी प्रकार, **सः**=वह, **भगवान्**=भगवान्, **वरेण्यः देवः**=स्वामी बननेके योग्य (सर्वश्रेष्ठ) परमदेव परमेश्वर; **एकः**=अकेला ही, **योनिस्वभावान् अधितिष्ठति**=समस्त कारणरूप अपनी शक्तियोंपर आधिपत्य करता है ॥ ४ ॥

व्याख्या—जिस प्रकार यह सूर्य समस्त दिशाओंको ऊपर-नीचे तथा इधर-उधर—सब ओरसे प्रकाशित करता हुआ देदीप्यमान होता है, उसी प्रकार वे भगवान्—सर्वविध ऐश्वर्यसे सम्पन्न, सबके द्वारा भजनेयोग्य परमदेव परमेश्वर अकेले ही समस्त कारणरूप अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता होकर उन सबका सचालन करते हैं, सबको अपना-अपना कार्य करनेकी सामर्थ्य देकर यथायोग्य कार्यमें प्रवृत्त करते हैं ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—ऊपर कही हुई बातका इस मन्त्रमें स्पष्टीकरण किया जाता है—

> यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः
> पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद् यः ।
> सर्वमेतद् विश्वमधितिष्ठत्येको
> गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः ॥ ५ ॥

यत्=जो, **विश्वयोनिः**=सबका परम कारण है, **च**=और, **स्वभावम्**=समस्त तत्त्वोंकी शक्तिरूप स्वभावको, **पचति**=(अपने संकल्परूप तपसे) पकाता है, **च**=तथा, **य**=जो, **सर्वान्**=समस्त, **पाच्यान्**=पकाये जानेवाले पदार्थोंको, **परिणामयेत्**=नानारूपोंमें परिवर्तित करता है, (और) **यः**=जो, **एकः**=अकेला ही; **सर्वान्**=समस्त, **गुणान् विनियोजयेत्**=गुणोंका जीवोंके साथ यथायोग्य संयोग कराता है, **च**=तथा; **एतत्**=इस, **सर्वम्**=समस्त, **विश्वम् अधितिष्ठति**=विश्वका शासन करता है (वह परमात्मा है) ॥ ५ ॥

व्याख्या—जो इस सम्पूर्ण विश्वके परम कारण हैं, अर्थात् जिनका और कोई कारण नहीं है, जगत्के कारणरूपसे कहे जानेवाले समस्त तत्त्वोंकी शक्तिरूप स्वभावको जो अपने संकल्परूप तपसे पकाते हैं—अर्थात् उन आकाशादि तत्त्वोंकी जो भिन्न-भिन्न शक्तियाँ प्रलयकालमें लुप्त हो गयी थीं, उन्हें अपने संकल्पद्वारा पुनः प्रकट करते हैं और उन प्रकट की हुई शक्तियोंका नाना रूपोंमें परिवर्तन कर इस विचित्र जगत्की रचना करते हैं; तथा सत्त्व आदि तीनों गुणोंका तथा उनसे उत्पन्न हुए पदार्थोंका जीवोंके साथ उनके कर्मानुसार यथायोग्य सम्बन्ध

स्थापित करते हैं—इस प्रकार जो अकेले ही इस सम्पूर्ण जगत्‌की सारी व्यवस्था करके इसपर शासन करते हैं, वे ही पूर्वमन्त्रमें कहे हुए सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर हैं ॥ ५ ॥

तद् वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं
तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वदेवा ऋषयश्च तद्विदु-
स्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ६ ॥

तत्=वह, **वेदगुह्योपनिषत्सु**=वेदोंके रहस्यभूत उपनिषदोंमें, **गूढम्**=छिपा हुआ है, **ब्रह्मयोनिम्**=वेदोंके प्राकट्य-स्थान, **तत्**=उस परमात्माको, **ब्रह्मा**=ब्रह्मा, **वेदते**=जानता है, **ये**=जो, **पूर्वदेवाः**=पुरातन देवता, **च**=और, **ऋषयः**=ऋषिलोग, **तत्**=उसको, **विदुः**=जानते थे, **ते**=वे, **वै**=अवश्य ही, **तन्मयाः**=(उसमें) तन्मय होकर, **अमृताः**=अमृतरूप, **बभूवुः**=हो गये ॥ ६ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमात्मा वेदोंकी रहस्यविद्यारूप उपनिषदोंमें छिपे हुए हैं अर्थात् उनके स्वरूपका वर्णन उपनिषदोंमें गुप्तरूपसे किया गया है । वेद निकले भी उन्हींसे हैं—उन्हींके निःश्वासरूप है—'यस्य निःश्वसितं वेदाः' । इस प्रकार वेदोंमें छिपे हुए और वेदोंके प्राकट्य स्थान उन परमात्माको ब्रह्माजी जानते हैं । उनके सिवा और भी जिन पूर्ववर्ती देवताओं और ऋषियोंने उनको जाना था, वे सब-के-सब उन्हींमें तन्मय होकर आनन्दस्वरूप हो गये । अतः मनुष्यको चाहिये कि उन सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सबके अधीश्वर परमात्माको उक्त प्रकारसे मानकर उन्हें जानने और पानेके लिये तत्पर हो जाय ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पाँचवें मन्त्रमें यह बात कही गयी थी कि परमेश्वर सब जीवोंका उनके कर्मानुसार गुणोंके साथ संयोग कराते हैं, अतः जीवात्माका स्वरूप और नाना योनियोंमें विचरनेका कारण आदि बतानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता
कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा
प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥ ७ ॥

यः गुणान्वयः=जो गुणोंसे बँधा हुआ है, **सः**=वह, **फलकर्मकर्ता**=फलके उद्देश्यसे कर्म करनेवाला जीवात्मा, **एव**=ही, **अस्य**=उस, **कृतस्य**=अपने किये हुए कर्मके फलका, **उपभोक्ता**=उपभोग करनेवाला, **विश्वरूपः**=

विभिन्न रूपोंमें प्रकट होनेवाला, **त्रिगुणः**=तीन गुणोंसे युक्त, **च**=और, **त्रिवर्त्मा**=कर्मानुसार तीन मार्गोंसे गमन करनेवाला है, **सः**=वह, **प्राणाधिपः**=प्राणोंका अधिपति (जीवात्मा), **स्वकर्मभिः**=अपने कर्मोंसे प्रेरित होकर, **संचरति**=नाना योनियोंमें विचरता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—इस मन्त्रमें प्रकरण आरम्भ करते ही जीवात्माके लिये 'गुणान्वय.' विशेषण देकर यह भाव दिखाया गया है कि जो जीव गुणोंसे सम्बद्ध अर्थात् प्रकृतिमें स्थित है, वही इस जन्म-मरणरूप ससार-चक्रमें घूमता है (गीता १३ । २१), जो गुणातीत हो गया है, वह नहीं घूमता । मन्त्रका साराश यह है कि जो जीवात्मा सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे बँधा हुआ है (गीता १४ । ५), वह नाना प्रकारके कर्मफलरूप भोगोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे नाना प्रकारके कर्म करता है और अपने किये हुए उन कर्मोंका फल भोगनेके लिये नाना योनियोंमें जन्म लेकर विभिन्न रूपोंमें प्रकट होता है और जहाँ भी जाता है, तीनों गुणोंसे युक्त रहता है। मृत्युके अनन्तर उसकी कर्मानुसार तीन गतियाँ होती है अर्थात् शरीर छोड़नेपर वह तीन मार्गोंसे जाता है । वे तीन मार्ग हैं—देवयान, पितृयान और तीसरा निरन्तर जन्म-मृत्युके चक्रमे घूमना* । वह प्राणोंका अधिपति जीवात्मा जबतक मुक्त नहीं हो जाता, तबतक अपने किये हुए कर्मोंसे प्रेरित होकर नाना लोकोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी योनियों-को ग्रहण करके इस संसारचक्रमें घूमता रहता है ॥ ७ ॥

सम्बन्ध—जीवात्माका स्वरूप कैसा है, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ८ ॥

यः=जो; **अङ्गुष्ठमात्रः**=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला, **रवितुल्यरूपः**=सूर्यके समान प्रकाशस्वरूप; (तथा) **संकल्पाहंकारसमन्वितः**=सकल्प और

* छान्दोग्य उपनिषद्में ५ । १० । २ से ८ तक और बृहदारण्यक० ६ । २ । १५-१६ में इन तीन मार्गोंका वर्णन आया है । देवयान मार्गसे जानेवाले ब्रह्मलोकतक जाकर वहाँसे लौटते नहीं, ब्रह्माके साथ ही मुक्त हो जाते है, पितृयानसे जानेवाले स्वर्गमें जाकर चिरकालतक वहाँके दिव्य सुखोंका उपभोग करते हैं और पुण्य क्षीण हो जानेपर पुन मृत्युलोकमें ढकेल दिये जाते हैं, और तीसरे मार्गसे जानेवाले कीट-पतङ्गादि क्षुद्र योनियोंमें भटकते रहते हैं ।

अहङ्कारसे युक्त है, बुद्धेः=बुद्धिके, गुणेन=गुणके कारण, च=और, आत्मगुणेन=अपने गुणके कारण, एव=ही, आराग्रमात्रः=सूजेकी नोकके-जैसे सूक्ष्म आकारवाला है, अपरः=ऐसा अपर (अर्थात् परमात्मासे भिन्न जीवात्मा), अपि=भी, हि=निःसंदेह; दृष्टः=(ज्ञानियोंद्वारा) देखा गया है ॥८॥

व्याख्या—मनुष्यका हृदय अँगूठेके नापका माना गया है और हृदयमें ही जीवात्माका निवास है। इसलिये उसे अङ्गुष्ठमात्र—अँगूठेके नापका कहा जाता है। उसका वास्तविक स्वरूप सूर्यकी भाँति प्रकाशमय (विज्ञानमय) है। उसे अज्ञानरूपी अन्धकार छूतक नहीं गया है। वह संकल्प और अहंकार—इन दोनोंसे युक्त हो रहा है, अतः संकल्परूप बुद्धिके गुणसे अर्थात् अन्तःकरण और इन्द्रियोंके धर्मोंसे तथा अहंतारूप अपने गुणसे अर्थात् अहंता-ममता आदिसे सम्बद्ध होनेके कारण सूजेकी नोकके समान सूक्ष्म आकारवाला है और परमात्मासे भिन्न है। जीवके तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंने गुणोंसे युक्त हुए जीवात्माका स्वरूप ऐसा ही देखा है *। तात्पर्य यह कि आत्माका स्वरूप वास्तवमें अत्यन्त सूक्ष्म है; सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म जड पदार्थ उसकी तुलनामें स्थूल ही ठहरता है। उसकी सूक्ष्मता किसी भी जड पदार्थके परिमाणसे नहीं मापी जा सकती। केवल उसका लक्ष्य करानेके लिये उसे सम्बद्ध वस्तुके आकारका बताया जाता है। हृदय-देशमें स्थित होनेके कारण उसे अङ्गुष्ठपरिमाण कहा जाता है और बुद्धिगुण तथा आत्मगुणके सम्बन्धसे उसे सूजेकी नोकके आकारका बताया जाता है। बुद्धि आदिको सूईकी नोकके समान कहा गया है, इसीसे जीवात्माको यहाँ सूजेकी नोकके सदृश बताया गया है ॥ ८ ॥

सम्बन्ध—पूर्वमन्त्रमें जो, जीवात्माका स्वरूप सूजेकी नोकके सदृश सूक्ष्म बताया गया है, उसे पुनः स्पष्ट करते हैं—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ ९ ॥

वालाग्रशतभागस्य=बालकी नोकके सौवें भागके, च=पुनः, शतधा=सौ भागोंमें, कल्पितस्य=कल्पना किये जानेपर; भागः=जो एक भाग होता है, सः=वही (उसीके बराबर), जीवः=जीवका स्वरूप; विज्ञेयः=समझना चाहिये; च=और, सः=वह, आनन्त्याय=असीम भाववाला होनेमें; कल्पते=समर्थ है ॥ ९ ॥

---

* गीतामें भी कहा है कि एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवाले, शरीरमें स्थित रहनेवाले अथवा विषयोंको भोगनेवाले इस गुणान्वित जीवात्माको मूर्ख नहीं जानते; ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानी जानते हैं (१५ । १०)।

व्याख्या—पूर्वमन्त्रमें जीवात्माका स्वरूप सूजेकी नोकके सदृश सूक्ष्म बताया गया है, उसे समझनेमें भ्रम हो सकता है, अतः उसे भलीभाँति समझानेके लिये पुनः इस प्रकार कहते हैं। मान लीजिये, एक बालकी नोकके हम सौ टुकड़े कर लें, फिर उनमेंसे एक टुकड़ेके पुनः सौ टुकडे कर लें। उनमेंसे एक टुकड़ा जितना सूक्ष्म हो सकता है, अर्थात् बालकी नोकके दस हजार भाग करनेपर उनमेंसे एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, उसके समान जीवात्माका स्वरूप समझना चाहिये। यह कहना भी केवल उसकी सूक्ष्मताका लक्ष्य करानेके लिये ही है। वास्तवमें चेतन और सूक्ष्म वस्तुका स्वरूप जड़ और स्थूल वस्तुकी उपमासे नहीं समझाया जा सकता, क्योंकि बालकी नोकके दस हजार भागोंमेंसे एक भाग भी आकाशमें जितने देशको रोकता है, उतना भी जीवात्मा नहीं रोकता। चेतन और सूक्ष्म वस्तुका जड और स्थूल देशके साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता, वह सूक्ष्म होनेपर भी स्थूल वस्तुमें सर्वत्र व्याप्त रह सकता है। इसी भावको समझानेके लिये अन्तमें कहा गया है कि वह इतना सूक्ष्म होनेपर भी अनन्त भावसे युक्त होनेमें अर्थात् असीम होनेमें समर्थ है। भाव यह कि वह जड जगत्में सर्वत्र व्याप्त है। केवल बुद्धिके गुण संकल्पसे और अपने गुणरूप अहंकारसे युक्त होनेके कारण ही एकदेशीय बन रहा है॥ ९॥

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥ १०॥

एषः=यह जीवात्मा, न=न, एव=तो, स्त्री=स्त्री है, न=न, पुमान्=पुरुष है, च=और, न=न, अयम्=यह, नपुंसकः एव=नपुंसक ही है, सः=वह, यत् यत्=जिस-जिस, शरीरम्=शरीरको, आदत्ते=ग्रहण करता है, तेन तेन=उस-उससे, युज्यते=सम्बद्ध हो जाता है॥ १०॥

व्याख्या—जीवात्मा वास्तवमें न तो स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक ही है। यह जब जिस शरीरको ग्रहण करता है, उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है, वही दूसरे जन्ममें पुरुष हो सकता है; जो पुरुष है, वह स्त्री हो सकता है। भाव यह कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद शरीरको लेकर हैं, जीवात्मा सर्वभेदशून्य है, सारी उपाधियोंसे रहित है॥ १०॥

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहै-
र्ग्रासाम्बुवृष्टया चात्मविवृद्धिजन्म।

कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही
स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥ ११ ॥

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैः=संकल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोहसे, **च**=तथा, **ग्रासाम्बुवृष्ट्या**=भोजन, जलपान और वर्षाके द्वारा, **आत्मविवृद्धिजन्म**=(प्राणियोंके) सजीव शरीरकी वृद्धि और जन्म होते हैं, **देही**=यह जीवात्मा, **स्थानेषु**=भिन्न-भिन्न लोकोंमें, **कर्मानुगानि**=कर्मानुसार मिलनेवाले, **रूपाणि**=भिन्न-भिन्न शरीरोंको; **अनुक्रमेण**=अनुक्रमसे, **अभिसम्प्रपद्यते**=बार-बार प्राप्त होता रहता है ॥ ११ ॥

व्याख्या—संकल्प, स्पर्श, दृष्टि, मोह, भोजन, जलपान और वृष्टि—इन सबसे सजीव शरीरकी वृद्धि और जन्म होते हैं। इनका एक भाव तो यह है कि स्त्री-पुरुषके परस्पर मोहपूर्वक संकल्प, स्पर्श और दृष्टिपातके द्वारा सम्बन्ध होनेपर जीवात्मा गर्भमें आता है, फिर माताके भोजन और जलपानसे बने हुए रसके द्वारा उसकी वृद्धि होकर जन्म होता है। दूसरा भाव यह है कि भिन्न-भिन्न योनियोंमें जीवोंकी उत्पत्ति और वृद्धि भिन्न-भिन्न प्रकारसे होती है। किसी योनिमें तो संकल्पमात्रसे ही जीवोंका पोषण होता रहता है, जैसे कछुएके अंडोंका। किसी योनिमें आसक्तिपूर्वक स्पर्शसे होता है, जैसे पक्षियोंके अंडोंका, किसी योनिमें केवल आसक्तिपूर्वक दर्शनमात्रसे ही होता है, जैसे मछली आदिका, किसी योनिमें अन्न-भक्षणसे और जलपानसे होता है, जैसे मनुष्य-पशु आदिका और किसी योनिमें वृष्टिमात्रसे ही हो जाता है, जैसे वृक्ष-लता आदिका। इस प्रकार नाना प्रकारसे सजीव शरीरोंका पालन-पोषण, तुष्टि-पुष्टिरूप वृद्धि और जन्म होते हैं। जीवात्मा अपने कर्मोंके अनुसार उनका फल भोगनेके लिये इसी प्रकार विभिन्न लोकोंमें गमन करता हुआ एकके बाद एकके क्रमसे नाना शरीरोंको बार-बार धारण करता रहता है ॥ ११ ॥

सम्बन्ध—इसका बार-बार नाना योनियोंमें आवागमन क्यों होता है, इस जिज्ञासापर कहते हैं—

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव
रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां
संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥१२॥

देही=जीवात्मा, **क्रियागुणैः**=अपने कर्मोंके (संस्काररूप) गुणोंसे; **च**=तथा, **आत्मगुणैः**=शरीरके गुणोंसे (युक्त होनेके कारण), **स्वगुणैः**=अहंता,

ममता आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर, **स्थूलानि**=स्थूल, **च**=और, **सूक्ष्माणि**=सूक्ष्म, **बहूनि एव**=बहुतसे, **रूपाणि**=रूपों (आकृतियों, शरीरों) को, **वृणोति**=स्वीकार करता है, **तेषाम्**=उनके, **संयोगहेतुः**=संयोगका कारण, **अपरः**=दूसरा, **अपि**=भी, **दृष्टः**=देखा गया है ॥ १२ ॥

व्याख्या—जीवात्मा अपने किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे और बुद्धि, मन, इन्द्रिय तथा पञ्चभूत—इनके समुदायरूप शरीरके धर्मोंसे युक्त होनेके कारण अहंता-ममता आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर अनेकानेक शरीर धारण करता है। अर्थात् शरीरके धर्मोंमें अहंता-ममता करके तद्रूप हो जानेके कारण नाना प्रकारके स्थूल और सूक्ष्म रूपोंको स्वीकार करता है—अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है। परंतु इस प्रकार जन्म लेनेमें यह स्वतन्त्र नहीं है, इसके संकल्प और कर्मोंके अनुसार उन-उन योनियोंसे इसका सम्बन्ध जोड़नेवाला कोई दूसरा ही है। वे हैं पूर्वोक्त परमेश्वर, जिन्हें तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंने देखा है। वे इस रहस्यको भलीभाँति जानते हैं। यहाँ कर्मोंके संस्कारोंका नाम क्रिया-गुण है, समस्त तत्त्वोंके समुदायरूप शरीरको देखना, सुनना, समझना आदि शक्तियोंका नाम आत्मगुण है और इनके सम्बन्धसे जीवात्मामें जो अहंता, ममता, आसक्ति आदि आ जाते हैं, उनका नाम स्वगुण है ॥ १२ ॥

सम्बन्ध—अनादिकालसे चले आते हुए इस जन्म-मरणरूप बन्धनसे छूटनेका क्या उपाय है, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

> **अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये**
> **विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।**
> **विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं**
> **ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥**

कलिलस्य=कलिल (दुर्गम संसार) के; **मध्ये**=भीतर व्याप्त, **अनाद्यनन्तम्**=आदि-अन्तसे रहित; **विश्वस्य स्रष्टारम्**=समस्त जगत्‌की रचना करनेवाले; **अनेकरूपम्**=अनेकरूपधारी, (तथा) **विश्वस्य परिवेष्टितारम्**=समस्त जगत्‌को सब ओरसे घेरे हुए, **एकम्**=एक (अद्वितीय), **देवम्**=परमदेव परमेश्वरको, **ज्ञात्वा**=जानकर, (मनुष्य) **सर्वपाशैः**=समस्त बन्धनोंसे, **मुच्यते**=सर्वथा मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—पूर्व मन्त्रमें जिनको इस जीवात्माका नाना योनियोंके साथ सम्बन्ध जोड़नेवाला बताया गया है, जो अन्तर्यामीरूपसे मनुष्यके हृदयरूप गुहामें स्थित तथा निराकाररूपसे इस समस्त जगत्‌में व्याप्त हैं, जिनका न तो आदि है और

न अन्त ही है, अर्थात् जो उत्पत्ति, विनाश और वृद्धि क्षय आदि सब प्रकारके विकारोंसे सर्वथा शून्य—सदा एक रस रहनेवाले हैं, तथापि जो समस्त जगत्की रचना करके विविध रूपोंमें प्रकट होते हैं और जिन्होंने इस समस्त जगत्को सब ओरसे घेर रक्खा है, उन एकमात्र सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, सबका शासन करनेवाले, सर्वेश्वर परब्रह्म पुरुषोत्तमको जानकर यह जीवात्मा सदाके लिये समस्त बन्धनोंसे सर्वथा छूट जाता है ॥ १३ ॥

सम्बन्ध—अब अध्यायके उपसंहारमें ऊपर कही हुई बातको पुनः स्पष्ट करते हुए परमात्माकी प्राप्तिका उपाय बताया जाता है—

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥१४॥

भावग्राह्यम्=श्रद्धा और भक्तिके भावसे प्राप्त होने योग्य, **अनीडाख्यम्**=आश्रयरहित कहे जानेवाले, (तथा) **भावाभावकरम्**=जगत्की उत्पत्ति और संहार करनेवाले **शिवम्**=कल्याणस्वरूप (तथा) **कलासर्गकरम्**=सोलह कलाओंकी रचना करनेवाले, **देवम्**=परमदेव परमेश्वरको, **ये**=जो साधक, **विदुः**=जान लेते हैं, **ते**=वे, **तनुम्**=शरीरको, (सदाके लिये) **जहुः**=त्याग देते हैं—जन्म-मृत्युके चक्रसे छूट जाते हैं ॥ १४ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म परमेश्वर आश्रयरहित अर्थात् शरीररहित हैं; यह प्रसिद्ध है, तथा वे जगत्की उत्पत्ति और संहार करनेवाले तथा (प्रश्नोपनिषद् ६ । ६ । ४ में बतायी हुई) सोलह कलाओंको भी उत्पन्न करनेवाले हैं । ऐसा होनेपर भी वे कल्याणस्वरूप आनन्दमय परमेश्वर श्रद्धा, भक्ति और प्रेमभावसे पकड़े जा सकते हैं; जो मनुष्य उन परमदेव परमेश्वरको जान लेते हैं, वे शरीरसे अपना सम्बन्ध सदाके लिये छोड़ देते हैं अर्थात् इस संसार-चक्रसे सदाके लिये छूट जाते हैं ।

इस रहस्यको समझकर मनुष्यको जितना शीघ्र हो सके, उन परम सुहृद्, परम दयालु, परम प्रेमी, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वेश्वर परमात्माको जानने और पानेके लिये व्याकुल हो श्रद्धा और भक्तिभावसे उनकी आराधनामें लग जाना चाहिये ॥ १४ ॥

॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

षष्ठ अध्याय

स्वभावमेके कवयो वदन्ति
कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ।
देवस्यैष महिमा तु लोके
येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥ १ ॥

एके=कितने ही; कवयः=बुद्धिमान् लोग, स्वभावम्=स्वभावको, वदन्ति=जगत्का कारण बताते हैं; तथा=उसी प्रकार, अन्ये=कुछ दूसरे लोग, कालम्=कालको जगत्का कारण बतलाते हैं; [एते] परिमुह्यमानाः [सन्ति]=(वास्तवमें) ये लोग मोहग्रस्त हैं (अतः वास्तविक कारणको नहीं जानते); तु=वास्तवमें तो; एषः=यह, देवस्य=परमदेव परमेश्वरकी, लोके=समस्त जगत्में फैली हुई; महिमा=महिमा है, येन=जिसके द्वारा, इदम्=यह, ब्रह्मचक्रम्=ब्रह्मचक्र, भ्राम्यते=घुमाया जाता है ॥ १ ॥

व्याख्या—कितने ही बुद्धिमान् लोग तो कहते हैं कि इस जगत्का कारण स्वभाव है । अर्थात् पदार्थोंमें जो स्वाभाविक शक्ति है—जैसे अग्निमें प्रकाशन-शक्ति और दाह-शक्ति, वही इस जगत्का कारण है । कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि काल ही जगत्का कारण है, क्योंकि समयपर ही वस्तुगत शक्तिका प्राकट्य होता है, जैसे वृक्षमें फल आदि उत्पन्न करनेकी शक्ति समयपर ही प्रकट होती है । इसी प्रकार स्त्रियोंमें गर्भाधान ऋतुकालमें ही होता है, असमयमें नहीं होता—यह प्रत्यक्ष देखा जाता है । परन्तु अपनेको पण्डित समझनेवाले ये वैज्ञानिक मोहमें पड़े हुए हैं, अतः ये इस जगत्के वास्तविक कारणको नहीं जानते । वास्तवमें तो यह परमदेव सर्वशक्तिमान् परमेश्वरकी ही महिमा है; जगत्की विचित्र रचनाको देखने और उसपर विचार करनेपर उन्हींका महत्त्व प्रकट होता है । वे स्वभाव और काल आदि समस्त कारणोंके अधिपति हैं और उन्हींके द्वारा यह संसार-चक्र घुमाया जाता है । इस रहस्यको समझकर इस चक्रसे छुटकारा पानेके लिये उन्हींकी शरण लेनी चाहिये । संसार-चक्रकी व्याख्या १ । ४ में की गयी है ॥ १ ॥

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं
ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥ २ ॥

येन=जिस परमेश्वरसे, इदम्=यह, सर्वम्=सम्पूर्ण जगत्, नित्यम्=सदा, आवृतम्=व्याप्त है, यः=जो, ज्ञः=ज्ञानस्वरूप परमेश्वर, हि=निश्चय ही, कालकालः=कालका भी महाकाल, गुणी=सर्वगुणसम्पन्न, (और) सर्ववित्=सबको जाननेवाला है, तेन=उससे, ह=ही, ईशितम्=शासित हुआ, कर्म=यह जगत्‌रूप कर्म विवर्तते=विभिन्न प्रकारसे यथायोग्य चल रहा है, (और ये) पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि=पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा आकाश भी (उसीके द्वारा शासित होते हैं)· [इति=] इस प्रकार, चिन्त्यम्=चिन्तन करना चाहिये ॥२॥

व्याख्या—जिन जगन्नियन्ता जगदाधार परमेश्वरसे यह सम्पूर्ण जगत् सदा—सभी अवस्थाओंमें सर्वथा व्याप्त है, जो कालके भी महाकाल हैं—अर्थात् जो कालकी सीमासे परे हैं, जो ज्ञानस्वरूप चिन्मय परमात्मा सुहृदता आदि समस्त दिव्य गुणोंसे नित्य सम्पन्न हैं, समस्त गुण जिसके स्वरूपभूत और चिन्मय हैं, जो समस्त ब्रह्माण्डोंको भलीप्रकारसे जानते हैं, उन्हींका चलाया हुआ यह जगत्-चक्र नियमपूर्वक चल रहा है । वे ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँचों महाभूतोंपर शासन करते हुए इनको अपना-अपना कार्य करनेकी शक्ति देकर इनसे कार्य करवाते हैं। उनकी शक्तिके बिना ये कुछ भी नहीं कर सकते, यह बात केनोपनिषद्‌के तीसरे खण्डमें यक्षके आख्यानद्वारा भली-भाँति समझायी गयी है। इस रहस्यको समझकर मनुष्यको उन सर्वशक्तिमान् परमेश्वरका उपर्युक्त भावसे चिन्तन करना चाहिये ॥ २ ॥

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूय-
स्तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम् ।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा
कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥ ३ ॥

(परमात्माने ही) तत्=उस (जडतत्त्वोंकी रचनारूप), कर्म=कर्मको, कृत्वा=करके, विनिवर्त्य=उसका निरीक्षण कर, भूयः=फिर, तत्त्वस्य=चेतन तत्त्वका, तत्त्वेन=जड तत्त्वसे, योगम्=संयोग, समेत्य=कराके, वा=अथवा यों समझिये कि· एकेन=एक (अविद्या) से, द्वाभ्याम्=दो (पुण्य और पापरूप कर्मों) से, त्रिभिः=तीन गुणोंसे; च=और; अष्टभिः=आठ प्रकृतियोंके साथ; कालेन=कालके साथ; च=तथा; सूक्ष्मैः आत्मगुणैः=आत्मासम्बन्धी सूक्ष्म गुणोंके साथ, एव=भी; [योगम् समेत्य]=इस जीवका सम्बन्ध कराके (इस जगत्‌की रचना की) है ॥ ३ ॥

व्याख्या—परमेश्वरने ही अपनी शक्तिभूता मूलप्रकृतिसे पाँचों स्थूल

महाभूत आदिकी रचनारूप कर्म करके उसका निरीक्षण किया, फिर जड तत्त्वके साथ चेतन तत्त्वका संयोग कराके नाना रूपोंमें अनुभव होनेवाले विचित्र जगत्की रचना की ।* अथवा इस प्रकार समझना चाहिये कि एक अविद्या, दो पुण्य और पापरूप संचित कर्म-संस्कार, सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण और एक काल तथा मन, बुद्धि, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये आठ प्रकृतिभेद, इन सबसे तथा अहंता, ममता, आसक्ति आदि आत्मसम्बन्धी सूक्ष्म गुणोंसे जीवात्माका सम्बन्ध कराके इस जगत्की रचना की । इन दोनों प्रकारके वर्णनोंका तात्पर्य एक ही है ॥ ३ ॥

सम्बन्ध—इस रहस्यको समझकर साधकको क्या करना चाहिये, इस जिज्ञासापर कहा जाता है—

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि
भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः ।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः
कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥ ४ ॥

यः=जो साधक, **गुणान्वितानि**=सत्त्वादि गुणोंसे व्याप्त, **कर्माणि**=कर्मोंको; **आरभ्य**=आरम्भ करके, (उनको) **च**=तथा; **सर्वान्**=समस्त, **भावान्**=भावोंको, **विनियोजयेत्**=परमात्मामें लगा देता है—उसीके समर्पण कर देता है, (उसके इस समर्पणसे) **तेषाम्**=उन कर्मोंका; **अभावे**=अभाव हो जानेपर, (उस साधकके) **कृतकर्मनाशः**=पूर्वसंचित कर्म-समुदायका भी सर्वथा नाश हो जाता है; **कर्मक्षये**=(इस प्रकार) कर्मोंका नाश हो जानेपर; **सः**=वह साधक, **याति**=परमात्माको प्राप्त हो जाता है, (क्योंकि वह जीवात्मा) **तत्त्वतः**=वास्तवमें, **अन्यः**=समस्त जड-समुदायसे भिन्न (चेतन) है ॥ ४ ॥

व्याख्या—जो कर्मयोगी सत्त्व, रज और तम—इन तीनों गुणोंसे व्याप्त अपने वर्ण, आश्रम और परिस्थितिके अनुकूल कर्तव्यकर्मोंका आरम्भ करके उनको और अपने सब प्रकारके अहंता, ममता, आसक्ति आदि भावोंको उन परब्रह्म परमेश्वरमें लगा देता है, उनके समर्पण कर देता है, उस समर्पणसे उन कर्मोंके साथ साधकका सम्बन्ध न रहनेके कारण वे उसे फल नहीं देते । इस प्रकार उनका अभाव हो जानेसे पहले किये हुए संचित कर्म-संस्कारोंका भी सर्वथा

---

* इसका वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद् (ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक १ और ६) में, ऐतरेयोपनिषद् (अध्याय १ के तीनों खण्डों) में, छान्दोग्योपनिषद् (अध्याय ६, खण्ड २-३) में और बृहदारण्यकोपनिषद् (अध्याय १, ब्राह्मण २) मे विस्तारपूर्वक आया है ।

नाश हो जाता है । इस प्रकार कर्मोंका नाश हो जानेसे वह तुरत परमात्माको प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह जीवात्मा वास्तवमें जड तत्त्वसमुदायसे सर्वथा भिन्न एवं अत्यन्त विलक्षण है । उनके साथ इसका सम्बन्ध अहंता-ममता आदिके कारण ही है; स्वाभाविक नहीं है ॥ ४ ॥

सम्बन्ध—कर्मयोगका वर्णन करके अब उपासनारूप दूसरा साधन बताया जाता है—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः ।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥ ५ ॥

सः=वह, आदिः=आदि कारण (परमात्मा), त्रिकालात् परः=तीनों कालोंसे सर्वथा अतीत, (एव) अकलः=कलारहित (होनेपर); अपि=भी, संयोगनिमित्तहेतुः=प्रकृतिके साथ जीवका संयोग करानेमें कारणका भी कारण, दृष्टः=देखा गया है, स्वचित्तस्थम्=अपने अन्तःकरणमें स्थित, तम्=उस, विश्वरूपम्=सर्वरूप, (एव) भवभूतम्=जगत्‌रूपमें प्रकट, ईड्यम्=स्तुति करने योग्य, पूर्वम्=पुराणपुरुष, देवम् उपास्य=परम देव (परमेश्वर) की उपासना करके (उसे प्राप्त करना चाहिये) ॥ ५ ॥

व्याख्या—वे समस्त जगत्‌के आदि कारण सर्वशक्तिमान् परमेश्वर तीनों कालोंसे सर्वथा अतीत हैं । उनमें कालका कोई भेद नहीं है; भूत और भविष्य भी उनकी दृष्टिमें वर्तमान ही हैं । वे (प्रश्नोपनिषद्में बतायी हुई) सोलह कलाओंसे रहित होनेपर भी अर्थात् संसारसे सर्वथा सम्बन्धरहित होते हुए भी प्रकृतिके साथ जीवका संयोग करानेवाले कारणके भी कारण हैं । यह बात इस रहस्यको जाननेवाले ज्ञानी महापुरुषोंद्वारा देखी गयी है । वे परमेश्वर ही एकमात्र स्तुति करने योग्य हैं । उन्हें ढूँढनेके लिये कहीं दूर जानेकी आवश्यकता नहीं है । वे हमारे हृदयमें ही स्थित हैं । इस बातपर दृढ विश्वास करके नव प्रकारके रूप धारण करनेवाले तथा जगत्‌रूपमें प्रकट हुए, सर्वाधार, सर्वशक्तिमान्, परम देव पुराणपुरुष परमेश्वरकी उपासना करके उन्हें प्राप्त करना चाहिये ॥ ५ ॥

सम्बन्ध—अब ज्ञानयोगरूप तीसरा साधन बताया जाता है—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो
यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम् ।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं
ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥ ६ ॥

यस्मात्=जिससे, **अयम्**=यह, **प्रपञ्चः**=प्रपञ्च (संसार); **परिवर्तते**=निरन्तर चलता रहता है, **सः**=वह (परमात्मा), **वृक्षकालाकृतिभिः**=इस संसारवृक्ष, काल और आकृति आदिसे; **परः**=सर्वथा अतीत, (एवं) **अन्यः**=भिन्न है; (उस) **धर्मावहम्**=धर्मकी वृद्धि करनेवाले, **पापनुदम्**=पापका नाश करनेवाले, **भगेशम्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यके अधिपति, (तथा) **विश्वधाम**=समस्त जगत्के आधारभूत परमात्माको, **आत्मस्थम्**=अपने हृदयमें स्थित, **ज्ञात्वा**=जानकर, (साधक) **अमृतम्** [**एति**]=अमृतस्वरूप परब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

व्याख्या—जिनकी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे यह प्रपञ्चरूप संसार निरन्तर घूम रहा है—प्रवाहरूपसे सदा चलता रहता है, वे परमात्मा इस संसार-वृक्ष, काल और आकृति आदिसे सर्वथा अतीत और भिन्न हैं अर्थात् वे संसारसे सर्वथा सम्बन्धरहित, कालको भी ग्रास कर जानेवाले एवं आकाररहित हैं, तथापि वे धर्मकी वृद्धि एवं पापका नाश करनेवाले, समस्त ऐश्वर्योंके अधिपति और समस्त जगत्के आधार हैं। यह सम्पूर्ण विश्व उन्हींके आश्रित है, उन्हींकी सत्तासे टिका हुआ है। अन्तर्यामीरूपसे वे हमारे हृदयमें भी हैं। इस प्रकार उन्हें जानकर ज्ञानयोगी उन अमृतस्वरूप परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ६ ॥

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें जिनका वर्णन आया है, वे ध्यानके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष करनेवाले महात्मा कहते हैं—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ ७ ॥

तम्=उस, **ईश्वराणाम्**=ईश्वरोंके भी, **परमम्**=परम, **महेश्वरम्**=महेश्वर, **देवतानाम्**=सम्पूर्ण देवताओंके, **च**=भी, **परमम्**=परम, **दैवतम्**=दैवत, **पतीनाम्**=पतियोंके भी, **परमम्**=परम, **पतिम्**=पति, (तथा) **भुवनेशम्**=समस्त ब्रह्माण्डके स्वामी, (एवं) **ईड्यम्**=स्तुति करनेयोग्य, **तम्**=उस; **देवम्**=प्रकाशस्वरूप परमात्माको, (हमलोग) **परस्तात्**=सबसे परे, **विदाम**=जानते हैं ॥ ७ ॥

व्याख्या—वे परब्रह्म पुरुषोत्तम समस्त ईश्वरोंके—लोकपालोंके भी महान् शासक हैं, अर्थात् वे सब भी उन महेश्वरके अधीन रहकर जगत्का शासन करते हैं। समस्त देवताओंके भी वे परम आराध्य हैं, समस्त पतियों—रक्षकोंके भी परम

पति हैं तथा समस्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं। उन स्तुति करनेयोग्य प्रकाशस्वरूप परमदेव परमात्माको हमलोग सबसे पर जानते हैं। उनसे पर अर्थात् श्रेष्ठ और कोई नहीं है। वे ही इस जगत्के सर्वश्रेष्ठ कारण हैं और वे सर्वरूप होकर भी सबसे सर्वथा पृथक् हैं ॥ ७ ॥

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥ ८ ॥

तस्य=उसके, कार्यम्=(शरीररूप) कार्य, च=और, करणम्=अन्तःकरण तथा इन्द्रियरूप करण, न=नहीं, विद्यते=है, अभ्यधिकः=उससे बड़ा; च=और, तत्समः=उसके समान, च=भी, (दूसरा) न=नहीं, दृश्यते=दीखता, च=तथा, अस्य=इस परमेश्वरकी, ज्ञानबलक्रिया=ज्ञान, बल और क्रियारूप, स्वाभाविकी=स्वाभाविक, परा=दिव्य, शक्तिः=शक्ति, विविधा=नाना प्रकारकी, एव=ही, श्रूयते=सुनी जाती है ॥ ८ ॥

व्याख्या—उन परब्रह्म परमात्माके जीवोंकी भाँति कार्य और करण—शरीर और इन्द्रियाँ नहीं हैं। अर्थात् उनमें देह, इन्द्रिय आदिका भेद नहीं है। तीसरे अध्यायमें यह बात विस्तारपूर्वक बतायी गयी है कि वे इन्द्रियोंके बिना ही समस्त इन्द्रियोंका व्यापार करते हैं। उनसे बड़ा तो दूर रहे, उनके समान भी दूसरा कोई नहीं दीखता; वास्तवमें उनसे भिन्न कोई है ही नहीं। उन परमेश्वरकी ज्ञान, बल और क्रियारूप स्वरूपभूत दिव्य शक्ति नाना प्रकारकी सुनी जाती है ॥ ८ ॥

न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥ ९ ॥

लोके=जगत्में, कश्चित्=कोई भी, तस्य=उस परमात्माका, पतिः=स्वामी; न=नहीं, अस्ति=है, ईशिता=उसका शासक, च=भी, न=नहीं है, च=और, तस्य=उसका, लिङ्गम्=चिह्नविशेष भी, न एव=नहीं है, सः=वह, कारणम्=सबका परम कारण, (तथा) करणाधिपाधिपः=समस्त करणोंके अधिष्ठाताओंका भी अधिपति है, कश्चित्=कोई भी, न=न, च=तो, अस्य=इसका, जनिता=जनक है, च=और, न=न, अधिपः=स्वामी ही है ॥ ९ ॥

व्याख्या—जगत्में कोई भी उन परमात्माका स्वामी नहीं है । सभी उनके दास और सेवक हैं । उनका शासक—उनपर आज्ञा चलानेवाला भी कोई नहीं है । सब उन्हींकी आज्ञा और प्रेरणाका अनुसरण करते और उनके नियन्त्रणमें रहते हैं । उनका कोई चिह्नविशेष भी नहीं है, क्योंकि वे सर्वत्र परिपूर्ण, निराकार हैं तथा वे सबके परम कारण—कारणोंके भी कारण और समस्त अन्तःकरण और इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ-देवताओंके भी अधिपति—शासक हैं । इन परब्रह्म परमात्माका न तो कोई जनक—अर्थात् इन्हें उत्पन्न करनेवाला पिता है और न कोई इनका अधिपति ही है । ये अजन्मा, सनातन, सर्वथा स्वतन्त्र और सर्वशक्तिमान् हैं ॥ ९ ॥

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत् । स नो दधाद्ब्रह्माप्ययम् ॥ १० ॥

तन्तुभिः=तन्तुओंद्वारा, **तन्तुनाभः इव**=मकड़ीकी भाँति, **यः एकः देवः**=जिस एक देव (परमात्मा) ने; **प्रधानजैः**=अपनी स्वरूपभूत मुख्य शक्तिसे उत्पन्न अनन्त कार्योंद्वारा, **स्वभावतः**=स्वभावसे ही, **स्वम्**=अपनेको, **आवृणोत्**=आच्छादित कर रक्खा है; **सः**=वह परमेश्वर, **नः**=हमलोगोंको, **ब्रह्माप्ययम्**=अपने परब्रह्मरूपमें आश्रय, **दधात्**=दे ॥ १० ॥

व्याख्या—जिस प्रकार मकड़ी अपनेसे प्रकट किये हुए तन्तुजालसे स्वयं आच्छादित हो जाती है—उसमें अपनेको छिपा लेती है, उसी प्रकार जिन एक देव परमपुरुष परमेश्वरने अपनी स्वरूपभूत मुख्य एवं दिव्य अचिन्त्यशक्तिसे उत्पन्न अनन्त कार्योंद्वारा स्वभावसे ही अपनेको आच्छादित कर रक्खा है, जिसके कारण संसारी जीव उन्हें देख नहीं पाते, वे सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्मा हमलोगोंको सबके परम आश्रयभूत अपने परब्रह्मस्वरूपमें स्थापित करें ॥ १० ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ११ ॥

एकः=(वह) एक, **देवः**=देव ही, **सर्वभूतेषु**=सब प्राणियोंमें, **गूढः**=छिपा हुआ, **सर्वव्यापी**=सर्वव्यापी, (और) **सर्वभूतान्तरात्मा**=समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है, **कर्माध्यक्षः**=(वही) सबके कर्मोंका अधिष्ठाता; **सर्वभूताधिवासः**=सम्पूर्ण भूतोंका निवासस्थान, **साक्षी**=सबका साक्षी; **चेता**=

चेतनस्वरूप और सबको चेतना प्रदान करनेवाला, केवलः=सर्वथा विशुद्धः (और) निर्गुणश्च=गुणातीत भी है ॥ ११ ॥

व्याख्या—वे एक ही परमदेव परमेश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयरूप गुहामें छिपे हुए हैं, वे सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी परमात्मा हैं। वे ही सबके कर्मोंके अधिष्ठाता—उनको कर्मानुसार फल देनेवाले और समस्त प्राणियोंके निवासस्थान—आश्रय हैं, तथा वे ही सबके साक्षी—शुभाशुभ कर्मको देखनेवाले, परम चेतनस्वरूप तथा सबको चेतना प्रदान करनेवाले, सर्वथा विशुद्ध अर्थात् निर्लेप और प्रकृतिके गुणोंसे अतीत भी हैं ॥ ११ ॥

एको वशी निष्क्रियाणां बहूना-
मेकं बीजं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

यः=जो, एकः=अकेला ही, बहूनाम्=बहुत-से, निष्क्रियाणाम्=वास्तवमें अक्रिय जीवोंका, वशी=शासक है, (और) एकम्=एक, बीजम्=प्रकृतिरूप बीजको, बहुधा=अनेक रूपोंमें परिणत, करोति=कर देता है, तम्=उस, आत्मस्थम्=हृदयस्थित परमेश्वरको, ये=जो, धीराः=धीर पुरुष, अनुपश्यन्ति=निरन्तर देखते रहते हैं, तेषाम्=उन्हींको, शाश्वतम्=सदा रहनेवाला, सुखम्=परमानन्द प्राप्त होता है, इतरेषाम्=दूसरोंको, न=नहीं ॥ १२ ॥

व्याख्या—जो विशुद्ध चेतनस्वरूप परमेश्वरके ही अंश होनेके कारण वास्तवमें निष्क्रिय हैं, ऐसे अनन्त जीवात्माओंके जो अकेले ही नियन्ता—कर्मफल देनेवाले हैं, जो एक प्रकृतिरूप बीजको बहुत प्रकारसे रचना करके इस विचित्र जगत्के रूपमें बनाते हैं उन हृदयस्थित सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् परमेश्वरको जो धीर पुरुष निरन्तर देखते रहते हैं, निरन्तर उन्हींमें तन्मय हुए रहते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला परम आनन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको अर्थात् जो इस प्रकार उनका निरन्तर चिन्तन नहीं करते उनको, वह परमानन्द नहीं मिलता—वे उससे वञ्चित रह जाते हैं ॥ १२ ॥

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं
ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ १३ ॥

यः=जो, **एकः**=एक, **नित्यः**=नित्य; **चेतनः**=चेतन (परमात्मा); **बहूनाम्**=बहुत-से, **नित्यानाम्**=नित्य, **चेतनानाम्**=चेतन आत्माओंके, **कामान् विदधाति**=कर्मफलभोगोंका विधान करता है, **तत्**=उस, **सांख्ययोगाधिगम्यम्**=ज्ञानयोगसे और कर्मयोगसे प्राप्त करने योग्य, **कारणम्**=सबके कारणरूप; **देवम्**=परमदेव परमात्माको, **ज्ञात्वा**=जानकर, (मनुष्य) **सर्वपाशैः**=समस्त बन्धनोंसे; **मुच्यते**=मुक्त हो जाता है ॥ १३ ॥

व्याख्या—जो नित्य चेतन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्मा अकेले ही बहुत-से नित्य चेतन जीवात्माओंके कर्मफलभोगोंका विधान करते हैं, जिन्होंने इस विचित्र जगत्‌की रचना करके समस्त जीवसमुदायके लिये उनके कर्मानुसार फलभोगकी व्यवस्था कर रक्खी है, उनको प्राप्त करनेके दो साधन हैं—एक ज्ञानयोग, दूसरा कर्मयोग, भक्ति दोनोंमें ही अनुस्यूत है, इस कारण उसका अलग वर्णन नहीं किया गया । उन ज्ञानयोग और कर्मयोगद्वारा प्राप्त किये जाने योग्य सबके कारणरूप परमदेव परमेश्वरको जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है । जो उन्हें जान लेता है और प्राप्त कर लेता है, वह कभी किसी भी कारणसे जन्म-मरणके बन्धनमें नहीं पड़ता । अतः मनुष्यको उन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्माको प्राप्त करनेके लिये अपनी योग्यता और रुचिके अनुसार ज्ञानयोग या कर्मयोग—किसी एक साधनमें तत्परतापूर्वक लग जाना चाहिये ॥ १३ ॥

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१४॥*

तत्र=वहाँ; **न**=न तो, **सूर्यः**=सूर्य; **भाति**=प्रकाश फैला सकता है, **न**=न; **चन्द्रतारकम्**=चन्द्रमा और तारागणका समुदाय ही, (और) **न**=न, **इमाः**=ये, **विद्युतः**=बिजलियाँ ही, **भान्ति**=वहाँ प्रकाशित हो सकती हैं, **अयम्**=(फिर) यह; **अग्निः**=लौकिक अग्नि तो, **कुतः**=कैसे प्रकाशित हो सकता है, (क्योंकि) **तम् भान्तम् एव**=उसके प्रकाशित होनेपर ही (उसीके प्रकाशसे); **सर्वम्**=बतलाये हुए सूर्य आदि सब, **अनुभाति**=उसके पीछे प्रकाशित होते हैं, **तस्य**=उसके, **भासा**=प्रकाशसे, **इदम्**=यह, **सर्वम्**=सम्पूर्ण जगत्; **विभाति**=प्रकाशित होता है ॥ १४ ॥

व्याख्या—उन परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरके समीप यह सूर्य अपना

* यह मन्त्र कठ० २ । २ । १५ और मुण्डक० २ । २ । १० में भी है ।

प्रकाश नहीं फैला सकता, जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशित होनेपर जुगनूका प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सूर्यका भी तेज वहाँ लुप्त हो जाता है। चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहाँ अपना प्रकाश नहीं फैला सकते, फिर इस लौकिक अग्निकी तो बात ही क्या है। क्योंकि इस जगत्में जो कोई भी प्रकाशशील तत्त्व हैं, वे उन परम प्रकाशस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्रकाशशक्तिके किसी अंशको पाकर ही प्रकाशित होते हैं। फिर वे अपने प्रकाशकके समीप कैसे अपना प्रकाश फैला सकते हैं? अतः यही समझना चाहिये कि यह सम्पूर्ण जगत् उन जगदात्मा पुरुषोत्तमके प्रकाशसे ही प्रकाशित हो रहा है ॥ १४ ॥

एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये
स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ १५ ॥

अस्य=इस; भुवनस्य=ब्रह्माण्डके; मध्ये=बीचमें; (जो) एकः=एक; हंसः=प्रकाशस्वरूप परमात्मा (परिपूर्ण है); सः एव=वही; सलिले=जलमें; संनिविष्टः=स्थित; अग्निः=अग्नि है; तम्=उसे; विदित्वा=जानकर; एव=ही; (मनुष्य) मृत्युम् अत्येति=मृत्युरूप संसार-समुद्रसे सर्वथा पार हो जाता है; अयनाय=दिव्य परमधामकी प्राप्तिके लिये; अन्यः=दूसरा; पन्थाः=मार्ग; न=नहीं; विद्यते=है ॥ १५ ॥

व्याख्या—इस ब्रह्माण्डमें जो एक प्रकाशस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर सर्वत्र परिपूर्ण हैं, वे ही जलमें प्रविष्ट अग्नि हैं। यद्यपि शीतल स्वभावयुक्त जलमें उष्णस्वभाव अग्निका होना साधारण दृष्टिसे समझमें नहीं आता, क्योंकि दोनोंका स्वभाव परस्पर विरुद्ध है, तथापि उसके रहस्यको जाननेवाले वैज्ञानिकोंको यह प्रत्यक्ष दीखता है, अतः वे उसी जलमेंसे बिजलीके रूपमें उस अग्नितत्त्वको निकालकर नाना प्रकारके कार्योंका साधन करते हैं। शास्त्रोंमें भी जगह-जगह यह बात कही गयी है कि समुद्रमें बड़वानल अग्नि है। अपने कार्यमें कारण व्याप्त रहता है—इस न्यायसे भी जलतत्त्वका कारण होनेसे तेजस्तत्त्वका जलमें व्याप्त होना उचित ही है। किन्तु इस रहस्यको न जाननेवाला जलमें स्थित अग्निको नहीं देख पाता। इसी प्रकार परमात्मा इस जड जगत्से स्वभावतः सर्वथा विलक्षण हैं, क्योंकि वे चेतन, ज्ञानस्वरूप और सर्वज्ञ हैं तथा यह जगत् जड और ज्ञेय है। इस प्रकार जगत्से विरुद्ध दीखनेके कारण साधारण दृष्टिसे यह बात समझमें नहीं आती कि वे इसमें किस प्रकार व्याप्त हैं और किस प्रकार इसके

कारण हैं। परंतु जो उस परब्रह्मकी अचिन्त्य अद्भुत शक्तिके रहस्यको समझते हैं, उनको ये प्रत्यक्षवत् सर्वत्र परिपूर्ण और सबके एकमात्र कारण प्रतीत होते हैं। उन सर्वशक्तिमान् सर्वाधार परमात्माको जानकर ही मनुष्य इस मृत्युरूप संसार-समुद्रसे पार हो सकता है—सदाके लिये जन्म-मरणसे सर्वथा छूट सकता है। उनके दिव्य परमधामकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है। अतः हमें उन परमात्माका जिज्ञासु होकर उन्हें जाननेकी चेष्टामें लग जाना चाहिये ॥ १५ ॥

सम्बन्ध—जिनको जाननेसे जन्ममरणसे छूटनेकी बात कही गयी है, वे परमेश्वर कैसे हैं—इस जिज्ञासापर उनके स्वरूपका वर्णन किया जाता है—

स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनि-
र्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः
संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ १६ ॥

सः=वह, **ज्ञः**=ज्ञानस्वरूप परमात्मा, **विश्वकृत्**=सर्वस्रष्टा, **विश्ववित्**=सर्वज्ञ; **आत्मयोनिः**=स्वयं ही अपने प्राकट्यका हेतु, **कालकालः**=कालका भी महाकाल, **गुणी**=सम्पूर्ण दिव्यगुणोंसे सम्पन्न, (और) **सर्ववित्**=सबको जाननेवाला है, **यः**=जो; **प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः**=प्रकृति और जीवात्माका स्वामी; **गुणेशः**=समस्त गुणोंका शासक, (तथा) **संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः**=जन्म-मृत्युरूप संसारमें बाँधने, स्थित रखने और उससे मुक्त करनेवाला है ॥ १६ ॥

व्याख्या—जिनका प्रकरण चल रहा है, वे ज्ञानस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम सम्पूर्ण जगत्‌की रचना करनेवाले, सर्वज्ञ और स्वयं ही अपनेको प्रकट करनेमें हेतु हैं। उन्हें प्रकट करनेवाला कोई दूसरा कारण नहीं है। वे कालके भी महाकाल हैं, कालकी भी उनतक पहुँच नहीं है। वे कालातीत हैं। कठोपनिषद्‌में भी कहा है कि सबका संहार करनेवाला मृत्यु उन महाकालरूप परमात्माका उपसेचन—खाद्य है (कठ० १। २। २४)। वे सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सौहार्द, प्रेम, दया आदि समस्त कल्याणमय दिव्य गुणोंसे सम्पन्न हैं, संसारमें जितने भी शुभ गुण देखनेमें आते हैं, वे उन दिव्य गुणोंके किसी एक अंशकी झलक हैं। वे समस्त जीवोंको, उनके कर्मोंको और अनन्त ब्रह्माण्डोंके भीतर तीनों कालोंमें घटित होनेवाली छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी घटनाको भलीभाँति जानते हैं। वे प्रकृति और जीव-समुदायके (अपनी अपरा और परा—दोनों प्रकृतियोंके) स्वामी हैं, तथा कार्य-कारणरूपमें स्थित सत्त्व आदि तीनों गुणोंका यथायोग्य नियन्त्रण करते हैं। वे ही इस जन्म-मृत्युरूप

संसार-चक्रमें जीवोंको उनके कर्मानुसार बाँधकर रखते, उनका पालन पोषण करते और इस बन्धनसे जीवोंको मुक्त भी करते हैं। उनकी कृपासे ही जीव मुक्तिके साधनमें लगकर साधनके परिपक्व होनेपर मुक्त होते हैं ॥ १६ ॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो
ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता।
य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव
नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ १७ ॥

सः हि=वही, तन्मयः=तन्मय, अमृतः=अमृतस्वरूप, ईशसंस्थः=ईश्वरों (लोकपालों) में भी आत्मरूपसे स्थित, ज्ञः=सर्वज्ञ, सर्वगः=सर्वत्र परिपूर्ण (और), अस्य=इस, भुवनस्य=ब्रह्माण्डका, गोप्ता=रक्षक है, यः=जो, अस्य=इस, जगतः=सम्पूर्ण जगत्‌का, नित्यम्=सदा, एव=ही, ईशे=शासन करता है, (क्योंकि) ईशनाय=इस जगत्‌पर शासन करनेके लिये, अन्यः=दूसरा कोई भी, हेतुः=हेतु, न=नहीं, विद्यते=है ॥ १७ ॥

व्याख्या—जिनके स्वरूपका पूर्वमन्त्रमें वर्णन हुआ है, वे परब्रह्म परमेश्वर ही इस जगत्‌के—स्वरूपमें स्थित, अमृतस्वरूप—एकरस हैं, इस जगत्‌के उत्पत्ति विनाशरूप परिवर्तनसे उनका परिवर्तन नहीं होता। वे समस्त ईश्वरोंमें—समस्त लोकोंका पालन करनेके लिये नियुक्त किये हुए लोकपालोंमें भी अन्तर्यामी-रूपसे स्थित हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वत्र परिपूर्ण परमेश्वर ही इस समस्त ब्रह्माण्डकी रक्षा करते हैं, वे ही इस सम्पूर्ण जगत्‌का सदा यथायोग्य नियन्त्रण और संचालन करते हैं। दूसरा कोई भी इस जगत्‌पर शासन करनेके लिये उपयुक्त हेतु नहीं प्रतीत होता, क्योंकि दूसरा कोई भी सबपर शासन करनेमें समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥

सम्बन्ध—उपर्युक्त परमेश्वरको जानने और पानेके लिये साधनके रूपमें उन्हींकी शरण लेनेका प्रकार बताया जाता है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तꣳ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

यः=जो परमेश्वर, वै=निश्चय ही, पूर्वम्=सबसे पहले; ब्रह्माणम्=ब्रह्माको; विदधाति=उत्पन्न करता है, च=और, यः=जो; वै=निश्चय ही; तस्मै=उस ब्रह्माको, वेदान्=समस्त वेदोंका ज्ञान, प्रहिणोति=प्रदान करता

है; तम् आत्मबुद्धिप्रकाशम्=उस परमात्मज्ञानविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले; ह देवम्=प्रसिद्ध देव परमेश्वरको, अहम्=मैं, मुमुक्षुः=मोक्षकी इच्छावाला साधक; शरणम्=आश्रयरूपमें, प्रपद्ये=ग्रहण करता हूँ ॥ १८ ॥

व्याख्या—उन परमेश्वरको प्राप्त करनेका सार्वभौम एवं सुगम उपाय सर्वतोभावसे उन्हींपर निर्भर होकर उन्हींकी शरणमें चले जाना है। अतः साधकको मनके द्वारा नीचे लिखे भावका चिन्तन करते हुए परमात्माकी शरणमें जाना चाहिये। जो परमेश्वर निश्चय ही सबसे पहले अपने नाभि-कमलमेंसे ब्रह्माको उत्पन्न करते हैं, उत्पन्न करके उन्हें निःसंदेह समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करते हैं तथा जो अपने स्वरूपका ज्ञान करानेके लिये अपने भक्तोंके हृदयमें तदनुरूप विशुद्ध बुद्धिको प्रकट करते हैं (गीता १० । १०), उन पूर्व मन्त्रोंमें वर्णित सर्वशक्तिमान् प्रसिद्ध देव परब्रह्म पुरुषोत्तम-की मैं मोक्षकी अभिलाषासे युक्त होकर शरण ग्रहण करता हूँ—वे ही मुझे इस संसार-बन्धनसे छुड़ायें ॥ १८ ॥

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥१९॥

निष्कलम्=कलाओंसे रहित, निष्क्रियम्=क्रियारहित, शान्तम्=सर्वथा शान्त, निरवद्यम्=निर्दोष, निरञ्जनम्=निर्मल, अमृतस्य=अमृतके; परम्=परम, सेतुम्=सेतुरूप, (तथा) दग्धेन्धनम्=जले हुए ईंधनसे युक्त, अनलम् इव=अग्निकी भाँति (निर्मल ज्योतिःस्वरूप उन परमात्माका मैं चिन्तन करता हूँ) ॥ १९ ॥

व्याख्या—निर्गुण-निराकार परमात्माकी उपासना करनेवाले साधकको इस प्रकारकी भावना करनी चाहिये कि जो (पहले बतलायी हुई) सोलह कलाओंसे अर्थात् संसारके सम्बन्धसे रहित, सर्वथा क्रियाशून्य, परम शान्त और सब प्रकारके दोषोंसे रहित हैं, जो अमृतस्वरूप मोक्षके परम सेतु हैं अर्थात् जिनका आश्रय लेकर मनुष्य अत्यन्त सुगमतापूर्वक इस संसार-समुद्रसे पार हो सकता है, जो लकड़ीका पार्थिव अंश जल जानेके बाद धधकते हुए अँगारोंवाली अग्निकी भाँति सर्वथा निर्विकार, निर्मल प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप परम चेतन हैं, उन निर्विशेष निर्गुण निराकार परमात्माको तत्त्वसे जाननेके लिये उन्हींको लक्ष्य बनाकर उनका चिन्तन करता हूँ ॥ १९ ॥

सम्बन्ध—पहले जो यह बात कही गयी थी कि इस संसार-बन्धनसे छूटनेके

लिये उन परमात्माको जान लेनेके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है, इसीको दृढ़ किया जाता है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥२०॥

यदा=जब, मानवाः=मनुष्यगण, आकाशम्=आकाशको, चर्मवत्=चमड़ेकी भाँति; वेष्टयिष्यन्ति=लपेट सकेंगे, तदा=तब, देवम्=उन परमदेव परमात्माको; अविज्ञाय=बिना जाने भी, दुःखस्य=दुःख-समुदायका, अन्तः=अन्त, भविष्यति=हो सकेगा ॥ २० ॥

व्याख्या—भाव यह है कि जिस प्रकार आकाशको चमड़ेकी भाँति लपेटना मनुष्यके लिये सर्वथा असम्भव है, सारे मनुष्य मिलकर भी इस कार्यको नहीं कर सकते, उसी प्रकार परमात्माको बिना जाने कोई भी जीव इस दुःख-समुद्रसे पार नहीं हो सकता । अतः मनुष्यको दुःखोंसे सर्वथा छूटने और निश्चल परमानन्दकी प्राप्तिके लिये अन्य सब ओरसे मनको हटाकर एकमात्र उन्हींको जाननेके साधनमें तीव्र इच्छासे लग जाना चाहिये ॥ २० ॥

तपःप्रभावाद् देवप्रसादाच्च ब्रह्म
ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं
प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम् ॥२१॥

ह=यह प्रसिद्ध है कि, श्वेताश्वतरः=श्वेताश्वतर नामक ऋषि, तपःप्रभावात्=तपके प्रभावसे, च=और; देवप्रसादात्=परमदेव परमेश्वरकी कृपासे, ब्रह्म=ब्रह्मको, विद्वान्=जान सका, अथ=तथा, (उसने) ऋषिसङ्घजुष्टम्=ऋषि-समुदायसे सेवित; परमम्=परम, पवित्रम्=पवित्र (इस ब्रह्मतत्त्वका), अत्याश्रमिभ्यः=आश्रमके अभिमानसे अतीत अधिकारियोंको, सम्यक्=पूर्ण रूपसे, प्रोवाच=उपदेश किया था ॥ २१ ॥

व्याख्या—यह बात प्रसिद्ध है कि श्वेताश्वतर ऋषिने तपके प्रभावसे अर्थात् समस्त विषय-सुखका त्याग करके संयममय जीवन बिताते हुए निरन्तर परमात्माके ही चिन्तनमें लगे रहकर उन परमदेव परमेश्वरकी अहैतुकी दयासे उन्हें जान लिया था । फिर उन्होंने ऋषि समुदायसे सेवित—उनके परम लक्ष्य इस परम पवित्र ब्रह्मतत्त्वका आश्रमके अभिमानसे सर्वथा अतीत हुए

देहाभिमानशून्य अधिकारियोंको भलीभाँति उपदेश किया था। इससे इस मन्त्रमें यह बात भी दिखला दी गयी कि देहाभिमानशून्य साधक ही ब्रह्मतत्त्वका उपदेश सुननेके वास्तविक अधिकारी हैं ॥ २१ ॥

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ॥२२॥

[इदम्]=यह, **परमम्**=परम, **गुह्यम्**=रहस्यमय ज्ञान, **पुराकल्पे**=पूर्वकल्पमें, **वेदान्ते**=वेदके अन्तिम भाग—उपनिषद्में; **प्रचोदितम्**=भलीभाँति वर्णित हुआ था, **अप्रशान्ताय**=जिसका अन्तःकरण सर्वथा शान्त न हो गया हो, ऐसे मनुष्यको; **न दातव्यम्**=इसका उपदेश नहीं देना चाहिये, **पुनः**=तथा, **अपुत्राय**=जो अपना पुत्र न हो; **वा**=अथवा; **अशिष्याय**=जो शिष्य न हो, उसे, **न (दातव्यम्)**=नहीं देना चाहिये ॥ २२ ॥

व्याख्या—यह परम रहस्यमय ज्ञान पूर्वकल्पमें भी वेदके अन्तिम भाग—उपनिषदोंमें भलीभाँति वर्णित हुआ था। भाव यह कि इस ज्ञानकी परम्परा कल्प-कल्पान्तरसे चली आती है, यह कोई नयी बात नहीं है। इसका उपदेश किसे दिया जाय और किसे नहीं, ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—'जिसका अन्तःकरण विषय-वासनासे शून्य होकर सर्वथा शान्त न हो गया हो, ऐसे मनुष्यको इस रहस्यका उपदेश नहीं देना चाहिये, तथा जो अपना पुत्र न हो अथवा शिष्य न हो, उसे भी नहीं देना चाहिये।' भाव यह है कि या तो जो सर्वथा शान्तचित्त हो, ऐसे अधिकारीको देना चाहिये अथवा जो अपना पुत्र या शिष्य हो, उसे देना चाहिये; क्योंकि पुत्र और शिष्यको अधिकारी बनाना पिता और गुरुका ही काम है; अतः वह पहलेसे ही अधिकारी हो, यह नियम नहीं है ॥ २२ ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।
प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ २३ ॥

यस्य=जिसकी; **देवे**=परमदेव परमेश्वरमें, **परा**=परम; **भक्तिः**=भक्ति है; (तथा) **यथा**=जिस प्रकार, **देवे**=परमेश्वरमें है; **तथा**=उसी प्रकार, **गुरौ**=गुरुमें भी है, **तस्य महात्मनः**=उस महात्मा पुरुषके हृदयमें, **हि**=ही; **एते**=ये, **कथिताः**=बताये हुए; **अर्थाः**=रहस्यमय अर्थ, **प्रकाशन्ते**=प्रकाशित होते हैं, **प्रकाशन्ते महात्मनः**=उसी महात्माके हृदयमें प्रकाशित होते हैं ॥२३॥

व्याख्या—जिस साधककी परमदेव परमेश्वरमें परम भक्ति होती है तथा जिस प्रकार परमेश्वरमें होती है; उसी प्रकार अपने गुरुमें भी होती है, उस महात्मा—मनस्वी पुरुषके हृदयमें ही ये बताये हुए रहस्यमय अर्थ प्रकाशित होते हैं । अतः जिज्ञासुको पूर्ण श्रद्धालु और भक्त बनना चाहिये । जिसमें पूर्ण श्रद्धा और भक्ति है, उसी महात्माके हृदयमें ये गूढ अर्थ प्रकाशित होते हैं । इस मन्त्रमें अन्तिम वाक्यकी पुनरावृत्ति ग्रन्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ॥ २३ ॥

॥ षष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

॥ कृष्णयजुर्वेदीय श्वेताश्वतरोपनिषद् समाप्त ॥

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इसका अर्थ आरम्भमें दिया जा चुका है ।

श्रीहरि.

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका